तुलसी-दर्शन-मीमांसा

उदयभानु सिंह
पी-एच० डी०, डी० लिट०

प्रकाशक
लखनऊ विश्वविद्यालय
सं० २०१८ वि०

प्रकाशक
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

मूल्य : अठारह रुपये

प्रथम संस्करण : सं० २०१८ वि०

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स
२७, शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

बंधुवर अमलदार सिंह

को

सस्नेह समर्पित

उपोद्घात

हिन्दी-साहित्य का भक्ति-युग अनेक प्रकार की भारतीय एवं अभारतीय विचारधाराओं के संघर्ष का काल था। उस समय भारतीय दर्शन के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। उस समय की दार्शनिक विचार-धारा पर सर्वाधिक प्रभाव वेदान्त का था। वेदान्त के अन्तर्गत बहुधा दार्शनिक दृष्टि से शङ्कर के अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद और वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद का समावेश किया जाता है। वैष्णव आचार्यों ने शङ्कराचार्य के मायावाद के विरोध में मायापति सगुण भगवान् और उनकी स्वरसलीलाओं को प्रतिष्ठा दी। उक्त काल के धार्मिक क्षेत्र में वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों का विशिष्ट स्थान था। इन सम्प्रदायों के अनेक मतावलम्बियों ने प्राचीन धर्म और दर्शन के बहुत से शास्त्रीय तत्वों की उपेक्षा की और अपनी नयी विचार-प्रणाली प्रचलित की। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर-विरोध की भावना बढ़ती गयी। सामाजिक जगत् में, अवर जातियों के लोग परंपरागत वर्णव्यवस्था की श्रेष्ठता पर आपत्ति प्रकट करने लगे थे। उनका वर्णवाद-विरोधी स्वर हिन्दी-साहित्य के निर्गुण-सन्तों की रचनाओं में स्पष्टतया मुखरित हुआ। अभारतीय इस्लाम और ईसाई धर्म-भावना के प्रहारों से बचने के लिए हिन्दू-समाज को रूढ़िवादिता एवं शास्त्रानुशासन में ही आत्मकल्याण तथा स्वधर्म-रक्षा का उपाय दिखाया पड़ा। महात्मा तुलसीदास के आविर्भाव के समय हिन्दी-साहित्य में चार भक्तिधाराएँ थीं। निर्गुणब्रह्मोपासक सन्तों ने अवतारवाद और ब्राह्मण-धर्म का विरोध करते हुए निर्गुणब्रह्मभक्ति का प्रचार किया। भारतीय तथा अभारतीय विचारधारा से प्रभावित सूफियों ने प्रतीकों और प्रेमाख्यानों के द्वारा निराकार परमात्मा के प्रति जीवात्मा के प्रेम का निरूपण किया। कृष्णभक्त कवियों का ध्यान भगवान् कृष्ण की लीला-माधुरी पर केन्द्रित हुआ। रामभक्तिशाखा में मर्यादापुरुषोत्तम राम का लोकमङ्गलकारी रूप अङ्कित किया गया। धर्म, दर्शन और भक्ति-आन्दोलन की इस भूमिका में गोस्वामी तुलसीदास ने पदार्पण किया। उन्होंने अपने साहित्य में विभिन्न आस्तिक दर्शनों एवं धार्मिक सम्प्रदायों की मौलिक मान्यताओं का समन्वय करते हुए श्रुतिसम्मत रामभक्तिदर्शन की प्रतिष्ठा की।

तुलसीदास एक दार्शनिक भक्तकवि थे। उनकी रचनाओं से यह निस्सन्देह प्रमाणित होता है कि वे काव्य और शास्त्र के पारङ्गत पण्डित थे। उनकी 'नानापुराणनिगमागमसंमत' रघुनाथ-गाथा लिखने की प्रतिज्ञा 'रामचरितमानस' में यथार्थतः चरितार्थ हुई है। उनके काव्य के मर्म को समझने के लिए उनकी दार्शनिक विचारधारा का अनुशीलन आवश्यक है। यद्यपि तुलसी-दास-जैसे परम विचारक और भक्त कवि पर उनकी दार्शनिक विचारधारा को लेकर डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के 'तुलसीदर्शन'-जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण शोधप्रबन्धों का प्रणयन हो चुका था तथापि इस बात की आवश्यकता फिर भी बनी हुई थी कि गोस्वामी जी की समस्त रचनाओं में व्यक्त उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थों के आधार पर सर्वाङ्गीण विवेचन और विश्लेषण

प्रस्तुत किया जाए। हर्ष का विषय है कि मेरे शिष्य डा० उदयभानुसिंह ने अनुसन्धान के लिए यह विषय चुना। उनका शोधप्रबन्ध सन् १९५९ ई० में प्रस्तुत किया गया था जो जनवरी, १९६० ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ नौ अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में कवि की दार्शनिकता और तुलसी-दर्शन के प्रेरक तत्त्वों पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय से लेकर अष्टम अध्याय तक तुलसी-दर्शन के प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म राम और उनकी माया, जीव, जगत्, मोक्षसाधन, धर्मविधि, ज्ञानपन्थ, एवं भक्तिसिद्धान्त की सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक विस्तृत मीमांसा की गयी है। नवम अध्याय में निगमागमपुराण-प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ तुलसी-दर्शन का साम्य-वैषम्य स्पष्ट करते हुए स्थापना की गयी है कि तुलसीदास का दर्शन साम्प्रदायिकता से मुक्त समन्वयवादी दर्शन है। अनुबन्ध के रूप में तुलसी के काव्यदर्शन का दिग्दर्शन कराते हुए भक्ति-रस और तुलसी-साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति का भी विवेचन किया गया है।

दर्शनशास्त्र और तुलसी-दर्शन के विशेषज्ञ विद्वानों ने इस शोधप्रबन्ध की सराहना की है। डा० उदयभानुसिंह के 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' नामक ग्रन्थ का हिन्दी-जगत् में स्वागत हुआ है। मुझे विश्वास है कि 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा' नामक यह शोधग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों तथा अध्यात्मविद्या के साधक भक्तों को रुचिकर और उनके लिए उपयोगी सिद्ध होगा। मेरी मङ्गल-कामना है कि डा० सिंह की समर्थ लेखनी से और भी इसी प्रकार के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों का सृजन हो।

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा-विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय
२०-१२-१९६१ ई०

दीनदयालु गुप्त

सूची

तृतीय अध्याय

चेतन जीव

चतुर्थ अध्याय

जड़ जगत्

पंचम अध्याय

मोक्ष-साधन

षष्ठ अध्याय

धर्म-विधि

सप्तम अध्याय

ज्ञान-पंथ

अष्टम अध्याय

भक्ति-निरूपण

नवम अध्याय

उपसंहार

अनुबंध

●

प्राक्कथन

अनुसंधान के दो प्रकार हैं—उपाधिनिरपेक्ष और उपाधिसापेक्ष। तुलसीदास पर किये गये उपाधिनिरपेक्ष अनुसंधान के तीन रूप हैं—स्वतंत्र ग्रंथ, टीकाएँ और फुटकल लेख। 'गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना', 'तुलसीदास और उनकी कविता', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'मानस-दर्शन', 'मानस में रामकथा' आदि स्वतंत्र ग्रंथ हैं जिनमें तुलसीदास का सर्वांगीण अथवा एकांगी अनुशीलन किया गया है। टीकाओं के अंतर्गत 'रामचरितमानस' पर लिखित 'मानस-पीयूष', श्री विनायक राव की टीका, 'सिद्धान्त-तिलक' और पं० विजयानन्द त्रिपाठी की 'विजया टीका' तथा 'विनयपत्रिका' पर लिखित 'सिद्धान्त-तिलक', (अपूर्ण) 'विनय-पीयूष' एवं श्री वियोगी हरि की 'हरितोषिणी' टीका विशेष उल्लेखनीय हैं। हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों, तुलसी-कृत रचनाओं की संपादकीय भूमिकाओं, 'तुलसी-ग्रंथावली' (खंड ३) जैसी संग्रह-पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों आदि में तुलसी-विषयक अध्ययन की प्रकीर्ण सामग्री भी उपलब्ध होती है।

उपधिसापेक्ष अध्ययन के क्षेत्र में देश और विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा डॉक्टरेट उपाधियों के लिए स्वीकृत लगभग बीस शोधप्रबंध ऐसे हैं जिनमें मुख्य या गौण रूप से तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धांतों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। निम्नांकित शोधप्रबंधों का मुख्य प्रतिपाद्य तुलसी-दर्शन ही है—

१. दि थियॉलॉजी ऑफ़ तुलसीदास—डा० जे० एन० कारपेन्टर, (डी० डी०)

२. तुलसी-दर्शन—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, (डी० लिट०)

३. दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ तुलसीदास—डा० रामदत्त भारद्वाज, (पी-एच० डी०)

४. तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा—डा० राजाराम रस्तोगी, (पी-एच० डी०)

तुलसी-साहित्य के विद्वान् भाष्यकारों, आलोचकों एवं अनुसंधाताओं ने उनकी दार्शनिक मान्यताओं को यथामति और यथाशक्ति समझने-समझाने का स्तुत्य प्रयास किया है। लेखक उन सब का कृतज्ञ है। उनके गवेषणात्मक अध्ययन का अध्ययन कर लेने पर यह अपेक्षित प्रतीत हुआ कि तुलसी-दर्शन के अनुशीलन को और भी आगे बढ़ाया जाए—उनकी दार्शनिकता का निरूपण करके उनके दार्शनिक आधार को स्पष्ट किया जाए; उनकी समस्त कृतियों का मंथन करके दार्शनिक विचारों का शास्त्रीय दृष्टि से सूक्ष्मतर वर्गीकरण, विवेचन और विश्लेषण किया जाए ; उनके साहित्य में बहुधा उल्लिखित काल-कर्म-स्वभाव-गुण एवं सृष्टि, त्रिविधशरीर, पंचकोश, अंतःकरणचतुष्टय, धर्मदर्शन, भक्तिरस आदि अव्याख्यात अथवा अल्पव्याख्यात विषयों का व्यवस्थित व्याख्यान किया जाए ; शास्त्रकवि तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धांतों की शास्त्र-

संमतता तथा उनके वैशिष्ट्य का आकलन किया जाए। प्रस्तुत प्रबंध इसी उद्देश्यपूर्ति का विनम्र प्रयास है।

तुलसीदास पर अद्यावधि इतना विपुल समीक्षा-साहित्य निर्मित हो चुका है कि अब जो भी शोधप्रबंध लिखा जाएगा वह सर्वथा सर्वांशतः मौलिक नहीं हो सकता। दृष्टि की नवीनता, पूर्ववर्ती अनुशीलन के विस्तार, उत्तमर्ण स्रोतों की गवेषणा, विशिष्ट पक्षों के सूक्ष्मतर अनुसंधान, तुलनात्मक अध्ययन आदि के रूप में ही मौलिकता की संभावना है। प्रस्तुत प्रबंध इन्हीं अर्थों में मौलिक है। कवि की समस्त कृतियों में उपलब्ध दार्शनिक वचनों की छान-बीन कर के उत्तमर्ण शास्त्रों द्वारा निरूपित सनातनधर्म, आध्यात्मिक दर्शन और भक्तिमत की व्यापक भूमिका में तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धांतों की आगमनात्मक विधि से मीमांसा की गयी है। प्रत्येक कथन को अपेक्षानुसार प्रमाणपुष्ट करने का यथासंभव प्रयास किया गया है।

इस ग्रंथ में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'उपक्रम' है। इस अध्याय के पूर्वभाग में भारतीय दर्शन की विशेषताएँ बतलाते हुए इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि तुलसीदास को दार्शनिक कहना और उनके दार्शनिक सिद्धांतों की मीमांसा करना कहाँ तक समीचीन है। अध्याय के उत्तरभाग में तुलसी की दार्शनिक प्रवृत्ति के प्रेरक युग और व्यक्तित्व का दिग्दर्शन कराकर उनकी दार्शनिक विचारधारा के सम्यक् अवधारण की भूमि तैयार की गयी है। द्वितीय अध्याय में ब्रह्म राम, उनकी शक्ति माया और त्रिदेवों का स्रोतानुसंधानपूर्वक विशद एवं व्यापक अध्ययन किया गया है। तृतीय अध्याय में आकर-ग्रंथों की पृष्ठभूमि में तुलसी-प्रतिपादित जीव के स्वरूप, कर्मवाद, विविध शरीरों, कोशों, अवस्थाओं, पुरुषार्थों, तापों, मुक्तावस्था आदि का अनुशीलन है। चतुर्थ अध्याय में तुलसीदास की सृष्टिप्रक्रियाविषयक मान्यता और जगत् के स्वरूप आदि की गवेषणात्मक विवेचना की गयी है। पंचम अध्याय में पूर्ववर्ती शास्त्रों के आधार पर कारणनिर्देशपूर्वक यह प्रतिपादित किया गया है कि तुलसी को मोक्ष के तत्त्वतः दो साधन मान्य हैं—ज्ञान तथा भक्ति। और उन दोनों में भक्ति श्रेष्ठ है। तुलसीदास का दर्शन धर्मप्राण दर्शन है। 'धर्मविधि'-नामक षष्ठ अध्याय में तुलसी की धर्मभावना की विस्तृत मीमांसा की गयी है। सप्तम अध्याय में ज्ञान के स्वरूप और उसके प्रमाकारक एवं अनुभवकारक साधनों का वेदांत, 'योगवासिष्ठ', पातंजल योगदर्शन आदि की भूमिका में अध्ययन किया गया है। अष्टम अध्याय 'भक्तिनिरूपण' है। इस अध्याय में शास्त्र-प्रतिपादित भक्ति का विशद विवेचन कर के तुलसी के भक्तिसिद्धांत का अभिनिवेशपूर्वक व्यापक निरूपण किया गया है। 'उपसंहार'-नामक नवम अध्याय में तुलसी के निगमागमपुराण-संमत दर्शन की उन दर्शनों के साथ तुलनात्मक समीक्षा करके यह स्थापना की गयी है कि वे सांप्रदायिकता से मुक्त हैं, उनकी विचारधारा पौराणिक विचारधारा है, उनका दर्शन समन्वयवादी दर्शन है।

काव्यदर्शन और भक्तिरस भारतीय दर्शन का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। हाँ, पश्चिम में ऐस्थेटिक्स को फ़िलॉसफ़ी का अंग अवश्य माना गया है। हमारे यहाँ काव्यरसमीमांसा काव्शास्त्र का ही अंग रही है। अतएव इस प्रबंध के अंतर्गत अध्यायरूप में उसकी योजना नहीं की गयी। परंतु भक्तकवि तुलसीदास के भक्तिदर्शन की दृष्टि से उनके काव्यदर्शन और भक्तिरससिद्धांत का विवेचन भी अपेक्षित प्रतीत हुआ। इसलिए अनुबंध के रूप में उसका समावेश किया गया है। वस्तुतः, इस अध्ययन के बिना तुलसी-दर्शन-मीमांसा अपूर्ण रह जाती।

बंधुवर अमलदार सिंह के प्रोत्साहन के फलस्वरूप ही विषम परिस्थितियों में भी यह प्रबंध संपन्न हुआ है। अतएव यह कृति उन्हीं को समर्पित है। तुलसी-दर्शन के विशेषज्ञ डा० बलदेव प्रसाद मिश्र की ज्ञानसंपत्ति से मैंने यथेष्ट लाभ उठाया है। उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। दर्शन-शास्त्र के वरिष्ठ विद्वान् माननीय ठा० जयदेव सिंह ने कितनी ही जटिल समस्याओं का समाधान करके मुझे अनुगृहीत किया है। मैं उनके प्रति सादर आभार व्यक्त करता हूँ। यह शोधप्रबंध पूज्य गुरुवर डा० दीनदयालु गुप्त की देख-रेख में लिखा गया है।

यह तो वस्तु उन्हीं की है, उनका धन्यवाद कैसा !

उदयभानु सिंह

संकेताक्षर

अ०	अध्याय
अ० पु०	अग्निपुराण
अनु०	अनुच्छेद, अनुवादक
अथर्व०	अथर्ववेद-संहिता
अ० रा०	अध्यात्मरामायण
अष्ट०	अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय
अहि० सं०	अहिर्बुध्न्यसंहिता
आदिपु०	आदिपुराण
आ०रा०	आनन्दरामायण
ईशा०	ईशावास्योपनिषद्
ऋ०	ऋग्वेद-संहिता
ऐ० उ०	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० उ० पर शा० भा०	ऐतरेयोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
क० उ०	कठोपनिषद्
क० उ० पर शा० भा०	कठोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
कवि०	कवितावली
कू० पु०	कूर्मपुराण
कृ०	कृष्णगीतावली
के० उ०	केनोपनिषद्
के० उ० पर शा० भा०	केनोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
कौषी०	कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
ग० पु०	गरुडपुराण
गीता पर गू० दी०	गीता पर गूढार्थदीपिका
गीता पर रा० भा०	गीता पर रामानुज-भाष्य
गीता पर शा० भा०	गीता पर शाङ्करभाष्य
गी०	गीतावली
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
छा० उ० पर शा० भा०	छान्दोग्योपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
जया० सं०	जयाख्यसंहिता

जा० म०	जानकीमंगल
त० वै०	तत्त्ववैशारदी
तु० दे०—	तुलना करके देखिए—
तै० आ०	तैत्तिरीयारण्यक
तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० उ० पर शा० भा०	तैत्तिरीयोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
दे०—	देखिए—
देवीभागवतपु०	देवीभागवतपुराण
दो०	दोहावली
ना० पु०	नारदपुराण
ना०भ० सू०	नारदभक्तिसूत्र
न्यायसूत्र पर वा० भा०	न्यायसूत्र पर वात्स्यायनभाष्य
प० पु०	पद्मपुराण
पा० मं०	पार्वतीमंगल
प्र० उ०	प्रश्नोपनिषद्
प्र० उ० पर शा० भा०	प्रश्नोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
०रा०	बरवैरामायण
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० उ० पर शा० भ०	बृहदारण्यकोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
ब्रह्मपु०	ब्रह्मपुराण
ब्र० वै० पु०	ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्र० सू० पर अणुभा०	ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य
ब्र० सू० पर नि० भा०	ब्रह्मसूत्र पर निम्बार्क-भाष्य
ब्र० सू० पर म० भा०	ब्रह्मसूत्र पर मध्व-भाष्य
ब्र० सू० पर रा० भा०	ब्रह्मसूत्र पर रामानुज-भाष्य (श्रीभाष्य)
ब्र० सू० पर शा० भा०	ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य (शारीरकभाष्य)
ब्र० सू० पर विज्ञान०	ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानभिक्षु-भाष्य (विज्ञानामृत-भाष्य)
भ० च०	भक्तिचन्द्रिका
भ० र०	भक्तिरसायन
भवि० पु०	भविष्यपुराण
भा० पु०	भागवतपुराण (श्रीमद्भागवतमहापुराण)
भा० पु० मा०	भागवतपुराणमाहात्म्य
भा० सं०	भागवत संप्रदाय
भा० द० (उ० मि०)	भारतीयदर्शन, लेखक—डा० उमेश मिश्र

भा० द० (ब० उ०)	भारतीय दर्शन, लेखक—पं० बलदेव उपाध्याय
म० पु०	मत्स्यपुराण
मनु०	मनुस्मृति
मनु० पर म०	मनुस्मृति पर कुल्लूकभट्ट की मन्वर्थदीपिका
महा०	महाभारत
मा० उ०	माण्डूक्योपनिषद्
मा० उ० पर शा० भा०	माण्डूक्योपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
मा० पी०	मानस-पीयूष
मा० पु०	मार्कण्डेयपुराण
मि० दे०—	मिलाकर देखिए—
मुक्ता०	मुक्ताफल
मु० उ०	मुण्डकोपनिषद्
मु० उ० पर शा० भा०	मुण्डकोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
यजु०	यजुर्वेद-संहिता
यतीन्द्र०	यतीन्द्रमतदीपिका
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
याज्ञ० पर मि० (वि०)	याज्ञवल्क्यस्मृति पर विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा
यो० वा०	योगवासिष्ठ
यो० सू०	योगसूत्र
यो० सू० पर व्यासभा०	योगसूत्र पर व्यास-भाष्य
रा०	रामचरितमानस
रा० उ०ता० उ०	रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
रा० पू० ता० उ०	रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
रा० न०	रामलला-नहछू
रा० र० उ०	रामरहस्योपनिषद्
रा० प्र०	रामाज्ञा-प्रश्न
लि० पु०	लिङ्गपुराण
वामनपु०	वामनपुराण
वायुपु०	वायुपुराण
वाराहपु०	वाराहपुराण
वा० रा०	वाल्मीकि-रामायण
वि०	विनयपत्रिका
वि० पर सि० ति०	विनयपत्रिका पर सिद्धान्त-तिलक
वि० चू०	विवेकचूडामणि
वि० ध० पु०	विष्णुधर्मोत्तरपुराण
वि० पु०	विष्णुपुराण

वे० प०	वेदान्तपरिभाषा
वे० सा०	वेदान्तसार
वै० म० भा०	वैष्णवमताब्जभास्कर
वै० म० भा० गु०	वैष्णवमताब्जभास्कर (गुटका)
वै० सं०	वैराग्य-संदीपिनी
श० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
शा० भ० सू०	शाण्डिल्यभक्तिसूत्र
शा० भ० सू० पर भ० च०	शाण्डिल्यभक्तिसूत्र पर भक्तिचन्द्रिका
शि० पु०	शिवपुराण
श्वे० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
श्वे० उ० पर शा० भा०	श्वेताश्वतरोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य
सा० का०	साङ्ख्यकारिका
सा० का० पर गौड०	साङ्ख्यकारिका पर गौडपाद-भाष्य
सा० का० पर पर०	साङ्ख्यकारिका पर परमार्थ की व्याख्या
सा० का० पर वाच०	साङ्ख्यकारिका पर वाचस्पतिमिश्र की साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी
सा० सू०	साङ्ख्यसूत्र
सा० द०	साहित्यदर्पण
सि० ति०	सिद्धान्त-तिलक
सि० बि०	सिद्धान्तबिन्दु
सी० उ०	सीतोपनिषद्
स्कन्दपु०	स्कन्दपुराण
ह० र० सि०	हरिभक्तिरसामृतसिन्धु

तुलसी-दर्शन-मीमांसा

प्रथम अध्याय

उपक्रम

भारतीय दर्शन—

'दृश्' धातु का अर्थ है 'देखना'—स्थूल नेत्र से स्थूल तत्त्वों को देखना, सूक्ष्म नेत्र (प्रज्ञाचक्षु) से सूक्ष्म तत्त्वों को देखना। करण-व्युत्पत्ति से 'दर्शन' का अर्थ है—जिसके द्वारा देखा जाए अर्थात् ज्ञान प्राप्त किया जाए; भाव-व्युत्पत्ति से उसका अर्थ है—ज्ञान।[1] देखने के तीन रूप हो सकते हैं—ऐंद्रिय प्रेक्षण, परिकल्पनात्मक ज्ञान अथवा सहजानुभव। इन्हें हम तथ्यों का निरीक्षण, तार्किक जिज्ञासा अथवा आत्मा की अंतर्दृष्टि भी कह सकते हैं। सामान्यत: 'दर्शन' का व्यवहार आलोचनात्मक व्याख्यान, तार्किक पर्यवेक्षण या वेदांत आदि चिंतन-संप्रदायों के लिए होता है। अपने पारिभाषिक अर्थ में 'दर्शन' तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान या परमात्मज्ञान का वाचक है।[2] वह आध्यात्मिक प्रत्यक्ष है। अनुभव का प्रमाणपूर्वक उपस्थापन एवं उसकी तर्कसंगत मीमांसा है।[3] "संसार के मर्म का, जीवन-मरण के रहस्य का, सुख-दु:ख के हृदय का, अपने स्वरूप का, पुरुष और पुरुष की प्रकृति का, जिस ज्ञान से दर्शन हो जाए वह दर्शन है।···सब शास्त्रों के सार को, तत्त्व को, पहिचानने की शक्ति हो जाए, सब में एक ही अर्थ, एक ही परमात्मा की विविध विचित्र अनंतकला, देख पड़ने लगे, समदर्शिता हो जाए, सब असंख्य मतों, धर्मों, रुचियों का विरोध-परिहार और सच्चा परस्पर समन्वय हो जाए, सब बातों के भीतर एक ही बात देख पड़े वह सच्चा दर्शन है।"[4] तुलसीदास ने 'दर्शन' के लिए 'ब्रह्मविचार', 'तत्वबिचार' आदि[5] और 'दार्शनिक' के लिए 'ब्रह्मज्ञानी', 'ब्रह्मवादी', 'परमारथबादी', 'परमारथबिदक', 'तत्त्वदरसी', 'अद्वैतदरसी' आदि[6] शब्दों का व्यवहार किया है। इस प्रकार उनके अनुसार परमार्थरूप ब्रह्म

१. दे०—भा० द० (ब० उ०), पृ० ३-४; भा० द० (उ० मि०), पृ० ५-६: दर्शन का प्रयोजन, पृ० १९-२०, १३६-५२

२. अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। —गीता, १३।११
आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:···दर्शनेन···सर्वं विदितम्। —बृ० उ० २।४।५
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। —मु० उ० २।२।८
सम्यग्दर्शनसम्पन्न: कर्मभिर्न निबध्यते। —मनु० ६।७४
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि। —भा० पु० १।६।३४

३. दे०—इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द १, पृ० ४३-४४
दर्शनं तत्त्वज्ञानसाधनशास्त्रम्। —सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह, पृ० ९७

४. दर्शन का प्रयोजन, पृ० २०

५. रा० ७।१२२।६, रा० १।१४२।४

६. वि० ५७।४, वि० ५४।४, रा० १।१०८।३, रा० ७।१०५।२, वि० ४७।६, वि० ५७।९

राम, उनके अंशभूत जीव तथा जगत्, उनकी भक्ति और भक्तिसाधनों का सम्यक् ज्ञान 'दर्शन' है। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने साहित्य में इन विषयों का निरूपण किया है।

'दर्शन' और 'फ़िलॉसफ़ी' समशील नहीं है। 'फ़िलॉसफ़ी' भूतविज्ञान के स्तर का ही विद्यानुराग है[१] (फ़िलॉस=अनुराग, सोफ़िया=विद्या)। वह अन्य शास्त्रों का सहायक शास्त्र है।[२] उसकी स्थिति स्वतंत्र नहीं है। उसका आरंभ विस्मय से है।[३] वह कल्पनाकुशल कोविदों का मनोविनोद है। आश्चर्यमय वस्तुओं के रहस्यों को जानने के कुतूहल का शमन है। "पश्चिम का तत्त्वज्ञ उस नाविक के समान होता है, जो बिना किसी गन्तव्य स्थान का निर्धारण किये ही अपनी नौका विचार-सागर में डाल देता है।"[४] 'दर्शन' की स्थिति स्वतंत्र है। वह सभी विद्याओं का आधार और प्रकाशक है।[५] वह कुतूहल-शांति का मनोविलास नहीं है। 'अथातो भक्तिजिज्ञासा'[६], 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[७], 'अथातो धर्मजिज्ञासा'[८] आदि में प्रयुक्त 'जिज्ञासा' कुतूहल मात्र नहीं है। उसके पहले का 'अथ' अधिक अर्थगर्भित है, जो 'दर्शन' के दुःखाभिघात-विषयक प्रयोजन का अभिव्यंजक है। भारतीय दर्शन मोक्षशास्त्र, निर्वाणदर्शन अथवा परमार्थदर्शन है। वह अनुभूति की व्याख्या है। उस व्याख्या में विवेचना और आलोचना को भी यथेष्ट गौरव दिया गया है। दर्शन के व्यवस्थित प्रतिपादन के लिए ही तर्क ही सहायता ली गयी है। उसमें तर्क का स्थान केवल इस सीमा तक है कि दार्शनिकों की वह अनुभूति तर्कसंमत है, बुद्धिसमर्थित है। पश्चिम में 'साल्वेशन' केवल नरक से छुटकारा है, हमारे यहाँ मोक्ष स्वर्ग और नरक दोनों से मुक्ति है। भारतीय दार्शनिक "दुःखत्रय के आमूल उच्छेद की भावना से प्रेरित होता है और साध्य का निश्चय करके ही वह साधनमार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। प्रत्येक दर्शन के कर्त्ता का मार्ग तथा गन्तव्य स्थान यथार्थतः विवेचित तथा निर्दिष्ट है। उसे अपने मार्ग से भटकने का तनिक भी डर नहीं है। अतः भारतीय दार्शनिक की दृष्टि पाश्चात्य दार्शनिक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक तथा लोकोपकारिणी, सुव्यवस्थित तथा सर्वांगीण होती है।"[९]

भारतीय दर्शन का वास्तविक तत्त्व उसका तर्कमय बाहरी ढाँचा नहीं, बल्कि उसका आभ्यंतर अनुभव-तत्त्व है जो उस तर्कमय ढाँचे का आधार है। यवनानी 'फ़िलॉसफ़ी' बुद्धि-प्रेम है, जर्मन 'वेल्टन्शाऊँग' (Weltanschauung) विश्व-प्रत्यक्ष या विश्व-दर्शन है; किंतु भारतीय दर्शन अंतर्दर्शन है। उसमें अनुभवगम्य विषय की अपेक्षा अनुभवगम्य विषयी की ओर विशेष ध्यान

---

१. भा० द० (ब० उ०), पृ० ४-५
२. भा० द० (ब० उ०), पृ० ११
३. दर्शन का प्रयोजन, पृ० ३५-३६
४. भा० द० (ब० उ०), पृ० ६
५. ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां···प्राह। —मु० उ० १।१।१
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः परमात्मनो विद्यां···सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः, सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव विज्ञायत इति, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० उ० ६।१।३) इति श्रुतेः। —मु० उ० १।१।१ पर शा० भा०
६. शा० भ० सू० १।१।१
७. ब्र० सू० १।१।१
८. मीमांसासूत्र, १।१।१
९. भा० द० (ब० उ०), पृ० ६

दिया गया है।[१] इसीलिए जाग्रत् के साथ ही सुप्ति और सुषुप्ति की भी तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। फ़िलॉसफ़ी ऐंद्रिय प्रत्यक्ष पर आश्रित है। दर्शन तत्त्वचिंतन के लिए अतींद्रिय प्रत्यक्ष पर बल देता है। तुलसीदास के साहित्य में इसी प्रकार के अनुभव की रमणीय अभि-व्यंजना हुई है। महात्मा गांधी के इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि "मानस अनुभव-जन्य ज्ञान का भंडार है।"[२] रामचरितमानस-विषयक यह कथन 'विनयपत्रिका' आदि के विषय में भी समान रूप से चरितार्थ होता है। सत्ता के विषय में भारतीय दार्शनिक की दृष्टि अवै-यक्तिक, आदर्शवादी और ध्यान-प्रधान है। फ़िलॉसफ़ी अधिक भूतविश्लेषणप्रधान और दिखा-वटी है।[3] परमार्थ के स्वरूपज्ञान के लिए दार्शनिक विचारणा का आरंभ दो केंद्रबिंदुओं से हो सकता है—दृक्-आत्मा के अथवा दृश्य-जगत् के। भारतीय चिंतन का केंद्रबिंदु आत्मा है। इसीलिए हमारे यहाँ आत्मज्ञान पर इतना बल दिया गया है। दर्शन जीव और ईश्वर की सहज मैत्री तथा एकता पर बल देता है। फ़िलॉसफ़ी में ऐसा नहीं है।[४] दर्शन मानव और प्रकृति में सुहृत्संबंध मानता है, फ़िलॉसफ़ी दोनों के सतत संघर्ष और परिणामस्वरूप एक-दूसरे की जय-पराजय को सत्य मानती है।[५] दार्शनिकों को ही समाज का शासक और निदेशक होना चाहिए—अफ़लातून का यह सिद्धांत भारतीय जीवन में चरितार्थ हुआ है। भारतीय संस्कृति को ब्राह्मण-संस्कृति कहने का तात्पर्य यही है कि उसके जनजीवन की प्रकृति और प्रवृत्तियों का निर्माण दार्श-निकों और धर्मचिंतकों द्वारा हुआ है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वे सभी विचारक ब्राह्मण नहीं हैं।[६]

भारतीय दर्शन की विशेषताएँ—भारतीय दर्शन गहरी आध्यात्मिक भावना से अनुप्राणित है। अतएव भौतिक या आर्थिक दृष्टि से उसका विवेचन नहीं हो सकता। भारतीय दार्शनिक ने (चार्वाक को छोड़कर) भातिक जीवन और उसकी सिद्धियों को जीवन का चरम लक्ष्य कभी नहीं माना। यही कारण है कि आधिभौतिक विद्याएँ अपराविद्या, अविद्या आदि कहकर दर्शन से निम्न कोटि में रखी गयीं; जीव को विषयाभिमुख करनेवाले और विनाशधर्मा वित्त को हेय समझा गया।[७] भारतीय दर्शन तत्त्वतः आध्यात्मिक दर्शन है। वह सत्य के अनुभव और भ्रांति के निराकरण के लिए प्रयत्नशील रहा है। आध्यात्मिक अनुभव संपूर्ण भारतीय संस्कृति का

---

1. The really essential part of (Indian) philosophy is not its logical superstructure, but its inner core of experience upon which that logical structure rests.
   (The Philosophy of Rabindra Nath—Dr. S. K. Maitra)—Rabindra Nath, P. 31
२. कल्याण, रामायणाङ्क, पृ० ४२५
३. दे०—इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द १, पृ० ३१
४. दे०—इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द १, पृ० ४१
5. Truth appears to them (The Europeans), in its aspect of dualism, the perpetual conflict which has no reconciliation, and which can only end in victory or defeat...But in the level tracts of India, men found no barriers between their lives and the ground life that permeates the universe.
   —Rabindra Nath Tagore—A Philosophical Study, P. 118,
   quoted from Rabinbra's Creative Unity P. 47
६. दे०—इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द १, पृ० २५
७. मु० उ० १।१।५, श्वे० उ० ५।१, बृ० उ० ३।५।१, रा० २।१२।४,६।६१।४, वि० १२०।२

आधार है।[1] भौतिक सत्ता की भंगुरता की भावना और आध्यात्मिकता ने हमारी जीवन-दृष्टि को बहुत प्रभावित किया। अतः यह लोक मर्त्यलोक कहलाया। जीवन के उच्चतर मूल्यों एवं शाश्वत सुख की प्राप्ति की तुलना में हमने पार्थिव ऐश्वर्य का सदैव उपसर्जन किया। भारतीय चिंतन के संपूर्ण इतिहास में इस स्थूल कर्मलोक से परे एक सूक्ष्म, सत्य और आदर्श लोक की कल्पना की जाती रही है। वही जीव का सच्चा धाम है।[2] भौतिक विषयों के दोषदर्शन तथा जीवन की दुःखमयता का नानाविध उपस्थापन देखकर भारतीय तत्त्वचिंतकों को निराशावादी नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः, भारतीय दर्शन आशावादी है। वर्तमान के प्रति असंतोष तत्त्वतः निराशावाद नहीं है। यह असंतोष आध्यात्मिक है, मनोरम भविष्यकल्पना और विचारशास्त्र का प्रेरक है। दुःखत्रय के अभिघात की जिज्ञासा ही भारतीय दर्शन की उद्गमभूमि है। इस आरंभिक निराशावाद का अवसान आशा, दुःखध्वंस और आनंदोपलब्धि में है। शाश्वत सुख की आशा को निराशावाद नहीं कहा जा सकता।

भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष को परमपुरुषार्थ माना है। अतएव मोक्ष-निरूपण उनकी तत्त्वचिंता का आवश्यक अंग है। यद्यपि मोक्ष के स्वरूप के विषय में उनमें परस्पर मतभेद है तथापि ताप-संताप से आत्यंतिक निवृत्ति सभी को मान्य है। उनकी मुक्ति केवल काल्पनिक परलोक में दुःख निवृत्तिमात्र नहीं है। जीवन्मुक्ति का आदर्श अधिकांश दर्शनों में स्वीकृत किया गया है। जीवन्मुक्ति न मानने वाले वैष्णव दर्शनों को भी आत्मा की उन्नत अवस्था में जीवन के उद्देश्य में महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य मान्य है।[3] मुक्ति को वैयक्तिक वस्तु मानते हुए भी भारतीय तत्त्वचिंतकों ने सार्वजनीन कल्याण-चेतना को विशेष गौरव दिया है। भारतीय दर्शन का आरंभ ही संसारबंध-मुमुक्षा, आत्यंतिकदुःखजिहासा, से होता है।[4] यह सभी का अभिमत है कि संसार के सभी बंधनों का कारण अविद्या है। अतएव अविद्या के निराकरण का उपाय करना चाहिए। अपने इस प्रयास में भारतीय दर्शन चिकित्साशास्त्र की भाँति चतुर्व्यूहात्मक है। जिस प्रकार आयुर्वेद में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य पर विचार किया गया है उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय पर।[5] इन्हीं को बौद्ध दर्शन में चार आर्यसत्य कहा गया है।[6] तुलसी ने भी रोग के अनुसार चिकित्सा पर बल देकर रूपक के सहारे चित्त की

1. Spiritual experience is the foundation of India's rich cultural history. It is mysticism, not in the sense of involving the exercise of any mysterious power, but only as insisting on a discipline of human nature, leading to a realization of the spiritual. —Indian Philosophy, Vol. I, P. 41

२. दे०—इण्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द २, पृ० ७६६

३. भा० द० (ब० उ०), पृ० ४४

४. ब्र० सू० १।१।१ पर शा० भा० और रा० भा०, वि० चू० ५१; न्यायसूत्र, १।१।२; सा० का० १; यो० सू० २।१५-१६

५. तदिदं मोक्षशास्त्रं चिकित्साशास्त्रवच्चतुर्व्यूहात्मकम्।

—सा० सू० १।१ पर साङ्ख्यप्रवचनभाष्य की अवतरणिका

यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। —यो० सू० २।१५ पर व्यासभा०

६. दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा।

दे०—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० २७३-७४; दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५०२-६

रोगमुक्ति का उपस्थापन किया है।[1] मोक्षोपाय के विधान में साधन-तत्त्व का निरूपण सभी दर्शनों का एक प्रधान अंग है। उसमें जीव की त्रिविध मूल वृत्तियों (इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया) के अनुसार भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय उपस्थित किया गया है। चित्तशुद्धि के लिए सभी ने अष्टांगिक योगमार्ग और आचारनिष्ठा की महिमा स्वीकार की है। विभिन्न दर्शनों में साधक की अवस्था, शक्ति, वृत्ति और प्रवृत्ति के अनुसार अंगविशेष को अपेक्षाकृत अधिक या कम महत्त्व दिया गया है। हमारे यहाँ तत्त्वदर्शन का लक्ष्य रहा है जीवन-शोधन। उसमें जीवन की शाश्वत और मूलभूत समस्याओं का समाधान उपस्थित किया गया है।

भारतीय दर्शन की एक विशेषता उसमें वैज्ञानिक तत्त्व का संनिवेश है। दर्शनशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का शास्त्रोचित वर्गीकरण, विभाजन और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को भी उसमें पर्याप्त स्थान दिया गया है। उस मनोवैज्ञानिक विवेचन का लक्ष्य अन्तःकरण की विविध वृत्तियों के अध्ययनपूर्वक उन वृत्तियों और दुःखों का निरोध करके चित्त की अचल विमुक्ति है। इसीलिए दार्शनिकों ने जीव के सूक्ष्म शरीर, विविध कोशों आदि का इतना विशद निरूपण किया है। परंपरा के प्रति आस्था और सत्य के प्रति निष्ठा भारतीय तत्त्वचिंतन की दो अन्यतम विशेषताएँ हैं।[2] भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगमागममूलक है। निगमागमप्रामाण्य उन विचारकों की श्रद्धा का सूचक है। परंतु उनकी श्रद्धा अंधविश्वास नहीं है। भारतीय दर्शन अनुसंधान और अनुभव पर प्रतिष्ठित है। प्राचीन मनीषियों द्वारा उपस्थापित दर्शन सत्यानुसंधान के अनवरत प्रयास का परिणाम है; तर्क की कसौटी पर परीक्षित है। ईश्वर तक पर शंका की गयी है, उन शंकाओं का समाधान किया गया है। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निश्चित मतों का भी प्रबलतर प्रमाणों द्वारा खंडन करके नवीन सिद्धांतों की स्थापना की गयी है। श्रुतियों में प्रतिपादित सिद्धांत साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का प्रातिभचक्षु द्वारा उपलब्ध अपरोक्षानुभव है। शुद्धहृदय द्रष्टाओं की अनुभूति स्थूलबुद्धि प्राकृतजन को हठवाद प्रतीत होती है।[3] अनिर्वचनीय परमसत्य, मूलभूत परमतत्त्व, सभी को मान्य है। उस सत्य की प्राप्ति, उसका उच्चतम अनुभव, परमार्थज्ञान, ही भारतीय दार्शनिक का अभीष्ट रहा है। उसके सारे प्रयास उस परमानुभूति तक पहुँचने के ही साधन हैं।

भारतीय दर्शन चैतन्यवादी है। वह इस बाह्य दृश्य-स्थूल जगत् के अंतस्तल में ओतप्रोत एक चेतन तत्त्व की सत्ता मानता है। यह एकात्मदर्शन भारतीय दर्शन का संग्राहक सूत्र है, ज्ञान की पराकाष्ठा है। पुनर्जन्म (चार्वाक को छोड़कर) सभी दर्शनों की स्वयंसिद्धि है। आत्मा के स्वरूप के विषय में मतभेद रखते हुए भी आत्मतत्त्व के साक्षात्कार पर सभी बल देते हैं। कर्म-सिद्धांत सभी को मान्य है। इस जगत् की अपरिवर्तनीय व्यवस्था का संचालन एक व्यापक नियम, अनतिक्रमणीय शक्ति, के द्वारा होता है। काल, कर्म, स्वभाव, अदृष्ट, अपूर्व आदि उसके विभिन्न अभिधान हैं। किंतु भारतीय दर्शन अकर्मण्यतावादी नहीं है। कर्मवाद उसका प्रौढ़ सिद्धांत है।

---

१. मैं हरि साधन करइ न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी ॥ —वि० १२२।१
दे०—रा० ७।१२१।१४—७।१२२।६

२. इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द २, पृ० ७६६

३. इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द १, पृ० ५१

वह सुख-दु.ख को शुभाशुभ कर्मों का फल मानता है। वह दुःखमय वर्तमान को सुखमय भविष्य में परिवर्तित कर देने की आशा से कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश करता है। जगन्मिथ्यावादी शंकर तक ने जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके सत्कर्म के आचरण पर बल दिया है। उनका कर्मठ जीवन स्वयं अकर्मण्यता का विरोधी है। शंकर ने अपने **ब्रह्मसूत्रभाष्य** के उपोद्घात में और तुलसी ने 'रामचरितमानस' के विविध प्रसंगों में दर्शन और भक्ति के अधिकारी शिष्य के जिन गुणों का उल्लेख किया है उनसे यह सिद्ध है कि भक्तिदर्शन बौद्धिक प्रयत्न न होकर निष्ठापूर्ण जीवनसाधना है।

भारतीय दर्शन का धर्म से मूलतः घनिष्ठ संबंध है। भारतीय दर्शन ने सिद्धांत और प्रयोग में, वेदशास्त्र और जीवन में, आवश्यक संबंध माना है। इसीलिए हमारे यहाँ कोई भी धार्मिक आंदोलन ऐसा नहीं है जिसका आधार दर्शन न हो। प्रायः सभी महान् दार्शनिक धर्मसंस्थापक भी हैं। भारतीय दर्शन विचारों तथा तर्कों का बौद्धिक व्यापार अथवा सारस्वत व्यायाम नहीं है। उसने जीवन का, उपदेशों एवं सिद्धांतों का, आदर्श प्रस्तुत किया है। हमारा दार्शनिक केवल विचारक और शिक्षक ही नहीं रहा, उसने अपने जीवन को उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित किया, अपने उपदेशों को जीवन में मूर्तिमंत किया। सदाचारपालन आध्यात्मिक ज्ञान का प्रथम सोपान माना गया। दर्शन और धर्म के घनिष्ठ संबंध का यही कारण है। धर्म और दर्शन की घनिष्ठता का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि ईश्वर भी दार्शनिक विचारणा का विषय बन गया। आगे चलकर वेदांत के विभिन्न संप्रदायों में वही दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य माना जाने लगा। धार्मिक समस्याओं ने दार्शनिक विचारणा को प्रेरणा दी। सांप्रदायिक धर्मचिंतकों ने अपने संप्रदाय की आप्तता एवं श्रेयस्करता की गौरववृद्धि के लिए उसे दर्शन की दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। रामानंद-संप्रदाय में **आनन्दभाष्य** की तथा चैतन्य-संप्रदाय में **गोविन्दभाष्य** की रचना इसी भावना से प्रेरित होकर की गयी थी।

भारतीय दर्शन प्रगतिशील है, तत्त्वचिंतनधारा का अविच्छिन्न प्रवाह है। युग-परिस्थितियों के अनुसार विचारकों में परिवर्तन होता गया है। उनमें दार्शनिक विकास का अटूट क्रम है। परस्पर एकान्विति और सापेक्षता है। उनमें जो भेद दिखायी पड़ता है वह अधिकारी और दृष्टिकोण के भेद के कारण है।[1] भारतीय दर्शन की दृष्टि समन्वयवादी है। दूसरों के ग्राह्य विचारों को ग्रहण करने में यहाँ के चिंतकों ने तनिक भी संकोच नहीं किया है। अनीश्वरवादी महायान-संप्रदाय में भक्ति का प्रवेश और वेदप्रामाण्यवादी पुराणों में वेदविरोधी बुद्ध का अवताररूप में स्वीकार आदि इसके पुष्ट प्रमाण हैं। परलोकवादी भारतीय दार्शनिकों ने प्रेय की अपेक्षा श्रेय को, अभ्युदय की अपेक्षा निःश्रेयस को, प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति को और व्यवहार की अपेक्षा परमार्थ को अधिक गौरव देते हुए भी दोनों के संतुलन पर पर्याप्त जोर दिया है।

तुलसीदास के साहित्य में भारतीय दर्शन की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। अतएव उनकी दार्शनिकता का विवेचन सर्वथा समीचीन है।

प्रतिपादन-शैली—दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करते समय प्राचीन मनीषियों द्वारा अनुबंधचतुष्टय और तात्पर्यनिर्णय का उपस्थापन किया गया है।[2] अपने दार्शनिक सिद्धांतों की

१. दे०—इण्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द २, पृ० ७६७, ७७०; भा० द० (उ० मि०), पृ० १८-२६

२. वि० चू० ५७६; वे० सा०, पृ० १-२, १२; शा० भ० सू० १।१।१ पर भ० च०

व्यवस्थित निबंधना के मुख्य ग्रंथ 'रामचरितमानस' में तुलसी ने भी इस परंपरा का, अपनी शैली में, निर्वाह किया है।

अनुबंधचतुष्टय—अनुबध्नाति लोकानिति अनुबंधः। जो श्रोताओं को बाँध लेता है अर्थात् जिसकी जानकारी ग्रंथविशेष में श्रोताओं की रुचि एवं प्रवृत्ति का कारण होती है, वह 'अनुबंध' है। अनुबंध चार हैं—१. विषय, २. प्रयोजन, ३. संबंध और ४. अधिकारी[1]। अतः इन्हें 'अनुबंधचतुष्टय' कहा जाता है। १. 'विषय' का अर्थ है प्रतिपाद्य वस्तु। तुलसीदास ने अपने प्रश्नकर्ता एवं उत्तरदाता पात्रों के मुख से तथा स्वयं भी 'रामचरितमानस' के मंगलाचरण, प्रतिज्ञावचन और प्रास्ताविक निवेदन में प्रतिपाद्य वस्तु का निर्देश किया है। भरद्वाज[2], पार्वती[3], लक्ष्मण[4], गरुड़[5] आदि के प्रश्नों तथा याज्ञवल्क्य[6], शंकर[7], राम[8], काकभुशुंडि[9] आदि के उत्तरों से स्पष्ट है कि तुलसी के प्रतिपाद्य विषय भगवान् राम, उनकी माया, जीव, धर्म, योग, वैराग्य, ज्ञान और भक्ति हैं। उनमें भी सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य भगवान् राम हैं—**प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना।**[10] 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की भाँति ही भरद्वाज की जिज्ञासा भी व्यक्त की गयी है—**रामु कवन प्रभु पूछौं तोहीं।**[11] तुलसी अवतारवादी और भक्तिवादी हैं। अतः राम के स्वरूपनिरूपण के साथ ही उनकी अवतारलीला और भक्ति भी उनके मुख्य प्रतिपाद्य हैं। उन्होंने अपने प्रतिपाद्य विषय का व्यवस्थित निर्देश निम्नांकित दोहे में छः शीर्षकों के अन्तर्गत किया है—

ब्रह्म निरूपन धर्म बिधि बरनहिं तत्व बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ज्ञान बिराग॥[12]

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा आदि से यह विदित है कि राम, रामभक्ति एवं पुराणनिगमादिसंमत रामकथा का प्रतिपादन ही उनका मुख्य लक्ष्य है।[13] २. किसी भी शास्त्र या कर्मविषयक प्रवृत्ति

---

१. दे०—मा० पी०, १।१ श्लोक ७, पृ० ४९
अधिकारी च विषयः सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।
ग्रन्थादावश्यकर्तव्याः कर्त्रा श्रोतृप्रवृत्तये॥
सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते॥
२. रा० १।४६।३-दोहा
३. रा० १।१०८।३-१।१११।२, १।१२०।३-४
४. रा० ३।१४।३-दोहा
५. रा० (७।५८।४-७।५९।२, ७।६४।२) ७।११५।६, ७।१२१।२-४
६. रा० १।४७।३...
७. रा० १।११२।१-१।११९।३, १।१२१।१...
८. रा० ३।१५।१-३।१६
९. रा० ७।७०।३-७।९२, ७।११७।१-७।१२०, ७।१२१।४-७।१२३।१
१०. रा० ७।६१।३
११. रा० १।४६।३
१२. रा० १।४४
१३. रा० १।१। श्लोक ६-७, १।२। १, १।८। ३, १।१३। ५, १।३१। ८

का हेतु 'प्रयोजन' है ।[1] स्वार्थ की दृष्टि से तुलसी की रचना का प्रयोजन है—स्वांतःसुख, आत्म-प्रबोध, अपने संदेह-मोह-भ्रम का निराकरण और मोक्षप्राप्ति ।[2] परार्थ की दृष्टि से उसका प्रयोजन है—मोह-भ्रम का निवारण, कलिमलहरण, लोक-मंगल या सर्वहित ।[3] दोनों का तात्पर्य एक ही है—मोह के निरासपूर्वक रामभक्ति द्वारा दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति । कवि के स्वांतःसुखाय और बहुजनहिताय—इन दो विरोधी प्रतीत होने वाले लक्ष्यों में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि, बहुजनहित में ही तुलसी का स्वांतःसुख है । अतः दोनों वस्तुतः एक ही हैं । **'जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना'**[4] से निर्विवाद सिद्ध है कि तुलसी के काव्य और विषय में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-संबंध है ।[5] उनके काव्य के प्रतिपाद्य विषय और उसके प्रयोजन में साध्य-साधक-भाव है । ४.दार्शनिकों ने कहा है कि जिसका अंतःकरण नितांत निर्मल है, जिसे नित्यानित्य वस्तु का विवेक है, जो विरक्त, शमादि से संपन्न और मुमुक्षु है, वह वेदांतज्ञान का 'अधिकारी' है ।[6] श्रौतपरंपरा ने अधिकारी की साधनसंपत्ति पर, विशेषकर धर्माचरण के द्वारा चित्त की निर्मलता और विषयविराग पर, पर्याप्त बल दिया है ।[7] तुलसीदास का कथन है कि जो श्रद्धाभक्ति, सत्संग-प्रेम, अतिशय भाव आदि से संपन्न तथा विषयविरक्त हैं, जिनकी रामकथा में रुचि और जिन पर राम की कृपा है, वे रामकथा के अधिकारी हैं ।[8] जिनमें उक्त गुणों का अभाव है वे भक्तिदर्शन के अनधिकारी हैं ।[9] नारी[10] और शूद्र[11] ब्रह्मज्ञान के अधिकारी न होते हुए भी भक्ति के अधिकारी हैं—जैसे, पार्वती, शबरी, गुह आदि ।

---

१. सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ।। —दे० —मा० पी० १ । १ । श्लोक ७
२. स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ।—रा० १।१। श्लोक ७
मोरे मन प्रबोध जेहि होई । —रा० १।३१। १
निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कह्यो । —रा० १।३६१। छं०
निज संदेह मोह भ्रम हरनी । करौं कथा भव सरिता तरनी ।। —रा० १।३१। २
स्वान्तस्तमःशान्तये —रा० ७। अन्तिम श्लोक १
३. जैसें मिटै मोर भ्रमु भारी । कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी ।। —रा० १।४७। १
मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की । —रा० १।१०। छं०
राम कथा गिरिजा मैं बरनी । कलिमल समनि मनोमल हरनी ।। —रा० ७।१२९। १
कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।। —रा० १।१४।५
४. रा० ७।६१।३
५. श्रीकान्तशरण जी ने 'रामचरितमानस' के सिद्धान्ततिलक की प्रस्तावना (पृ० १५)में कहा है कि "चार संवाद ही मानस के सम्बन्ध हैं"—उनकी यह मान्यता चिन्त्य है ।
६. दे०—ब्र० सू० पर शा० भा० का उपोद्घात; वि० चू० १४-३२; वे० सा०, पृ० १-२
७. मु० उ० ३।१।५, ३।२।१०-११ और उन पर शा० भा०; मनु० १।१०९, २।९७, ६।३५-३७, सा० सू० ३।३५, वि० चू० ८-११
८. राम कथा के तेइ अधिकारी । जिन्ह कें सतसंगति अति प्यारी ।।
गुर पद प्रीति नीति रत जेई । द्विज सेवक अधिकारी तेई ।। —रा० ७।१२८।३-४
और भी दे०—रा० १।३०।२-४, १।३८।१, १।४८।२, ७।११३।६, ७।१२८।१
९. रा० १।३८।२-१।३९।२, ७।११३।७, ७।१२८।२-३
१०. रा० १।११०।१
११. रा० ७।९९

नारी होने पर भी पार्वती को तत्त्वज्ञान के प्रति 'आरत अधिकारी'[1] बतलाकर तुलसी ने उनके प्रति शंकर से दार्शनिक तत्त्वविवेचन भी कराया है। अतः आर्तता, निष्ठा और अमायिक जिज्ञासा भी शिष्य की योग्यता है। दार्शनिक ज्ञान के अर्जन का नियम यह रहा है कि इन योग्यताओं से संपन्न अधिकारी-जिज्ञासु तत्त्ववेत्ता-अधिकारी गुरु की शरण में जाकर श्रद्धा, प्रार्थना, परिप्रश्न, सेवा आदि के द्वारा उससे परमतत्त्वज्ञान प्राप्त करे।[2] तुलसी के भरद्वाज, पार्वती, लक्ष्मण, गरुड़ आदि इसी प्रकार के तत्त्वजिज्ञासु अधिकारी श्रोता; एवं याज्ञवल्क्य, शंकर, राम, काकभुशुंडि आदि तत्त्ववेत्ता अधिकारी गुरु हैं।

तात्पर्यनिर्णय—तात्पर्यनिर्णय के छः साधन या लिंग बतलाये गये हैं—उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति।[3] 'रामचरितमानस' के आदि[4] और अंत[5] में प्रतिपाद्य वस्तु का उपपादन क्रमशः 'उपक्रम' और 'उपसंहार' है।[6] तुलसी ने अपने प्रतिपाद्य भगवान् राम, उनकी लीला और भक्ति का स्थान-स्थान पर पुनः पुनः प्रतिपादन किया है। यह 'अभ्यास'[7] है। उनके राम वाङ्मनस अगोचर, अतर्क्य, कल्पनातीत एवं शब्द आदि लौकिक प्रमाणों द्वारा अप्रमेय हैं। यह 'अपूर्वता' है।[8] अवतारी और अवतार तथा निर्गुण और सगुण में अभेद, विरोधी गुणों का राम में एकत्र संनिधान, राम का प्राकृत चरित आदि बातें भी 'अपूर्वता' के ही अंतर्गत हैं। रामकथा के श्रवण, कीर्तन आदि के द्वारा प्राप्य भक्ति-मुक्ति 'फल'[9] है। 'रामचरितमानस' की प्रस्तावना तथा प्रत्येक सोपान के अंतिम भाग में और अपनी समस्त कृतियों में स्थान-स्थान पर तुलसी ने फलश्रुतियों का बारंबार उल्लेख किया है। उन्होंने अपनी कृतियों में विविध दृष्टांतों, इतिहास-पुराण आदि की साक्षी, देवताओं की पुष्प-वर्षा आदि के द्वारा आद्योपांत ही पग-पग पर राम के ईश्वरत्व की घोषणा और उनकी महिमा का गान किया है। यह 'अर्थवाद'[10] है। प्रतिपाद्य राम[11] और माया,[12] जगत्,[13] जीव,[14] भक्ति[15] आदि के स्वरूप की

---

१. रा० १।११०।१-२, तु० दे०—अ० रा० १।१।८-९
२. मु० उ० १।२।१२-१३; गीता, ४।३४; वि० चू० ३३-५१, वे० सा० पृ० २
३. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये ॥ —अच्युत, पृ०१७१ पर उद्धृत
लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि। —वे० सा०, १२।११-१२
४. रा० १।१। श्लोक ६, १।११२।१-२
५. रा० ७।१२३।१, ७।१३०। छं०, अन्तिम श्लोक
६. प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ।
—वे० सा० १२।१२-१३; यथा—छा० उ० ६।२।१, ६।७।८
७. प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। —वे० सा०, १२। १५-१६;
यथा—छा० उ० के षष्ठ अध्याय में 'तत्त्वमसि' का नौ बार प्रतिपादन
८. प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। —वे० सा० १२।१८
९. फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्।
—वे० सा० २।१९-२१; यथा—छा० उ० ६।१४।२
१०. प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। —वे० सा० १२।२३; यथा—छा० उ० ६।१।२
११. रा० १।१। श्लोक ६, १।११६।१-२
१२. रा० ७।११६।२-३
१३. रा० १।११७, वि० १२१।२-३
१४. रा० ७।११७।१-३
१५. रा० ७।१२०।१-दोहा

सम्यक् अर्थ-प्रतीति कराने के लिए कवि ने अनेक प्रकार की सादृश्यमूलक युक्तियों की योजना की है। यह 'उपपत्ति'[1] है।

तुलसीदास के समक्ष दार्शनिक सिद्धांत-प्रतिपादन की तीन शैलियाँ थीं। १. दार्शनिक आचार्यों की पुंखानुपुंखविवेचनप्रधान शास्त्रीय शैली—जो गुरु के कठोर शासन की भाँति नीरस थी। २. इतिहास-पुराण की कथात्मक और संवादात्मक शैली—जो मित्र की शिक्षा की भाँति ज्ञानप्रद और नीरसतारहित थी। ३. 'बुद्धचरित', 'सौन्दरनन्द', 'नैषधीयचरित' आदि काव्यों की रसात्मक शैली—जो प्रेयसी के उपदेश की भाँति रमणीय थी। तुलसी पुराणवादी और कवि थे। अतएव उन्होंने अपने साहित्य में दार्शनिक सिद्धांतों का उपस्थापन करने के लिए अंतिम दो शैलियाँ अपनायीं। वे पारिभाषिक या शास्त्रीय अर्थ में दार्शनिक नहीं थे। वे दार्शनिक कवि थे। शास्त्रप्रणेता दार्शनिक और काव्य में दर्शनशास्त्र की निबंधना करने वाले कवि में अनेक प्रकार की समानताएँ एवं असमानताएँ होती हैं—तुलसी के विषय में यह तथ्य सदैव स्मर्तव्य है।

कवि की दार्शनिकता—

कवि और दार्शनिक दोनों ही मंगलमयी भावना से अनुप्राणित होकर जीवन की समीक्षा का चित्र प्रस्तुत करते हैं। काव्य में सर्वभूतमय भगवान् के विश्वव्यापक सुंदर रूप की, तथा दर्शन में उसके सत्यरूप की अभिव्यंजना पर अधिक बल दिया गया है। तुलसी-साहित्य में दोनों का समन्वय है। उनके शील-शक्ति-सौंदर्य-संपन्न राम परमार्थरूप[2] भी हैं और '**कोटि मनोज लजावनिहारे**'[3] भी। उनकी कृतियों में तर्क एवं तत्त्वविमर्श कल्पना तथा भाव के गुणीभूत हैं। इसलिए, वे दार्शनिक न होकर कवि हैं; कवि-दार्शनिक न होकर दार्शनिक-कवि हैं। दर्शन और काव्य दोनों ही आलोचनारूप हैं। दर्शन सहजज्ञान की समीक्षा है और काव्य जीवन की। दोनों ही अव्यवस्थित तथ्यावली को व्यवस्थित रूप प्रदान करते हैं। जिस प्रकार दर्शन तथ्यों की सूची न प्रस्तुत करके उनका विहित और नियमित रूप में तर्कसंगत उपस्थापन करता है, उसी प्रकार काव्य अस्तव्यस्त वैविध्यपूर्ण जीवन के तथ्यों का अनुकरण न करके उनकी व्यवस्थित एवं रमणीय अभिव्यंजना करता है। दोनों की ही रचना प्रतिभा एवं अनुभव पर आश्रित है। एक विचार-प्रधान है, दूसरा भाव-प्रधान। दोनों ही सम्पूर्ण विश्व के साथ हमारे संबंध की अभिव्यक्ति करते हैं। एक विवेक पर आश्रित है, दूसरा राग पर। दोनों ही जीवन के दर्पण हैं—जीवन के ऊपरी तल के नहीं, उसके अंतरतम एवं सुंदरतम पक्ष के। दर्शन की भाँति काव्य का लक्ष्य भी मुक्ति है। काव्य ही नहीं सभी कलाएँ मन की मुक्ति के द्वारा भावक को यथार्थ का आस्वाद कराती हैं।[४] दोनों ही आत्मानुभव हैं। दोनों में ही स्वगतत्व-परगतत्व का

---

१. प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा यक्तिरुपपत्तिः ।
—वे० सा० १२।२५-२६; यथा-छा०उ०६।१।४

२. रा० २।९३।४

३. रा० २।११७।१

4. For to give us the taste of reality through freedom of mind is the nature of all arts.
—Rabindra Nath
The Indian Philosophical Congress Silver Jnbilee Commemoration Volume, P. 305

विवशीभाव होता है। काव्य का लक्ष्य आनंदमय आत्मानुभव है। दर्शन का लक्ष्य प्रकाशमय आत्मानुभव है। जहाँ दोनों का समन्वय हो वह रचना निश्चय ही श्रेष्ठ है। तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका' आदि इसी कोटि की कृतियाँ हैं।

भारतवर्ष में काव्य और दर्शन आदि सभी विद्याओं के जीवन में सम्मिलित-परिवार-प्रथा की प्रतिष्ठा है। उनमें व्यक्तिवादी ईर्ष्याभाव, और सीमोल्लंघन करने वाली विद्याओं के प्रति दंड-विधायिनी प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है। ये तो पश्चिमी वाङ्मय की विशेषताएँ हैं।[१] भारतीय वाङ्मय में पाकिस्तान-जैसी कोई वस्तु नहीं है। हमारे यहाँ कवि का दार्शनिक और दार्शनिक का कवि होना अस्वाभाविकता, विरोध या विप्रतिपत्ति की बात नहीं है। 'कवि' शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक और गूढ़ है। वह काव्यकर्त्ता, तत्त्वदर्शी एवं सिद्धपुरुष एक साथ है।[२] किसी भारतीय महाकवि का दार्शनिक न होना ही आश्चर्य की बात है। तुलसीदास कवि थे, दार्शनिक थे, सिद्ध रामभक्त थे; अतएव उनके दर्शन की मीमांसा के बिना उनके योगदान का महत्त्वांकन असंभव है। यवन दार्शनिक अफ़लातून ने अपने आदर्श गणतन्त्र से कवियों के निष्कासन की घोषणा की थी। परंतु भारतवर्ष में ऐसा कभी नहीं हुआ। हमारे यहाँ दर्शन ने काव्य-संबंध की सदैव कामना की। इसका कारण यह है कि ऐकांतिक बुद्धि-विलास या पांडित्य-प्रदर्शन के प्रति भारतीय दर्शन-पंडितों का कभी आग्रह नहीं रहा। हमारे मनीषियों ने दर्शन को व्यावहारिक लोकजीवन में उतारने का सफल प्रयास किया।[3] तुलसी की कविता इसी प्रकार के आध्यात्मिक संदेश का माध्यम है।

सच्चे काव्य में यथार्थ का आदर्शीकरण और आदर्श की अनुभूति होती है। अतएव महत्तम काव्य में आदर्श कल्पना अथवा सच्चे दर्शन का संनिवेश आवश्यक है। इस दार्शनिक कल्पना के बिना महान् काव्य की सत्ता असम्भव है।[४] उदात्त जीवनदर्शन और उच्चतर अर्हा से रहित जो शब्दरचना केवल वचनविदग्धता, शिल्पनैपुण्य, कल्पनावैभव, चित्रवैविध्य, लयप्रवाह अथवा विचित्र वस्तुविन्यास मात्र से ही हमें प्रभावित करती है वह 'काव्य' नाम की अधिकारिणी नहीं है, उसे 'पद्य' कहना ही युक्तिसंगत है। यद्यपि कलाविशेष के रूप में काव्य का प्रयोजन किसी दार्शनिक सिद्धांत का शास्त्रीय प्रतिपादन करना नहीं है तथापि जब तक उसमें किसी अंतर्दर्शन का समावेश

---

1. ...in India all the Vidyas—Poesy as well as Philosophy—live in a joint family. They never have the jealous sense of individualism maintaining the punitive regulations against Tresspass that seem to be so rife in the West. —Rabindra Nath.
   —The Indian Philosophical Congress Silver Jubilee Commemoration Volume, P. 301
2. ...we never believed in any Pakistan in the region of human faculties. We never thought there was any anomaly in poet being a philosopher or a philosopher being a poet. The word Kavi has a much wider and deeper significance than the English word poet. A Kavi is a poet, a philosopher and a prophet rolled into one.
   —Rabindra Nath, P. 30
3. Plato as Philosopher decreed the banishment of poets from his ideal Republic. But, in India, philosophy ever sought alliance with poetry, because its mission was to occupy the people's life and not merely the learned seclusion of scholarship.
   —Rabindra Nath.
   —The Indian Philosophical Congress Silver Jubilee Commemoration Volume, P. 301
४. दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर (राधाकृष्णन्), पृ० १४५

न हो तब तक वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं कहा जा सकता। अतएव व्यापक जीवन-दर्शन की अखंडता भी काव्य की महत्ता की आवश्यक कसौटी है। इस प्रकार काव्य और दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय विचारक के अनुसार जब दार्शनिक का विवेक अंतर्दर्शन के रूप में प्रकाशित होता है तब काव्य प्रकृतितः उसकी सीमा के अंतर्गत आ जाता है।[1] तुलसी का काव्य इसी कोटि का काव्य है। वह प्रतिभा के तेज से मंडित है। उनकी धर्म-भावना का स्रोत वह गहन दर्शन है, जो जीवन के मूलभूत प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है, जो सत्ता के पारमार्थिक स्वरूप का प्रतिपादक है। उनके काव्य में दार्शनिक सिद्धांतों की सहज-सुदर अभिव्यक्ति हुई है। दर्शन ने सजीवता और सरसता प्राप्त कर ली है; वह केवल बुद्धि को ही नहीं, हृदय और सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करता है। वह ब्रह्मानंदरूप रस और ब्रह्मानंद-सहोदर रस दोनों का ही व्यंजक है। भारत का दार्शनिक हृदयहीन-बुद्धिवादी नहीं है। अर-सिकता का आरोप तार्किकों या नैयायिकों पर ही किया गया है। वैदिक मंत्रद्रष्टा ऋषि, उप-निषद्कार, शंकराचार्य आदि तत्त्वचिंतक ये सब कवि-दार्शनिक हैं। भारत का महाकवि मिथ्या-लोकविहारी स्वप्न-द्रष्टा नहीं है। वह जीवनद्रष्टा है। उसका काव्य-मंदिर सुनिश्चित जीवन-दर्शन की आधार-शिला पर प्रतिष्ठापित हुआ है। व्यास और वाल्मीकि, अश्वघोष और कालि-दास, माघ और श्रीहर्ष आदि इसी प्रकार के कवि हैं। उनकी रचनाओं की भाँति ही तुलसी के काव्य में भी दर्शन का स्वर विशेष महत्त्वपूर्ण है। अतएव वे दार्शनिक कवि हैं।

तुलसीदास शास्त्रकाव्योभयकवि[2] हैं। उनके काव्य में रससंपदा की विच्छित्ति और शास्त्रार्थ का निधान है। यह उनका शास्त्रकवित्व[3] है। दर्शनशास्त्र के तर्क-कर्कश अर्थसमूह को उन्होंने उक्तिवैचित्र्य के द्वारा रमणीय रूप में निरूपित किया है। यह उनका काव्यकवित्व[4] है। उनकी रचनाओं में कविकल्पना और भक्तिदर्शन का, काव्यधर्म और मोक्षशास्त्र का, अभिराम समन्वय है। अतएव वे उभयकवि हैं। व्यास का 'महाभारत' काव्य और मोक्षशास्त्र होने के साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र भी है।[5] तुलसी ने अर्थ और काम की उपेक्षा की है। उनका साहित्य अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' की भाँति मोक्षार्थपरक है; उसका कवित्व मधु के समान है जो स्वास्थ्यदायक औषध को हृद्य बना देता है।[6] दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत तुलसी-साहित्य का अध्ययन करते समय हमारी चेतना से यह भावना क्षण भर के लिए भी तिरोहित नहीं होती कि

---

1. According to our people, poetry naturally falls within the scope of Philosopher, when his reason is illumined into a Vision. —Rabindra Nath.
   —The Indian Philosophical Congress Silver Jubilee Commemoration Volume, P. 301
२. प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते। स च त्रिधा। शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च।··· उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। —का० मी०, पृ० १७
३. यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति।···तत्र त्रिधा शास्त्रकविः। यः शास्त्रं विधत्ते। यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते। —का० मी०, पृ० १७
४. यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति। —का० मी०, पृ० १७
५. महा०, आदि० १।२१, २७, १।७३-७४, २।३८३
६. इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।
   यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात् कृतं पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥
   —सौन्दरनन्द, १८।६३

हम एक महान् तत्त्वज्ञानी विराट् पुरुष के सांनिध्य में हैं जो अपने शास्त्रीय अध्ययन, मौलिक चिंतन, समन्वयसाधना, आध्यात्मिक अनुभूति और प्रांजल अभिव्यंजना में असाधारण है। उसका दर्शन निर्भ्रांत और व्यापक है। हम उसकी मान्यताओं और स्थापनाओं से सहमत हों या न हों, परंतु उसकी कृतियों का मनन कर लेने के उपरांत हम निश्चित रूप से इस बात का अनुभव करते हैं कि उसने हमें विचार और अनुभूति की साधारण भूमि से ऊपर उठाकर एक उच्चतर ज्योतिर्लोक में प्रतिष्ठित कर दिया है। ऐसे महाकवि के दार्शनिक विचारों की मीमांसा अपेक्षित ही नहीं आवश्यक है।

युग और व्यक्तित्व—

तुलसीदास दार्शनिक क्यों हुए—उनकी दार्शनिकता के प्रेरक तत्त्व क्या हैं? इस प्रश्न का कोई एक सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता। **'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'**,[1] **'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'**[2], **'पुरुषारथ पूरब करम परमेस्वर परधान'**[3], **'तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई'**[4], **सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'**,[5] **'जेहि पर कृपा करें जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी'**[6] आदि उक्तियों के आधार पर यह मान्यता स्थापित की जा सकती है कि राम की प्रेरणा और उनकी कृपा से ही तुलसीदास भक्तिदर्शन की ओर प्रवृत हुए। कर्म-सिद्धांत और जन्मांतरवाद में उनका अटूट विश्वास था। मोक्षशास्त्र की ओर सांसारिक जीव की अकस्मात् प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः, उनके पूर्वजन्म के संस्कार भी उनकी इस प्रवृत्ति के प्रेरक थे। संभव है कि 'गीता' के 'योगभ्रष्ट'[7] योगी अथवा वौद्धों के 'सकदागामि'[8] की भाँति अपनी साधना पूरी करने के लिए उन्हें एक जन्म और धारण करना पड़ा हो।

सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से उनका भक्तिदर्शन उनके युग और व्यक्तित्व का फल है। तुलसी का आविर्भावकाल भारतीय दर्शन का टीका-युग है। उस युग के तत्त्व-चिंतकों में पूर्ववर्ती दार्शनिकों की प्रतिभा, ज्ञान-सम्पत्ति, बुद्धि-वैभव, तर्क-शक्ति, स्वतंत्रचिंतन और मौलिक उपस्थापन की कमी है। उन्होंने तर्कबुद्धि की अपेक्षा श्रद्धाभक्ति को अधिक गौरव दिया है। काल के नैसर्गिक नियमानुसार चिंता के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर भारतीय दर्शन का भी ह्रास-युग आया। कारयित्री शक्ति से अ-संपन्न शास्त्रप्रणेता दर्शन को दर्शनशास्त्र का इतिहास समझने लगे। मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना के कारण घटित राजनैतिक परिवर्तनों ने हिन्दू-जनता के मन को रूढ़िवादिता की ओर मोड़ दिया। ऐकिक देशनाओं और व्यक्तिगत मान्यताओं के प्रचार से परंपरागत समाज-व्यवस्था एवं बद्धमूल आस्थाओं के हिल जाने का भय था। अतः शास्त्रानुशासन की आवश्यकता का विशेष अनुभव किया गया। यवनों की विजय और

---

१. रा० ७।११३।१
२. रा० १।१२८।१
३. दो० ४६८
४. वि० ११५।५
५. रा० २।१२७।२
६. रा० १।१०५।३
७. 'योगभ्रष्ट' के लिए दे०—गीता ६।३८-४५ और उन पर विविध भाष्य
८. 'सकदागामि' के लिए दे०—बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० २३,४५

प्रचार-कार्य तथा ईसाई धार्मिक आंदोलन के फलस्वरूप हिंदू-मनीषा को विरोधी संस्कृतियों के भयंकर संघर्ष का सामना करना पड़ा। शासनशक्ति से रहित समाज को रूढ़ि और परंपरा के प्रति निष्ठा का कवच ही आक्रामक विचारों के विरुद्ध सुरक्षा का अमोघ उपाय प्रतीत हुआ।[1] पूर्ववर्ती दार्शनिकों के मतों का संग्रह और व्याख्यान ही अधिक उपयोगी माना गया। औपनिषदिक दर्शन में अनुभूत ज्ञान की बुद्धिसंगत व्याख्या की गयी थी। शंकराचार्य आदि ने अनुभव, तर्क और शब्दप्रमाण के आधार पर दार्शनिक सिद्धांतों का सूक्ष्मेक्षणपूर्वक प्रतिपादन किया था। परंतु टीका-युग के तत्त्वनिरूपकों ने प्रायः आप्तवचनों की ही उद्धरणी की। 'मुक्ताफल,' 'भागवतसन्दर्भ', विभिन्न सांप्रदायिक दर्शनों के सारसंग्रह आदि इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक प्रतिफलन भक्ति-दर्शन में हुआ। भक्तों ने तर्क और संदेह को अश्रद्धा और अविश्वास मानकर दर्शन के क्षेत्र में उसकी अवहेलना की।

तुलसीदास के समय में भारतीय दर्शन के सभी संप्रदाय किसी-न-किसी रूप में जीवित थे। परंतु मुख्य रूप से वह वेदांत का युग था। अनेक प्रकार के वैष्णव और शैव संप्रदाय वेदांत की विचारधारा से प्रभावित थे। वाङ्मय-जगत् में सभी दार्शनिक संप्रदायों ने एक स्वर से चार्वाकमत का विरोध किया था। इस सामूहिक विरोध का ही परिणाम है कि आज इस दर्शन की एक भी कृति उपलब्ध नहीं है। परिस्थितियों के प्रभाव से वेदविरोधी एवं अनीश्वरवादी बौद्ध-जैन दर्शनों का गौरव समाप्त हो चुका था। न्याय-वैशेषिक की प्रतिष्ठा तर्कशास्त्र की परिधि में परिसीमित हो गयी थी। सांख्य-योग की अधिकांश मान्यताएँ वेदांत ने आत्मसात् कर ली थीं। देशव्यापी भक्ति-आंदोलन का प्रासाद वेदांत की आधारशिला पर ही खड़ा हुआ था। वेदांत के क्षेत्र में सारे वैष्णव-वेदांती शंकर के मायावाद तथा केवलाद्वैतवाद के विरोधी थे। यह बात विशेष लक्ष्य करने की है कि माध्वमत को छोड़कर अन्य वैष्णवदर्शनों भेदाभेदवाद (भास्कर), विशिष्टाद्वैतवाद (रामानुज), द्वैताद्वैतवाद (निम्बार्क), शुद्धाद्वैतवाद (वल्लभ) और अचिंत्य-भेदाभेदवाद (चैतन्य-संप्रदाय) में अद्वैतभावना अपने सीमित अर्थ में दार्शनिकों के विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार किसी-न-किसी रूप में स्वीकार कर ली गयी थी। माध्वदर्शन ही वस्तुतः सर्वथा अद्वैत-विरोधी था। अतएव इन दोनों विचारधाराओं का सीधा संघर्ष अनिवार्य था। यही कारण था कि इनके खंडन-मंडन में 'मध्वमुखमर्दन' और 'मध्वमुखालंकार' जैसी कृतियाँ लिखी गयीं। सोलहवीं शती ई० में नृसिंहाश्रम ने 'भेदधिक्कार', नृसिंह देव ने 'भेदधिक्कार-न्यक्कार' और नारायण मिश्र ने 'भेदधिक्कारसत्क्रिया' का प्रणयन किया।[2] तुलसी के युग की काशी इन दार्शनिक वाद-विवादों का भी केन्द्र थी।

उस युग में जहाँ एक ओर आलोचना-प्रत्यालोचना के कटु प्रहार किये गये वहाँ दूसरी ओर अनेक दार्शनिकों ने सांख्य और वेदांत एवं ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के समन्वय का भी श्लाघ्य प्रयास किया। विज्ञानभिक्षु ने अपने 'साङ्ख्यप्रवचनभाष्य', 'साङ्ख्यसार', 'योगसारसंङ्ग्रह' आदि में वेदांत और पुराणों को गौरव दिया। उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखकर वेदांत-सूत्रों की भी सांख्यसंमत व्याख्या प्रस्तुत की। सांख्य नारायणतीर्थ ने शांडिल्यभक्तिसूत्र पर 'भक्तिचन्द्रिका' लिखी। शंकरमतानुयायी मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन' लिखकर अद्वैतवेदांत में भक्ति-

---

१. दे०—इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द २, पृ० ७७२

२. दे०—'ए क्रिटीक ऑफ़ डिफ़रेन्स' की प्रस्तावना

दर्शन की विशेष प्रतिष्ठा की, पुष्पदंत-रचित 'महिम्नस्तोत्र' पर विशद व्याख्या लिखकर शैव तथा वैष्णव मतों का सुंदर समन्वय प्रस्तुत किया। दार्शनिक कवि तुलसी ने भी अपने साहित्य में सांख्य-योग एवं वेदांत की विभिन्न विचारधाराओं का कहीं इतिहास-पुराण की कथात्मक पद्धति से और कहीं स्तोत्रों आदि की मुक्तक-शैली में समन्वय उपस्थित किया।

जिस युग में तुलसी का आविर्भाव हुआ था वह भक्ति-आंदोलनों का युग था। संपूर्ण देश विभिन्न प्रकार की भारतीय एवं अभारतीय भक्तिधाराओं से परिप्लुत था। असंख्य मंदिर, मठ, अखाड़े आदि उनके केंद्र थे। उत्तर भारत में बंगाल से लेकर राजस्थान और पंजाब तक जो भक्ति-प्रवाह फैला उसके दो मुख्य केंद्र काशी और वृंदावन थे। रामानंद, कबीर, तुलसीदास आदि का संबंध काशी से था। 'भक्तिरसायन' के प्रणेता भक्तिशास्त्री मधुसूदन सरस्वती भी काशी-निवासी थे। सूरदास, नंददास आदि कवियों ने ब्रजभूमि को अपना निवासस्थान बनाया। भक्तिशास्त्री रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी आदि का संबंध भी वृंदावन से था। यह दूसरी बात है कि तीर्थसेवी भक्तों ने अन्य तीर्थस्थानों की भी अनेक बार यात्रा की थी, वहाँ कुछ काल तक निवास भी किया था। उक्त दो केंद्रों के विषय में यह बात ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहती कि काशी-केंद्र से रामभक्ति का प्रसार हुआ और वृंदावन-केंद्र से कृष्णभक्ति का। हिंदी में रचित भक्तिकाव्य की महत्ता की दृष्टि से इन केंद्रों के भक्तकवियों का स्थान अन्यतम है। देश के संपूर्ण भक्ति-साहित्य में इनका अंशदान असाधारण गौरव की वस्तु है।

भजनीय के स्वरूप, भक्ति-साधना आदि की दृष्टि से भक्तिधारा की दो उपधाराएँ थीं—निर्गुणभक्तिधारा और सगुणभक्तिधारा। हिंदी-साहित्य में निर्गुणभक्तिधारा के दो रूप थे—निर्गुणकाव्यधारा (जो हिंदीकाव्य में 'निर्गुण-संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है) और सूफ़ीकाव्यधारा। परस्परप्रभावित होने पर भी इन दोनों को एक ही धारा की दो शाखाएँ कहना न्यायविरुद्ध है। एक का प्रेरणास्रोत भारतीय था, दूसरी का विदेशी; एक ज्ञानाश्रित थी, दूसरी प्रेमाश्रित; एक में साधना की प्रधानता थी, दूसरी में भावना की। सगुणभक्तिधारा की दो शाखाएँ थीं—रामभक्तिशाखा और कृष्णभक्तिशाखा। इन सभी भक्तिधाराओं में अनेक सामान्य विशेषताएँ थीं। दार्शनिक दृष्टि से, सभी पर वेदांत और योग का स्पष्ट प्रभाव है। सभी भक्तों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार एक-अद्वितीय परमेश्वर का निरूपण किया है जो सच्चिदानंद, निर्गुण-सगुण, जगत्कर्ता, सर्वांतर्यामी, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। उस भगवान् और उसके प्रेम की प्राप्ति ही भक्त का साध्य है। वह भगवान् के संयोग की सदैव कामना करता है। सभी ने उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रेमस्वरूपा भक्ति और शरणागति या आत्मनिवेदन की आवश्यकता बतलायी है। सभी ने भक्त और भगवान् के व्यक्तिगत संबंध पर बल दिया है। भक्त को भगवान् के समान बतलाकर उसकी प्रशंसा की है। सभी ने भक्त, भक्ति, भगवंत और गुरु की महिमा का बारंबार गौरवगान किया है। नीति, चेतावनी और उपदेश सभी को प्रिय रहे हैं। सभी ने जगत् की असारता प्रतिपादित करके विषयों के प्रति वैराग्य जगाने का प्रयत्न किया है। सभी ने चित्तशुद्धि के लिए सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि साधारण धर्मों के पालन को श्रेयस्कर, और कामादिक कुवृत्तियों, कर्मकांड के बाह्याडंबर, पाखंड, परनिंदा, परपीड़न आदि को हेय बतलाया है। फिर भी उनके भक्तिदर्शन के सिद्धांत अभिन्न नहीं हैं।

निर्गुण-संप्रदाय के भीतर बहुत-से पंथ और संप्रदाय चल पड़े थे—कबीरपंथ, सेनपंथ, रैदासी

संप्रदाय, नानकपंथ, साधसंप्रदाय, लालपंथ, दादूपंथ, निरंजनी संप्रदाय, बावरीपंथ, मलूकपंथ आदि।[1] उनकी भी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ थीं। निर्गुण कवियों में अग्रगण्य और प्रतिनिधि कवि कबीर हैं। उनके दर्शन का आधार केवलाद्वैतवाद है। वे शास्त्रवेत्ता नहीं थे। अतः उनकी विचारपद्धति स्वानुभूति पर ही आश्रित है।[2] उनके मतानुसार परमतत्त्व स्वरूपतः केवल और अनिर्वचनीय है।[3] उन्होंने उसके निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का निरूपण किया है।[4] वह अद्वितीय, सर्वशक्तिमान् और सर्वांतर्यामी है।[5] करोड़ों सूर्यों के प्रकाश से बढ़कर तेजवान् है।[6] त्रिदेव आदि उसी के रूप हैं।[7] उसी को कबीर ने राम, हरि, प्रभु आदि कहा है। बाजीगर या नट की लीला के समान ही यह सृष्टि उस राम की लीला है।[8] वही कर्ता और संहर्ता है। उसकी माया ने चराचर विश्व को वशीभूत और भ्रांत कर रखा है।[9] जीव राम का

१. क्रमशः दे०—उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृ० २३३, २४६, २६१, २८७, ३११, ४०८, ४०९, ४३२, ४७५, ५०३

२. करन विचार मनहीं मन उपजी, नां कहीं गया न आया। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० ९३

३. हरि जैसा है तैसा रहौ, तूं हरषि हरषि गुण गाइ। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० १७
वो है तैसा वो हीं जानैं। वोही आहि आहि नहीं आनैं॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २४२
जो देखै सो कहै नहिं कहै सो देखै नाहि।
सुनै सो समझावै नहीं रसना दृग श्रुति काहिं। —कबीर-वचनावली, पृ० ११५
विष्णु बिरंचि रुद्र ऋषि गावैं सेस न पावैं पारा॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १६२
राम को नाम है अकह कहानी। —कबीर-वचनावली, पृ० १८६
निगम नेति जाके गुन गावैं, शंकर जोग अधारा।
ध्यान धरत जेहि ब्रह्मा-विष्णु सो प्रभु अगम अपारा॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १८८

४. क. अलख निरंजन लखै न कोई। निरभय निराकार है सोई॥
सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहीं पेखा॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २३०
अवगति की गति क्या कहूं, जसकर गांव न नांव।
गुन बिहूंन का पेखिये, काकर धरिये नांव॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २३९
ख. आपन करता भये कुलाला। बहु विधि सृष्टि रची दर हाला॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २४०
जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २४१

५. राम खोदाय शक्ति शिव एकै कहुवौं काहि निबेरा। —कबीर-वचनावली, पृ० २१८
साहेब सों सब होत हैं बंदे ते कछु नाहिं।
राई ते पर्वत करे पर्वत राई माहिं॥ —कबीर-वचनावली, पृ० ९५
पंगुल मेरु-सुमेरु उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गूंगा ज्ञान विज्ञान प्रकासै अनहद बाणी बोलै॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १६७
पावक रूपी साँइयाँ सब घट रहा समाय। —कबीर-वचनावली, पृ० ९६

६. कोटिन भानु उदय जो होई। एते ही पुन चंद्र लखोई॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १८३

७. रजगुण ब्रह्म तमोगुण शंकर सतोगुणी हरि सोई।
कहै कबीर राम रमि रहिया हिन्दू तुरुक न कोई॥ —कबीर-वचनावली, पृ० २०८

८. बाजीगर डंक बजाई। सम खलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांगु सकेला। अपने रंग रवै अकेला॥ —दे० उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० १९७
जिति नटवै नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसै बाजी॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २२७

९. राम तेरी माया दुंद मचावै।···संसार मत्यो माया के धार। —कबीर-वचनावली, पृ० १८९-९०

अंश और नित्य है।[1] राम और जीव में उसी प्रकार स्वरूपतः अभेद है जिस प्रकार जल और हिम में या समुद्र और बूंद में।[2] जीव के मोह का कारण माया है जिसने ब्रह्मादिक देवों को भी अपने जाल में फाँस रखा है।[3] जीव का मन ही उसके विश्व का निर्माता है।[4] कर्म की गति अटल है।[5] आत्मसाक्षात्कार के लिए ज्ञानदीपक की आवश्यकता है।[6] वर्णनातीत आत्मानुभव करने वाला ज्ञानी ब्रह्मसमान हो जाता है।[7] भवबंधन से मुक्ति का अमोघ साधन है सर्वकर्मपरित्यागपूर्वक की गयी निष्काम भक्ति और नामभक्ति।[8] ज्ञान और भक्ति के साधन वैराग्य की भावना जागृत करने के लिए उन्होंने संसार की असारता और दुःखमयता का व्यापक चित्रण किया है।[9] जीव को उत्थान की ओर ले जाने वाले सद्गुरु, सत्संग, शील, क्षमा, उदारता, संतोष, धैर्य, दीनता, दया, सत्यता, विवेक आदि एवं उसे पतन की ओर ले जाने वाले कुसंग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, कपट, आशा, तृष्णा आदि की भी बार-बार चर्चा की है।[10] कबीर के ये विचार तुलसी को भी मान्य हैं। इससे यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि कबीर तुलसी के उत्तमर्ण हैं। हम अधिक-से-अधिक यही कह सकते हैं कि कबीर और तुलसी के इन समान विचारों के स्रोत एक हैं। परंतु कबीर ने जो तत्त्वज्ञान श्रवण और आत्मानुभव के आधार

---

१. कहै कबीर इहु राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु॥ —दे० उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० १६८

२. पानी ही ते हिम भया हिम ही गया विलाय।
कबिरा जो था सोइ भया अब कछु कहा न जाय। —कबीर-वचनावली, पृ० १००
बुंद समानी समुद में सो कित हेरी जाय। —कबीर-वचनावली, पृ० ११३

३. माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १८६
ब्रह्महि ठग्यो नाम संहारी। देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १६०

४. मन ही चौदह लोक बनाया पाँच तत्व गुण कीन्हें।
तीन लोक जीवन बस कीन्हें परै न काहू चीन्हे॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १६६

५. करमगति टारे नाहिं टरी।
अपने करम न मेटो जाई॥ —कबीर-वचनावली, पृ० २१५

६. ज्ञानदीप परकास करि भीतर भवन जराय।
तहाँ सुमिर सतनाम को सहज समाधि लगाय॥ —कबीर-वचनावली, पृ० ६७

७. आतम अनुभव ज्ञान की जो कोइ पूछै बात।
सो गूँगा गुड़ खाइ कै कहै कौन मुख स्वाद॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १००
जोगी हुआ झलक लगी मिटि गया ऐंचा तान।
उलटि समाना आप में हूआ ब्रह्म समान॥ —कबीर-वचनावली, पृ० ६८

८. हरि-भक्ती जाने बिना बूड़ि मुआ संसार॥
और कर्म सब कर्म है भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारि कै भक्ति करो तजि धर्म॥ —कबीर-वचनावली पृ० १०२-३
कह कबीर सो पड़ै न परलय नामभक्ति जिन चीना॥ —कबीर-वचनावली, पृ० १६७

९. ई संसार असार को धंधा अंत काल कोइ नाहीं हो।
उपजत बिनसत बार न लागै ज्यों बादर की छाँहीं हो॥
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ पुलझ मरि जाना है॥ —कबीर-वचनावली, पृ० २४६-४७

१०. दे०—कबीर-वचनावली, पृ० ११६-४७

पर प्राप्त किया था वह तुलसी ने अध्ययन, श्रवण और आत्मानुभव इन तीन के आधार पर। उपरिलिखित विचार उपनिषद्, इतिहास-पुराण, स्मृति आदि में भरे पड़े हैं। कबीर केवल संतों के ऋणी हैं और तुलसीदास इन आप्त ग्रंथों के भी। कबीर ने तुलसी को प्रभावित किया है, लेकिन दूसरे रूप में। उन्होंने रामचरितमानसकार को उत्तेजित किया है। कबीर ने रामानुज-दर्शन के अनुयायी रामानंद से 'राम'-मंत्र अवश्य लिया किंतु राम का स्वरूप कुछ और ही बतलाया। उन्होंने घोषणा की कि हमारा राम निर्गुणोपासकों के निर्गुण ब्रह्म और सगुणोपासकों के सगुण भगवान् से ऊपर है—

क. सर्गुण की सेवा करौ निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सर्गुण के परे तहैं हमारा ध्यान॥
ख. वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जानै जाननहारा।[1]

तुलसीदास ने मानो कबीर के मत का प्रतिवाद करते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।[2]
सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥[3]

कबीरदास ने डटकर अवतारवाद का विरोध किया था—

क. दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।[4]
ख. दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राय सताया॥[5]
ग. सिरजनहार न ब्याही सीता जल पखान नहिं बंधा।
वे रघुनाथ एक कै सुमिरैं जो सुमिरै सो अंधा॥
दश अवतार ईश्वरी माया कर्त्ता कै जिन पूजा।
कहै कबीर सुनो हो संतो उपजै खपै सो दूजा॥[6]
घ. राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो।
अबुझा लोग कहाँ लौं बूझैं बूझनहार बिचारो॥
केते रामचंद्र तपसी से जिन यह जग बिरमाया।[7]

अवतारवादी तुलसीदास ने दूनी शक्ति से जमकर मानो उनके मत का निरास करने के उद्देश्य से ही अवतारी और अवतार राम की एकता का उपस्थापन किया—

एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साच॥

---

१. क्रमशः —कबीर-वचनावली, पृ० ९५, १६६
२. रा० १।२३।१
३. रा० १।११६।१
४. बीजक, सबद १०९, दे०—हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० २१६
५. कबीर-वचनावली, पृ० १६३
६. कबीर-वचनावली, पृ० १६४
७. कबीर-वचनावली, पृ० १६५

अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्हकें सूझ लाभु नहिं हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना॥
जिन्हकें अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥
... ...
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥
... ...
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ॥
निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
... ...
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
... ...
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥[1]

तुलसीदास प्रचार कर यह कह देना चाहते हैं कि परब्रह्म निर्गुण-निराकार राम और दाशरथ सगुणसाकार राम में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। अपने को संत कहने वाले कबीर आदि ने वस्तुतः संतसमाज का दर्शन नहीं किया। उन मोहपिशाचग्रस्त पाखंडियों को सत्यासत्य का कोई ज्ञान नहीं है। वे निर्गुण और सगुण के स्वरूपज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इसी कारण वे वेद-असंमत 'बानी' की रचना करके मनमानी बकवास करते हैं।

कबीर ने चतुर्भुज विष्णु की भक्ति को भ्रम और विष्णुलोक को नश्वर बतलाया था।[2] तुलसी ने उनके प्रति आस्था व्यक्त की। कबीर ने दाशरथ राम को मर्त्य कह कर उनके देहावसान का उल्लेख किया था।[3] तुलसी ने इसका निराकरण बड़े ध्वन्यात्मक ढंग से किया। 'रामचरित-मानस' के शिव ने जिज्ञासु पार्वती के सभी प्रश्नों का उत्तर दिया, किंतु **'प्रजा सहित रघुबंस मनि किमि गवने निज धाम।'**[4] के उत्तर में कुछ भी नहीं कहा। इसका कारण यह है कि राम-कथा सुन लेने पर, राम के परमेश्वरत्व का ज्ञान हो जाने पर, पार्वती के मन में यह शंका रह ही नहीं गयी थी; अतः इसका समाधान अनपेक्षित था। कबीर ने माया को अद्वैतवादियों की भाँति केवल अविद्यारूप में ग्रहण किया, तुलसी ने वैष्णवों की भाँति उसे विद्या और अविद्या दोनों

---

१. रा० १।११४।४-१।११८
२. चार भुजा के भजन में भूलि परे सब संत। —कबीर-वचनावली, पृ० ६४
बिस्नुलोक बिनसै छन माँहीं। हो देखा परलय की छाँहीं। —कबीर-वचनावली, पृ० २४४
३. गये राम औ गे लछमना। —कबीर-वचनावली, पृ० २४४
४. रा० १।११०

माना। कबीर ने सीता को सामान्य नारी मान कर उनके वैधव्य का भी संकेत किया[१], तुलसी ने उन्हें राम की अभिन्न शक्ति माना।

कबीर आदि निर्गुणियों की दृष्टि में "किसी भी मनुष्य को परमात्मा मानना ठीक नहीं। राम आदि दशावतारों को भी परमात्मा के अवतार मानने के लिए उनकी दृष्टि में कोई उचित कारण नहीं है। जन्म-मरण से अस्पृष्ट परब्रह्म की मनुष्यरूप में अवतरित होकर जन्म-मरण में पड़ने की कल्पना करना तर्क और ज्ञान का सर्वथा विरोध करना है।"[२] "अवतार-विरोध का एक प्रधान कारण यह भी हो सकता है कि उसके द्वारा नर-पूजा का विधान हो जाने के कारण धर्म में पाखंड को घुसने का मार्ग मिल जाता है। परंतु इसका कारण अवतारवाद के मूल अभिप्राय को अच्छी तरह से न समझ सकना है।···असल में निर्बल मनुष्य परमात्मा के हाथों को अपने बीच में काम करता हुआ देखना चाहता है। इससे उसको अप्रतिकार्य रक्षा की आशा होती है।···मनुष्य अपने हृदय की तृप्ति और इस आशा के आधार की रक्षा के अर्थ सत् की रक्षा में किये गये महत्त्व के कार्यों में सदैव परमात्मा का हाथ देखता आता है। अतएव अवतार वास्तविक स्थूल रूप में नहीं, बल्कि सूक्ष्म रहस्यरूप में अवतार हैं।···अवतारवाद के इस मूल सौंदर्य के सामने उसका खंडन करने वाले ये निर्गुण संत भी दृढ़ता के साथ खड़े नहीं रह पाये हैं। भक्तों को सूक्ष्म सामीप्य-सुख के लाभ की आशा देनेवाले, सुकृतियों पर दया की वर्षा करने वाले और पापी अत्याचारियों पर नाश का वज्र-निपेक्ष करने वाले अवतार उनको अत्यंत मनोमोहक जान पड़े।"[३] हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में अवतार-भावना ने विरोधियों को भी अभिभूत कर दिया था। मजे की बात यह है कि अवतार-सिद्धांत का घोर खंडन करने वाले अक्खड़ कबीर ने भी अवतारों के मंडनात्मक चित्र अंकित किये।[४] आगे चलकर दादू, जगजीवन, पलटू आदि ने भी अवतारों का महत्त्व स्वीकार किया।[५] और भी मजेदार बात यह है कि निर्गुणी संतों के अनुयायियों ने उन्हें ही अवतार बनाकर उनकी पूजा आरंभ कर दी।

साधना की दृष्टि से, सहज समाधि का गुणगान करते हुए भी कबीर ने नाथपंथी हठयोग को मोक्ष का आवश्यक उपाय माना है।[६] तुलसीदास ऐसा नहीं मानते। "कबीर ने अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से अपने रहस्यवाद की सृष्टि की। इसमें आत्मा परमात्मा से मिलकर एक स्वरूप धारण करती है। दोनों में कोई भिन्नता नहीं होती। इस रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता है।

---

१. संग न गै सीता अस धना। —कबीर-वचनावली, पृ० २४४

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० २१६

३. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० २२१-२२

४. क. महापुरुष देवाधिदेव। नरस्यंघ प्रगट कियो भगति भेव ॥
कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रहिलाद उबार्यो अनेक बार ॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २१४
ख. राजन कौन तुमारे आवै।
ऐसो भाव बिदुर को देख्यो ओहु गरीब मोहि भावै ॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० ३१९

५. क. संग खिलावन, रास बनावन, गोपी भावन भूधरा।
दादू तारण, दुर्त निवारण, संत सुधारण राम जी ॥ —दादू
ख. देहीं धरि धरि नाच्यो राम। भक्तन केर सँवार्यो काम ॥ —जगजीवन
ग. सब में बड़ हैं संत, तब नाम है। तिसरे दस औतार तिन्हें परनाम है। —पलटू
—क्रमशः दे०—हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० २२३, २२०, २२०

६. हठयोग के विवेचन के लिए दे०—कबीर, पृ० ४४-५१

यह प्रेम पति-पत्नी के संबंध ही में पूर्णता को पहुँचता है। इसलिए कबीर ने आत्मा को स्त्रीरूप देकर परमात्मारूपी पति की आराधना की है।"[१] भक्ति की प्रेमस्वरूपता तो अन्य भक्तों की भाँति तुलसी को भी मान्य है; वे भी भक्तभगवत्संबंध की दृष्टि से भगवान् का मातृत्व, पितृत्व, स्वामित्व[२] आदि मानते हैं, लेकिन भक्त का भगवान् की पत्नी[३] बनना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। कबीर के व्यक्तित्व को प्रखर बनाने वाला वैशिष्ट्य उनका सामाजिक दर्शन है। बौद्ध-जैन-हिंदू-मुसलमान, शैव-शाक्त-वैष्णव, यती-जोगी-संन्यासी, पंडित-शेख-काजी सभी अपनी-अपनी हाँक रहे थे। हिंदू मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों से पीड़ित थे। शूद्रों पर सवर्ण हिंदुओं का अत्याचार हो रहा था। सर्वाधिक दयनीय अवस्था शूद्रों की थी जो हिंदू होने के कारण यवनों द्वारा और अवरजातीय होने के कारण हिंदुओं द्वारा परिपीड़ित थे। शास्त्राध्ययन, मंदिरप्रवेश आदि का उन्हें कोई अधिकार नहीं था। यही कारण है कि निर्गुणसंत-संप्रदाय के सदस्यों में इनकी संख्या इतनी अधिक पायी जाती है। धार्मिक घृणा-द्वेष और सामाजिक विषमता से सारा समाज जर्जर हो रहा था, सारा वातावरण कलुषित था। कबीर ने तत्कालीन समाज की नाड़ी देखी और उसकी शल्य-चिकित्सा का उपक्रम किया। उन्होंने सभी प्रकार के दुराग्रहियों, धर्मांधों और पाखंडियों को निष्पक्षता, निर्भीकता और निर्ममता के साथ फटकारा। जहाँ तक धार्मिक-सामाजिक कुरीतियों, अन्याय, अत्याचार, बाह्याडंबर, अनुभूतिशून्य पुस्तकी विद्या (वाक्यज्ञान) की आलोचना का प्रश्न है वहाँ तक तुलसीदास उनसे सहमत हैं। लेकिन कबीर के वचनों में वेदशास्त्र की निंदा की जो कटु ध्वनि है[४], मूर्तिपूजा और वर्णाश्रमधर्म पर जो कठोर आक्रमण है[५], वह तुलसीदास के लिए असह्य है। वे भी सच्चे समाजसुधारक हैं, वे भी समाज का नव-

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १९७

२. हरि जननी मैं बालिक तेरा।—कबीर-ग्रंथावली, पृ १२३
बाप रांम सुनि बीनती मोरी। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २०७
कबीर कूकर रांम को मोतिया मेरा नाउँ।
गले हमारे जेवरी जहँ खींचै तहँ जाउँ॥ —कबीर-वचनावली, मुखबंध, पृ० ४३

३. संग न सूती स्वाद न जानी जोबन गो सपने की नाई।
तलफै बिन बालम मोर जिया।
पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
ये अँखियाँ अलसानी पिय हो सेज चलो॥ —कबीर-वचनावली, पृ० २१०, २१३, २३२, २३४
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे।—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १६२

४. चार बेद ब्रह्मा निज ठाना। मुक्ति क मर्म उनहुँ नहिं जाना॥ —कबीर-वचनावली पृ० २५२
बेद पुरांन पढ़त अस पांड़े, खर चंदन जैसें भारा। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० १००

५. क्या पूजा पाहन की कीन्हे क्या फल किए अहारा। —कबीर-वचनावली, पृ० २४२
का पानी पाहन के पूजे कंदमूल फरहारा। —कबीर-वचनावली, पृ० २४३
जो पाथर कौ कहिते देव। ताको बिरथा होवै सेव॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २६३
जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाए। और राह तुम काहे न आए॥
... ...
एकै हाड़ त्वचा मल मूत्रा रुधिर गुदा एक मुद्रा।
एक बिंदु ते सृष्टि रच्यो है को ब्राह्मण को शद्रा॥ —कबीर-वचनावली, पृ० २०८
बांह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउँ बेदां माहिं॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० ३६

निर्माण करना चाहते हैं, किंतु सनातन धर्म के माध्यम से, मानवधर्म के साथ ही वर्णाश्रमधर्म के ग्राधार पर। इसीलिए ग्रपनी समस्त रचनाग्रों में उन्होंने वेद, पुराण ग्रादि की ग्राप्तता ग्रौर सनातन धर्म की विविध मान्यताग्रों की प्रतिष्ठा, एवं इनके विरोधी विचारों की विगर्हणा की है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी कम रोचक नहीं है कि वेदशास्त्र की खिल्ली उड़ाने वाले कबीर को भी ग्रपने कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वेद की दुहाई देनी पड़ी—'नेति नेति जेहि बेद कहि', 'निगम नेति जाके गुन गावें' ग्रादि।[1] संभवतः शूद्रवर्गीय निर्गुणसंतों की ज्ञान-कथनी से उत्तेजित होकर ही तुलसी ने कहा है—

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर ग्राँखि देखावहिं डाँटि ॥[2]

निर्गुणभक्तिधारा का दूसरा रूप सूफ़ी कवियों ने प्रस्तुत किया। सूफ़ियों के भी ग्रनेक संप्रदाय ग्रौर उपसंप्रदाय थे—चिश्तिया, सुहर्वर्दिया, कादिरिया, नक्शबंदिया ग्रादि।[3] सूफ़ी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। उनका दर्शन बहुत कुछ ग्रद्वैतवादी है। परमेश्वर एक, ग्रद्वितीय ग्रौर प्रकाशस्वरूप है। उपनिषद् के ब्रह्म की भाँति विरोधी गुणों का ग्राश्रय एवं ग्रनिर्वचनीय है। वह ग्रलख, ग्ररूप एवं ग्रवर्ण है। ग्रंतर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वनियंता है। वह जड़चेतनमय विश्व का रचयिता, पालक ग्रौर संहारक है। विश्व उसका प्रतिबिंब है। जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशमान है। ईश्वर नित्य ग्रौर जगत् ग्रनित्य है। ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा का भेद व्यावहारिक है। परमात्मा से वियुक्त ग्रात्मा ग्रज्ञान के कारण दुःखी है। परमात्मा की प्राप्ति ही जीव का लक्ष्य है। उसका ग्रावश्यक साधन प्रेम है।[4] सूफ़ी कवियों के ये वेदांतसंमत विचार तुलसी को भी स्वीकार्य हुए। लेकिन जायसी ग्रादि का मूल स्रोत इस्लाम था। उस पर सहजयानी सिद्धों, नाथपंथी योगियों, निर्गुणसंतों ग्रादि का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। वे 'कुरान' ग्रादि को प्रमाण मानकर चले हैं।[5] परमात्मा से सर्वप्रथम नूरुल-मुहम्मदिया (मुहम्मदीय ग्रालोक) की उत्पत्ति ग्रौर उसी मुहम्मद के लिए जगत् की रचना का वर्णन किया है।[6] परमात्मा को प्रेमी ग्रात्मा की कामरति का ग्रालंबन बनाकर नारीरूप में[7] ग्रौर कहीं-कहीं प्रेमिका ग्रात्मा का प्रेमपात्र बनाकर नररूप में[8] ग्रंकित किया है। प्रेम-मार्ग में

१. कबीर-वचनावली, पृ० १५५, १८८
२. रा० ७।९९ ख, दो० ५५३
३. दे०—जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य, पृ० २१-२८
४. दे०—पदमावत, १।१-१०, १०।९; अखरावट, १-४, ४४; जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य, अ० २-३; तु० दे०—पदमावत, १।८ और रा० १।११८।२-४
५. पदमावत, १।११-१२; आखिरी कलाम
६. पदमावत, १।११; आखिरी कलाम, ७
७. "सूफ़ीमत में ईश्वर की भावना स्त्री-रूप में मानी गई है। वहाँ भक्त पुरुष बनकर उस स्त्री की प्रसन्नता के लिए सौ जान से निसार होता है, उसके हाथ की शराब पीने को तरसता है। उसके द्वार पर जाकर प्रेम की भीख मांगता है। ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप में उसके सामने उपस्थित होता है।...इस तरह सूफ़ीमत में ईश्वर स्त्री और भक्त पुरुष है। पुरुष ही स्त्री से मिलने की चेष्टा करता है, जिस प्रकार जायसी के 'पदमावत' में रत्नसेन (साधक) सिंहलद्वीप जाकर पद्मावती (ईश्वर) से मिलने की चेष्टा करता है।"
—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १९९-२००
८. पदमावत, ८।४, २४।१७

भी हठयोग की साधना की आवश्यकता बतलायी गयी है।[1] ये सब मान्यताएँ तुलसी के संस्कारों के प्रतिकूल थीं। सिद्धों, निर्गुणसंतों और सूफ़ियों के वेदशास्त्रविरुद्ध भक्ति-प्रचार से उद्दीप्त होकर ही तुलसी ने कहा था—

श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक।।
साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहि बेद पुरान।।[2]

जायसी ने 'आखिरी कलाम' में बिहिश्त का जो कमनीय चित्र खींचा है वह भी तुलसी की दृष्टि में हेय है—**स्वर्गौ स्वल्प अंत दुखदाई**।[3] अवतारविरोधी विदेशी इस्लाम से अनुप्राणित निर्गुणवादी सूफ़ियों के भक्तिदर्शन और अवतारवादी रामभक्त तुलसी की श्रुतिसंमत दार्शनिक विचारधारा में मौलिक विरोध है।

अवतारवादी सगुण भक्तिधारा में विष्णु के दो प्रमुख अवतारों राम और कृष्ण का, उनकी भक्ति और भक्तों का तथा उनके नाम-रूप-गुण-लीला-धाम का मुक्तकंठ से गौरवगान किया गया। तदनुसार उसकी दो शाखाएँ रामभक्तिशाखा और कृष्णभक्तिशाखा के नाम से विख्यात हुई। मध्व, निंबार्क, वल्लभ और चैतन्य के अनुयायी वेदांती संप्रदायों ने कृष्णभक्तिशाखा का दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया। इस शाखा का केंद्र वृंदावन था। देश के विभिन्न भागों के अनेक दार्शनिकों ने इस तीर्थभूमि को अपना निवासस्थान बनाया। इस शाखा में उपर्युक्त दार्शनिक संप्रदायों के अतिरिक्त राधावल्लभ-संप्रदाय, सखी-संप्रदाय आदि भक्ति-संप्रदायों की स्थापना हुई।[4] यह अवेक्षणीय है कि कृष्णभक्त कवियों की दृष्टि भगवान् की सौंदर्य-विभूति और लोकरंजन पर ही केंद्रित रही, उनके लोकमंगलकारी रूप की प्रायः उपेक्षा की गयी। राधा-कृष्ण की युगल-उपासना, रासलीला, नित्यविहार आदि पर बल दिया गया। भगवान् के नित्य-विहार की भावना मर्यादावादी तुलसी को अमान्य थी। वे कृष्णभक्त दार्शनिकों के भक्तिदर्शन से प्रभावित तो हुए किंतु उन्होंने उन मधुररसप्रेमी भक्तों की शृंगारिक मान्यताओं का तिरस्कार किया। उन्होंने भगवान् के सौंदर्याकन के साथ ही उनके शील और शक्ति का समुचित संतुलन भी अक्षुण्ण रखा। इसका कारण यह है कि लोकहितैषी तुलसी की दृष्टि में उस युग के समाज को **'गोपीपीनपयोधरमर्दनचंचलकरयुगशाली'**[5] और **'नीवी-बंधन-मोचक'**[6] कृष्ण की नहीं अपितु **'धृत बर चाप रुचिर कर सायक···दीनबंधु प्रनतारति मोचन' 'श्रुति सेतु पालक राम'**[7] की आवश्यकता थी।

---

१. पदमावत, १६।३
२. क्रमशः —रा० ७।१००ख, दो० ५५५; दो० ५५४
३. आखिरी कलाम, ५४-६०; रा० ७।४४।१
४. दे०—राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य; अष्ट०, पृ० ६४-६६
५. गीतागोविन्द, गीत ११, पद १
६. मिथुन हास परिहास परायन पीक कपोल कमल पर भोरी।
गौर श्याम भुज कलह मनोहर नीवी बंधन मोचत डोरी।। —हित चौरासी, पद ७
राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २४३ पर उद्धत
७. क्रमशः—रा० ६।११५।१-४; रा० २।१२६।छं०

रामभक्तिशाखा के प्रवर्तक रामानंद थे। उनकी दोनों ही प्रामाणिक कृतियों 'वैष्णवमताब्जभास्कर' और 'रामार्चनपद्धति' में रामभक्ति-दर्शन का उपस्थापन है। उनका उदार भक्ति-मार्ग रामानुज के विशिष्टाद्वैत वेदांत की दार्शनिक भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ। रामभक्ति के विषय में यह विशेष लक्ष्य करने योग्य है कि राम की उपासना निर्गुणभक्तिधारा और सगुणभक्तिधारा दोनों में ही समान आदर के साथ गृहीत हुई है। तुलसीदास के पूर्व हिंदी में लिखा गया सगुणरामभक्तिसाहित्य आज उपलब्ध नहीं है। लेकिन यह निर्विवाद है कि इस प्रकार का साहित्य रचा गया था। कबीर आदि संतों ने अवतारभावनारहित निर्गुणरामभक्ति का प्रचार किया। वह युग पौराणिकता और अवतारवादी विचारों का युग था जिससे निर्गुणपंथ भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। तुलसीदास ने निर्गुणियों को भी आराध्यरूप में ग्राह्य भगवान् राम को अपना प्रतिपाद्य बनाया किंतु उनके सगुणसाकारता-विशिष्ट, पुराणनिगमागमसंमत, मर्यादापुरुषोत्तम और वर्णाश्रमधर्मपालक रूप को विशेष गौरव दिया। सगुणरामभक्ति के भी दो रूप थे—मर्यादावादी भक्ति और रसिकभक्ति। रसिकभक्ति तुलसी की मनोवृत्ति के प्रतिकूल थी। अतएव उन्होंने सेव्यसेवकभाव की मर्यादावादी भक्ति का ही प्रतिपादन किया।

तुलसी के युग की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति शोचनीय थी।[1] महामहिपाल यवन और गोंड़-गँवार नृपाल राजधर्म-पालन से पराङ्मुख थे।[2] उनका शासन सैनिक शासन था। वे प्रजाशोषक थे। राजकर, अकाल, महामारी आदि से जनता बुरी तरह पीड़ित थी। मानव-धर्म और वर्णाश्रमव्यवस्था की ग्लानि से समाज में उच्छृंखलता आ गयी थी। 'रामचरितमानस', 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' और 'दोहावली' में तुलसीदास ने कलियुग का जो वर्णन किया है[3] वह बहुत कुछ पुराणों की देन है; फिर भी उन वर्णनों में और उनके अतिरिक्त भी अनेक स्थलों पर उन्होंने समकालीन परिस्थितियों का भी चित्रांकन किया है। उनका तत्त्वचिंतन इन परिस्थितियों के प्रभाव से बहुत-कुछ मुक्त है, किंतु उनकी मोक्षसाधन-मीमांसा पर, धर्मदर्शन और भक्तिदर्शन पर, इन परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

बौद्ध और जैन धर्म की अवनति के बाद ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान हुआ। वेद-शास्त्र और पुराण की महिमा की पुनः व्यापक प्रतिष्ठा हुई। किंतु इस्लाम और ईसाई धर्म के आगमन से उसके उत्कर्ष को फिर ठेस लगी। निर्गुणसंत-संप्रदायों के अनुयायी अधिकतर अवर जातियों के थे। उन्होंने ब्राह्मण-संपादित स्मार्तधर्म और धर्ममूल शास्त्रों का मुक्तकंठ से विरोध किया। इस प्रकार सनातन धर्म एक ओर अभारतीय इस्लाम और ईसाई धर्मों तथा दूसरी ओर भारतीय बौद्ध, जैन एवं संत-संप्रदायों के संघर्ष में आया। हिंदू धर्म का आंतरिक संघर्ष भी कम नहीं था। उस युग के तीन मुख्य धार्मिक संप्रदायों—वैष्णव, शैव और शाक्त—में पारस्परिक विरोध इतना तीव्र था कि साधारण-सी बात को लेकर भी प्रायः रक्तपात की नौबत आ जाया करती थी। शिव की नगरी काशी में शैवों का वैष्णवों से निरंतर संघर्ष होना बिल्कुल स्वाभाविक था। इन धार्मिक परिस्थितियों ने तुलसी को भरपूर प्रभावित किया। कबीर आदि निर्गुणिया संतों और प्रेममार्गी सूफियों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास किया। कहा जाता है

---

१. विस्तार के लिए दे०—तुलसीदास और उनका युग, प्रथम परिच्छेद

२. दो० ५५६

३. रा० ७।९७।४-७।१०२।५, कवि० ७।८३-८७, वि० १३९, दो० ५४५-६०

कि अकबर-प्रवर्तित 'दीनइलाही' भी धार्मिक समन्वय का प्रयत्न था। तुलसी ने वेदपुराण-निंदक मतों की तीव्र आलोचना की। हिन्दू-धर्म के विभिन्न संप्रदायों में परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं का सामंजस्य उपस्थित किया। पुराणनिगमागम के आधार पर विष्णु, शिव और शक्ति में अभेद बतलाकर वैष्णवों, शैवों और शाक्तों के भेद-भाव को दूर करने का सफल प्रयत्न किया। रामभक्ति के साधनरूप लोकमंगलकारी मानवधर्म और वर्णाश्रमधर्म की निबंधना करके सनातनधर्मदर्शन का प्रतिपादन किया।

तुलसी की दार्शनिक प्रवृत्ति का मुख्य निर्मायक उनका व्यक्तित्व है। उनके जीवनचरित का अधिकांश इतिवृत्त विवादग्रस्त है। परंतु, जो तथ्य निर्विवाद हैं वे भी उनकी प्रवृत्ति-प्रेरणा को समझने में पर्याप्त सहायक हैं।[1] वे ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। उनके माता-पिता निर्धन थे। अल्पावस्था में ही उन्हें (तुलसी को) माता-पिता से वियुक्त होना पड़ा।[2] बचपन से ही आर्थिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। भगवान् के अनुग्रह से उन्हें संतों की कृपा, करुणा और संगति प्राप्त हुई। बाल्यावस्था में ही रामभक्त गुरु से बारंबार रामकथा सुनने का सौभाग्य मिला। आगे चल-कर अपने जीवन में उन्हें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक और आधिभौतिक क्लेश सहने पड़े। उनकी रचनाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि उन्होंने वाङ्मय के विविध विषयों का तत्त्वाभिनिवेशी अध्ययन किया था। वे काव्य और शास्त्र के पारंगत पंडित थे। उनमें असाधारण प्रतिभा थी। उन्होंने लोक का सूक्ष्म अवेक्षण और जीवन का व्यापक अनुभव किया था। शैशवकाल से ही उन्हें परिपीड़ित करने वाले सांसारिक कष्टों ने उनके मन में संसार के प्रति विराग जागृत किया, उनके संचित संस्कारों को उद्दीप्त किया। संत-महात्माओं की सत्संगति एवं वेदशास्त्रादि के अध्ययन से उनकी आध्यात्मिक चेतना का और भी विकास हुआ। यदि तुलसी की पत्नीविष-यक कामासक्ति वाली घटना यथार्थ मानी जाए तो हम कह सकते हैं कि गुरु के उपदेश और शास्त्राध्ययन से उन्हें जो ज्ञान हुआ था वह वाक्य-ज्ञान था। पत्नी के सचेतक उपदेशों ने उनके जीवन की गति का परावर्तन करके उन्हें ईश्वरानुभवरूप स्वरूपज्ञान की ओर प्रवृत्त किया। इस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारों, जातिगत विशेषताओं, जीवन की मार्मिक अनुभूतियों, साधुसंतों की संगति, पुराण आदि के अध्ययन, युगीन परिस्थितियों और इन सबके ऊपर भगवान् राम की प्रेरणा से अनुप्राणित होकर तुलसी ने भक्तिदर्शन-प्रतिपादक काव्य का निर्माण किया।

●

---

१. दे०—तुलसीदास, पृ० १९९-२०१

२. प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री अभिनवगुप्त का जीवन-वृत्त दार्शनिक प्रवृत्ति के निमित्त का अवेक्षणीय उदाहरण है। बाल्यकाल में ही माता से वियुक्त करके दैव ने उनके भावी जीवन की दिशा का निर्माण किया। मातृस्नेह के प्रबल पाश का क्षय हो जाने पर वे जीवन्मुक्त-से हो गये—

माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव दैवं हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति। —तन्त्रालोक, ३७।५६

माता परं बन्धुरिति प्रवादः स्नेहोऽतिगाढी कुरुते हि पाशान्।

तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य मन्ये स्थिता जीवत एव मुक्तिः॥ —तन्त्रालोक, ३७।५७

द्वितीय अध्याय

ब्रह्म राम

रामु ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा।।[1]

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।[2]

तत्त्वत्रय—ब्रह्मवादी शांकर वेदांत के अनुसार तत्त्व[3] केवल एक है—ब्रह्म। चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का अद्वैततत्त्व मानने वाले विशिष्टाद्वैतवाद में तत्त्व तीन माने गये हैं—चित्, अचित् और ईश्वर।[4] तदनुसार रामानंद ने सुरसुरानंद के प्रथम प्रश्न 'तत्त्वं किम्' का उत्तर देते हुए बतलाया है कि केवल ब्रह्म ही एक तत्त्व है, उसी के तीन भेद हैं—प्रकृति, जीव और राम।[5] तुलसीदास का भी अभिमत है कि अंशी राम ही मूल तत्त्व हैं। उन्हीं से आविर्भूत और उनसे भिन्नाभिन्न तत्त्व हैं—जीव तथा जगत् (प्रकृति)।[6] इस प्रकार उनके अनुसार तत्त्व तीन हैं—राम, जीव एवं जड़ जगत्। जीव और जगत् सामान्य तत्त्व हैं। इन दोनों से राम की विशेषता और उनकी अशेषकारणपरता सूचित करने के लिए कवि ने उन्हें 'परम तत्त्व' कहा है।[7] **'जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।'**[8] में 'करतार' शब्द राम का, 'चेतन' शब्द जीव का तथा 'जड़' शब्द सम्पूर्ण अचेतन विश्व का व्यंजक है। **'माया जीव न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।'**[9] अथवा **'माया ब्रह्म जीव जगदीसा।'**[10] आदि से भी उनकी

---

१. रा० २।९३।४

२. रा० १।१। श्लोक ६

३. शंकराचार्य ने 'तत्त्व' का अर्थ किया है—ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप (तद् इति सर्वनाम सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तद् इति तद्भावः तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यम्—गीता, २।१६ पर शा० भा०)। विशिष्टाद्वैतवाद (दे०—तत्त्वत्रय), द्वैतवाद (दे०—तत्त्वसङ्ख्यान, १ और उस पर टीका) आदि में जीव और जड़ पदार्थ को भी 'तत्त्व' कहा गया है। सांख्य के पचीस तत्त्व (दे०—साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी) प्रसिद्ध ही हैं। तुलसीदास ने दार्शनिक दृष्टि से 'तत्त्व' शब्द का व्यवहार वेदांत और सांख्य दोनों के अनुसार किया है। उदाहरणार्थ—'पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी।।' (रा० १।१११।१), 'जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा।' (रा० १।२४२।२), 'पावा परम तत्त्व जनु जोगी।' (रा० १।३५०।३), 'अखिल मुनि तत्वदरसी' (वि० ४६।६), 'बरनहिं तत्त्वबिभाग' (रा० १।४४), 'तत्व बिचार निपुन भगवाना।' (रा० १।१४२।४), 'प्रकृति महत्तत्व' (वि० ५४।२) आदि।

४. तत्त्वत्रयं चिदचिदीश्वरश्च। —तत्त्वत्रय, पृ० ३

५. वै० म० भा० गु० ६-९

६. रा० १।११२।१, २।१२७।२, ७।११७।१, वि० ५४।२-४

७. रा० १।२४२।२, १।३५०।३

८. रा० १।६

९. रा० ३।१५

१०. रा० १।६।४

तत्त्वत्रय-विषयक मान्यता का समर्थन होता है। सत्यता[1] की दृष्टि से इन तीन तत्त्वों के दो वर्ग हैं— नित्य[2] तथा अनित्य। राम और जीव नित्य तत्त्व हैं।[3] जड़ जगत् अनित्य है,[4] क्योंकि उसका प्रतीयमान रूप सर्वकालवर्ती नहीं है। इन्हीं दो वर्गों को नामांतर से पारमार्थिक और व्यावहारिक भी कहा गया है। परमार्थवादी मुनियों का निश्चित मत है कि राम परमार्थरूप हैं।[5] नित्य और उनका अंश होने के कारण जीव की सत्ता भी पारमार्थिक ही है, यद्यपि तुलसी ने उसे राम की भाँति परमार्थरूप या परमतत्त्वमय नहीं कहा। सारा दृश्य, श्रव्य अथवा मन्य जगत् व्यावहारिक या अपारमार्थिक है।[6] राम ही तुलसी के मुख्य प्रतिपाद्य[7] हैं। बृहत्तम[8] होने के कारण वे 'ब्रह्म'[9] हैं। कवि ने बहुधा **परमात्मा,**[10] **ईश्वर,**[11] **हरि,**[12] **केशव,**[13] **माधव**[14] आदि एवं रामेतर अवतारवाची नामों का भी व्यवहार तथा संकेत राम के लिए किया है।[15] कहीं-कहीं **शिव** से भी उनका अभिप्राय भगवान् राम से ही है।[16] राम का स्वरूप मानातीत, अगाध और अप्रमेय है।[17] वे वचन-अगोचर, बुद्धिपर, अविगत, अनिर्वचनीय और अपार हैं। श्रुति[18] 'नेति नेति' के द्वारा ब्रह्म का निरूपण करती है। तदनुसार तुलसीदास ने भी राम की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया है।[19] जिसकी कोई माप नहीं, थाह नहीं, जो ज्ञानातीत एवं कल्पना के परे

---

१. सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्। —तै० उ० २।१।१ पर शा० भा०
२. सर्वकालवर्तमानत्वं हि नित्यत्वम्।—ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०, पृ० ३७
३. वि० ५३।६, ५६।५; रा० ४।११।३
४. रा० २।९२
५. रा० १।१०८।३, २।९३।४, २।१११।१, जा० मं० ५१; दे०—तै० उ० २।६।१ तथा गीता, २।५९ और उन पर शा० भा०; वि० पु० १।१५।५५; भा० पु० ५।१२।११
६. रा० २।९२।३-४
७. प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना। —रा० ७।६१।३
८. बृहत्तमत्वाद्ब्रह्म—तै० उ० २।१।१ पर शा० भा० और भी दे०—ब्र० सू० १।१।१, छा० उ० ३।१४।१ और श्वे० उ० १।१ पर शा० भा०; बृहत्वाद्बृंहणत्वाच्च—वि० पु० १।१२।५७, ३।३।२२
९. रा० १।५१।छं०, १।१०८।३, १।११६।४, १।१२०।३, १।१९८, २।१०६।४, २।१२३।१, ३।७।२, ३।३२।छं०, ४।२८।४, वि० ४३।१, ५०।८, ५२।७, ५६।३, ७९।३, गी० १।२५।१, १।६१।४, ७।३८।१, दो० ३१
१०. रा० १।११९।३, ७।४८।४; अ० रा० ६।८।३४
११. रा० ३।४।९, ५।१। श्लोक १
१२. वि० १०२।१, ११७।१, ११८।१, ११९।१, १२०।१, १२१।१, १६०।१, २१६।१, २४४।१
१३. वि० १११।१, ११२।१
१४. वि० ९२।१, ११३।१, ११४।१, ११५।१, ११६।१
१५. वि० ५२; वि० १३९।२, २४०।४
१६. रा० ३।१५; विष्णु का एक नाम 'शिव' भी है (विष्णुसहस्रनाम, १७)।
१७. रा० १।१९२।छं० २; रा० १।२३।१; रा० ३।३२।छं०२, ५।१। श्लोक १
१८. बृ० उ० २।३।६, ३।९।२६, ४।५।१५
१९. राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥ —रा० २।१२६, दो० १२६
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एकरस अहई॥ —रा० १।३४१।४
महिमा निगम नेति करि गाई।—७।१२४।१

है, उसके स्वरूप का निरूपण कैसे हो सकता है ? तुलसीदास का उत्तर है कि राम का जो बखान हुआ है वह वेदादि के द्वारा यथाशक्ति किया गया बौद्धिक अनुमान[1] है, मुनिजनों का अपना मति-विलास है।[2]

राम का लक्षण—

स्वरूप-लक्षण—मुनियों के मति-विलास के आधार पर ही तुलसी ने राम के स्वरूप का निरूपण किया है। वे सच्चिदानंदस्वरूप हैं।[3] यही उनका समीचीनतम स्वरूप-लक्षण है। राम सत्य हैं[4], क्योंकि उनके निश्चित स्वरूप का व्यभिचार (परिवर्तन) या नाश नहीं होता।[5] इसी अर्थ में उन्हें नित्य[6] और शाश्वत[7] भी कहा गया है। राम ही नहीं, उनकी भक्ति भी परमार्थ[8] है। उनके अंशभूत भरत आदि की मूर्ति भी परमार्थमयी है।[9] यह मान्यता अंशविशेष के रूप में अवतीर्ण भक्तों की गरिमा का प्रदर्शन करती है। राम 'चिन्मय' हैं।[10] 'ज्ञान'[11], 'विज्ञान'[12], 'बोध'[13] आदि शब्दों द्वारा भी तुलसी ने उनके चित्स्वरूप की अभिव्यंजना की है। राम का स्वरूप-निरूपण करते समय तुलसी ने बतलाया है कि राम जीव और जगत् के परम प्रकाशक हैं।[14] यह

---

१. आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥ —रा० १।११८।२

२. येहि भांति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं। —रा० ७।९२। छं०

३. ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।
सोइ सच्चिदानंद घन कर नर चरित उदार॥ —रा० ७।२५, दो ११४
सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु। —रा० २।८७, दो० ११६
ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप। —रा० ७।४७
और भी दे०—रा० १।१३।२, १।५०।२, १।११६।३, २।२३९, वि० ४३।१, ५१।१, ५३।६, ५५।१; अ० रा० १।१।३२; प० पु० ६।२४३।२४. परमात्मा के सच्चिदानंदस्वरूप के लिए दे०—तै० उ० २।१।१, बृ० उ० ३।९।२८; ब्र० सू० १।१।१६, १९ और उन पर रा० भा०; प० पु० ५।७३।२५, ना० पु० १।३।२२, १।१०।३७, १।१६।६०, ६४, १।१९।३८, १।३३।१४५, १।३४।४, १।३८।१६, वायुपु० २।४२।३५

४. यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।—रा० १।१। श्लोक ६
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ —रा० १।११७।४
दे०—तै० उ० २।१।१ तथा २।६।१ पर शा० भा०; गीता, २।१७ पर शा० भा०; भा०पु० २।६।३९, ५।१२।११, १०।१४।२३; वायुपु० २।४७।५०

५. 'सत्य' की व्याख्या के लिए दे०—तै० उ० २।१।१ पर शा० भा०, गीता, २।१६ पर शा० भा० और रा० भा०, वि० पु० २।१३।१००, महा०, शान्ति० १६२।१०, यो० वा० ५।५।९ और उस पर तात्पर्यप्रकाश

६. वि० ५३।६, ५५।९, ५६।५, अ० रा० ६।१३।१३

७. रा० ३।४।९, ५।१। श्लोक १

८. सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥ —रा० २।९३।३

९. मूरति मनोहर चारि बिरचि बिरंचि परमारथमई। —गी० १।५।३

१०. राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब उरपुर बासी॥ —रा० १।१२०।३,
और भी दे०—रा० ७।५२ क, ७।६८ ख; अ० रा० १।१।२३, ६।१३।२७

११. वि० ५३।६, गी० ५।११।३; अ० रा० ६।८।३५, ४०, दे०—तै० उ० २।१।१

१२. रा० ७।७२।२, अ० रा० १।१।२१, २४; दे०—बृ० उ० ३।९।२८

१३. रा० ६।४८ ख, ६।१११।३; अ० रा० १।१।२

१४. सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक राम। मायाधीस ज्ञान गुन धामू॥ —रा० १।११७।३-४

भी उनकी चिन्मयता का प्रतिपादक है। वे 'परमानंद' हैं।[1] 'निर्भरानंद', सहज आनद निधान', 'आनंदसिंधु', 'आनंदभवन', 'आनंदकंद',' सुखसंदोह', 'आनंदसंदोह' आदि शब्दों द्वारा तुलसी ने उनके इसी रूप की अभिव्यक्ति की है।[2] राम के चिदानंदस्वरूप के विषय में यह स्मर्तव्य है कि जिस प्रकार रामानुज द्वारा प्रतिपादित 'ब्रह्म' ज्ञानस्वरूप और आनंदस्वरूप होते हुए भी ज्ञानगुण-युक्त एवं आनंदगुणयुक्त है[3] उसी प्रकार तुलसी के र म भी ज्ञानानंदस्वरूप होते हुए ज्ञान तथा आनंद के आश्रय भी हैं।[4]

वे एक[5], अद्वितीय[6], अनुपम[7], अभेद[8], केवल[9] और शुद्ध[10] हैं। एकरूप[11], एकरस,[12] शांत[13] और सम[14] हैं। पुराणपुरुष हैं।[15] जीव की तीन अवस्थाओं जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति के परे चतुरीय अवस्था में होने के कारण वे केवल तुरीय[16] हैं। अंतर्यामी[17], व्यापक[18] और विभु[19] हैं।[20] अतएव उन्हें सर्वउरवासी[21], विश्वात्मा,[22] विश्वायतन[23] अथवा परमात्मा[24] कहना सर्वथा

---

१. रा० १।११६।४, १।१८६।छं०२, ७।३४, दो० १२५; दे०—ना० पु० १।५।४४, १।३३।६७; बृ०उ० ३।२।२८
२. क्रमशः—वि० ५६।५; रा० २।४१।३; रा० १।१९७।३, वि० ५६।८; वि० २०७।१; वि० ६४।७; रा० १।१९९; रा० ७।५२ क, ७।६८ ख
३. दे०—ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २२९-३०
४. रा० १।११७।४; वि० ५१।८, १०७।५
५. रा० १।२३।३, ६।८१।९, वि० ५३।३, २०३।१९; अ० रा० १।१।१७, १।५।४९; दे०-छा० उ० ६।२।१-२ (एकमेवाद्वितीयम्) तथा ईशा० उ० ४ और उन पर शा० भा०; वि० पु० ५।१।४५; भा० पु० ५।१२।११; ना० पु० १।१६।५४
६. वि० ५३।३, रा० ७।१३। छं०६; अ० रा० १।१।३२; दे०—वि० पु० ५।१।४५, भा०पु० १।२।११, १०।६३।३८
७. रा० ७।३४।२; दे०—ना० पु० १।२८।८७
८. रा० २।९३।४, वि० ५४।३
९. रा० ३।४।९; अ० रा० ७।४।६३; दे०—भा० पु० २।६।३९, १०।६३। ३४
१०. वि० ५५।१; अ० रा० ६।१३।१३; दे०—वि० पु० १।२।१, १।१२।५४, भा० पु० ४।९।१५, ५।१२।११, ना० पु० १।३३।६१
११. वि० २४९।३, रा० १।५५।२; दे०—वि० पु० १।२।१, ५।१।४४, प० पु० २।९८।४७
१२. रा० २।२१९।३, ६।११०।३, ७।३०।५, वि० २४९।३
१३. वि० ५७।४, रा० ५।१। श्लोक १; अ० रा० १।१।३३, ६।३।१८; दे०—ना० पु० १।५।३८
१४. रा० ३।११।६, ६।११०।३; दे०—भा० पु० ६।१७।२२
१५. रा० १।११६।४; अ० रा० १।५।४९; दे०—भा० पु० ५।११।१३; ना० पु० १।५।३९
१६. रा० ३।४।९; वि० ५३।३, गी० ७।४।६; दे०—भा० पु० १०।६३।३८; वायुपु० २।४७।५०
१७. रा० २।२०१, वि० ११७।५, १७१।३; जा० मं० ११५: अ० रा० १।१।१८; दे०—वि० पु० १।१२।५७, ना० पु० १।१६।४३, कू० पु० २।४।३
१८. रा० १।१३।२, १।२३।३, वि० ५३।८; अ० रा० १।१।३३; दे०—वि० पु० १।१२।५४, भा० पु० ८।१२।४, ना० पु० १।३४।४४, कू० पु० २।९।१८
१९. रा० ३।४।९, वि० ५३।३; अ० रा० ४।६।७४
२०. हनुमान् के लिए 'विभु' का व्यवहार (वि० २९।२) भक्तिवश गौरवप्रदर्शन के लिए किया गया है।
२१. रा० ५।५०।२, ६।१७।२; अ० रा० ६।१३।१०; दे०—भा० पु० १।८।१४, १।९।१०
२२. वि० ५६।३, रा० ६।३५।३; दे०—भा० पु० ३।२९।२१, ना० पु० १।३१।७०; कू० पु० १।२२।७८
२३. वि० ५४।१
२४. रा० १।११९।३, वि० ५२।७; अ० रा० २।८।३१, दे०—भा० पु० ३।३२।२६; ना० पु० १।३३।६१

संगत है। सर्वत्र रमने के कारण भी उनका नाम 'राम' है। वे समदर्शी[1] और सर्वदर्शी[2] हैं। कूटस्थ[3] और संसाररूपी दृश्य के द्रष्टा हैं।[4] प्रकाश्य जगत् के प्रकाशक और विश्वविलोचन हैं[5]; सर्वज्ञ हैं[6]। वे अखिल विश्व के शासक हैं[7]। परेश[8], भुवननिकायपति[9] एवं चराचरनायक[10] हैं। इसीलिए उन्हें प्रभु[11], ईश[12], ईश्वर[13], स्वामी[14] आदि[15] की संज्ञा दी गयी है। 'नाथ' शब्द राम की दानशीलता और संरक्षकत्व के साथ ही उनकी शासन-शक्ति का भी द्योतक है।[16] वे शक्तिमानों के भी शक्तिमान् हैं; ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कर्म-काल, देवी-देवता, दानव-मानव आदि सभी भगवान् राम की ही नहीं रामदूत हनुमान् की भी आज्ञा का नतमस्तक होकर पालन करते हैं।[17] वे सर्वथा समर्थ हैं।[18] उन्हें 'भगवान्'[19] कहा गया है, क्योंकि वे समस्त ऐश्वर्यों के स्रोत और स्वामी

---

१. रा० ४।३।४, ४।७; दे०—भा० पु० १।६।२१

२. रा० १।५३।२, ७।७२।३, अ० रा० ६।८।३४; दे०—वि० पु० ६।५।८६; कू० पु० २।४।३

३. वि० ५३।६; दे०—भा० पु० ४।६।१५, ७।३।३१, १०।१६।४३

४. वि० ५३।७, रा० २।१२७।१; अ० रा० ६।१३।१०; दे०—भा० पु० ४।६।१५

५. रा० १।११७।४, वि० १४६।४

६. रा० २।२११।२, २।२५७।४; विं० ५१।८, १५४।२, दे०—वि० पु० ६।५।७८, ८६

७. यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः—रा० १।१ श्लोक ६
बिधि हरि हरु ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जिअँ देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सबही कें॥ —रा० २।२५४।३-४
दे० —अ० रा० २।६।५८, भा० पु० १।१३।४०-४२, ना० पु० २।५८।४४, ब्र० वै० पु० २।५३।२८-३१

८. रा० १।११६।४; अ० रा० ६।१३।२५; दे० —ना० पु० १।५।४४, १।१६।५४

९. रा० १।५१। छं०, वि० ६८।४, दे० —भा० पु० ८।१२।४, ना० पु० १।१६।५४

१०. रा० ६।१०२।२, कवि० ७।१०१

११. रा० ३।४।६, वि० १०७।५; रा० प्र० ५।५।६; दे०—वि० पु० १।१४।२३

१२. रा० ३।७।१, वि० ७७।१, कवि० ७।१२६; अ० रा० ४।६।७२, ६।१३।१५; दे०—वि० पु० १।१४।४३, भा० पु० १०।२७।६, ना० पु० १।१६।६१, ब्र० वै० पु० १।१५।४३

१३. रा० ३।४।६, ५।३६।१; कवि० ७।१२७; दे०—वि० पु० ६।५।८६; भा० पु० ३।३२।२६, १०।१०।३०; ब्र० वै० पु० ४।६।४४

१४. तुम्ह ब्रह्मादि जनक जगस्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥ —रा० १।१५०।३
गुनातीत सचराचर स्वामी। रामु उमा सब अंतरजामी॥ —रा० ३।३६।१

१५. ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूँछेहु मोहि मनुज की नाईं॥ —रा० ३।१३।५

१६. रा० ३।६।५, ६।१११।१, गी० २।७४।४, कवि० २।६, अ० रा० ६।८।३४

१७. कवि० ७।१२६; हनु० ३२

१८. रा० ७।११६ ख; दो० १२८; वि० १३६।११; गी० ५।३।४; दे०—वि० पु० ६।५।८६

१९. रा० २।२५४।१, ७।७२।२; वि० ५६।२; दो० ११३
'विष्णुपुराण' में बताया गया है कि अगोचर ब्रह्म के लिए 'भगवान्' शब्द का प्रयोग औपचारिक है। उसकी महाविभूति का द्योतक है।—
भ=भर्ता, सम्भर्ता; ग=गमयिता, नेता, स्रष्टा; भग=समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य; व=वास—समस्त भूतों का, वासी—समस्त भूतों में, दे०—वि० पु० ६।५।७१-७६, ७६-८०
पांचरात्र आगम के अनुसार—षाड्गुण्यगुणयोगेन भगवान् परिकीर्तितः। —अहि० सं० २।२८

हैं। वे स्वतन्त्र और स्ववश हैं।[1] जगदाधार[2] तथा लोकविश्रामदायक हैं।[3]

तटस्थलक्षण—राम सृष्टि के कर्ता, भर्ता और संहर्ता हैं।[4] उनका कर्तृत्व, भर्तृत्व और संहर्तृत्व कादाचित्क होने के कारण उनका तटस्थलक्षण है। राम विश्व के परमकारण हैं।[5] इसलिए उन्हें कारण का भी कारण[6] और 'ब्रह्मादिजनक'[7] कहा गया है। वे जगत् से अभिन्न उसके निमित्त एवं उपादान दोनों ही कारण हैं।[8] जब तुलसी राम को विश्व-कारण-करण कहते हैं[9] तब 'कारण' से उनका उपादानकारणत्व और 'करण' से उसका निमित्तकारणत्व ही विशेष रूप से अभिप्रेत रहता है।[10] भगवान् के जगत्कर्तृत्व के विषय में यह भूलना नहीं चाहिए कि वे कारण और कार्य,[11] स्रष्टा और सृष्टि दोनों ही हैं।[12] प्रत्येक कार्य का कोई न कोई प्रयोजन होता है। राम तो पूर्णकाम हैं।[13] विश्वरचना में उनका क्या प्रयोजन है? दार्शनिक के पास इसके दो उत्तर हैं—लीला[14] और जीव का कल्याण।[15] सृष्टि, के आदि, मध्य और अंत में राम की ही सत्ता,[16] उन्हीं की साहबी[17] है। अर्थात् भगवान् से ही यह जगत् उद्भूत हुआ तथा उन्हीं में स्थित है।

---

१. रा० १।५१। छं०, ६।७३।६; रा० २।२५४।१, ७।७८।४

२. रा० ३।१२।४; अ० रा० ६।८।३४; दे०—ना० पु० १।२८।८७, कू० पु० २।४।२०

३. रा० १।१९७।३, वि० ५१।१, ५५।१

४. तासु भजनु कीजिअ तहँ भरता। जो करता पालक संहरता ॥ —रा० ६।७।२
जो करता भरता हरता सुर साहिब, साहिब दीन दुनी को ॥ —कवि० ७।१४६
बिस्वधृत, बिस्वहित, अजित, गोतीत, शिव, बिस्वपालनहरण बिस्वकर्त्ता ॥ —वि० ६१।८
दे०—अ० रा० ६।३।१९-२०; ब्र० सू० १।१।२; वि० पु० १।२।२, भा० पु० १।१।१, ना० पु० १।५।४३; कू० पु० २।४।४

५. वि० ५३।७, रा० ६।१०३ छं० १; दे०—ब्र० वै० पु० ४।५।९९

६. कालहू के काल, महाभूतन के महाभूत, कर्म हू के करम, निदान के निदान हौ ॥ —कवि० ७।१२६
दे०—वि० पु० १।१५।५६, ना० पु० १।११।७७, ब्र० वै० पु० ३।७।११२

७. रा० १।१५०।३

८. ब्रह्म जगदभिन्ननिमित्तोपादनम्—शा० भ० सू० ३।१।५ पर भ० च०; दे०—ब्र० सू० १।४।२५-२८
जेहिं सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा। —रा० १।१८६। छं० ३
भगवान् का यह निमित्तोपादानत्व ऊर्णनाभि के समान है—मु० उ० १।१।७; भा० पु० २।९।२६-२७, ११।९।२१

९. वि० ५५।९, रा० १।२०८

१०. उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कहा गया है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है (तै० उ० २।१।१, ३।१।१), निमित्तकारण है (तै० उ० २।६।१, ऐ० उ० १।१।१, प्र० उ० १।४, छा० उ० ६।३।३), अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है (छा० उ० ६।२।१-३; तै० उ० २।७।१)

११. दे०—भा० पु० ५।१८।५, वि० पु० १।९।४७, ना० पु० २।५९।२७, तत्त्वार्थदीप, २।८५

१२. वि० ५३।७; वि० पु० १।९।५०

१३. रा० १।३४२।३, ३।३०।९

१४. दे०—ब्र० सू० २।१।३३; भा० पु० १।३।३६, ३।९।१४, ४।७।४३, ७।८।४०, १०।५०।३०

१५. दे०—शा० भ० सू० ३।१।५ पर भ० च०; भा० पु० ८।१२।११

१६. आदि मध्यांत भगवंत त्वं सर्वगतमीश पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी।
यथा पटतंतु घटमृत्तिका सर्पस्रग दारुकरि कनककटकांगदादी ॥ —वि० ५४।४
दे०—भा० पु० ६।१६।३६

१७. आदि-अंत-मध्य राम साहबी तिहारी। —वि० ७८।३

वे जगत्‌के स्थितिसंयमकर्ता भी हैं और जगद्रूप भी हैं।[१] सृष्टि के पूर्व अन्य कुछ भी नहीं था, केवल राम थे; इस समय जो कुछ है, वह राम का ही रूप है; संहार के बाद जो कुछ रह जाएगा वह भी राम के ही रूप में।[२] राम विश्वंभर हैं; राम ही नहीं, उनके अंश भरत भी विश्व का भरण-पोषण करने वाले हैं।[३] राम के सर्जकत्व और पालकत्व के आधार पर भी उन्हें जगत् का पिता[४] या पिता-माता[५] कहा गया है। वे विश्व-प्रपंच के संहारक भी हैं। जगत् का प्रलय उनकी भृकुटि का विलासमात्र है।[६]

निर्गुण-सगुण—ब्रह्म राम के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण—'**अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥**'[७] तुलसीदास इन दोनों ही रूपों को परमार्थतः सत्य मानते हैं। वे आचार्य शंकर की भाँति केवल निर्गुण ब्रह्म को अथवा वल्लभाचार्य की भाँति केवल सगुण ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य नहीं मानते। राम के लिए 'निर्गुण' या उसके समशील शब्दों का व्यवहार उन्होंने अनेक अर्थों में किया है—

क. निर्विशेष, अनिर्वचनीय। 'निर्गुण' में 'गुण' का अर्थ है विशेषण या लक्षण। जिसका किसी प्रकार के विशेषण या लक्षण के द्वारा इदमित्थं निरूपण नहीं किया जा सकता वह 'निर्गुण' है।[८] 'नेति नेति' उसकी इसी निर्विशेषता अथवा अनिर्वचनीयता का प्रतिपादक है।[९]

ख. निराकार या रूपरहित[१०]

ग. गुणातीत; प्रकृति के सत्त्व, रज एवं तम गुणों से वर्जित; गोत्र, वर्ण, जन्म, मरण, मोह, शोक आदि प्राकृत हेय गुणों से रहित[११]

घ. अखंडता, अनादिता, अनंतता, अप्रमेयता आदि अभाववाची गुणों से युक्त[१२]

---

१. दे०—वि० पु० १।१।३१, १।१७।२२, १।२२।६४, २।७।४१, ५।१८।५०

२. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥—मुक्ता०, पृ० ६ और भी दे०—भा० पु० २।६।३८, ६।४।३०, १०।४७।३०, ना० पु० १।१६।२३, कू० पु० २।३।७

३. वि० ५५।६, ६८।४; रा० १।१६७।४

४. कवि० १।१५, रा० १।२०६।२, १।२४६।२, दे०—भा० पु० १०।२७।६

५. रा० १।२००।१, वि० ८७।२

६. भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। —रा० ३।२८।२

७. रा० १।२३।१

८. दे०—भा० द० (ब० उ०), पृ० ७६

९. बृ० उ० ३।६।२६, ४।५।१५; रा० २।१२६, दो० १६६, वि० २५१।४

१०. रा० १।२३।१, दो० ७; अनवच्छिन्नचैतन्यं निराकारः—मुक्ता० पृ० ७; कृ० ३३

११. निर्गुणं सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः तैः वर्जितं—गीता, १३।१४ पर शा० भा०
निर्गुणं तथा स्वभावतः सत्वादिगुणरहितं—गीता, १३।१४ पर रा० भा०
अप्राकृतगुणस्पर्शं निर्गुणं परिगीयते। —अहि० सं० २।५५
अगुणस्य निखिलगुणातीतस्य—भ० च०, पृ० २३३
गुनातीत सचराचर स्वामी। —रा० ३।३६।१; प्रयोग के लिए दे०—रा० १।११०।२, १।११६।१

१२. कृ० ५२, दो० ८; परमात्मा के अभाववाची और अनिर्वचनीय गुणों के लिए दे०—बृ० उ० ३।८।८, मु० उ० १।१।६, २।१।२, श्वे० उ० ६।१६; ब्र० सू० १।२।२१ पर शा० भा०; १।२।२२ पर रा० भा०; वि० पु० १।१४।३८-४२, भा०पु० ८।३।८, २४, ना० पु० १।३३।६३
परं ब्रह्म निरस्तनिखिलदोषत्वकल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेतमित्यर्थः। —ब्र० सू० ३।२।११ पर रा० भा०
मि० दे०—दूषन रहित सकल गुन रासी। —रा० १।८०।२

'सगुन' या उसके समशील शब्दों का निम्नांकित अर्थों में प्रयोग हुआ है—

क. साकार या सरूप[1]

ख. सत्त्व, गोत्र, जन्म, मोह आदि प्राकृत गुणों से युक्त रूप में भासमान[2]

ग. कल्याणगुणाकर, अप्राकृत विमल सद्गुणों से संपन्न[3]

यद्यपि तुलसी ने 'निर्गुन' या 'अगुन' और 'सगुन' शब्दों का निराकार तथा साकार के अर्थ में भी व्यवहार किया है तथापि वे 'निराकार' और 'साकार' की भाँति प्रतियोगी शब्द नहीं हैं; क्योंकि, तुलसी का 'निर्गुन' निराकारमात्र या 'सगुन' साकारमात्र नहीं है। निराकार ब्रह्म भी भक्तवत्सलता, करुणा आदि गुणों से युक्त होने के कारण सगुण ही है। इसलिए वैष्णव आचार्यों ने ब्रह्म को स्वभावतः सगुण माना है।[4] **'सगुन अगुन उर अंतरजामी'**[5] राम के इसी सगुण निराकाररूप का ही प्रतिपादक है। इस प्रकार तुलसी के राम स्वरूपतः सगुण हैं। वे निराकार भी हैं, और साकार भी। भक्त के प्रेमवश वे निराकार से साकार रूप में अवतीर्ण हुआ करते हैं। तत्त्वतः निर्गुण और सगुण में कोई स्वरूप-भेद नहीं है।[6] केवल वेष का अंतर है।[7] जिस प्रकार का रूप-भेद दारुगत अव्यक्त अग्नि और दृश्यमान अग्नि में है,[8] जल और हिम-उपल में है[9], अंक और अक्षर में है[10], वैसा ही भेद निर्गुण और सगुण ब्रह्म में आभासित होता है। वस्तुतः राम का सगुणरूप निर्गुण राम का ऐश्वर्य है। उस ऐश्वर्याभिव्यक्ति के अभाव में भगवान् राम जड़ और निरर्थक हो जाते। अभिनव गुप्त ने कहा है कि यदि महेश्वर एकरूप से स्थित रहता तो वह भी घट आदि की भाँति महेश्वरत्व एवं संविस्त्व से रहित हो जाता।[11] कवि तुलसी ने पद्मपुष्पशोभित सरोवर के सादृश्य द्वारा उपपत्तिपूर्वक राम की सगुणरूपमाधुरी का चित्ताकर्षक चित्रण किया है—**फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा॥**[12] तात्पर्य यह है कि राम एक हैं; वे ही निर्गुण और सगुण, निराकार और साकार, अव्यक्त और व्यक्त, अंतर्यामी और बहिर्यामी, गुणातीत और गुणाश्रय तथा प्राकृतहेयगुणरहित और अप्राकृत-विमलगुणसंपन्न हैं।

---

१. रा० १।२३।१, दो० ७; सत्त्वावच्छिन्नं चैतन्यं साकारः—मुक्ता०, पृ० ७

२. रा० १।११०।२, १।११६।१, कु० ५२

३. दे०—वि० ५३, ५४, ५५, ५६; भा० पु० ८।७।२३

४. दे०—ब्र० सू० १।१।२१ और १।२।१२ पर रा० भा०, ब्र० सू० १।२।२ पर म० भा० और नि० भा०; दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ श्रीवल्लभाचार्य, पृ० १५६

५. रा० ३।११।१०

६. सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ —रा० १।११६।१
अगुन अलेप अमान एक रस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥ —रा० २।२१९।३

७. नयनन्हि को फल बिशेष ब्रह्म अगुन सगुन बेष। —गी० ७।७।६
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥ —रा० १।२१६।१

८. एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥ —रा० १।२३।२

९. जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहि जैसें॥ —रा० १।११६।२

१०. अंक अगुन आखर सगुन समुझिअ उभय प्रकार॥ —दो० २५२

११ अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः। महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत्॥ —तन्त्रालोक, ३।१००

१२. रा० ४।१७।१

प्रस्तुत प्रसंग में एक परिप्रश्न उठता है—तुलसीदास राम को स्वभावतः निराकार मानते हैं या साकार ? रामानुज, मध्व और निंबार्क ने ब्रह्म की स्वाभाविक निराकारता स्वीकार की है,[1] किंतु वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार वह स्वभावतः 'साकार' है ।[2] तुलसीदास में दोनों ही धारणाओं का समन्वय है । वोपदेव के विष्णु[3] की भाँति तुलसी के राम भी निराकार और साकार एक साथ हैं । नाम और रूप को उनकी उपाधि मानकर, उन्हें अनाम, अरूप, अव्यक्त एवं निराकार कहकर उन्होंने पहली धारणा का समर्थन किया है[4] और अनेकनाम, सर्वरूप, व्यक्त, विश्व-विग्रह, वैकुंठनिवासी, पयोनिधिवासी आदि कहकर[5] दूसरी का । 'रामचरितमानस' के सुतीक्ष्ण, अगस्त्य और वेदों की उक्तियों से भी यह सिद्ध है कि तुलसी को राम की निराकारस्वरूपता भी मान्य है, किंतु वे उनके साकाररूप को ही भजनीय समझते हैं ।[6] अपनी 'विनयपत्रिका' में निबद्ध प्रार्थना उन्होंने स्वभावतः साकार राम की ही सेवा में निवेदित की है । इस आभासित विरोध का परिहार यह है कि राम केवल अनुभवगम्य हैं—राजयोगी ज्ञाननिष्ठ निर्गुणोपासक उनका अनुभव निराकाररूप में करता है और भक्तिमार्गी भावनिष्ठ सगुणोपासक अपनी भावना के अनुसार साकाररूप में । वोपदेव द्वारा प्रतिपादित साकार विष्णु का चतुर्विधत्व[7] तुलसी को मान्य नहीं है ।

राम का निर्गुणरूप—राम निर्गुण[8], अगुण[9], गुणातीत[10] हैं । अकल[11], अखिल[12], अखंड[13], अविच्छिन्न[14] हैं । अव्यक्त[15], निराकार[16], अरूप[17], अलख[18] और अनाम[19] हैं । मायारहित[20],

---

१. ब्र० सू० ३।२।१४ पर रा० भा०, म० भा० तथा नि० भा०; ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २३२
२. साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च । सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदं जगत् ॥ —शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ८
३. स द्वेधा निराकारः साकारश्च । —मुक्ता०, पृ० ७
४. रा० १।२१।१; रा० १।१३।२, १।२२।१, वि० ६३।३, रा० ७।७२।३
५. क्रमशः —रा० ७।३४।३, रा० ५।५०।२, वि० ५४।३, वि० ५०।३, रा० १।८०।२, वि० ५५।७
६. क्रमशः —रा० ३।११।९-१०, ३।१३।६-७, ७।१३ छं० ६
७. दे०—मुक्ता०, पृ० ७ (पुरुष, ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु)
८. रा० १।२०५, वि० ५०।८; अ० रा० ६।३।७४; दे०—वि० पु० १।१४।३८, ना० पु० १।३।२१, १।४८।६२, वाराहपु० १४४।४८
९. रा० २।२१९।३, गी० ७।७।६; दे०— वायुपु० २।४२।९८
१०. रा० ३।३९।१, गी० ७।२१।१०, वि० २०३।४, दो० ११४, दे०—वि० पु० ५।३०।७
११. रा० १।५०, ६।११०।३, वि० ५५।७, दे०—भा० पु० ८।५।२६
१२. रा० ३।११।६, ७।७२।२
१३. रा० १।१४४।२, ३।१३।६, ६।६१।९, ६।१११।८
१४. वि० ५१।८, वि० ९८।२; दे०—ना० पु० १।८।५५
१५. वि० ५३।३, रा० ३।३२ छं० २; दे०—वि० पु० ५।१।३९, भा० पु० ४।११।२३, वाराहपु० १४४।४८
१६. रा० ७।७२।३; अ० रा० ६।३।२९, ७४; दे०—ना० पु० १।३८।२३, प० पु० २।९८।४१
१७. रा० १।२२।१, १।१४१।१; दे०—वि० पु० ५।१।३९, ६।५।८६, भा० पु० ६।१६।२१
१८. रा० १।३४१।३, २।९३।४
१९. रा० १।२२।१, १।२०५; दे०—वि० पु० ५।१८।५३, भा० पु० ६।१६।२१, कू० पु० १।१७।३६
२०. रा० १।१८६।छं० २, वि० ५६।६

मायातीत[1], मायापार[2] और प्रकृतिपार[3] हैं। निरुपाधि[4], निरंजन[5], निरपेक्ष[6], विरज[7] एवं अचल[8] हैं। सर्वरहित तथा नित्यमुक्त हैं।[9] रागरोषरहित और सहज उदासी हैं।[10] अनीह, निष्काम या निरीह हैं।[11] विगतविनोद, निर्मोह और निर्मम हैं।[12] अनामय[13], विकाररहित[14], अमल[15], अदभ्र[16] अनघ[17] एवं अनवद्य हैं[18]। अज[19], आदि-अंत-रहित[20], निःसीम[21], अविनाशी[22] और अव्यय हैं।[23] अपार, अलेख और अकथ हैं।[24] कर्म-वचन-मन से अगोचर[25] अथवा ज्ञानगोतीत हैं।[26] अतर्क्य[27], अप्रमेय[28] तथा कल्पनातीत[29] हैं। कहा जा चुका है कि राम का इस प्रकार नका-

---

१. रा० ६।१।श्लोक १; अ० रा० ६।१३।१२; दे०—ना० पु० १।२७।१००
२. रा० १।१६२, ७।२५, दो० ११४; अ० रा० ४।६।६२
३. रा० ७।७२।४; अ० रा० १।१।१७, ६।२।३६; दे०—वि० पु० ६।५।८३, ना० पु० १।४८।६२
४. रा० १।१४४।३, वि ५३।३, ५६।५; अ० रा० १।१।३२
५. रा० १।१६८, वि० ५६।५; दे०—वि० पु० १।१४।३८, ना० पु० १।३३।११, वाराहपु० १४४।४८
६. वि० ५७।४
७. रा० ३।११।६, ७।७२।४, वि० ५३।८, ५५।५,
८. वि० ५६।८; दे०—वायुपु० २।४२।६८
९. रा० १।१२०।३; वि० ५३।६, ५५।६
१०. रा० २।२१६।२, ६।११०।३
११. रा० १।२०५, ३।४।२, ६, ७।७२।४; दे०—वायुपु० २।४२।६८
१२. रा० १।१६८, ७।७२।३, वि० ५३।६, ५६।५; दे०—ना० पु० १।२७।१००
१३. रा० ५।३६।१; वि० ५६।८; दे०—वायुपु० २।४२।२८
१४. रा० १।२३।४, वि० ५६।८; अ० रा० ६।८।४०; दे०—वि० पु० ६।८।५६, ना० पु० १।२७।१०२
१५. रा० ३।११।६; वि० ५०।८, ५३।२; अ० रा० १।१।३३
१६. रा० ७।७२।३
१७. रा० ५।१। श्लोक १, ६।११०।३; वि० ५१।८, ५६।८
१८. रा० ३।११।६, ६।१११।८; वि० ५०।८, ५६।८; अ० रा० १।१।३३
१९. रा० ४।२६।६, वि० ५३।३, दो० ११४, वै० सं० ४; अ० रा० ४।६।७२; ना० पु० १।३३।११
२०. रा० १।१४४।२; अ० रा० ४।६।६६; ६।३।१८, दे०—वि० पु० ६।८।५४, भा० पु० ८।५।२६, ना० पु० १।२७।१०२, कू० पु० १।१५।८५, वाराहपु० १४४।४६, वायुपु० २।४२।२८
२१. वि० ५६।५; दे०—भा० पु० ८।१।१२, वाराहपु० १४४।४६
२२. रा० १।१२०।३, ३।३०।१; गी० ७।३८।१; दे०—वायुपु० २।४२।६६
२३. रा० ४।१। श्लोक २; अ० रा० ६।२।१५
२४. दो० १६६, रा० २।१२६, २।२१६।३, ३।११।६
२५. मन-क्रम-बचन अगोचर व्यापक व्याप्य अनंत। —वि० २०३।१४
मन क्रम बचन अगोचर जोई। दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥ —रा० १।२०३।३
तुलसिदास केहि बिधि बखानि कहै यह मन-बचन-अगोचर मूरति। —गी० ७।१७।१६
दे०—अ० रा० २।२।२७, वि० पु० १।१६।७७, भा० पु० ८।३।२१
२६. ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार। —रा० ७।२५, दो० ११४
सुख संदोह मोह पर ज्ञान गिरा गोतीत। —रा० १।१६६; दे०—वि० पु० ४।१।८३
२७. राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। —रा० १।१२१।२; दे०—भा० पु० ८।५।२६, ब्र० वै० पु० ४।५।६६, ना० पु० १।५।३७
२८. रा० ३।३२। छं० २, ५।१। श्लोक १; दे०—अ० रा० ६।१३।१२, १४-१५; भा० पु० ४।११।२३, कू० पु० २।३।४
२९. वि० ५४।६; दे०—वि० पु० ५।३०।८

रात्मक निरूपण उनकी अनिर्वचनीयता का प्रमापक है; इसलिए, ब्रह्मप्रतिपादक श्रुति की भाँति तुलसीदास भी **'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी'**[१] ऐसे राम का स्वरूप-निरूपण करते समय 'नेति नेति' जैसे अर्थगौरवशाली शब्द का बार-बार व्यवहार करते हैं।[२]

राम का सगुणरूप—रामानुज के ब्रह्म[३] की भाँति तुलसी के राम भी स्वभावतः सगुण हैं। उनके गुण अमित हैं।[४] इसीलिए उनके गुणों के गण, ग्राम, संनिपात, राशि, सिंधु, निधान, धाम, आगार, गेह, मंदिर आदि का उल्लेख करके तुलसी ने उनके गुणों की अतिशयता पर बल दिया है।[५] वे स्वभावतः करुणामय हैं।[६] इसीलिए वे करुणा के धाम, निधान, आयतन, अयन, निकेत, भवन, निधि, आकर, सिंधु आदि कहे गये हैं।[७] उनकी यह करुणा अहैतुकी है।[८] उसका एकमात्र प्रयोजन है भक्त का कल्याण। वे सहज ही परम कृपालु हैं।[९] उनकी यह कृपा भी हेतुरहित है।[१०] वे भक्तों के प्रति अतिशय ममतालु हैं।[११] दीनदयालु[१२], दीनबंधु[१३] और गरीबनिवाज हैं।[१४] अनाथनाथ और अशरणशरण हैं।[१५] शरणागतों के पालक एवं भीतजनों के रक्षक हैं।[१६] प्रणतप्रेमी[१७] तथा प्रणतपालक[१८] हैं। वे सेवक जनों के रंजनकारी, हितू, पालक,

---

१. रा० १।३४१।४; अ० रा० ६।८।४३
२. नेति नेति जेहि बेद निरूपा। —रा० १।१४४।३
ध्यान न पावहिं जाहि मुनि नेति नेति कह बेद। —रा० ६।११७
नेति नेति नेति नित निगम करत —वि० २५१।४; और भी दे०—दो० १९९, गी० १।१०८।१०
३. दे०—ब्र० सू० १।१।२१ और १।२।१२ पर रा० भा०
४. वि० ५२।१, रा० ६।१११।३; दे०—भा० पु० १०।१४।७, ११।४।२
५. क्रमशः— वि० १७०।२; रा० ३।११।८, गी० २।४७।२२; वि० ५३।९; रा० १।२४६।२; वि० २२२।१, कवि० ७।१५, रा० ६।१११।१; रा० ६।१। श्लोक १; रा० ६।१११।५, गी० १।२२।११; रा० ६।११, वि० २४९।३, गी० १।२५।१, ७।२८।३; रा० ८।४८ ख, ६।८६; वि० ४३।१; रा० १।१८६। छं० ४
६. करुनामय मृदु राम सुभाऊ। —रा० २।४०।२
और भी दे०—रा० ६।११०।३, वि० ६०।१, ८१।१, कवि० ७।९३, गी० ३।११।४
७. क्रमशः— वि० ५६।९, गी० ७।५।७; वि० ५४।८, १६६।१, गी० १।८८।५, ५।११।१; कवि० ७।१११, रा० २।१०२; रा० २।१३३, गी० ७।६।४; वि० ५३।२; वि० ५९।१, रा० ७।९२; कवि० ७।१०, गी० ५।२०।२; वि० २६९।२, गी० ५।३७।१; वि० ८६।४, गी० ६।९।३
८. बिनु हेतु करुनाकर उदार (वि० १३६।९), करुनाकर की करुना करुना हित (कवि० ७।९३),
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ —रा० ७।४४।३
९. वि० १३६।४, रा० ४।१२।२, गी० १।२५।१, कवि० ५।३०, दो० १२५, रा० प्र० ५।४।४
१०. तुम सम हेतु रहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी। —वि० ११४।२
११. जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥ —रा० १।१३।३
१२. वि० १३९।१, रा० ६।७।१, कवि० ७।७, गी० ५।३८।५
१३. रा० १।२११, वि० ८१।१, गी० १।९२।२, दो० १७१, कवि ७।२१
१४. रा० १।१३।४, वि० ७८।६, गी० ३।१७।२, कवि० ७।१, दो० ५७३, रा० प्र० ३।५।७
१५. कवि० ७।१०-११, ७।२१; रा० ७।५१।२, वि० २१०।१, गी० ५।३२।३, रा० प्र० ५।६।१
१६. वि० २७१।१, गी० ५।२२।१०; रा० ७।१४।१, कवि० ७।१८
१७. रा० ६।३।३, ६।७।३; दे०—ना० पु० १।५।४४
१८. रा० १।१४६।१, वि० ७७।२, कवि० ७।१११, गी० १।६।२१, रा० प्र० ५।६।१; दे—भा० पु० ८।३।२८.

त्राता एवं सुखदायक हैं।[१] परमस्नेही[२] तथा भक्तवत्सल हैं।[३] वे इतने भाववल्लभ तथा भावग्राहक हैं कि भक्त की विनय सुनते ही उसकी प्रीति को पहचानकर सहज ही रीझ जाते हैं।[४] इसीलिए भक्त उन्हें पिता-माता मानता है[५], उनकी द्रुति की कामना करता है।[६] वे खीझ कर भी सालोक्य-मुक्ति प्रदान करते हैं—खीझ में भी रीझना उनका स्वभाव है।[७] वे भक्तों के गौरवदाता हैं।[८] श्रेष्ठ वरदानी हैं, भक्तों की कामना-पूर्ति करने वाले कल्पतरु हैं।[९] देवों, मुनियों, संतों तथा गो-ब्राह्मणों आदि के पालक, रक्षक, निस्तारक एवं आनंदमंगलदायक हैं।[१०] यही नहीं, वे व्यापक रूप से सर्वरक्षक, सर्वोपकारी, कल्याणकारी और मंगलमूर्ति हैं।[११] वे मद, मोह, क्रोध, लोभ, काम आदि के विनाशक[१२]; एवं त्रास, संशय, विषाद, भय, शोक आदि के हर्ता हैं।[१३] आर्त्तबंधु, आर्त्ति-भंजन और त्रितापमोचन हैं।[१४] पाप-दूषण-हारी[१५] एवं पतितपावन[१६] हैं। द्वंद्वहारी, भवतारक, कैवल्यपति और निर्वाण-दाता हैं।[१७] काल, कर्म स्वभाव आदि के नाशक हैं।[१८] खलों, विशेषकर असुरों, के घालक एवं धरती का भार उतारने वाले हैं।[१९] वे तीनों ऐश्वर्य-विभूतियों शील, शक्ति और सौंदर्य से संपन्न हैं।[२०] पांचरात्र आगम में प्रतिपादित[२१] नारायण के षड्गुणों ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज से युक्त हैं।[२२] उनके पूर्वोक्त विविध गुणों में 'सात्वततन्त्र' में बतलाये गये भगवान् के ब्रह्मण्य आदि बासठ 'भग' भी

---

१. रा० ६।१११।३, वि० १५३।३, गी० १।२२।४; वि० ७२।१, १७१।६, रा० १।१२९।३; रा० प्र० ५।४।४; रा० ६।८२। छं० ७।३०।२; वि० १३६।६, कवि० ७।१११, गी० २।५५।१
२. रा० ३।२६।४, ६।४६।१
३. रा० १।१४६।४, ३।४। छं० १; अ० रा० ६।३।१७; दे०—ना० पु० १।५।४४
४. रा० ३।४।१०, ७।६२। छं०; रा० १।२८।३, १।३४२।२, कवि० ७।४६
५. वि० ६६।४, २२५।४; दे०—अ० रा० ६।३।२६
६. वि० १०६।३, ११०।३, १८६।२, ६
७. वि० ७१।६, कवि० ७।१३६
८. रा० २।१६५।१, ५।३२।३-४, ६।६२।१
९. वि० ५४।१, ५५।५, रा० ३।४२।१; रा० ३।११।७; दे०—ना० पु० १।१६।४३
१०. रा० १।१८६। छं० १, १।२८५।१, ७।५२।१
११. वि० ५३।६; वि० ५५।३, ५६।४; रा० ३।१। श्लोक १; रा० २।१२५।३, वि० १३५।३
१२. रा० १।२८५।१, ३।११।७, ६।१११।७; वि० ५१।१, ५३।२
१३. वि० १३६।१२, गी० ७।१२।७; वि० २०३।१६; रा० ३।११।५; रा० ५।४३।४; रा० ६।१११।३
१४. रा० ६।८२। छं०, कवि० ७।११; कवि० ७।४, गी० ५।२०।४; रा० १।२११।३, गी० ७।६।४
१५. वि० ५६।१, गी० ३।१७।४; रा० ७।३५।५, गी० ५।४३।४, कवि० ७।२१
१६. वि० ७७।२, १६०।१, २१०।१, २५२।३, गी० ३।१७।२, ५।४३।३
१७. रा० ६।१०३। छं० १; वि० १४५।६, रा० ६।१११।६; वि० १३६।६; वि० ५५।३, ५६।५
१८. रा० ७।३५।४, कवि० ७।१२६; दे०—ब्र० वै० पु० १।१५।५४, ४।६।४४
१९. रा० २।२५४।२, ३।२२।४, ५।५०।२, ६।११३।२-३, ७।३०।५
२०. रा० १।२८५।२, ७।३०।१; रा० २।१८६।४, ३।१११।८; रा० २।११७।१, गी० १।१०६, १।१०८
२१. अहि० सं० २।५६-६१; दे०—वि० पु० ६।५।७६, भा० पु० १०।१६।४०, ना० पु० १।५।३६
२२. क्रमशः—वि० ५४।५; रा० १।१५२।२; वि० ६१।६; रा० १।२२५।२; रा० २।६३।४; रा० १।१८६। छं० ३

समाहित हैं।[1] अपने इन गुणों के कारण राम मुनि-मानस-हंस हैं; ब्रह्मा और महेश के भी पूज्य हैं; वे ही एकमात्र ज्ञेय हैं।[2] उनका सुयश पुराणनिगमागम में विदित है; सिद्ध-मुनीशों द्वारा प्रशंसित है; कोटियों शारदा तथा शेषनाग भी उनके गुणगण का लेखा करने में असमर्थ हैं।[3]

राम के विरोधी गुण—श्रुतियों में ब्रह्म के परस्पर-विरोधी-गुणों की चर्चा की गयी है।[4] इसी प्रकार पुराणकारों ने भी भगवान् को विरोधी गुणों का आश्रय बतलाया है।[5] 'गीता',

---

१. सात्वततन्त्र, ३।१९-२४; रा० १।२०९।२ आदि

२. रा० ७।३५।४; रा० ५।१। श्लोक १, ६।४८; कवि० ७।३९

३. क्रमशः—रा० ७।५१।४; रा० १।२६२।३; रा० २।२००।४, वि० ५०।९

४

विश्वतश्चक्षुः—ऋ० १०।८१।३	अचक्षुः—मु० उ० १।१।६
एजति, दूरे, बाह्यतः	नैजति, अन्तिके, अन्तरस्य —ईशा० उ० ५
सर्वगन्धः, सर्वरसः —छा० उ० ३।१४।४	अगन्धवत्, अरसम् — क० उ० १।३।१५
अप्राप्य मनसा —तै० उ० २।९।१	मनसैवेदमाप्तव्यम् —क० उ० २।१।११
आत्मानमैक्षत् —क० उ० २।१।१	न चक्षुषा गृह्यते —मु० उ० ३।१।८
अचक्षुः, अकर्णः, अपाणिपादः	पश्यति, शृणोति, जवनो ग्रहीता —श्वे० उ० ३।१९
मूर्तम्, मर्त्यम्, स्थितम्, सत्	अमूर्तम्, अमृतम्, यत्, त्यत् —बृ० उ० २।३।१

५. अणिष्ठ-गरिष्ठ—अ० रा० ६।३।२६, वि० पु० १।९।४१, ना० पु० १।२।५४, मा० पु० ४।३८
कारण-कार्य—वि० पु० १।९।४७-४९, ना० पु० २।५९।२७, ब्र० वै० पु० ३।७।११२
भोक्ता-भोग्य—वि० पु० १।९।५०
स्रष्टा-सृज्य—वि० पु० १।९।५०, ५।२९।२६, ना० पु० १।१६।३१
परमार्थ-अर्थ—वि० पु० १।२०।९
स्थूल-सूक्ष्म—वि० पु० १।२०।९, ब्र० वै० पु० ३।७।१११, वायुपु० १।१४।७
क्षर-अक्षर—वि० पु० १।२०।९
व्यक्त-अव्यक्त—वि० पु० १।२०।९, ६।५।८६, ब्र० वै० पु० ४।५।९८
कलातीत-सकलेश—वि० पु० १।२०।९
गुणाञ्जन-निरञ्जन—वि० पु० १।२०।९-१०
मूर्त-अमर्त—वि० पु० १।२०।१०, १।२२।८६, कू० पु० १।६।२०
स्फुट-अस्फुट—वि० पु० १।२०।१०
कराल सौम्य—वि० पु० १।२०।११
विद्यामय-अविद्यामय—वि० पु० १।२०।११, १।२२।७८
सत्-असत्—वि० पु० १।२०।११, ६।८।५७, भा० पु० ३।२६।१०, ८।१२।८
नित्य अ.नित्य—वि० पु० १।२०।१२
प्रपञ्चात्मा-निष्प्रपञ्च—वि० पु० १।२०।१२
एक-अनेक—वि० पु० १।२०।१२, भा० पु० ८।१२।८
व्यष्टिरूप-समष्टिरूप—वि० पु० ६।५।८६
सर्वस्वरूप-रूपवर्जित—वि० पु० ६।८।२७, भा० पु० ८।३।९, ना० पु० १।५।४२, १।११।२०
कर्ता-अकर्ता—भा० पु० ४।११।१८
वेत्ता-अवेत्ता—शि० पु० ७।१।६।२३
द्रष्टा-दृश्य—भा० पु० ७।६।२२
व्याप्य-व्यापक—भा० पु० ७।६।२२

'महिम्नस्तोत्र' आदि में भी उनके विरोधी गुणों का प्रतिपादन किया गया है।[1] इसी परंपरागत मान्यता के अनुसार तुलसीदास ने भी अनिर्वाच्य भगवान् की दुरूह महिमा प्रतिपादित की है। उनके निराकार राम भी इंद्रियरहित होकर भी ऐंद्रियकर्मकर्त्ता हैं।[2] निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं[3]—दारुगत अव्यक्त और व्यक्त अग्नि की भाँति।[4] इसीलिए उनका निरूपण करते समय तुलसी ने उन्हें बारंबार एक साथ ही निर्गुण-सगुण कहा है।[5] वे गुणातीत होते हुए भी भोग-पुरंदर हैं।[6] ज्ञानगिरागोतीत होते हुए भी ज्ञानगम्य और वेदांतवेद्य हैं।[7] अनाम होकर भी

शान्त-घोर—भा० पु० ८।३।१२
सर्ववास-सर्ववासी—अ० रा० २।६।५२
भूत-भूतावास—भा० पु० १०।१६।३६
विश्व-विश्वेश्वर—भा० पु० ११।५।३०
मायी-मायारहित—अ० रा० १।१।२, १।१।१२-१३, ना० पु० १।२।२२, १।५।४२
कूटस्थ-कूटवर्जित—वायुपु० २।४२।२८
योगी-योगगम्य—ना० पु० १।२।२२
ज्ञानी-ज्ञानगम्य—ना० पु० १।२।२३
सङ्गी-असङ्गी—ना० पु० १।२।३४
वाच्य-वाचक—ना० पु० १।३३।१५७
इन्द्रियरहित-इन्द्रियकर्मकर्ता— कू० पु० २।२।४८, २।३।३, ब्र० वै० पु० ४।५।१०२
सगुण-निर्गुण—भा० पु० ७।६।४८, ना० पु० १।२।२१, २।५६।२, ब्र० वै० पु० ४।५।६७

१. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।—गीता, १३।१४-१७
नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिसर्वाय च नमः ।। —महिम्नस्तोत्र, २६
सगुणैरिन्द्रियैस्सर्वैर्भासितं चैव वर्जितम्।
निर्गुणो गुणभोक्ता च सर्वस्यान्तर्बहिःस्थितः।
सर्ववर्णरसैर्हीनं सर्वगन्धरसान्वितम्। —जया० सं० ४।६४, ६५, ६६

२. सुनत लखत श्रुति नयन बिनु, रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै, परसै बिना निकेत ।। —वै० सं० ३
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेखा ।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।। —रा० १।११८।३-४
तु० दे०—श्वे उ० ३।१६; अ० रा० ६।३।२७-२८; पदमावत, १।८

३. रा० १।३४१।३, ३।११।६, ७।१३। छं० १; अ० रा० ४।६।६६

४. एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।। —रा० १।२३।२
तु० दे०—क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते यथाऽनलो दारुषु तद्गुणात्मकः। —भा० पु० ४।२१।३५

५. रा० १।२३।१, १।१४६।३, ३।११।१०, ६।११५।२, ७।१३।छं० १; वि० ५०।८, ५३।७, ५५।६

६. गुनातीत अरु भोग पुरंदर। —रा० ७।२४।१

७. रा० १।१६६, ३।११।६; रा० १।२११। छं० २, ६।१। श्लोक १; रा० ५।१। श्लोक १

अनेकनाम हैं ।[1] अगजगमय तथा सर्वरूप होकर भी सर्वरहित और सर्वभिन्न हैं ।[2] अरूप होकर भी विश्वरूप, निराकार होकर भी विश्वविग्रह एवं अंतर्यामी होकर भी बहिर्यामी हैं ।[3] सर्ववासी होकर भी वैकुंठनिवासी और क्षीरसागरस्थित हैं; सर्वरक्षक होते हुए भी सर्वभक्षकाध्यक्ष हैं ।[4] वे व्याप्य भी हैं और व्यापक भी; विषम भी हैं और सम भी, अगम भी हैं और सुगम भी; सुकर भी हैं और दुष्कर भी; ब्रह्म भी हैं और ब्रह्मवेत्ता भी; निर्वाण भी हैं और निर्वाण-दाता भी; वैकुंठ भी हैं और वैकुंठस्वामी भी ।[5] वे साधक और साध्य, वाचक और वाच्य, जापक और जाप्य, द्रष्टा और दृश्य, स्रष्टा और सृष्टि एक साथ हैं ।[6] राम का चित्त कुलिश से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल है ।[7] राम के विरोधी गुणों के अनेकधा उल्लेख का प्रयोजन है उनके स्वरूप की अज्ञेयता एवं अनिर्वचनीयता का प्रभावशाली प्रतिपादन ।

निर्गुण-सगुण-निरूपण की विशेषताएँ—तुलसीदास के भक्तिदर्शन की सम्यक् अवधारणा के लिए निर्गुण-सगुण-निरूपण-संबंधी कुछ बातें स्मर्तव्य हैं—

१. केवलाद्वैतवादी वेदांतियों ने ब्रह्म को परमार्थतः निर्गुण माना है। शुद्धाद्वैतवादियों का मत है कि ब्रह्म परमार्थतः सगुण है। कबीरदास अपने राम को निर्गुण और सगुण दोनों के परे मानते हैं। तुलसी के राम एक साथ ही निर्गुण-सगुण दोनों हैं। उनकी दृष्टि में राम के दोनों ही रूप वास्तविक तथा पारमार्थिक हैं।

२. निर्गुण ब्रह्म ही दाशरथ राम, शिव, विष्णु, गणेश, दुर्गा, लक्ष्मी आदि नामों और रूपों में व्यक्त होता है। अतएव, सनातन धर्म में उपासक को उस परमेश्वर का नाम और रूप चुनने की पूरी स्वतंत्रता दी गयी है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र से प्रेम करता ही है—वह चाहे जो भी वेषभूषा धारण करे। उसी प्रकार भक्त शील-शक्ति-सौंदर्य-संपन्न भगवान् का प्रेमी है—वह चाहे जो भी नामरूपात्मक उपाधि ग्रहण करे। अपने मन की प्रतीति और रुचि के अनुसार भक्त उसे किसी भी रूप में भज सकता है—नररूप में या नारीरूप में, कोमल रूप में या उग्र रूप में, मानवरूप में या अमानवरूप में।

३. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वभावतः चंचल मन को निरुद्ध करके निर्गुण-निराकार ब्रह्म पर एकाग्र करना अत्यंत दुस्साध्य है। **'निर्गुन मन तें दूरि'** है।[8] उसको टिकाने के लिए कोई निश्चित आधार होना चाहिए। सगुण ब्रह्म के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम से नेत्र,

---

१. नाम अनेक अनाम निरंजन। —रा० ७।३४।३

२. रा० १।१८५।४, ५।५०।२, ६।१११।८

३. क्रमशः —रा० १।१३।२; रा० ७।७२।३, वि० ५०।३; वि० २६३।३, कवि० ७।१२६

४. क्रमशः —रा० १।१८५।१, वि० ५५।७; वि० ५३।६

५. क्रमशः —रा० ७।७२।२; रा० ३।११।३; रा० ३।४२।१; वि० ५४।७; वि० ५६।३; वि० ५६।५; वि० ५३।८, ५५।५

६. सिद्ध-साधक-साध्य, वाच्य-वाचक-रूप, मंत्र-जापक-जाप्य, सृष्टि स्रष्टा।
परम कारण, कञ्जनाभ, जलदाभतनु, सगुण निर्गुण, सकल-दृश्य-द्रष्टा॥ —वि० ५३।७

७. कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि॥ —रा० ७।१९ ग
तु० दे०—वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। —उत्तररामचरित, २।७

८. दो० ८; मनसोऽविषयो देव रूपं ते निर्गुणं परम्। —अ० रा० ६।८।४३; दे०—के० उ० १।३, ५

कर्ण आदि अनेक इंद्रियों की तुष्टि हो जाती है। अतएव निर्गुणोपासना में किये गये इंद्रिय-दमन की अपेक्षा सगुणोपासना में किया गया चित्तवृत्तियों का उदात्तीकरण कम कष्टसाध्य एवं अधिक स्थायी है।

४. दूसरी दृष्टि से, भगवान् का निर्गुण रूप सुलभ है। सगुण रूप को तो कोई बिरला ही समझ पाता है।[1] इस कठिनाई का ईश्वरविषयक कारण है उनकी अवतारलीला की विचित्रता और रहस्यमयता। भावकविषयक कारण है मानसरोग, गृहासक्तता, उसमें श्रद्धा की कमी तथा भगवत्कृपा की अपात्रता। काकभुशुंडि का एतद्विषयक प्रवचन भक्त की सात्त्विक श्रद्धा एवं रामकृपा के महत्त्व का प्रतिपादक है। सगुण रूप उन्हीं जनों के लिए अगम है जो श्रद्धा-रहित तथा रामकृपा से वंचित हैं। ईशकृपा से वह अनायास ही सुलभ हो जाता है। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि निर्गुण की सुलभता केवल ज्ञानयोगियों के लिए है, कुयोगियों के लिए वह भी दुर्लभ है।

५. तुलसीदास परमश्रद्धालु सनातनधर्मी हैं और सनातनधर्म की आचारपरक दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म पूजा का आलंबन नहीं हो सकता। उसके लिए भगवान के सगुणरूप की मान्यता अनिवार्य है।

६. सगुणोपासना के द्वारा पुराणनिगमागमसंमत वैष्णव, शैव, शाक्त आदि साधनाओं का सुगमता के साथ समन्वय भी हो जाता है।

७. अतएव निर्गुणरूप की तुलना में उनके सगुणरूप को ही तुलसी[2] और उनके राम-स्तोता पात्र शंकर[3], शरभंग[4], सुतीक्ष्ण[5], कुंभज[6], जामवंत[7], सुरेश[8], ब्राह्मणवेशी

---

१. निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥ —रा० ७।७३ ख

२. अंतरजामिहु तें बड़े बाहरजामि हैं रामु, जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये तें।
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
पैज परें प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिये तें॥ —कवि० ७।१२९

३. राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ॥ —रा० १।११६
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर बस उर अंतरजामी॥ —रा० १।११९।१

४. सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्री राम॥ —रा० ३।८

५. जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम कानन चारी॥
जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥
जो कोसलपति राजिव नयना। करउ सो रामु हृदय मम अयना॥ —रा० ३।११।९-१०

६. जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥ —रा० ३।१३।६-७

७. हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ —रा० ४।२६।७

८. कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अब्यक्त जेहि श्रुति गाव॥
मोहि भाव कोसल भूप। श्रीराम सगुन सरूप॥ —रा० ६।११२।७

वेद[1], काकभुशुंडि[2] आदि विशेष ग्राह्य समझते हैं।

८. राम का सगुणरूप इतना मनोमोहक है कि विदेह जनक का निर्गुणरूप में लीन वीतराग मन उन्हें देखते ही ब्रह्मसुख को बरबस त्याग कर उनमें अनुरक्त हो गया।[3] इसीलिए तुलसी ने राम की जितनी भी स्तुतियाँ की या करायी हैं उन सभी में उनके सगुणरूप पर ही विशेष बल दिया है।

९. भगवान् के सगुणरूप को निर्गुण से श्रेष्ठ मानते हुए भी तुलसी निर्गुण के विरोधी नहीं हैं। यह बात पूर्वोक्त उद्धरणों के पूर्वार्द्ध से स्वतः प्रमाणित है। गोपियों के मुख से निर्गुण की जो निंदा तुलसी ने करायी है[4] उसका कारण उद्धव के द्वारा, पात्रापात्र का विचार किये बिना ही, ब्रजबालाओं पर लादा गया अवांछनीय ज्ञानोपदेश है! कवि के मन में निर्गुण के प्रति कोई तिरस्कारभाव नहीं है।[5]

१०. सगुण के ज्ञान के लिए निर्गुण का ज्ञान आवश्यक नहीं है। किंतु निर्गुण के ज्ञान के लिए सगुण का ज्ञान आवश्यक है—

ग्यान कहै अग्यान बिनु तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिन सो गुरु तुलसीदास॥[6]

उद्धृत दोहे में उपमान रूप में 'अग्यान' और 'तम' का प्रयोग केवल अनिवार्यतारूप साधर्म्य का द्योतक है। सगुण ब्रह्म के स्वरूप को मोहात्मक मान बैठना भ्रम होगा। इसी प्रकार **'मायाछन्न न देखिए जैसें निर्गुण ब्रह्म'**[7] का तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म माया से आवृत होकर अविद्याग्रस्त होता है। वह स्वेच्छा से नामरूपात्मक उपाधि ग्रहण करता है। ब्रह्म की शक्ति माया जीव के लिए ही आवरणरूप है। माया-निर्मित जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्म और जीव के बीच में माया का आवरण होने से जीव ब्रह्म को नहीं देख पाता।

११. आचारशास्त्रीय दृष्टि से, निर्गुणभक्ति के अधिकारी द्विजन्मा योगी ही हैं, क्योंकि स्त्रियों तथा शूद्रों को योग-तप करने का अधिकार ही नहीं है। दूसरी ओर सगुणभक्ति के क्षेत्र में इस प्रकार की कोई सीमा नहीं है। उसका अवलंबन सभी कर सकते हैं—सामान्य गृहस्थ

---

१. जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जसु नित गावहीं॥ —रा० ७।१३। छं०६

२. जेहि पूछौं सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्ब भूत मय अहई॥
निर्गुन मत नहि मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई॥ —रा० ७।११०।८

३. ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।
सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥ —रा० १।२१६।१-२
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥ —रा० १।२१६।३

४. जाइ अनत सुनाइ मधुकर ज्ञान गिरा पुरानि।
मिलहिं जोगी जरठ तिन्हहिं दिखाउ निरगुनखानि॥ —कृ० ५२

५. सूरदास और 'रत्नाकर' ने तो निर्गुणोपासना को पुरीष तक कहला दिया है—
सूरदास पूरीषहि षटपद! कहत फिरत है सोई। —भ्रमरगीतसार, पद १६९
चंद अरबिंद लौं सराह्यो ब्रजचंद जाहि, ता मुख कौं काकचंचवत करिबौ कहौ। —उद्धवशतक, ३८

६. दो० २५१

७. रा० ३।३९ क

स्त्री और शूद्र भी ।[1]

१२. निर्गुण-निराकार ब्रह्म जीव की भाविक संतुष्टि नहीं कर सकता। उस उदासीन निर्लेप परमात्मा से आत्मकल्याण की आशा करना व्यर्थ है। त्रितापपीड़ित लोक-यात्री को तो ऐसा आराध्य चाहिए, जो उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर सके। सगुण-साकार राम इसी प्रकार के भजनीय हैं। भक्त पर उनकी अपार ममता है।[2] वे उसके मंगल का सदैव ध्यान रखते हैं, स्नेहमयी जननी की भाँति भक्त की निरंतर रखवाली करते हैं।[3]

१३. तुलसी ने निर्गुण-निराकार राम की अपेक्षा सगुण-साकार राम की भक्ति को गौरव दिया। इसके कई अन्य कारण भी थे—

क. 'सुरसरि सम सब कहँ हित'[4] चाहने वाले तुलसीदास को शंकराचार्य का केवलाद्वैतवाद जनसाधारण के लिए अत्यंत दुग्राह्य एवं अव्यावहारिक प्रतीत हुआ।

ख. वैष्णव वेदांताचार्यों की दार्शनिक मीमांसा धर्मानुकूल लोकोपयोगी होने के कारण अधिक ग्राह्य थी।

ग. कवि पर पुराण, इतिहास, स्मृतियों तथा भक्तिशास्त्रीय ग्रंथों का विशेष प्रभाव था।

घ. उसकी पौराणिक वृत्ति और व्यक्तिगत कुंठाओं ने भी उसे ऐसे भगवान् की शरण में जाने के लिए प्रेरित किया जिसके समीप पहुँचकर वह कुछ आत्मनिवेदन कर सके।

ङ. तत्कालीन हिंदी-साहित्य की भक्तिधाराओं का प्रभाव भी कम नहीं है। वैष्णव भक्तिधाराओं ने कवि को सगुण-भक्ति के प्रति भावात्मक प्रेरणा थी। वेद-विदूषक निर्गुणिया संतों तथा प्रेममार्गी सूफ़ियों की निराकारोपासना ने उद्दीपन का कार्य किया।

राम का विराट् रूप—श्रुतियों[5] और पुराणों[6] में अनेक स्थलों पर भगवान् के विराट् रूप का वर्णन किया गया है। स्थान-स्थान पर उनके इस रूप की संक्षिप्त अभिव्यक्ति भी की गयी है। तुलसीदास ने भी राम के विराट् रूप का निरूपण दो प्रकार से किया है—कहीं तो सांकेतिक निदर्शन के रूप में[7] और कहीं विस्तृत सांगवर्णनपूर्वक।[8] इन वर्णनों के पुनः दो रूप हैं। कहीं तो विश्व को राम का शरीर मानकर उनके (राम के) अंगों के रूप में ब्रह्मांड के भागों का अंकन किया गया है और कहीं राम के विराट् शरीर के अंतर्गत (जैसे उदर में)

---

१. यहाँ पर 'निर्गुणभक्ति' का तात्पर्य है शास्त्रसंमत निर्गुणभक्ति, निर्गुण-निराकार ब्रह्म का योगपूर्वक ध्यान। 'सगुणभक्ति' में रामानुज की 'प्रपत्ति' भी संमिलित है।

२. सेवक पर ममता अति भूरी। —रा० ७।७४।४

३. रा० ३।४३।३-४, ७।७४।४ —दोहा ख

४. रा० १।१४।५

५. पुरुषसूक्त—ऋ० १०।९०, यजु० ३१, अथर्व० १०।७; क० उ० २।३।१ और उस पर शा० भा०

६. अ० रा० ३।९।३५-४५, वि० पु० ४।१।८३-९०, ५।१।५४-५८, ५।९।२६-३३, भा० पु० २।१।२४-३७, २।६।१-१८, २।१०।१५-३४, ३।६।१-३५, ८।२०।२१-२९, १०।८।३७-४२, १०।४०।१३-१४, १०।६३।-३५-३६, ना० पु० १।११।३३-३८, १।४२।१९-२१, लि० पु० १।८८।३६-४४

७. रा० १।१४६।४, १।१९२। छं०३, १।२४२।१, ४।२२।२, ६।९१। छं०; वि० ५०।३

८. रा० १।२०१-१।२०२।२, ६।१४-६।१५, ७।१३। छं०५, ७।८०।२-७।८१, वि० ५४।१-४

ब्रह्मांड के विविध लोकों की कल्पना की गयी है।[1] दार्शनिक दृष्टि से उन दोनों प्रकारों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों में ही ब्रह्मांड अंग है और राम अंगी। **ऋग्वेद**[2] में भी पुरुष को विश्व से दश अंगल अधिक और विश्व को उसका एक पाद बतलाने का प्रयोजन पुरुष को अंशी और विश्व को अंशरूप में निरूपित करना ही है। तुलसीदास द्वारा उपस्थापित रूपदर्शन दो प्रकार का है। पहला प्रकार वह है जहाँ राम ने ही भक्तों को अपने विराट् रूप का दर्शन कराया है। कौशल्या एवं काकभुशुंडि इसी वर्ग के पात्र हैं।[3] दूसरा प्रकार वह है जहाँ ज्ञानी भक्तों ने राम के विराट् रूप का स्वयं भावन किया है। स्वयंवर-सभा में उपस्थित विद्वज्जन, मंदोदरी, (मानवी-कृत) वेद, तुलसीदास आदि इसी दूसरे प्रकार के रूपदर्शी हैं।[4] राम का विराट् शरीर तीन रूपों में अंकित किया गया है—विश्वतनु मनुजरूप, संसारविटप-रूप एवं ब्रह्मांडधारक रूप।

ऋग्वेद के नारायण ऋषि ने विराट् पुरुष का संक्षिप्त निरूपण किया था। उन्होंने बतलाया है कि वह पुरुष सर्वप्राणिसमष्टिरूप ब्रह्मांडदेह है। सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपाद है। वह विश्वव्यापक और विश्व से दश अंगुल अधिक है। इसका तात्पर्य यह है कि समस्त प्राणियों के अनंत शिर, नेत्र एवं पाद उसी के हैं और वह ब्रह्मांडरूप होकर भी इस ब्रह्मांड के बाहर भी अवस्थित है। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् जगत् वह पुरुष ही है। यह समस्त विश्व उसका एक पाद (लेशमात्र) है। चतुर्वर्ण, देवता तथा विभिन्न लोक उसी के रूप हैं; इनकी उत्पत्ति उसी से हुई है। उसके मुख से ब्राह्मण, इंद्र तथा अग्नि; भुजाओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य, चरणों से शूद्र तथा भूमि, मन से चंद्रमा, चक्षुओं से सूर्य, प्राण से वायु, नाभि से अंतरिक्ष, शिर से द्यौः, श्रोत्र से दिशाएँ तथा इसी प्रकार अन्य लोकों की उत्पत्ति हुई है।[5] 'अध्यात्मरामायण' में कबंध ने राम के दो प्रकार के शरीरों का वर्णन करते हुए उनके विराट् वपु का विस्तारपूर्वक कथन किया है।[6] 'भागवत' के शुकदेव[7] ने परीक्षित् से और शंकर[8] ने श्रीकृष्ण से वैराज पुरुष लोकरूप भगवान् विष्णु का व्यापक वर्णन किया है।

विश्वरूप राम—तुलसीदास ने रावण के प्रति मंदोदरी द्वारा राम के विराट् रूप का जो वर्णन कराया है[9] उसके मुख्य उत्तमर्ण 'अध्यात्मरामायण' एवं 'भागवत' हैं। फिर भी पात्र,

---

१. क्रमशः-रा० ६।१४-१५, वि० ५४।१-४; ७।८०।२-७।८१
२. ऋ० १०।९०।१, ४
३. रा० १।२०१-१।२०२; ७।८०।२-७।८१
४. रा० १।२४२।१; ६।१४-६।१५; ७।१३।छं०५; वि० ५४।१-४
५. ऋ० १०।९०।२-१४
६. अ० रा० ३।९।३१-४५
७. भा० पु० २।१।२५-३७
८. भा० पु० १०।६३।३५-३६
९. बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग-अंग प्रति जासु॥
पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अँग-अँग बिस्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला॥
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवसु निमेष अपारा॥
स्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥

संदर्भ, प्रतिपादित वस्तु तथा प्रतिपादनशैली की दृष्टि से उसमें बहुत भिन्नता भी है। पुरुष-सूक्त मंत्रद्रष्टा ऋषि का स्वतंत्र अंतर्दर्शन है। 'अध्यात्मरामायण', 'भागवत' तथा 'रामचरितमानस' के वर्णन भी बहुत कुछ अंतर्दर्शन या आत्मानुभूति के फल हैं, परंतु वे प्रबंध के अंतर्गत विशिष्ट पात्रों द्वारा कराये गये हैं। 'अध्यात्मरामायण' में राम के विराट् स्वरूप का निरूपक पात्र गंधर्व-राज कबंध है; वह विद्यासंपन्न और पुरुष है, परम ज्ञानी है। 'रामचरितमानस' की मंदोदरी नारी है। यह बात विशेष ध्यान देने की है कि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में मंत्रद्रष्टा ऋषियों, काव्यशास्त्रियों, कवियों आदि की पंक्ति में दिखायी देने वाली लब्धप्रतिष्ठ विदुषियों की संख्या पर्याप्त है। लेकिन, दर्शन के क्षेत्र में उनका अभाव है। फिर भी तुलसी ने इस निरूपण के लिए मंदोदरी को चुना। कांता के मुख से उपदेश दिलाना अपेक्षाकृत कहीं अधिक रमणीयार्थ-प्रतिपादक होता है। यह चुनाव कवि की प्रतिभा और सहृदयता का परिणाम है। रावण माया-मनुष्य राम को प्राकृत नर समझ रहा है। उसकी यह भ्रांति दूर करने के लिए ही मंदोदरी ने राम के मनुजरूपी विराट् शरीर का वर्णन किया है जो संदर्भ के सर्वथा उपयुक्त है।

नारायण ऋषि और शुकदेव मुनि ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को उस परम पुरुष के मुख, बाहु, उरु तथा चरण के रूप में चित्रित किया था।[1] तुलसी की मंदोदरी ने उनका नाम तक नहीं लिया क्योंकि प्रस्तुत संदर्भ में उनके उल्लेख का कोई तुक नहीं था। शेष अंश में से भी तुलसी ने बहुत कुछ छोड़ दिया। वे कवि थे। जो उन्हें काव्यदृष्टि से अनपेक्षित प्रतीत हुआ उसे उन्होंने ग्रहण नहीं किया।[2] पौराणिकों का वर्णन कहीं-कहीं जुगुप्साकारी हो गया था।[3] मर्यादा-वादी तुलसी को यह कदापि ग्राह्य नहीं था।[4] उन्हें जहाँ जो सुंदर जँचा उसे ग्रहण कर लिया। 'भागवत' के 'तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्'[5] की अपेक्षा 'अध्यात्मरामायण' के 'भ्रूभङ्ग एव कालस्ते'[6] में अधिक सौंदर्य था, अतएव तुलसी ने उसी का अनुकरण किया—**'भृकुटि बिलास भयंकर काला'**। प्रबंधचारुता की दृष्टि से अंतःकरणचतुष्टय का एकत्र निदर्शन अधिक युक्तिसंगत समझकर उसकी एक पंक्ति में निबंधना की **'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान'**। **'आनन अनल अंबुपति जीहा'** का अर्थ 'भागवत'[7] से ग्रहण किया, परंतु चौपाई को सरस-तर बनाने के लिए दूसरी पंक्ति की योजना स्वयं की—**'उतपति पालन प्रलय समीहा'**।

अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिग पाला ॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा ॥
रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा ॥
उदर उदधि अधगोजातना। जगमय प्रभु की बहु कल्पना ॥
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान ॥ —रा० ६।१४-६।१५ क

१. ऋ० १०।९०; भा० पु० २।१।३७
२. यथा—एड़ी, पंजे, पिंडली, घुटने, जाँघ, नाभि आदि के रूप में लोकों आदि की कल्पना
३. यथा—लिंग—रूप में प्रजापति और अंडकोश-रूप में मित्रावरुण का वर्णन (भा० पु० २।१।३२)
४. अतः 'अधगो जातना' कह कर उन्होंने व्यंजना द्वारा मलमूत्रेंद्रियों का नरकरूप में वर्णन किया।
५. भा० पु० २।१।३०
६. अ० रा० ३।९।४१
७. मुखमग्निरिद्धः—भा० पु० २।१।२९, रस एव जिह्वा —भा० पु० २।१।३०

राम के विराट् रूप के निरूपक व्यक्ति भी दो प्रकार के हैं। पहला वर्ग कविनिबद्ध पात्रों का है। मंदोदरी आदि इसी श्रेणी के पात्र हैं। दूसरे में तुलसीदास स्वयं हैं। उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में विश्वायतन राम का जो निरूपण किया है[1] वह उनकी दार्शनिक मान्यता का उत्कृष्ट तथा प्रामाणिक उदाहरण है। उसमें सांख्यवेदांतानुकूल सृष्टिप्रक्रिया की विवृति की गयी है। उसकी विवेचना आगे की जाएगी।

संसारविटप राम—'रामचरितमानस' में वेदों ने संसारविटपरूप राम की स्तुति की है—

अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने।।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।।[2]

तुलसीदास की इस कल्पना के मुख्य स्रोत 'कठोपनिषद्', 'गीता' तथा 'भागवतपुराण' हैं।[3] यह संसारविटप **अनादि** है।[4] अनादि काल से प्रवृत्त और (ज्ञान के बिना) प्रवाहरूप से अच्छेद्य होने के कारण यह 'अनादि' कहलाता है।[5] इसीलिए इसे 'सनातन'[6] और 'पुराण'[7] भी कहा गया है। इसका मूल **अव्यक्त** है।[8] यहाँ 'अव्यक्त' का तात्पर्य है ब्रह्म—निर्गुणरूप राम।[9] पुराण की यह उक्ति कि यह ब्रह्मवृक्ष अव्यक्त मूल से उत्पन्न और उसी के अनुग्रह से उत्थित है[10] उपर्युक्त अर्थ का समर्थन करती है। अनुग्रहकारक राम ही हो सकते हैं, मूलप्रकृति या माया नहीं। 'अव्यक्त' का अर्थ अनभिव्यक्त या अज्ञात करना भी युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि 'अनादि' में ही इसका समावेश हो जाता है। 'कठोपनिषद्' (२।३।१) और 'गीता' (१५।१) पर भाष्य करते हुए शंकर ने भी वेदांतनिर्णीत अव्यक्त—मायाशक्ति—युक्त ब्रह्म को ही अश्वत्थवृक्ष का मूल कारण माना है। यह संसारतरु भी राम की मायाद्वारा निर्मित है।[11] **'व्यक्तमव्यक्त गतभेद बिष्णो'**[12] से यह निष्कर्ष निकलता है कि राम अव्यक्तकारणरूप भी हैं और व्यक्तसंसाररूप भी।

---

१. राम विश्वायतन ब्रह्म हैं। प्रकृति, महत्तत्त्व, शब्दादि तन्मात्राएँ, सत्त्व आदि गुण, देवता, पंचमहाभूत अंतःकरणचतुष्टय, इंद्रियाँ, पंचप्राण, काल, परमाणु, चैतन्यशक्ति, व्यक्त-अव्यक्त सभी कुछ विष्णु राम का रूप है। विश्व उनका अंग मात्र है। उसका आदि-मध्य-अंत सब राममय है। जगत्कारण राम उसमें उसी प्रकार से व्याप्त हैं जिस प्रकार पट में तंतु, घट में मृत्तिका, (दारुनिर्मित) हाथी में लकड़ी तथा कटक आदि आभूषणों में स्वर्ण। —वि० ५४।१-४

२. रा० ७।१३। छं०५

३. क० उ० २।३।१, गीता, १५।१-२, भा० पु० ३।६।१६, १०।२।२७-२८, ११।१२।२०-२४

४. बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी। —रा० २।२८२।३

५. दे०—गीता, १५।१ पर शा० भा० तथा रा० भा०

६. क० उ० २।३।१ पर शा० भा०, गीता, १५।१ पर शा० भा० तथा गू० दी०

७. य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते। —भा० पु० ११।१२।२१

८. 'मानस' के टीकाकारों ने 'अव्यक्त' के अनेक अर्थ किये हैं—आदि शक्ति, निर्गुण ब्रह्म, अव्यक्त ब्रह्म, अज्ञात, रेफ, मूलप्रकृति आदि। दे०—मा० पी० ७।१३। छं०५

९. कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।। —रा० ६।११३।७

१०. अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः। —गीता, १५।१ पर शा० भा० में उद्धृत।

११. रा० १।१५२।२, १।२२५।२, ३।१५।३

१२. वि० ५४।३

इसमें चार त्वचाएँ हैं।[1] प्रधान, महत्तत्त्व, अहंकार और तन्मात्र[2] ही चार आवरण हैं, जो विश्व को त्वचा की भाँति आवृत किये हुए हैं। भुशुंडिमोह के प्रसंग में तुलसी ने सप्तावरणभेद का उल्लेख किया है।[3] ये सात आवरण विष्णुपुराणवर्णित सप्तावरण[4] ही प्रतीत होते हैं। भागवत-कार ने भी संसारतरु को 'त्रिवल्कल' और 'सप्तत्वक्' कहा है।[5] प्रस्तुत व्याख्या से उसका भी समाधान हो जाता है। पहले निरूपण में केवल प्रथम तीन अभीष्ट हैं, और दूसरे में सातों। इनमें परस्परविरोध नहीं है।

इसमें छः स्कंध[6] हैं जिन पर यह विशाल वृक्ष खड़ा है। ये छः स्कंध हैं—गुण और पंचतत्त्व। 'भागवत'[7] में उल्लिखित 'त्रिनाल' और 'पञ्चस्कन्ध' से तीन गुणों एवं पाँच तत्त्वों की प्रतीति होती है। ऐसा जँचता है कि तुलसी ने गुणों को प्रकृतिरूप में एक और तत्त्वों को विकृति-रूप में पाँच मानकर छः स्कंधों की कल्पना की है। 'भागवत' के शुकदेव ने इस वृक्ष को षडात्मा भी कहा है।[8] उससे इसका षड्विध स्वभाव (अस्ति, जायते आदि) ही ध्वनित होता है। 'कठोपनिषद्' के अश्वत्थवृक्ष में स्कंध की चर्चा नहीं है, परंतु अपने भाष्य में शंकर ने प्राणियों के लिंगशरीर को स्कंध माना है।[9] प्रस्तुत संदर्भ में उनकी यह मान्यता ठीक नहीं बैठती। इसमें पचीस शाखाएँ हैं—प्रकृति (मूलप्रकृति, अव्यक्त या प्रधान), महान् (बुद्धि), अहंकार, पंचतन्मात्र, पंचमहाभूत, मन, प्राण, पंचबुद्धींद्रिय और पंचकर्मेंद्रिय।[10] प्रधान आदि के अनेक बार परिगणन में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि जिन तत्त्वों से वृक्ष के स्कंध का निर्माण होता है उन्हीं से वल्कल और शाखा का भी। तुलसी ने कपिल को तत्त्वविचारनिपुण कहा है और सांख्य-तत्त्वों का यथावसर उल्लेख भी किया है।[11] इससे सिद्ध होता है कि उन्हें सांख्य-दर्शन की सृष्टिप्रक्रिया[12] वेदांत और पुराण के अनुसार मान्य है। यहाँ पर 'शाखा' के अंतर्गत प्रशाखाएँ भी संमिलित हैं। अष्टविटप, ग्यारह शाखाएँ और महाभूत विशाखाएँ[13] भी उन्हीं के अंतर्भूत हैं। शंकर[14], रामानुज[15] आदि के द्वारा कथित स्वर्ग आदि का समावेश भी उक्त पचीस तत्त्वों में हो जाता है।

---

१. 'त्वच चारि' के अनेक अर्थ—चार अवस्थाएँ, चार अवस्थाओं के चार विभु, शुद्धसत्त्व-सत्त्व-रज-तम, अंतः-करणचतुष्टय आदि। —दे०—मा० पी० ७।१३। छं०५

२. दे०—तत्त्वत्रयभाष्य, पृ० ४८-४९

३. सप्तावरन भेद करि जहाँ लगें गति मोरि। —रा० ७।७९ ख

४. प्रधान, महान्, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप और रस। —वि० पु० १।२।३४-४४

५. क्रमशः —भा० पु० ११।१२।२२; १०।२।२७

६. 'षटकंध' के विभिन्न अर्थ—अस्ति-जायते-विपरिणमते-वर्द्धते-क्षीयते-नश्यति, क्षुधा-तृषा-हर्ष-शोक-जन्म-मरण, पंचतत्त्व और मन, पंचबुद्धींद्रिय और मन, आदि। —दे०—मा० पी० ७।१३। छं० ५

७. द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः। —भा० पु० ११।१२।२२

८. भा० पु० १०।२।२७ (चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा)

९. सर्वप्राणिलिंगभेदस्कन्धः —क० उ० २।३।१ पर शा० भा०

१०. 'पंचबीस' के अन्य अर्थों के लिए दे०—मा० पी० ७।१३। छं०५

११. रा० १।१४२।३-४, वि० ५४।२-३

१२. सांख्यतत्त्वनिरूपण के लिए दे०—सा० का० ३ पर वाच० और गौड०

१३. क्रमशः —भा० पु० १०।२।२७; भा० पु० ११।१२।२२; गीता, १५।१ पर शा० भा० और गू० दी०

१४. स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिः अवाक्शाखः —क० उ० २।३।१ पर शा० भा०

१५. सकलनरपशुमृगपक्षिकृमिकीटपतङ्गस्थावरान्ततया अधःशाखत्वम् —गीता, १५।१ पर रा० भा०

इसमें अनेक पर्ण हैं। 'गीता' में वेदों को संसारवृक्ष का पर्ण कहा गया है।[1] धर्माधर्म उनके हेतु तथा फल के प्रकाशक वेद इस विश्व के रक्षक हैं[2]; क्योंकि यह श्रुतिप्रतिपादित काम्य कर्मों से ही बढ़ता है।[3] 'गीता' और उसके भाष्यकारों के इस प्रबल प्रमाण के विरुद्ध 'मानस-पीयूष' आदि में दिये गये विभिन्न अर्थ (विषय, वासना, मन के संकल्प आदि) अग्राह्य हैं। तुलसीदास की दृष्टि में केवल श्रुति ही नहीं स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सभी आप्त ग्रंथ प्रमाण्य हैं। शंकराचार्य ने भी अपने **कठोपनिषद्-भाष्य** में श्रुति के साथ स्मृति, न्याय आदि की गणना की है।[4] यह संसारवृक्ष बहुत-से सुमनों से युक्त है। यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ[5], धर्म और अधर्म[6] ही पुष्प हैं, जो आगे चलकर फलदायक होते हैं। इसमें दो प्रकार के फल[7] लगते हैं—शुभ तथा अशुभ।[8] शुभ फल सुखदायक होने से मधुर और अशुभ फल दुःखदायक होने से कटु होते हैं। अन्यत्र विभिन्न ग्रंथों में विभिन्न दृष्टियों से इन फलों की चर्चा की गयी है। कहीं पर तीन प्रकार के फल बतलाये गये हैं—इष्ट, अनिष्ट तथा मिश्र[9] और कहीं पर दो प्रकार के—विहित एवं निषिद्ध।[10] कहीं सुख-दुःख[11] को और कहीं प्राणियों के उपजीव्य[12] को फल कहा गया है। उन सबको इन्हीं दो के अंतर्गत समझना चाहिए। इस पर आश्रित रहने वाली एक बेल है। यह बल्ली वासना की है।[13] इसे माया या संसार का उपमान[14] मानना अपेक्षित नहीं है। मायाशक्ति-युक्त राम ही तो संसारवृक्ष के मूल हैं और यह बेल उस वृक्ष पर ही आश्रित है, अतएव उनकी पुनरावृत्ति समीचीन नहीं है।[15] यह संसारविटप नित्य पल्लवित होता और फूलता रहता है। अर्थात् इस संसार में इंद्रियों के शब्द आदि विषयों तथा विषयभोगों की प्रवृत्ति प्रवाहरूप से चलती रहती है। प्रस्तुत पंक्ति में 'पल्लव' और 'फूल' उपर्युक्त पर्ण तथा सुमन से भिन्न अर्थ में

---

१. छन्दांसि यस्य पर्णानि —गीता, १५।१

२. यथा वृक्षस्य परिरक्षणार्थानि पर्णानि तथा वेदाः संसारवृक्षपरिरक्षणार्थाः धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रकाशनात्।
—गीता, १५।१ पर शा० भा०

३. श्रुतिप्रतिपादितैः काम्यकर्मभिः विवर्धते अयं संसारवृक्षः; इति छन्दांसि एव अस्य पर्णानि, पत्रैः हि वृक्षो वर्धते।
—गीता, १५।१ पर रा० भा०

४. श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशः —क० उ० २।३।१ पर शा० भा०

५. यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः —क० उ० २।३।१ पर शा० भा०

६. धर्माधर्मसुपुष्पश्च—गीता, १५।१ के भाष्य में शंकर और मधुसूदन सरस्वती द्वारा उद्धृत

७. दे०—भा० पु० १०।२।२७, ११।१२।२२

८. रा० २।२८२।२; दे०—भ० च०, पृ० २३९, २४२

९. अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥
—गीता, १८।१२

१०. फलमिति। विहितनिषिद्धफलम्। —शा० भ० सू० ३।१।७ पर भ० च०

११. सुखदुःखफलोदयः —गीता, १५।१ के भाष्य में शंकर और मधुसूदन सरस्वती द्वारा उद्धृत

१२. प्राण्युपजीव्यानन्तफलः —क० उ० २।३।१ पर शा० भा०

१३. बासना-बल्लि खर-कंटकाकुल बिपुल —विं० ५९।२

१४. दे०—मा० पी० ७।१३। छं० ५ पर दिया गया नक्शा।

१५. संसार-वृक्ष-निरूपण के उपर्युक्त प्रसंगों में 'कठोपनिषद्', 'भगवद्गीता', 'भागवत' आदि में वल्ली का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, परंतु 'गीता' (१५।२) में उक्त कर्मानुबंधी मूल (जिसे शंकर ने अपने भाष्य में 'कर्मफलजनितरागद्वेषादिवासना' बतलाया है) 'रामचरितमानस' की 'बेलि' से बहुत कुछ लक्ष्यार्थ-साम्य रखता है।

विषयों एवं विषयभोगों के प्रतीक हैं।[1]

'कठोपनिषद्'[2] एवं 'भगवद्गीता'[3] में ऊर्ध्वमूल तथा अधःशाख अश्वत्थ-वृक्ष के रूप में संसार की कल्पना की गयी है। उक्त दोनों पर भाष्य करते हुए शंकर ने उसे केवल मायिक जगत् का रूप माना है; ब्रह्म का नहीं। उन्होंने उसे संसारमायामय वृक्ष कहा है।[4] 'रामचरितमानस' का संसारविटप 'कठोपनिषद्', 'गीता', 'भागवत' आदि के उपरिविवेचित संसार-वृक्ष से कुछ भिन्न है। यह मायिक रचनामात्र नहीं है, अपितु स्वयं भगवान् राम का ही रूप है।[5] और, भजनीय भगवान् का स्वरूप होने के कारण उनसे अभिन्न है।[6] इसीलिए तुलसी ने किसी कुठार के द्वारा उसे छिन्न-भिन्न करके मोक्षप्राप्ति की बात इस छंद में नहीं कही है जैसा कि उनके पूर्ववर्ती मनीषियों ने कहा है।[7] 'वृक्ष' शब्द का निर्वचन करते हुए शंकर ने स्पष्ट किया है कि छिन्न किये जाने के कारण ही यह 'वृक्ष' कहलाता है।[8] यह संसार अश्वत्थवृक्ष की भाँति नित्य चंचल स्वभाव वाला है, और कल तक भी टिका नहीं रह सकेगा, अतएव इसे 'अश्वत्थ' कहते हैं।[9] तुलसीदास का निरूपण भक्त के सर्वात्मभाव का अभिव्यंजक है, जिसके लिए सब कुछ ब्रह्ममय[10] ही है। जो समस्त जगत् को प्रभुमय देखते हैं उनके समक्ष जगत् के विरोध या निरोध का प्रश्न ही नहीं उठता—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।[11]

अवतार-निरूपण—

अवतार—अवतार-निरूपण तुलसीदास के प्रतिपाद्य राम के चरितचित्रण का एक मुख्य अंग है। 'अवतार' शब्द का मूल व्युत्पत्त्यर्थ है—उतरना। भक्त का भगवान् सर्व-व्यापक होते हुए भी वैकुंठ-सरीखे विशिष्ट धाम में निवास करता है, जिसकी कल्पना भूर्लोक के ऊपर की गयी है। आवश्यकता पड़ने पर भक्त के कल्याण के लिए भगवान् भूतल पर उतर आता है। वैकुंठ से जगत् में भगवान् का आगमन उसका 'अवतार' है।[12] इस संबंध में यह

---

१. 'गीता' में भी विपयप्रवाल का उल्लेख किया गया है—गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः' (गीता, १५।२); दे०—उक्त पर शा० भा०, रा० भा० और गू० दी०

२. ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ —क० उ० २।३।१

३. ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ —गीता, १५।१

४. संसारमायामयं वृक्षम्—गीता, १५।१ पर शा० भा०

५. यद्यपि संसारवृक्ष के उपर्युक्त दो वर्णनों में भागवतकार ने उसे भगवद्रूप नहीं माना तथापि उसे 'भुवनद्रुम' भगवान् की कल्पना निस्संदेह मान्य है। (दे०—भा० पु० ३।९।१६)

६. भजनीयेनाद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात् । —शा० भ० सू० ३।१।१

७. गीता, १५।३, भा० पु० ११।१२।२४

८. वृक्षश्च व्रश्चनात्—क० उ० २।३।१ पर शा० भा०

९. अश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः —क० उ० २।३।१ पर शा० भा० न श्वोऽपि स्थातेति —गीता, १५।१ पर शा० भा० और गू० दी०

१०. सर्वं खल्विदं ब्रह्म । —छा० उ० ३।१४।१

११. रा० ७।११२ख

१२. अवतरणं वैकुण्ठादत्रागमनम् । —सुबोधिनी, १।१।२ पर टिप्पणी

बात ध्यान देने योग्य है कि संकट-काल में भक्त स्वयं भगवान् के उपर्युक्त धाम में जाकर दुहाई नहीं देता, बल्कि वह भक्तवत्सल भगवान् ही आर्त्ति-पीड़ित भक्त के सहायतार्थ उसके समीप चला आता है। परिस्थितियों के अनुसार भगवान् कोई न कोई शरीर धारण करके आविर्भूत होता है—जैसे वराह, नृसिंह आदि।[1] इस प्रकार भगवान् का अपने धाम से उतर आकर किसी रूपविशेष में प्रकट होना 'अवतार' है। भक्तों का अवतार-सिद्धांत अनुभव का विषय है, उसे प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणों की वैज्ञानिकता के निकष पर परखना उचित नहीं है।

राम के संबंध में तुलसी ने प्रायः 'अवतार' या उसके समशील शब्दों का ही व्यवहार किया है।[2] परंतु अनेक स्थलों पर उन्होंने राम-जन्म की बात भी कही है।[3] यहाँ पर यह शंका बिल्कुल स्वाभाविक है कि जन्मने वाले राम की मृत्यु भी अवश्यभावी होनी चाहिए[4]; और, जो जन्ममरण-परतंत्र है वह भगवान् कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि इन संदर्भों में 'जन्म' का प्रयोग सामान्य लोकव्यवहार की दृष्टि से किया गया है। इन प्रसंगों में 'जन्म' का अर्थ है—अवतार।[5] भगवान् द्वारा देहरूप का अंगीकार 'जन्म' है।[6] सूक्ष्म तात्त्विक दृष्टि से जीव के जन्म और भगवान् के जन्म में स्पष्ट भेद है। कर्मों के वशवर्ती जीव का शरीर उसका भोगायतन है, किंतु स्ववश भगवान् का शरीर कर्मभोगायतन नहीं है। इसीलिए तुलसी ने उसे 'इच्छामय'[7] तथा 'लीलातनु'[8] और राम को 'मायामनुष्य'[9] कहा है। इसी दृष्टि से पार्वती का शरीर भी 'लीलाबपु' है।[10] अजन्मा भगवान् का जन्म[11] (शरीरधारण) लीलामात्र है।[12] उनके नाम, रूप, लीला आदि नटचर्या की भाँति उनके वास्तविक स्वरूप से भिन्न केवल औपाधिक हैं।[13] जीव का शरीर प्राकृत, पांचभौतिक अथवा मायिक होता है; लेकिन भगवान् का शरीर अप्राकृत[14], विकाररहित, दिव्य और चिदानंदमय होता है।[15] यही कारण है कि अवतारलीला

---

१. रा० १।१२१।४, १।१२२।४, १।१२३।१, वि० ५२; अवतारो नाम स्वसङ्कल्पपूर्वकपराधीनव्यक्ताकृतदेहो भक्तवात्सल्याद्यनेकगुणोल्बणः (भ० च०, पृ० १३८), तत्तत्सजातीयरूपेण आविर्भावः। (यतीन्द्र०, पृ० १३६)
२. रा० १।५१। छं०, १।१३९, १।१९२। छं० १, १।१९२; वि० ५२; गी० १।८८।४, ७।७।६, दो० ११३
३. रा० १।१२१, १।१२२।१, १।१२४।२, २।२५४।२
४. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। —गीता, २।२७
५. जन्म भगवतोऽवतारभावः। —शा० भ० सू० २।१।२१ पर भ० च०
६. अंगीकृतदेहरूपं जन्म। —शा० भ० सू० २।१।२२ पर भ०च०
७. रा०१।१५२।१, १।१९२; दे०—वि० पु० ६।५।८४, भा० पु० १०।२७।११
८. रा० १।१४४।४; दे०—अ० रा० ६।३।७६, ६।८।३५, ६।१३।२८, भा० पु० १०।९०।४९
९. रा० ४।१। श्लोक १, ५।१। श्लोक १; अ० रा० १।१।१, २।९।५७; दे०—भा० पु० ११।५।४९
१०. रा० १।९८।२ (निज इच्छा लीला बपु धारिनि)
११. भा० पु० १।३।३५, १।८।३०
१२. अ० रा० ४।६।७२; भा० पु० १।१।१७-१८, १।२।३४, १०।३७।२४, १०।४६।३९
१३. रा० ७।७२, अ० रा० ४।६।६४; भा० पु० १।३।३७, १।११।३५
१४. भगवतो व्यूहविभवार्चावतारशरीराण्यपि अप्राकृतमयानि। —यतीन्द्र०, पृ० ८१
भगवतोऽप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहः। —यतीन्द्र०, पृ० ८३
१५. चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
नर तनु धरेहु संत सुरकाजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ —रा० २।१२७।३
और भी दे०—रा० १।१९२, गी० १।५।३, ७।२१।१०;

समाप्त करने के बाद वाल्मीकि के राम ने अपने वैष्णव तेज में और 'भागवत' के कृष्ण ने अपने नित्यविभूति-धाम में सशरीर प्रवेश किया।[1] भगवान् के देहपरतंत्रत्व का प्रश्न उठता ही नहीं। 'रामजन्म' का तात्पर्य है—राम का अव्यक्त-निर्गुण-निराकार रूप से व्यक्त-सगुण-साकार रूप में आविर्भाव।[2] इसी को तुलसी ने राम का **प्रकटना** भी कहा है।[3] 'गीता' में उक्त 'सम्भव' का अर्थ भी प्राकट्य ही है, उत्पत्ति नहीं।[4] स्वशक्तिमात्र से उद्भूत होने के कारण अवतार के जन्म-कर्म अलौकिक एवं दिव्य होते हैं।[5] विग्रहविशेष के रूप में प्रकट होने वाले[6] भगवान् की भासमाना एकदेशीयता उसकी सर्वव्यापकता या विभुता का प्रतिबंध नहीं करती—**दीपादुत्पन्न-प्रदीपवत्**।[7] औपनिषदिक ब्रह्म के पूर्णत्व की मान्यता[8] तुलसी के अवतारिरूप एवं अवताररूप राम के विषय में भी पूर्णतः चरितार्थ होती है। 'भागवत' की भाँति 'रामचरितमानस' में भी भगवान् के एक साथ ही अनेक लीलारूपों की चर्चा अनेक बार की गयी है।[9] जिस प्रकार अग्नि निराकाररूप से दारु आदि में सर्वत्र व्याप्त है और साथ ही वस्तुविशेष या देशविशेष में उसका रूप दृष्टिगोचर होता है, एक स्थान में प्राकट्य होने पर भी अन्यत्र उसका अभाव नहीं होता; उसी प्रकार भगवान् निराकाररूप से सर्वव्यापक होते हुए भी साकाररूप से देशकालविशेष में प्रकट होता है।[10] वाङ्मनस अगोचर निर्गुण ब्रह्म ही बालकरूप में दशरथ के आँगन में विचरण करता है।[11] **'अवतार'** शब्द का एक व्यापक अर्थ है—नये रूप में आविर्भाव।[12] तुलसी ने इस अर्थ में भी उसका व्यवहार किया है। राम की शक्तिरूपा सीता, शिव की शक्तिरूपा भवानी, भक्तश्रेष्ठ हनुमान् और प्रतिनायक रावण के जन्म को, इसी अर्थ में, विशेष गौरवान्वित करने के लिए, कहीं-कहीं 'अवतार' की संज्ञा प्रदान की गयी है[13]।

अवतार का प्रयोजन—भगवान् शरीर क्यों धारण करता है? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः। हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
परमानन्दसन्दोहाः ज्ञानमात्राश्च सर्वतः। सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः॥
—भ० च०, पृ० १२५

१. वा० रा० ७।११०।१२, भा० पु० ११।३१।६
२. निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी। —रा० १।११०।२
३. इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। —रा० १।१५२।१
भए प्रकट कृपाला परम दयाला कौसल्या हितकारी। —रा० १।१९२।छं० १
४. सम्भवोऽत्र प्राकट्यमात्रं न तूत्पत्तिः सच्चिदात्मकानां तेषां नित्यतया तद्बाधात्। —भ० च०, पृ० १२५
५. दे०—गीता, ४।६; शा० भ० सू० १।२।२१-२२ और उन पर भ० च०
६. सच्चितव्यापकानंद परब्रह्म-पद बिग्रहव्यक्त लीलावतारी। —वि० ४३।१
७. तत्त्वत्रय, पृ० १००
८. पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ —ईशा० उ०, शान्तिपाठ
···अदोमूलं अवतारिरूपं पूर्णं इदं अवताररूपं च पूर्णम्। —भ० च०, पृ० १२३
९. भा० पु० १०।३।४६, १०।६९।१३-४३, १०।८६।२६; रा० १।२०१।२-४, ७।६।२-४
१०. रा० १।२३।२, १।१८५।३-४
११. मन क्रम बचन अगोचर जोई। दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥ —रा० १।२०३।३
१२. अवतार आविर्भावः—रघुवंश, ५।२४ पर मल्लिनाथ की संजीविनी टीका
१३. क्रमशः—रा० १।१५२।२; रा० ७।५६।१; रा० ४।३०।३; रा० ७।६४।४

देना कठिन है। उसके अवतार के हेतु का 'इदमित्थं' निरूपण नहीं किया जा सकता।[1] राम-जन्म के अनेक हेतु बतलाये गये हैं। वे परम विचित्र हैं—एक से एक बढ़कर।[2] प्रत्येक कल्प में भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं।[3] उनके अवतारों, लीलाओं और कथाओं की कोई सीमा नहीं। कल्प-भेद से उनकी संख्या अनंत है।[4] ब्रह्मज्ञानी मुनियों और तदनुसार 'मानस' के शंकर ने रामावतार के कारणों का अपनी बुद्धि के अनुसार निरूपण किया है।[5] तुलसीदास ने रामावतार के जिन प्रयोजनों का स्थान-स्थान पर निदर्शन किया है[6] उनके दो रूप हैं—सामान्य और विशिष्ट। अवतार के सामान्य कारण सभी अवतारों के व्यापक हेतु हैं। विभिन्न दृष्टिबिंदुओं से सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक देखने पर इन सामान्य प्रयोजनों के चार रूप प्रतीत होते हैं—

१. साधुजन, ऋषि-मुनि, भक्तगण, गो, ब्राह्मण, भूमि, देवता, नाग-नर आदि का परित्राण अवतार का प्रधान प्रयोजन है। राम के लोकरंजनकारी कार्यों के अवसरों पर देवताओं द्वारा समय-समय पर पुष्पवर्षा, गान आदि इसी प्रयोजन-सिद्धि का सहर्ष ज्ञापन है।[7] अवतार के सभी प्रयोजनों में संतों आदि के प्रति भगवान् का कारुण्य ही मुख्य है। व्यास[8], शांडिल्य[9] आदि की भाँति तुलसी ने भी इस पक्ष पर पर्याप्त बल दिया है। उपर्युक्त सभी करुणापात्रों में संतों का वैशिष्ट्य अन्यतम है। भगवान् राम ने विभीषण से स्वयं कहा है—

---

१. हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥ —रा० १।१२१।१

२. राम जन्म के हेतु अनेका। परम विचित्र एक तें एका॥ —रा० १।१२२।१

३. कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥ —रा० १।१४०।१

४. रा० १।३३।३-दोहा, ७।५२।१-२

५. तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥
तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परै जस कारन मोही॥ —रा० १।१२१।२-३

६. जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु॥ —रा० १।१२१
जब जब जग-जाल ब्याकुल करम काल सब खल भूप भए भूतल भरन।
तब तब तनु धरि भूमि भार दूरि करि थापे मुनि, सुर, साधु, आश्रम, बरन॥ —वि० २४८।२
बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार। —रा० १।१९२
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥ —रा० २।९३, दो० १२३
निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥ —रा० ४।२६, दो० १२४
बिप्र-साधु-सुर-धेनु-धरनि-हित हरि अवतार लयो। —गी० १।४७।२

७. रा० १।२४६।४, २।२०५, ३।२०, ५।३४।४, ६।७१।५, ७।१२।छं०१; गी० १।३।२, ३।१७।६, ६।६।८; कवि० ६।५८

८. गीता, ४।७-८; भा० पु० ६।४।३३, १०।८८।७

९. नन्वाप्तकामस्य भगवतः प्रयोजनाभावे कथं शरीरपरिग्रहादिस्तत्राह—मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्।
—शा० भ० सू० २।१।२३; भ० च०, पृ० १२६

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें । धरौं देह नहिं आन निहोरें ।।[1]

भक्त-हित-कारणता[2] के इस प्रसंग में तुलसी की अन्य उक्तियाँ भी अवलोक्य हैं—

क. ब्यापक बिस्वरूप भगवाना । तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ।।
सो केवल भगतन्ह हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ।।

ख. भूमिधर-भार हर प्रगट परमातमा, ब्रह्म नररूपधर भक्तहेतू ।।[3]

२. असुरों[4], खलों[5] अथवा अधर्मियों[6] का विनाश—अवतार का यह प्रयोजन, एक प्रकार से, उपर्युक्त कारण का भी कारण है, क्योंकि असज्जनों के ही परिपीड़न से त्रस्त सज्जनों का उद्धार करने के लिए भगवान् को अवतार लेना पड़ता है। इस उद्देश्य की पूर्ति दो रूपों में हो सकती है—दुष्टों के व्यामोहनमात्र से अथवा उनका विनाश करके। भक्तिमान् जनों के लिए सुखदायिनी भगवदवतारलीला जड़ों और दनुजों के लिए मोहकारिणी होती ही है।[7] धर्मरक्षा एवं पापनाश के लिए दुष्टों का वध अनिवार्य नहीं है। 'वाराहपुराण', 'पद्मपुराण' आदि में बतलाया गया है कि धर्म की स्थिति बना रखने के लिए मोहक शास्त्र के प्रवर्तन द्वारा दैत्यों का व्यामोहन भगवान् के बुद्धावतार का प्रयोजन था।[8] दूसरे रूप के उदाहरण रावण आदि हैं। रावण आदि असुरों के नृशंस अत्याचारों से चौदहों भुवन त्रस्त थे। धेनु, द्विज, देवता आदि सबकी दुर्गति हो रही थी। धर्म का लोप हो गया था।[9] ऐसी शोचनीय दशा में राम ने सुर-मुनियों को आश्वासन दिया[10] और अवतीर्ण होकर

---

१. रा० ५।४८।४; और भी दे०—रा० १।१२१।३-दोहा

२. चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः । उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ।।
—भ० च०, पृ० १३२, रा० पू० ता० उ० १।७

३. क्रमशः—रा० १।१३।२-३; वि० ५२।७

४. रा० १।१२१, वि० ५०।८; अ० रा० ४।६।७४, भा० पु० ११।५।५०, ब्र० वै० पु० ३।७।११६

५. रा० २।२५४।२, ३।२२।४; अ० रा० ४।६।७४, भा० पु० १०।५०।९, १०।७०।२७

६. रा० १।२०६।३, भा० पु० ३।३३।५, १०।५०।१०

७. गिरिजा सुनहु राम कै लीला । सुरहित दनुज बिमोहन सीला । —रा० १।११३।४
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ।। —रा० २।१२७।४

८. दे०—ब्र० सू० २।२।२६ और ३।४।१८ पर अणुभा० तथा बालबोधिनी

९. करहिं उपद्रव असुर निकाया । नानारूप धरहिं करि माया ।।
जेहिं बिधि होइ धर्म निर्मूला । सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ।।
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ।।
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई । देव बिप्र गुर मान न कोई ।।
नहिं हरिभगति जग्य जप ज्ञाना । सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना ।।
जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा ।
आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा ।।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना ।
तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना ।।
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह कें पापहि कवनि मिति ।। —रा० १।१८३

१०. जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहिं लागि धरिहौं नर बेसा ।।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहौं दिनकर बंस उदारा ।। —रा० १।१८७।१

राक्षसों का वध करके धर्म के चारों चरणों की स्थापना की।[१] अपनी लीला से भक्तजनों को आनंदित किया। कितने ही भक्त-अभक्त अभिमानी जीव उनके विषय में मोहग्रस्त हुए और अंततोगत्वा उन सबके मोह का निरास हुआ।

३. श्रुतिसंमत धर्म का संस्थापन[२]—तुलसी के राम वेद-धर्म-रक्षक हैं; वेद और लोक की मर्यादा के पालक हैं।[३] इसीलिए उन्हें धर्ममूल, धर्मसेतु और धर्मसेतुपालक कहा गया है।[४] वे वर्णाश्रमधर्म की स्थापना के लिए अवतार लेते हैं।[५] बालि का प्रश्न रामावतार के धर्मपरक हेतु पर बल देता है।[६] अवतार के मूल कारण का उपस्थापन करते हुए 'गीता' के कृष्ण और तुलसी के शंकर ने धर्म की हानि को सर्वप्रथम स्थान दिया है।[७] यह उनकी धर्म-विषयक दृढ़ आस्था का परिचायक है। पांचरात्र आगम में भी धर्म की हानि होने पर, रजोगुण और तमोगुण के प्रबल होने पर, सत्त्वगुण के प्रभावोत्पादन और संतुलन को अवतार का हेतु बतलाया गया है।[८] लोकसामान्य भाषा में हम कह सकते हैं कि ईश्वर के विभिन्न प्रतिनिधियों (ब्रह्मा, विष्णु आदि) के द्वारा जगत् का सर्वांगीण प्रबंध चलता रहता है। जब उच्छृंखल शक्तियों की अतिशय वृद्धि के कारण दुर्दम्य गड़बड़ी मच जाती है, विश्व के शासन-प्रबंध का समुचित संचालन राज्यपाल प्रतिनिधियों के सामर्थ्य के बाहर हो जाता है, तब लोक के विकासक्रम की समीचीन व्यवस्था और मर्यादा की स्थापना के लिए परमेश्वर को विशिष्ट रूप में आना पड़ता है। यही उसका **अवतार** है। धर्म-संस्थापन के लिए अवतीर्ण भगवान् जगत् में कर्म-सौंदर्य की प्रतिष्ठा करता है। "हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गये हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म-सौंदर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गये हैं। कर्म-सौंदर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय आप से आप उनकी ओर खिंचा पड़ता है।···जनता के संपूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र-धर्म है। क्षात्र-धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं।"[९]

४. लीला—उपर्युक्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिए सर्वशक्तिमान् भगवान् के देहधारण की आवश्यकता समझ में नहीं आती। जो सर्वज्ञ, सर्वांतर्यामी एवं सर्वसमर्थ है, वह जन्म लिए बिना भी अपनी अमोघ शक्ति के द्वारा अधर्म और असुरों का संहार, तथा धर्म एवं भक्तों आदि की रक्षा कर सकता है; अन्यथा, उसकी सर्वशक्तिमत्ता ही संदिग्ध हो जाएगी। इस प्रकार के सभी तर्कों के उत्तर में भक्त दार्शनिकों ने लीला-सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। जिस

---

१. वि० २४८।२-३

२. दे०—वि० पु० ५।१।५०, भा० पु० १०।३३।२७, १०।६३।३७

३. रा० ५।३९।२, ७।२४।१; रा० २।२५४।२, ७।२६।१

४. क्रमशः—रा० ३।१। श्लोक१; रा० २।२४८; रा० १।२१८।४

५. थापे मुनि सुर साधु आश्रम बरन। —वि० २४८।२

६. रा० ४।९।३ (धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं)

७. गीता, ४।७, रा० १।१२१।३; यहाँ पर 'धर्म' का अर्थ है वेदप्रतिपादित वर्णाश्रमादिलक्षण धर्म।
—दे० गीता, ४।७ पर शा० भा० और रा० भा०

८. अहि० सं० ११।४-१०; और भी दे०—भा० पु० १०।४८।२३

९. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ४२-४३

प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय भगवान् का लीलाविलास है[1] उसी प्रकार शरीर धारण करके चरित करना भी उसकी लीला है। भक्त के केंद्रबिंदु से अवतार-लीला का एक निश्चित प्रयोजन है--भक्तों को भक्तिरस का दान। भगवान् के इस लीला-वैशिष्ट्य के आधार पर ही तुलसी ने राम के चरित को **लीला**, उनके तन को **लीलातनु**, अवतार को **लीलावतार** एवं उन्हें **लीलाबपुधारी** तथा तथा **कौतुकी** कहा है।[2] यदि अवतार के बिना भगवान् धर्मादिविषयक उद्देश्यों की सिद्धि कर देता तो फिर भक्तों को उसके रूप, गुण, लीला आदि के दर्शन, श्रवण आदि का आनंद कैसे मिलता ?

तुलसी के द्वारा वर्णित रामावतार के इन प्रयोजनों का आधार दोहरा है। प्रथम आधार इतिहास-पुराण आदि हैं। अवतारनिरूपक आप्त ग्रंथों में दुष्ट असुरों के द्वारा सुर, साधु, गो, द्विज, आदि के उत्पीड़न, अधर्म के अभ्युत्थान, धर्म की ग्लानि और इन सबके कारण भगवान् के अवतार एवं उनकी भक्ताह्लादकारिणी स्वरसलीलाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। तुलसी **नानापुराणनिगमागमसंमत रघुनाथगाथा** लिख रहे थे, अतएव अवतार के तन्निबद्ध उद्देश्यों का उपस्थापन भी अपेक्षित था। द्वितीय आधार कवि के युग की पृष्ठभूमि[3] है। तुलसी ने अपने युग (कलिकाल) के कष्टकारक प्रभाव का अनुभव किया था। नीचजन्मा नृपतियों तथा महामहिपाल यवनों का प्रभुत्व वृद्धि पर था; वेद-ब्राह्मण-विरोधी शूद्र नाना पंथों (फ़िरकों) का प्रचालन करके धर्म की अत्यंत हानि कर रहे थे। राक्षसी वृत्ति वाले शासकों एवं शासकेतर दुर्जनों का अत्याचार असह्य था। अतएव लोकसंग्रह के अभिलाषी तुलसी ने असुरनिकंदन, भक्तरंजन, श्रुतिसेतुपालक, गोद्विजहितकारी और धर्मसंस्थापक राम के अवतार का इतना विशद तथा व्यवस्थित वर्णन किया।

अवतार के प्रयोजन का दूसरा रूप विशिष्ट कारणों का है, जिनका संबंध समस्त अवतारों से न होकर अवतारविशेष से ही होता है। तुलसी ने मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशु-राम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि अवतारों के विशिष्ट कारणों एवं उनकी उपलब्धियों का सांकेतिक निरूपण 'विनयपत्रिका' में किया है।[4] उनके मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् राम हैं, अतएव उन्होंने रामावतार के विशिष्ट हेतुओं की ही अभिनिवेशपूर्वक निबंधना की है। रामावतार के विशिष्ट कारणों के दो रूप हैं—वररूप और शापरूप। तुलसी ने भगवान् के अवतारहेतुक दो वरदानों का आख्यान किया है। एक वरदान भगवान् ने मनु-शतरूपा को दिया था[5] और दूसरा कश्यप-अदिति को।[6] शापरूप कारण भी दो प्रकार के हैं। एक में भगवान् स्वयं शप्त हैं। उन्हें शाप देने वाले व्यक्ति हैं—जलंधर की पत्नी वृंदा[7] तथा महर्षि नारद[8]। दूसरे में शप्त व्यक्ति

---

१. ब्र० सू० २।१।३३; तत्त्वत्रय, पृ० ८९
२. रा० १।११०।४, वि० ५२।१, गी० ५।९।३, दो० १२०; रा० १।१४४।४; गी० १।२५।६; वि० ४३।२; रा० १।१३२।२, ६।११७।४, गी० १।२५।१
३. वि० ५२।९, १३९।३-५, दो० ५५३-५५, ५५९, कवि० ७।८५, रा० ७।१०१।३
४. दे०—वि० ५२
५. रा० १।१५१।१-१५२।३; प० पु० ६।२४२।१-८
६. रा० १।१२३।२, १।१८७।२; अ० रा० १।२।२५, १।४।१४
७. रा० १।१२३।२; प० पु० ६।१६।५४
८. रा० १।१२४।३, १।१३७।३-४; शि० पु० २।१।४।१४-१७

जय-विजय,[1] हर-गण[2] और प्रतापभानु[3] हैं जिन्हें क्रमशः सनकादि, नारद एवं ब्राह्मणों ने शाप दिया है। भगवान् के अवतार के कारणरूप में एक चौथे शाप का उल्लेख भी तुलसी ने किया है। दुर्वासा ऋषि के द्वारा शप्त भगवद्भक्त अंबरीष के शाप को भगवान् ने अपने ऊपर लेकर उनके बदले स्वयं ही दस बार शरीर धारण किया।[4] यह शाप केवल रामावतार का ही हेतु नहीं है अपितु प्रमुख दसों अवतारों का है। अवतार के इन शापरूप कारणों के विषय में यह बात प्रलक्ष्य है कि उपर्युक्त सभी शप्तजन निरपराध हैं, अतएव उनके उद्धार के लिए दीनबंधु भगवान् को अवतार लेना पड़ा।

अवतार-निरूपक ग्रंथों में इन हेतुओं का निरूपण पूर्णतया समान नही है। कहीं एक की कारणता प्रतिपादित की गयी है तो कहीं दूसरे की। किसी में कुछ का उल्लेख किया गया है तो किसी में कुछ का। इस भाँति विभिन्न आप्त ग्रंथों में परस्पर विरोध-सा दिखायी देता है। इस विरोध-परिहार के लिए तुलसी ने कल्प-सिद्धांत की मान्यता स्वीकार की। ऊपर बतलाये गये शाप-वरदान-रूपी सात हेतु सात विभिन्न कल्पों में रामावतार के कारण हैं। दूसरे कल्पों में भी इसी प्रकार के अन्य कारणों के कार्यरूप में रामावतार होता रहा है जिनका ग्रथन, अनावश्यक समझकर, तुलसी ने नहीं किया। प्रत्येक कल्प में असुरों की बढ़ती से सज्जनों का पीड़न होता है; अधर्म के उत्थान से धर्म की ग्लानि होती है और परिणामस्वरूप भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। रामावतार का इतिवृत्त प्रस्तुत करते समय समन्वयवादी तुलसी ने मुख्य-मुख्य सामान्य और विशिष्ट कारणों की सुचिंतनपूर्वक व्यवस्थित एवं कलात्मक ढंग से संघटना की। विभिन्न पुराणों में अवतार-विषयक मतभेदों का कारण संप्रदाय-भेद है। वैष्णवों, शैवों, शाक्तों आदि ने अपने-अपने संप्रदाय को उच्चतम सिद्ध करने की बलवती स्पृहा से प्रेरित होने के कारण अवतार-कारणों का भी अपने-अपने अनुकूल वर्णन किया है। सांप्रदायिकता से मुक्त तुलसी ने कल्पभेद को ही राम के चरित-भेद का कारण माना।

अवतार-संख्या—अवतार-निरूपक पुराण-साहित्य में ऋषभ देव, कच्छप, कपिल, कल्कि, कूर्म, कृष्ण, दत्तात्रेय, धन्वंतरि, नर-नारायण, नरसिंह, परशुराम, पृथु, बलराम, बुद्ध, मत्स्य, मोहिनी, यज्ञ, राम, वराह, वामन, व्यास, हयग्रीव आदि अवतारों का वर्णन किया गया है।[5] 'भागवत' पुराण में कहा गया है कि भगवान् के अवतार असंख्य हैं।[6] वोपदेव ने 'भागवत' के ही आधार पर विष्णु के चालीस अवतार माने हैं।[7] 'भागवत' में एक स्थल पर बाईस अवतारों का विशेष रूपसे उल्लेख हुआ है।[8] डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मत है कि बौद्धों के चौबीस बुद्धों तथा जैनों के चौबीस तीर्थंकरों की भावना के आधार पर ही हिंदू-समाज में भी अवतारों की चौबीस संख्या की

---

१. रा० १।१२२।२-१।१२३।१; प० पु० ६।२३७।३, भा० पु० ७।१।३७
२. रा० १।१३५; शि० पु० २।१।३।५६-५७
३. रा० १।१७३-१।१७४
४. वि० ९८।५
५. इन अवतारों के संदर्भ के लिए दे०—पुराण-विषयक समनुक्रमणिका, पृ० ४१-४४
६. अवतारा ह्यसंख्येयाः हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। —भा० पु० १।३।२६
७. मुक्ता०, अ० ३, पृ० ४२-६७
८. भा० पु० १।३।६-२५

कल्पना हुई।[1] हिंदी-साहित्य में अवतारवादी सगुणभक्तों तथा अवतारविरोधी निर्गुण-संतों ने भी चौबीस की संख्या को महत्त्व दिया।[2] परंतु सर्वाधिक लोकप्रिय संख्या दशावतार की है।[3] 'विनयपत्रिका' की दशावतार-स्तुति से यह निर्विवाद सिद्ध है कि तुलसी की दृष्टि में भी दशावतारों का विशेष गौरव है। द्रौपदी के वसन-वेष के रूप में भगवान् के ग्यारहवें अवतार का उल्लेख[4] उनके कारुण्य और भक्तवात्सल्य का प्रदर्शन मात्र है; किसी अवतार-संख्या का द्योतक नहीं। पूर्वोक्त दस प्रमुख अवतार हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम कृष्ण, बुद्ध और कल्कि।

आकृति की दृष्टि से उक्त अवतारों के दो स्पष्ट वर्ग हैं—मनुज और अमनुज। प्रथम चार अमनुज हैं। आधुनिक विकासवाद की दृष्टि से वे क्रमशः नरशरीर की ओर विकसित होते गये हैं। रूप और गुण दोनों की दृष्टि से, राम में पहुँचकर नराकार पूर्णता को प्राप्त हुआ है। कहा जाता है कि कल्कि-अवतार विकास की उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था का प्रतीक है; के० नारायण स्वामी अय्यर ने यह भी प्रस्थापित किया है कि इन अवतारों का विकास-क्रम गर्भ (पिंड) और ब्रह्मांड के विकास की भाँति ही दशभूमिक है।[5] वैष्णव भक्तों ने राम और कृष्ण को अवतारों में सर्वोपरि स्थान दिया है; उनके शील, शक्ति और सौंदर्य का बड़े ही मनोयोग-पूर्वक विशद वर्णन किया है; उनके नाम, रूप, गुण, लीला और धाम की महिमा गायी है। तुलसीदास की दृष्टि में भी इन दोनों अवतारों की उपलब्धियाँ विशेष महत्त्वशालिनी हैं। उन्होंने कुल मिलाकर बारह अवतारों की चर्चा की है। दशावतार हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि।[6] अन्य दो अवतार हैं—कपिल और नरनारायण।[7] राम का अवतार-चरित उन्हें सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुआ अतएव 'रामचरितमानस' आदि में उनके लीला-कथानक की उन्होंने व्यास-शैली में निबंधना की। दूसरा स्थान श्रीकृष्ण का है। 'कृष्णगीतावली' में उन्हीं का चरित वर्णित है। शेष दस अवतारों का निरूपण बहुत संक्षिप्त है। वैष्णव आचार्यों, और विशेषकर श्रुति-सिद्धांत के निचोड़ का निरूपण करने वाले दृढ़ आस्तिक तुलसी ने नास्तिक बुद्ध को अवताररूप में क्यों कर स्वीकार किया? उनकी यह मान्यता कुछ विचित्र-सी लगती है। इस समन्वय का कारण है भारतीय तत्त्वचिंतकों की सार-ग्राहिणी प्रतिभा। भारतीय मनीषा की यह विशेषता रही है कि वह ग्राह्य को ग्रहण करती आयी है। इसी भावना से प्रेरित होकर अवतारवादियों ने महान् लोकनायक बुद्ध को अवतारों में परिगणित कर लिया। किंतु उनकी नास्तिकता के कारण उन्हें भक्तानंदकारी लीलावतार

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १३

२. सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद ३६; रामानंद की हिंदी रचनाएँ, परिशिष्ट २; रज्जब जी की बानी, पृ० १८८

३. अ० पु० १६।१२; वाराहपु० ४।२, ११३।४२, २११।६८-६९; गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग; पृथ्वीराजरासो, दूसरा समय; कबीर-वचनावली, पृ० १६४; रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, पृ० ४२५

४. सभा सभासद निरखि पट पकरि उठायो हाथ।
तुलसी कियो इगारहों बसन बेष जदुनाथ ॥ —दो० १६८

५. दे०—दि पुराणज् इन दि लाइट ऑफ़ मॉडर्न साइन्स, पृ० २०९-१०, २७२-७३

६. वि० ५२, रा० ६।११०।४; कवि० ७।१२८, दो० ३९६, ४६४, रा० १।८८।१, २।२६५।३

७. रा० १।१४२।३-४; वि० ६०।१, रा० १।२०।३, ब० रा० २२

न मानकर दैत्यव्यामोहनकारी अवतार[1] माना। कल्कि अवतार को केवल भावी अवतार मान बैठना भ्रम होगा। वह पिछले कल्पों में होता आया है और इस कल्प में भी होगा। भगवान् की लीला के समान उसके अवतार भी अनादि और अनंत हैं। यद्यपि मनु-शतरूपा के समक्ष भगवान् का प्रकट होना[2] भी एक प्रकार से (व्यापक अर्थ में) अवतार ही है तथापि तुलसी ने उसका अवताररूप में चित्रण नहीं किया। इसका कारण है उस रूप में लीला का अभाव।

अवतारों का वर्गीकरण—अवतारवादियों ने अवतारों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया है।[3]

१. दे०—ब्र० सू० २।२।२६ तथा ३।४।१८ पर अणुभा० और बालबोधिनी
२. रा० १।१४६।४
३. (क) यतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाश, पृ० ८६—
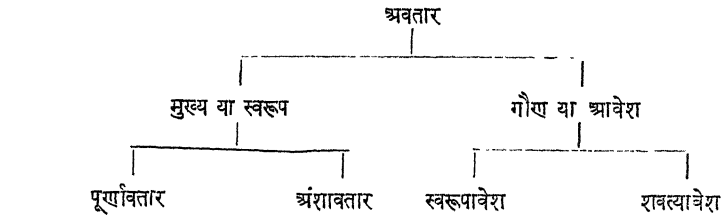
(ख) दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ श्रीवल्लभाचार्य, पृ० १७३-१७८—
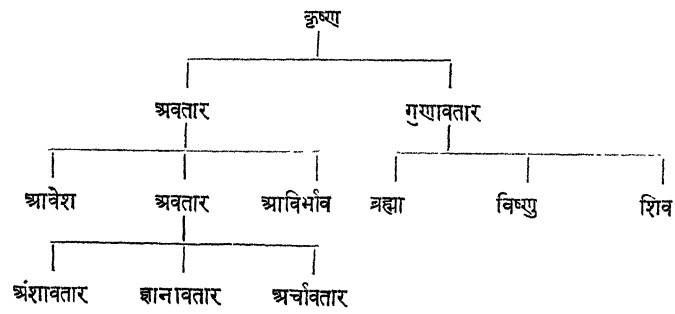
(ग) मुक्ता०, पृ० ४२-६७—
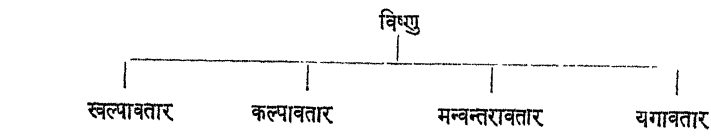
(घ) भ० च०, पृ० १३८-३९—
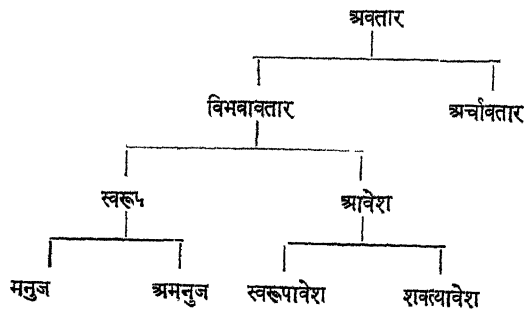
तुलसी को अवतारों का कोई वर्गीकरण अभिप्रेत नहीं है। इसका कारण यह है कि वे अवतारी और अवतार में केवल अव्यक्त और व्यक्त का भेद छोड़कर और कोई भेद नहीं मानते। दाशरथ राम को परमार्थ ब्रह्म कहते हुए उन्होंने कृष्ण को संपूर्णावतार मानने वाले भक्तों की भाँति[1] यह नहीं कहा कि केवल राम ही पूर्ण ब्रह्म हैं और अन्य अवतार अंशकलामात्र हैं। उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और शिव को राम का अंश तो कहा[2], किंतु उनको अवताररूप में चित्रित नहीं किया।[3] अतएव उनके (ब्रह्मा आदि के) लीलावतारत्व[4], गुणावतारत्व[5], आवेशावतारत्व[6] या स्वल्पावतारत्व[7] का प्रश्न ही नहीं उठता। पूर्णावतार, अंशावतार, कलावतार, शक्त्यवतार आदि रूपों में भगवान् के 'भगभेदप्रदर्शन' का सिद्धांत[8] तुलसीदास को मान्य नहीं है। उनके मत से सभी अवतार समान हैं। उनकी भगवत्ता में भेद नहीं है। 'भग' की दृष्टि से सभी अवतारिस्वरूप हैं। लीलामय होने के कारण सभी लीलावतार हैं। सभी राम के स्वरूप हैं, अतएव स्वरूपावतार हैं। प्रत्येक कल्प में होते हैं, इसलिए कल्पावतार हैं।

पांचरात्र आगम के अनुसार भगवान् जगत् के कल्याण, धर्म की रक्षा तथा अधर्म के नाश के लिए चार प्रकार के अवतार धारण करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चा एवं अंतर्यामी।[9] पुराणों[10], विशिष्टाद्वैतवाद[11] आदि में भी चतुर्व्यूह-सिद्धांत की स्थापना की गयी है। तुलनात्मक दृष्टि से यह ध्यान देने योग्य है कि सूरदास ने वासुदेव-विषयक चतुर्व्यूह-सिद्धांत के आधार पर राम के चतुर्व्यूह का भी निरूपण किया है।[12] उक्त संप्रदायों में विभवावतार के भी दो प्रकार बतलाये गये हैं—मुख्य (साक्षादवतार) और गौण (आवेशावतार)।[13] ये सब सिद्धांत तुलसी को मान्य नहीं हैं। उन्होंने लक्ष्मण के शेषावतारत्व का तो उल्लेख किया है[14], किंतु भरत और शत्रुघ्न के

---

१. अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्। —भ० च०, पृ० १३८;
   दे०—भा० पु० १।३।२८; ब्र० वै० पु० ४।११७।१२; सात्वततन्त्र, ३।२७।२८
२. रा० १।१४४।३
३. जैसा कि 'भागवत' (३।५।४२) आदि में किया गया है।
४. दे०—भ० च०, पृ० १३५
५. दे०—सात्वततन्त्र, ३।३३; भ० च०, पृ०१३५
६. यतीन्द्र०, पृ० १३८
७. दे०—मुक्ता०, पृ० ६६-६७
८. सात्वततन्त्र, ३।२७-३४
९. दे०—भा० सं०, पृ०१२३-२४
१०. ना० पु० २।७५।५-६, वि० पु० ५।१८।५८, कू० पु० १।२२।७७, भा० पु० ६।१६।१८, ११।५।२९, ११।६।१०
११. यतीन्द्र०, पृ० १३५; तत्त्वत्रय, पृ० १०२-३
१२. प्रगट भए दसरथगृह पूरन चतुर्व्यूह अवतार।
   तीनौं ब्यूह संग लै प्रगटे पुरुषोत्तम श्रीराम॥
   संकर्षन प्रद्युम्न लच्छमन भरत महासुखधाम।
   शत्रुघ्नहिं अनिरुध कहियतु हैं चतुर्व्यूह निज रूप॥ —सूर-रामचरितावली, २०१।१-३
१३. दे०—भा० सं०, पृ० १२५; तत्त्वत्रय, पृ० १०८
१४. रा० २।१२६। छं०

अवतारत्व की चर्चा नहीं की। तुलसीदास के नाम से उद्धृत एक दोहे[1] में दशावतार के चार वर्ग किये गये हैं—वारिचर, वनचर, विप्र और राजा। किंतु उस दोहे का तुलसी-कृत होना संदिग्ध है। अतएव उसमें निबद्ध वर्गीकरण को तुलसी-संमत नहीं कहा जा सकता। कालावधि की दृष्टि से भगवान् का प्राकटच दो प्रकार का है—अल्पकालिक और दीर्घकालिक। नारद और मनुशत-रूपा के समक्ष उनका प्राकट्य[2] अल्पकालिक है। यहाँ भी भगवान् सगुणरूप हैं। यह भी उनकी लीला ही है, किंतु केवल व्यष्टि के निमित्त। इन दोनों ही स्थितियों में अवतार के व्यापक प्रयोजनों का अभाव है। ये एक प्रकार से अवतार के हेतु हैं। अतएव तुलसी ने इनका वर्णन अवताररूप में नहीं किया। दाशरथ राम आदि का प्राकट्य दीर्घकालिक एवं अवतार के व्यापक प्रयोजनों का संसाधक होने के कारण अवताररूप है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में भाग्यभाजन पुरुष एकाकी नहीं चला करता, उसके पार्षदगण भी, कभी आवश्यकतावश और कभी केवल मर्यादा की रक्षा के लिए, उसके साथ चला करते हैं; उसी प्रकार महामहिम भगवान् राम का अवतार भी एकाकी नहीं होता। वे अपनी आत्मभूता परम शक्ति तथा अंशों के सहित देह धारण करते हैं।[3] उनकी सेवा या सहायता के लिए देवताओं का भी धरती पर आगमन होता है।[4] देवताओं के इस प्रकार सामूहिक अवतार की भावना में एकेश्वरवाद और बहुदेववाद का समन्वय सनातनधर्म की एक महती विशेषता है।

अवतारी—रामावतार के विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अवतारी कौन है। 'नारदपुराण'[5] आदि के कृष्ण की भाँति तुलसी के राम अवतार भी हैं और अवतारी भी।[6] जो

---

१. दुइ वनचर, दुइ बारिचर, चार बिप्र, दो राउ।
तुलसी दस जस गाइ के भवसागर तरि जाउ॥ —भक्तमाल, पृ० ४८

२. रा० १।१३२।२, रा० १।१४६।४

३. इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥
जे सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥
आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥ —रा० १।१५२।१-२
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥ —रा० १।१८७।१
नारद बचन सत्य सब करिहौं। परम सक्ति समेत अवतरिहौं॥ —रा० १।१८७।३
दे०—अ० रा० १।२।२८, वि० पु० १।९।१४२

४. रा० १।१८७, १।१८८।२; दे०—अ० रा० १।२।२९-३२, वा० रा० १।१७।१-२

५. ना० पु० २।५८।४५

६. अज अद्वैत अनाम अलख रूप गुन रहित जो।
मायापति सोइ राम, दास हेतु नर-तनु धरेउ॥ —वै० सं० ४
मन क्रम बचन अगोचर जोई। दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥ —रा० १।२०३।३
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥ —रा० १।२०३।४
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ॥ —रा० १।११६
बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥ —रा० १।११७।३

उपनिषद् का ब्रह्म है, जो वैष्णवों का परमविष्णु है, जो शैवों का परमशिव है, जो शाक्तों की परमशक्ति है, वही अवतारी राम हैं। अवतारी एवं अवतार दोनों एक ही हैं, उनमें कोई स्वरूप-भेद नहीं है। जिस प्रकार अवतारी राम सच्चिदानंदस्वरूप हैं[1] उसी प्रकार अवतार राम भी।[2] उनकी निर्गुणनिराकारता और सगुणसाकारता के कारण ही भेद दिखायी पड़ता है। साकार राम के विचित्र चरित अतर्क्य हैं।[3] अतएव उनके विषय में प्राकृतजनों को मोह हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। अवतारी और अवतार राम की अद्वैतता, अवतारी की भाँति अवतार की भी प्रकाशस्वरूपता, मायानवच्छिन्नता, निर्विकारता, एकरसता, एकरूपता आदि की उपपत्ति तुलसी ने अनेक दृष्टांतों द्वारा प्रस्तुत की है। घनच्छन्नदृष्टि व्यक्ति को प्रकाशपुंज सूर्य ही घनच्छन्न प्रतीत होता है। आँख पर उँगली लगाकर देखने वाले को (एक होने पर भी) दो चंद्र दिखायी देते हैं। ज्ञानहीन जन को निर्विकार आकाश ऐसा लगता है मानो वह अंधकार, धूम और धूलि का ही रूप हो।[4] पांडुरोगग्रस्त कहता है कि चंद्रमा पीतवर्ण है। दिग्भ्रमित कहता है कि सूर्योदय पश्चिम में हुआ है। नौकारूढ़ मूढ़ अपने को अचल और अचल जग को चलता हुआ समझता है। भ्रमशील बालक को स्थिर गृहादि ही घूमते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। राम-विषयक मोह भी ऐसा ही है। जो जीव मायाभिभूत, कामी, विषयी, भाग्यहीन, मतिमंद और शठ हैं; जिनकी मति मलिन हो गयी है; जिनके हृदय पर अविद्या का आवरण चढ़ा हुआ

तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
जेहि इमि गावहि बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥ —रा० १।११८
श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहस सीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥ —रा० २।१२६। छं०

१. एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ —रा० १।१३।१-३
ग्यान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।
सोइ सच्चिदानंद घन कर नर चरित उदार॥ —दो० ११४, रा० ७।२५

२. राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥ —रा० १।११६।२-३
सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥—दो० ११६, रा० २।८७

३. चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥ —रा० ६।७४।१
अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोहबस हृदय धरहिं कछु आन॥ —रा० १।४९

४. निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि कें भाएँ॥
उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥ —रा० १।११७।१-२
घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः। —वे० सा०, पृ० ४

है; वे ही दुराग्रहवश राम के ईश्वरत्व में संशय करते हैं, जड़तावश अपने अज्ञान का आरोप राम पर करते हैं।[1] पूछा जा सकता है—क्या दशरथनंदन राम के परमेश्वरत्व में तुलसी को तनिक भी संदेह नहीं है ?—

जौं जगदीस तौ अति भलो जौं महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन अनुराग ॥[2]

उपर्युक्त दोहे के पाठक को यह भ्रांति हो सकती है कि राम के परब्रह्मत्व में तुलसी का भी अटल विश्वास नहीं है। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इस मुक्तक दोहे की प्रसंग-कल्पना कीजिए। किसी नास्तिक या अवतार-विरोधी दुराग्रही के प्रति राम का अनन्योपासक कवि खीझ उठा है। प्रस्तुत पद्य उसकी उसी झुँझलाहट का अभिव्यंजक है, वैज्ञानिक युग के आधुनिक तार्किक का संदेहवाद नहीं।

राम औपनिषदिक ब्रह्म के अवतार हैं—इसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। तुलसी के राम विष्णु भी हैं।[3] उन्होंने राम के लिए विष्णुवाची शब्दों का बहुशः प्रयोग किया है।[4] अवतार के अनंतर कौशल्या ने जो स्तुति की है वह विष्णुरूप राम की ही स्तुति है।[5] अन्यत्र भी अवतारी विष्णु के रामावतार का उल्लेख किया गया है।[6] प्रश्न उठता है—राम ब्रह्म के अवतार हैं या विष्णु के ? उत्तर है—प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए, क्योंकि दोनों एक हैं। उपनिषदों ने जिसे ब्रह्म कहा है वही वैष्णवों का परम विष्णु है। वही राम है। उसी को तुलसी ने पुराण-पुरुष भी कहा है।[7] नारायण[8], हरि[9], केशव[10], माधव[11] आदि शब्द उसी अर्थ के वाचक हैं। इस

---

१. जे मति मलिन विषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ॥
नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई ॥
जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उएउ दिनेसा ॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा ॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्याबादी ॥
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा ॥
मायावस मतिमंद अभागो। हृदय जमनिका बहु विधि लागी ॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥ —रा० ७।७३।१-५
यथा हि चाक्ष्णा भ्रमता गृहादिकं विनष्टदृष्टेर्भ्रमतीव दृश्यते। —अ० रा० १।१।२२
२. दो० ९१; इसी प्रकार का संशयाभास 'साकेत' में भी द्रष्टव्य है—
राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ? विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूं, ईश्वर क्षमा करे; तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे। —साकेत, पृ० ९
३. वि० ५४।३, रा० १।५१।१
४. रा० ३।४।६, ७।१४।१, वि० ४६।५, ११९।१, गी० २।४।५, ७।१९।५, कवि० ७।१३२
५. रा० १।१९२। छं० १-४
६. रा० १।५१।१, १।१२१।१, ब० रा० २७
७. जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को। —गी० १।८८।४
८. वि० ६०।१, रा० ४।१।५; अ० रा० ४।७।१६, ६।४।४०
९. रा० ५।५।४, वि० ११८।१, गी० ५।४४।४
१०. वि० १११।१, ११२।१
११. वि० ९२।१, ११३।१

प्रसंग में एक दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यह अवतारी विष्णु कौन है—वैकुंठस्थित विष्णु अथवा पयोनिधिवासी विष्णु। तुलसीदास के मतानुसार दोनों एक ही हैं। हरि समान रूप से सर्वत्र व्यापक हैं। स्वेच्छानुसार कोई भक्त उन्हें वैकुंठलोक में विराजमान मानता है और कोई क्षीरसागर में।[1] विष्णु के संबंध से एक और शंका यह उठती है कि एक ओर तो तुलसी राम को परब्रह्मरूप विष्णु मानते हैं और दूसरी ओर वे यह भी कहते या कहलाते हैं कि राम ही विष्णु को विष्णुता प्रदान करते हैं।[2] विष्णु अनेक, राम के अंश, चरणसेवक तथा वशवर्ती हैं[3]; वे राम की शक्ति से ही शक्तिमान् और राम के विरोधी का त्राण करने में असमर्थ हैं।[4] समाधान यह है कि विष्णु के दो रूप हैं—परब्रह्म विष्णु[5] और सृष्टिपालक विष्णु[6] जो परम विष्णु की विशिष्ट शक्ति, कल्पना या मूर्ति हैं।[7] इस प्रकार राम तत्त्वतः परम विष्णु हैं और जगत्-प्रतिपालक विष्णु उनके अंश, शक्तिविशेष तथा आज्ञाकारी हैं। सच्चिदानंदस्वरूप परमविष्णु राम के सत्त्वविशिष्ट विश्वंभर अंशविशेष का नाम भी 'विष्णु' ही है।

दाशरथ राम के ब्रह्मत्व में संदेह करने वाले व्यक्ति दो प्रकार के हैं—जिज्ञासु और विपर्यस्त-बुद्धि। इनको प्रकारांतर से विरत और विषयी भी कहा जा सकता है। 'रामचरितमानस' के प्रमुख श्रोता भरद्वाज, भवानी, गरुड़ आदि राम के स्वरूपज्ञान के अभिलाषी और विषयवासनाओं से दूर होने के कारण जिज्ञासु तथा विरत हैं।[8] विषय-भोग-व्यापृत रावण[9] आदि अभिमानी पात्र, विचारशीलजनों के यह समझाने पर भी कि दाशरथ राम ही परब्रह्म परमेश्वर हैं, उनके शरणागत नहीं होते, अतएव विपर्यस्तबुद्धि हैं। शंकर के द्वारा अवतारवाद-विरोधियों की जो भर्त्सना तुलसी ने करायी है[10] उसके प्रधान लक्ष्य निर्गुणसंप्रदायी संत हैं। शैव-शाक्त-मतों से प्रभावित निर्गुणियों को शिव के द्वारा ही शक्ति के प्रश्न के उत्तररूप में फटकरवाना तुलसी को अधिकतम प्रभावशाली प्रतीत होना उचित ही था। राम के ईश्वरत्व के विरोधी शिवभक्त रावण की भर्त्सना भी विष्णु-विरोधी शैवों पर किया गया दुस्सह प्रहार है।[11] भगवान् की सगुण-लीला (प्राकृत जीवों की भाँति किया गया आचरण) रहस्यमय है।[12] उसे परम सुजान

---

१. पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
जाकें हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तह प्रगट सदा तेहि रीती॥
तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥ —रा० १।१८५।१-३

२. वि० १३५।३

३. रा० १।५४।४, १।१४४।३, १।१४६।१, २।२५४।३-४

४. रा० ५।२१।३, ५।२३।४

५. वि० पु० ६।७।६०, ब्रह्मपु० २३।४१

६. वि० पु० १।२२।५८, ना० पु० २।५८।४७

७. वि० पु० १।९।५६, ५।१८।५१, कू० पु० १।२२।२६-२७

८. रा० १।४६, १।१०८, ७।५८।४

९. रा० ३।२५।२, ६।६।३-४, ६।६३।१-२

१०. रा० १।४९, १।११४-१।११५।४

११. रा० ६।२६।३, ६।३३।३-५

१२. चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी।—रा० ६।७४।१
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ।—रा० ७।७३

ही समझ सकते हैं।[1] राम की लीला ने भवानी, कौशल्या, लक्ष्मण, सुर-सिद्ध-मुनिजन, गरुड़, काकभुशुंडि आदि तक को भ्रम में डाल दिया था।[2] उनकी यह लीला अभिनयरूपा है। जैसे नट दूसरे पात्रों की भूमिका ग्रहण करके अनेक प्रकार के स्वाँग बनाता है, परंतु रहता है उन सबसे निर्लेप; वैसे ही भगवान् का जन्मना, विहरना आदि उनका लीलाविलासमात्र है।[3]

दाशरथि राम के ब्रह्मत्व के विषय में कोई संदेह न करने लगे, इस कारण से तुलसी ने स्थान-स्थान पर उनके ईश्वरत्व का स्मरण दिलाया है। इस पर दो आक्षेप किये जासकते हैं। एक तो यह कि बारंबार ब्रह्मत्व के अनुकथन से कवित्व कुंठित हो गया है। दूसरा यह कि 'रामचरितमानस' का पाठक यह अनुभव करने लगता है कि कवि हमें मूर्ख समझकर ही पग-पग पर राम की ईश्वरता की पुष्टि करता चल रहा है। पहले का उत्तर यह है कि 'रामचरितमानस' भक्तिरस का काव्य है और इसलिए उनकी वह उपस्थापन-शैली उनके काव्य का भूषण है, दूषण नहीं। दूसरे आक्षेप का भी आंशिक उत्तर भक्तिरस ही है। राम के ब्रह्मत्व का बारंबार निरूपण भक्तिरस के भावक को बुरा नहीं लगता। कवि को कीर्तन-जन्य और भावक को श्रवण-जन्य आनंद की ही अनुभूति होती रहती है। 'रामचरितमानस' विषय-कथा-रस-प्रेमियों के लिए लिखा ही नहीं गया है। दूसरा उत्तर यह भी है कि जब विष्णुवाहन वैनतेय और महादेव की अर्धांगिनी भवानी के मन में भी राम-विषयक मोह उत्पन्न हो गया था तब फिर लोकयात्री सामान्य पाठकों के ज्ञान-वैभव पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है! वस्तुतः पहला उत्तर ही तुलसी का उत्तर है, दूसरा तो केवल तर्क के लिए है। राम के अवस्थान-भेद से इस स्मारण-पद्धति के तीन रूप हैं। वे (राम) कहीं पर वक्ता के रूप में उत्तम पुरुष हैं, कहीं श्रोता के रूप में मध्यम पुरुष और कहीं अन्य पुरुष। उत्तम पुरुष राम ने केवल भक्तजनों को ही अपने ब्रह्मत्व का उपदेश किया है।[4] मध्यम पुरुष राम का ईश्वरत्वकथन कहीं स्तुतियों के रूप में हुआ है[5] और कहीं संवाद के रूप में।[6] इन दोनों के ही वक्ता भक्तजन हैं। तीसरे रूप की अभिव्यंजना भी भक्तों के ही द्वारा हुई है। उनकी उक्ति कहीं भक्त के प्रति है[7] और कहीं पर अभक्त के प्रति। अभक्त को कहीं उपदेश दिया गया है[8], कहीं पर फटकार बतायी गयी है[9] और कहीं पर

---

१. अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान। —रा० १।४६

२. रा० १।१४१।२, १।२०२।३-४, ३।२४।३, ६।१०१, ७।६८, ७।७७

३. भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥
असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥ —रा० ७।७२-७।७३।१
राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य।
सृष्ट्वाऽऽत्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते॥—भा० पु० ११।३१।११

४. रा० ७।८५क

५. यथा—रा० ७।१३।छं० १।६; वि०, पद ४३ आदि

६. रा० २।७७।३, ३।१३।३-६

७. रा० १।११६, २।४।४, ४।२६।६

८. रा० ३।२५।२, ६।४८

९. रा० ५।४१, ६।२६।३, ६।३३।५

पश्चात्ताप की भावना है।[1]

राम की माया—

माया का स्वरूप—निर्विशेष-निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष-सलक्षण जगत् की सृष्टि कैसे हुई? एक अद्वितीय या केवल ब्रह्मसे अनेकनामरूपात्मक जगत् का निर्माण कैसे संभव हुआ? इस प्रकार की शंकाओं के समाधान के लिए मायावाद की कल्पना की गयी। इस विश्व-प्रपंच की बीजरूपा, ईश्वर की अपृथग्भूता, त्रिगुणात्मिका एवं अनिर्वचनीया शक्ति को 'माया' कहा गया। तुलसीदास के मतानुसार ब्रह्म राम की शक्ति का नाम 'माया' है। इसीलिए राम 'मायापति' कहलाते हैं।[2] उनकी व्यक्ताव्यक्त शक्तिरूपा माया को 'सीता' कहते हैं।[3] तुलसी के रामभक्ति-दर्शन में 'सीता' और 'माया' शब्द समशील भी हैं।[4] जिस प्रकार राम के दो रूप हैं—साकार और निराकार, उसी प्रकार सीता के भी दो रूप हैं व्यक्त और अव्यक्त।[5] अव्यक्तरूपा सीता के लिए तुलसीदास 'माया' शब्द का ही व्यवहार करते हैं; किंतु जब वही माया अपने व्यक्त साकाररूप में वाणी का विषय होती है तब उसे 'सीता' कहते हैं।[6] जिस प्रकार निर्गुण-निराकार राम अवतार लेते हैं उसी प्रकार उनके साथ उनकी 'माया' भी अवतार लेती है।[7] भगवान् के भार्गव, कृष्ण आदि रूपों के अनुरूप उनकी सहायिनी माया भी धरणी, रुक्मिणी आदि का स्वरूप धारण करती है।[8] तुलसी-पूर्व भारतीय वाङ्मय में 'माया' शब्द का व्यवहार शक्ति,[9] शक्ति का कार्य,[10] इन्द्रजाल की शक्ति,[11] कपटप्रज्ञा,[12] मिथ्याचार,[13] रहस्यमयी दैवीशक्ति,[14] योग-शक्ति,[15] मोहकारिणी शक्ति,[16] मोहकारिणी अनादि प्रकृति,[17] जगत् का वैतथ्य,[18] अविद्या,[19] अविद्याकार्य,[20] भ्रांति

---

१. रा० ६।१०४।छं०
२. रा० २।२१८।२, वि० १७७।३, दो० २७६, वै० सं०४
३. रा० १।१५२।२, २।१२३।१, गी० २।२८।३
४. तु० दे०— अ० रा० २।५।११, ४।७।१७, ५।१।४९, ६।७।५८
५. महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति । —सी० उ० ५
६. यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं · रा० १।१। श्लोक ६;
   श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी । —रा० २।१२६। छं०
७. आदि सक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोर यह माया ॥ —रा० १।१५२।२
   दे०— वि० पु० १।९।१४२ (विष्णु के साथ लक्ष्मी का भी अवतार)
८. वि० पु० १।९।१४३-१४५
९. ऋ० १।१५१।९, १।१६७।२, ४।३०।२१ और ५।३०।६ पर सायणभाष्य
१०. ऋ० १०।५४।२
११. ऋ० ३।५६।१, महा०, उद्योग० १६०।५४-५८, गीता, ७।३५
१२. ऋ० ३।२७।७, ३।३४।६ और ४।१६।९ पर सायणभाष्य
१३. प्र० उ० १।१६
१४. श्वे० उ० ४।९; महा०, वन० ३१।३७; गीता, ४।६ पर शंकरानंदी व्याख्या
१५. महा०, उद्योग० ५।१६०।५६
१६. महा०, वन० ३०।३२
१७. गौडपादकारिका, १।१६
१८. गौडपादकारिका, १।१७, २।३१
१९. वि० चू० ११०; कबीर-वचनावली, द्वितीय खण्ड, ४२
२०. वि० च० ४०६; कबीर-वचनावली, प्रथम खण्ड, ५५३

या भ्रांतिकारिणी रचना[१] आदि विविध अर्थों में हुआ है।

तुलसीदास ने भी 'माया' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में किया है। सामान्यतः 'माया' वह शक्ति है जो अघटितघटनापटीयसी तथा विचित्रकार्यकरणशीला है और जिसकी निश्चयात्मिका प्रतीति अथवा निरूपण मानवबुद्धि के लिए अत्यंत दुस्साध्य है। उस शक्ति का कार्य यह प्रपंचात्मक विश्व भी माया ही है। इस कारणकार्यरूपा 'माया' के अनेक अर्थ हैं—छल-कपट या धोखा,[२] जादू या इंद्रजाल,[३] परवंचनेच्छा,[४] 'मैं-मेरा' और 'तुम-तुम्हारा' का भेदभाव,[५] दुर्ज्ञेय दैवी या आसुरी शक्ति,[६] अन्यथाभावित होने वाली भ्रांतिकारिणी रचना एवं उसकी मिथ्या प्रतीति,[७] संसारासक्ति या मोह,[८] मोहकारिणी शक्ति,[९] जीव को बांधने वाला पाश,[१०] ईश्वर की आदिशक्ति,[११] ईश्वर की रहस्यमय अद्भुत, अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय शक्ति,[१२] विश्व को नचाने वाली ईश्वरीय शक्ति,[१३] ईश्वर की कारयित्री शक्ति,[१४] प्रकृति,[१५] सत्य-सा प्रतीत होने वाला यह समस्त जगत्,[१६] अविद्या[१७] और अविद्याकारिणी जीवभ्रामक शक्ति[१८] आदि। इस दुरत्यया माया का प्रभाव अपार है।[१९] सुर, असुर, नाग, नर, चर, अचर, काल, कर्म और त्रिदेव तक इसके वशवर्ती हैं; यह समस्त जग को नचाने वाली है; चराचर जगत् की रचना करने वाले विधाता को भी इसने अनेक बार नचाया है।[२०] परंतु यह राम की दासी है; उनके भ्रूसंकेत पर नाचने वाली नटी है।[२१]

---

१. अभिज्ञानशकुन्तल, ६।१०
२. रा० २।३३।३, २।२१८।२
३. रा० १।१८३।२, ५।१३।२
४. रा० २।१३०।१
५. वि० ४७।५, रा० ३।१५।१; वि० पु० ६।७।१२
६. रा० १।१२६।१, १।१७१
७. रा० ३।४३, कवि० ७।११४
८. रा० ४।२३।३, दो० ६९, वै० सं० ३२
९. दो० २६३, २७६, रा० १।१४०।४; भा० पु० १०।८४।१६
१०. वि० ६०।८, रा० १।२००।२, ४।२१।१
११. रा०१।१५२।२
१२. दो० १२७, २००, रा० १।१। श्लोक ६; दे०— ना० पु० १।३३।६९
१३. वि० ९८।३, १०१।३, रा० १।२०२।२
१४. रा० १।१९२। छं० ३, १।२२५।२; दे०— अ० रा० १।१।१८, १।२।१५; भा० पु० ११।३।१६
१५. रा० ३।१३।३, ५।५९।२
१६. रा० १।११७।४, रा० ३।१५।२
१७. रा० १।१८६। छं०, ३।३९क; दे०— भा० पु० १।८।१९, ना० पु० १।३३।७०
१८. वि० ११६।१, १२३।१, १३६।१, रा० १।५१; दे०— भा० पु० १०।८४।१६
१९. मन महुँ करइ बिचार बिधाता। मायाबस कबि कोबिद ज्ञाता।
 हरि माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा॥ —रा० ७।६०।२
 दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः। —भा० पु० १०।७०।३७
२०. क्रमशः— रा० ७।१३। छं० २, वि० १०१।३, २४९।१; रा० ७।७२।१, वि० ९८।३; रा० ७।६०।२
२१. रा० ७।७१; रा० ७।७२।१, ७।११६।२, वि० २४६।३

माया के दो रूप—राम की शक्तिस्वरूपा माया के दो भेद हैं—विद्या और अविद्या।[१] जीव के संबंध से, 'मैं देह से भिन्न चेतन आत्मा हूँ'—इस प्रकार की बुद्धि 'विद्या' है जो संसार-निवृत्ति का हेतु है।[२] राम के संबंध से, 'विद्या माया' राम की वह शक्ति है जिसके द्वारा वे विश्व की रचना करते हैं[3] अथवा जो उनकी प्रेरणा से जगत् की रचना करती है।[४] सत्त्व, रज और तम तीनों गुण उसके वशवर्ती हैं। वह स्वयं शक्तिहीन है, उसकी शक्ति वस्तुतः प्रभु राम की ही शक्ति है। इंद्रियाँ और इंद्रियगम्य समस्त जगत् माया है।[५] अर्थात् सृष्टिरचना करने वाली शक्ति और उस शक्ति का कार्य (यह अखिल ब्रह्मांड) सब माया है। माया का दूसरा भेद अविद्यामाया है जो जीव के संसार का कारण है।[६] तुलसी ने 'अविद्यामाया' के लिए केवल 'माया'[७] या केवल 'अविद्या'[८] शब्दों का ही व्यवहार किया है। 'मैं देह हूँ'—इस प्रकार शरीर आदि अनात्म पदार्थों में देहबुद्धि 'अविद्या' है।[९] दूसरे शब्दों में, मिथ्या को सत्य और सत्य को मिथ्या समझना ही 'अविद्या' है।[१०] यह मोहकारिणी आवरणशक्ति है, जो धरती के ढाबर पानी की भाँति जीव को मलावृत किये हुए है।[११] अविद्यामाया से आवृत मूढ़ जीव स्वस्वरूप और भगवत्स्वरूप को भूलकर भवबंधनबद्ध होता है।[१२] अविद्या जीव के संसार का हेतु है और विद्या निवृत्ति का।[१३]

तात्त्विक दृष्टि से माया का भेद या विभाजन नहीं किया जा सकता। माया के दो प्रकार के कार्यों को समझाने के लिए ही राम ने 'भेद' का व्यवहार किया है। उन्होंने विद्यामाया को तो 'प्रभु प्रेरित' कहा और अविद्यामाया को नहीं—इसका यह आशय नहीं है कि अविद्यामाया स्वतंत्र है। सांख्यदर्शन में विश्व की 'प्रकृति' (अव्यक्त) को जड़ होने पर भी स्वतंत्र माना गया

---

१. तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥—रा० ३।१५।२
देः—अ० रा० ३।३।३२ (माया द्विधा भाति विद्याविद्येति), ना० पु० १।३।६

२. अ० रा० २।४।३३-३४, ३।३।३३

३. अ० रा० १।१।१८, १।२।१५, भा० पु० ४।२४।६१ (यो माययेदं पुरुरूपयासृजत्)

४. एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥ —रा० ३।१५।३
दे०—अ० रा० ३।४।२३, भा० पु० ११।३।१६, प० पु० ६।२२७।५१

५. गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ —रा० ३।१५।२
ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ —रा० ३।१३।३

६. एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥ —रा० ३।१५।३

७. रा० ७।७१।४, ७।७१, दो० २६३; वि० १३६।१

८. रा० २।२९, ७।७९।१, ७।११३, ७।११८।२

९. देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता। नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥—अ० रा० २।४।३३
अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या (स्वविषया) मतिः। —वि० पु० ६।७।११, ना० पु० १।४६।८६
अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथानयोः। —ना० पु० १।४७।७५

१०. साँचो जान्यो झूठ को, झूठे कहँ साँचो जानि। —वि० १९०।६
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। —यो० सू० २।५

११. भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥ —रा० ४।१४।३

१२. रा० १।११७।२, वि० १३६।१; ब्र० सू० १।१।१ पर शा० भा०, अ० रा० १।१।१९-२२, भा० पु० १।८।१९

१३. अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका। —अ० रा० २।४।३४

है। सांख्य के प्रकृतिविकृतिरूप पदार्थत्रय को स्वीकार करते हुए भी तुलसी यह बतला देना चाहते हैं कि इस जड़ प्रकृति का संचालक चेतन परमात्मा हैं। अविद्यामाया के प्रेरक और नियंता भी राम ही हैं।[१] अद्वैतवेदांत में 'अज्ञान', 'अविद्या' और 'माया' शब्दों का प्रायः पर्याय-रूप में प्रयोग हुआ है।[२] इसी अविद्यामाया की दो शक्तियाँ बतलायी गयी हैं—विक्षेप और आवरण। विक्षेपशक्ति रजोगुण की क्रियात्मिका शक्ति है जो सभी प्रवृत्तियों का कारण है। आवरण-शक्ति तमोगुण की शक्ति है जिसके कारण वस्तु अन्यथा (कुछ की कुछ) अवभासित होती है। यह शक्ति जीव की संसृति का निदान एवं उपर्युक्त विक्षेपशक्ति के प्रसार का हेतु है।[3] किंतु अध्यात्मरामायणकार[४] आदि की भाँति तुलसीदास भी विक्षेपशक्ति को विद्यामाया और आवरणशक्ति को अविद्यामाया मानते हैं। विद्यारण्य स्वामी ने चिदानंदमय ब्रह्म के प्रतिबिंब से युक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति की दो विधाएँ मानी हैं—माया और अविद्या। शुद्धसत्त्वगुणप्रधान प्रकृति को उन्होंने 'माया' कहा है। वह सर्वज्ञ तथा नियंता ईश्वर का प्रतिबिंब है। मलिनसत्त्व-गुणप्रधान प्रकृति 'अविद्या' है। जीव उसका वशवर्ती है। वह जीव का कारणशरीर है।[५] विद्यारण्य और तुलसीदास का तात्पर्य एक ही है। केवल नाम का भेद है। ब्रह्म की मूलशक्ति को ही एक ने 'प्रकृति' कहा है और दूसरे ने 'माया'। उसी शक्ति के दो पक्षों को एक ने 'माया' तथा 'अविद्या' नाम दिया है और दूसरे ने 'विद्यामाया' एवं 'अविद्यामाया'।

राम की माया सीता—सीता राम की परमशक्ति हैं; उनकी प्रिया हैं।[६] राम साहिब हैं; सीता साहिबिनी हैं।[७] शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता, अतः सीता राम से अभिन्न हैं। जिस प्रकार परछाई का शरीर से, प्रभा का सूर्य से अथवा चंद्रिका का चंद्रमा से अलग होना संभव नहीं है, उसी प्रकार सीता राम से असंपृक्त नहीं हो सकतीं।[८] जिस प्रकार अर्थ और वाणी तथा जल और तरंग का आभासित भेद तात्त्विक नहीं है, उसी प्रकार राम और सीता का भी।[९]

---

१. बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा॥ —रा० १।५६।३
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥ —रा० १।१२९।४
राम जबहि प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥ —रा० ३।४३।१

२. दे०—ब्र० सू० १।४।३ पर शा० भा०; वि० चू० ११०; वे० सा०, पृ० ३-४
थीबो का कथन है कि शंकर की दृष्टि में 'माया' और 'अविद्या' पर्यायवाची है; दूसों का कहना है कि उनके मतानुसार विवर्तरूप जगत् की कारणशक्ति अविद्या है और उसका कार्य, स्वयं विवर्त, माया है।
(दे०—दि कॉन्सेप्ट ऑफ़ माया, पृ० १०३)

३. विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः॥
एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः॥ —वि० चू० ११३, ११५

४. अ० रा० ३।४।२२-२६

५. पञ्चदशी १।१५-१७

६. रा० १।१८७।३ (भा० पु० ९।१९।६—विष्णुपत्नी महामाया), रा०।२।१४०

७. रा० १।२८ ख, १।२९क; कवि० ७।१२६

८. प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी।
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥ —रा० २।९७।३

९. गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।

राम की आदिशक्ति होने के कारण वे जगन्मूल कही गयी है।[1] वे विश्व का उद्‌भव, पालन और संहार करने वाली हैं।[2] उनकी 'जगजननि' और 'जगदंबा' संज्ञाएँ उनके प्रथम दो रूपों की ज्ञापिका हैं।[3] उनके भृकुटिविलास से ही विश्व निर्मित हो जाता है। त्रिदेवशक्तियाँ (ब्रह्माणी-लक्ष्मी-भवानी) उनके अंशमात्र से उत्पन्न हैं।[4] कहीं-कहीं सीता की तुलना में भवानी आदि की हीनता का जो चित्रण हुआ है[5] वह काव्यधर्म से अनुप्राणित है, दार्शनिक दृष्टि से नहीं। सीता लक्ष्मी की अवतार भी हैं और उनकी जननी तथा वंदिता भी।[6] वे पार्वती की जननी एवं वंदनीया भी हैं और उनके समान तथा उनकी स्तोत्री के रूप में भी चित्रित की गयी हैं।[7] इस विरोधाभास का समाधान यह है कि वे मूलतः परमविष्णु राम की शक्ति (जिन्हें लक्ष्मी भी कहा गया है) की अवतार हैं। आवेशविष्णु की शक्तिरूपा लक्ष्मी की जननी तथा स्वामिनी हैं। उसी प्रकार आवेशरूप शिव की शक्तिरूपा पार्वती की तो जननी और स्वामिनी हैं, परंतु अवतीर्ण होने पर लोकव्यवहार की दृष्टि से उनकी पूजा भी करती हैं।

माया के दो रूपों की भाँति ही सीता के भी दो रूप हैं—विद्यारूप और अविद्यारूप। विद्यामाया सीता के कार्य द्विविध हैं—जगत की सृष्टि आदि एवं जीव का क्लेशहरण तथा श्रेयस्करण।[8] उनके ये सभी व्यापार जीव के मंगल के लिए हैं। विश्व के स्थितिस्थापक युगधर्म राममाया की प्रेरणा से ही संपन्न होते हैं।[9] माया के इस शिवात्मक पक्ष पर बल देने के लिए तुलसी ने विश्वमूला माया भवानी या सीता को जगज्जननी भी कहा है[10]। 'जननी' में जनयितृता के साथ ही वत्सलता भी है। इसीलिए वे पुरुषकाररूपा भी हैं। वे भक्तों की क्लेश-हारिणी एवं सर्वश्रेयस्करी हैं। वे रामभक्ति की प्राप्ति में भक्त की अमोघ सहायता करती हैं। अपने इस कीर्तनीय धर्म के कारण ही वे भक्तिस्वरूपा मानी गयी हैं।[11] अविद्यारूप में वे

बंदौं सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ॥ —रा० १।१८

अर्थो विष्णुरियं वाणी—वि० पु० १।८।१८: वागर्थाविव संपृक्तौ···पार्वतीपरमेश्वरौ। —रघुवंश, १।१

१. आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला। —रा०१।१४८।१; दे०—अ० रा० ३।४।४०-४१

२. उद्‌भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोहं रामवल्लभाम् ॥ —रा० १।१। श्लोक ५
मि० दे०—सी० उ० ७, रा० उ० ता० उ० २।७, अ० रा० १।१।३४, २।५।२३
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ॥ —रा० २।१२६। छं०

३. वि० ४१।४, कवि० १।१५, रा० १।१८।४, १।२४६।१, १।२४७।१, ६।६२, ७।२४।५; दे०—प० पु० ६।२४२।३३९, ६।२४३।२९

४. जासु अंस उपजहि गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई ॥ —रा० १।१४८।२

५. रा० १।२४७।३

६. रा० १।२८९, ६।१०७।छं०, कवि० ७।२७; रा० १।१४८।२, ७।२४।५

७. रा० १।१४८।२, ७।२४।५; रा० २।११८।१; रा० १।२३५।२-४

८. रा० १।१। श्लोक ५, २।१२६।छं०; प० पु० ६।२४३।२८

९. नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदयँ राम माया के प्रेरे ॥ —रा० ७।१०४।१

१०. क्रमशः—वि० १५।१, १६।१, रा० १।४८।१; रा० १।२४७।१, ६।६२

११. लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु ॥—रा० २।२३९

दुष्टविमाहनशीला है। धनुषयज्ञ में आये हुए मूढ़ राजा और रावण आदि राक्षस उनके अविद्या-रूप से ही मोहग्रस्त हुए थे[१]। तात्पर्य यह है कि वे भक्तों के लिए विद्यारूपा हैं और अभक्तों के लिए अविद्यारूपा। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है—जब सीता और माया एक ही है तब फिर माया-सीता का हरण[२] कैसा ? 'माया सीता' का अर्थ-निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो यह कि रावण ने मायारूपी सीता का हरण किया और दूसरे यह कि वास्तविक न होते हुए भी रावण को वास्तविक प्रतीत होने वाली अर्थात् भ्रांतिकारिणी सीता का हरण हुआ। माया के सभी रूप सीता की माया में समाहित हैं।[३] एक और शंका उठती है—जो सीता स्वयं माया हैं उनकी माया कैसी? इसका समाधान यह है कि राम के संबंध से सीता उनकी शक्ति हैं, माया हैं। परंतु जीव की व्यावहारिक दृष्टि से, सीता की भी अपनी दिव्य, अलौकिक शक्ति है; वही उनकी माया है। राम की शक्ति सीता की भाँति शिव की शक्ति भवानी भी माया हैं।[४]

विश्वरचना की दृष्टि से माया[५] अथवा सीता[६] और प्रकृति में तादात्म्य है। इसकी दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। सांख्य-शास्त्र में दार्शनिक तथ्य को आकर्षक और बोधगम्य बनाने के लिए त्रिगुणात्मिका प्रकृति की स्त्रीलिंग में कल्पना की गयी। औपनिषद ब्रह्म-भावना ने सांख्य के परस्पर भिन्न तत्त्वों प्रकृति और पुरुष में एकसूत्रता स्थापित की। परमात्मा को उनका मूल, आश्रय, नियामक आदि माना गया। प्रकृति (निर्गुण और सगुणब्रह्म के समन्वित रूप) ईश्वर की आज्ञाकारिणी मानी गयी। पौराणिक और धार्मिक विश्वासों ने रूपक या मानवी-करण का आश्रय लेकर उसे ईश्वर की पत्नी के रूप में परिकल्पित किया।[७] विभिन्न संप्रदायों में उसे विभिन्न नाम दिये गये। रामभक्ति-संप्रदाय में राम की आदिशक्ति माया या प्रकृति को 'सीता' कहा गया। उनमें अनार्य देवियों, केवलाद्वैतवादी वेदांतियों की अविद्यारूपा या अज्ञानरूपा माया, वैष्णव वेदांतियों की विद्यारूपा या लीलारूपा माया, सांख्यों की मूलप्रकृति आदि की भावनाओं का समन्वय हुआ। वेदांत की माया और सांख्य की प्रकृति की सभी विशेषताएँ सीता में संनिविष्ट हुईं।

राम और त्रिदेव—

राम का तटस्थलक्षण बतलाते हुए यह कहा गया था कि वे जगत् के कर्ता, भर्ता एवं संहर्ता हैं। पौराणिक परंपरा के अनुसार तुलसी ने ब्रह्मा को विश्व-प्रपंच का रचयिता, विष्णु को

---

१. अन्यत्र बतलायी गयी माया की पाँच विधाएँ (विद्या, अविद्या, संधिनी, संदीपिनी तथा आह्लादिनी—वि० १५४ पर वियोगी हरि की टीका) उपर्युक्त दो में ही समाविष्ट हैं।

२. पुनि माया सीता कर हरना। श्री रघुबीर बिरह कछु बरना ॥ — रा० ७।६६।३

३. माया सब सिय माया माहूँ।—रा० २।२५२।२

४. वि० १५।१, रा० १।८१; दे०—ना० पु० १।३।१३-१४

५. भा० पु० ६।१६।११ (इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिदुरत्यया); ना० पु० १।३।१५, २७

६. मूलप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिः स्मृता। प्रणवप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिरुच्यते ॥—सी० उ० २
सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता। प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिन: ॥—सी० उ० ८; रा० उ० ता० उ०, ८
मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम्। — अ० रा० १।१।३४

७. विष्णुपत्नि महामाये…लोकमातर्नमोऽस्तु ते ॥ — भा० पु० ६।१६।६

जगत्राता और शंभु को संहारक भी माना है।[1] उनकी त्रयी का बहुधा उल्लेख[2] करके उनके महिमामय पद का संकेत किया है। व्यवहारत: विश्व के सर्जन, पालन तथा संहार के लिए भगवान् ही तीन रूपों में व्यक्त होते हैं जिन्हें क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहा जाता है।[3] वे ही रजोगुणविशिष्ट ब्रह्मारूप से जगत् की रचना, सत्त्वगुणविशिष्ट विष्णुरूप से उसका पालन एवं तमोगुणविशिष्ट रुद्ररूप से उसका संहार करते हैं।[4] वे तीनों एक ईश्वर की ही त्रिधा कल्पित शक्तियाँ हैं।[5] वे परमात्मा से अभिन्न हैं।[6] गुण और उपाधि के भेद के कारण उनमें भेद परिलक्षित होता है।[7] तुलसी ने कहीं पर राम को, कहीं पर उनकी शक्तिरूपा माया या सीता को और कहीं पर ब्रह्मा आदि को जगत् का कर्ता आदि माना है। यह वचनविरोधाभास परिहार्य है। मूलतः राम ही जगत् के कर्ता आदि हैं। उनके ही बल और प्रेरणा से उनकी शक्ति माया ये कार्य संपन्न करती है। इसलिए माया के कर्तृत्व आदि का भी व्यवहार होता है। माया-प्रेरित ब्रह्मा आदि स्थूल जगत् के सर्जन आदि का कार्यान्वियन करते हैं। अतएव उन्हें भी कर्ता आदि कहा जाता है। ब्रह्मा राम की अव्यक्त कारयित्री शक्ति के व्यावहारिक प्रतीक हैं, विष्णु पालयित्री शक्ति के और रुद्र संहर्त्री शक्ति के। भगवान् माया के द्वारा ब्रह्मारूप से सर्जन, विष्णुरूप से पालन तथा रुद्ररूप से प्रलय, और प्रलय के बाद पुनः ब्रह्मारूप से चराचरात्मक विश्व की यथापूर्व सृष्टि करते हैं।[8] इस प्रकार अनादि-अनंत सृष्टिचक्र चलता रहता है। तत्त्वतः भगवान् ही स्रष्टा और सृष्टि, पालक और पालित तथा संहर्ता और संहृत सब कुछ हैं।[9]

ब्रह्मा आदि का परमात्मा के साथ तादात्म्य-संबंध नहीं है। वे परमेश्वर नहीं हैं। तुलसीदास के मतानुसार वे उनके अवतार भी नहीं हैं। वे परमात्मा के अंशमात्र हैं।[10] वे जन्मादि-रहित नहीं हैं। राम उनके जनक हैं।[11] वे राम के अंश से उत्पन्न हैं।[12] ब्रह्मा की 'अज'[13] संज्ञा जगत् की सापेक्षता के आधार पर मानी गयी है। त्रिदेव भी सांसारिक जीवों की भाँति ही राम की माया से भयभीत रहते हैं।[14] उनकी शक्तियाँ सीमित हैं; वे अन्य भक्त जीवों की भाँति ही राम के

---

१. रा० १।७३।२, गी० ५।२५।२

२. रा० १।१४४।३, १।१४६।१; गी० १।६६।२, ५।३७।३

३. प० पु० ५।४६।८, कू० पु० १।१०।८०

४. अ० रा० २।५।१३-१४, वि० पु० १।२।६१-६३, भा० पु० १।२।२३, कू० पु० १।२२।२७-२८, ना० पु० १।३।२४, २।५८।४७, ब्र० वै० पु० ४।५।६६, भ० च०, पृ० १३५

५. प० पु० ५।४६।७, ब्रह्मपु० १३०।१०, कू० पु० १।१०।७७, वि० पु० १।६।५६-५७, १।२२।५८

६. भा० पु० ४।७।५०, ना० पु० १।२।२६, १।३।५, १।४।४२, कू० पु० २।५।३५

७. ना० पु० १।३१।६४, वायुपु० १।५४।६७, शि० पु० २।२।१६।६८

८. ना० पु० १।३१।६५-६६

९. सृष्टि-स्रष्टा—वि० ५३।७; स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च।
उपसंह्रियते चान्ते संहर्ता च स्वयं प्रभुः॥ —वि० पु० १।२।६७

१०. ना० पु० १।१।२, ब्र० वै० पु० ४।४१।६७

११. तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। —रा० १।१५०।३

१२. संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥ —रा० १।१४४।३; कू० पु० १।२२।७६

१३. रा० ३।६।३; वि० ४६।३, रा० ७।१०८।५

१४. सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव के हिलेखे माहीं॥ —रा० ७।७१।४
यद्यपि इस पंक्ति में तुलसी ने विष्णु का उल्लेख नहीं किया तथापि अन्यत्र उनकी संकुचित शक्ति का जो

सेवक हैं।[१] किंतु वे सामान्य जीवों से इस बात में भिन्न भी हैं कि उनमें अपने लोकविशेष की रचना, पालन एवं प्रलय करने की शक्ति है। यह और बात है कि उनकी यह शक्ति अपनी नहीं है, वे स्वतंत्र नहीं हैं। वे राम की माया (शक्ति) से ही जगत् के सर्जन आदि में प्रवृत्त एवं समर्थ होते हैं।[२] विधि की विधिता, हरि की हरिता तथा शिव की शिवता राम का ही प्रसाद है।[३] वे भगवान् राम के वशवर्ती हैं। उनकी गतिविधि राम के द्वारा ही संचालित है, उन्हीं के आदेशानुसार वे नामरूपात्मक जगत् की रचना आदि का संपादन करते हैं।[४] सौंदर्य में भी वे राम से हीन है।[५] लोकों की असंख्यता के अनुसार उनकी संख्या भी अनंत है।[६] प्रत्येक लोक का निर्माता एक ब्रह्मा, पालक एक विष्णु और संहारक एक शिव है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की भाँति ही उनकी शक्तिरूपा ब्रह्माणी, लक्ष्मी और भवानी भी राम की शक्ति सीता से उत्पन्न हैं; उनकी सेविकाएँ हैं; उनसे सौंदर्य में भी हीन हैं।[७]

ब्रह्मा—विश्व के रचयिता होने के कारण ब्रह्मा जगत्पिता कहलाते हैं।[८] यह ध्यान रखना चाहिए कि वे स्थूल जगत् के ही विधाता हैं। 'ब्रह्मसृष्टि' और 'विधिप्रपंच' शब्द उनकी स्थूल विश्व-रचना के ही द्योतक हैं।[९] ब्रह्मा की परिकल्पना के विषय में यह भी अवेक्षणीय है कि तुलसी ने उन्हें विष्णु या शिव के समान कहीं भी किसी भी दृष्टि से परमेश्वर नहीं माना है। इसका कारण यह है कि वैदिक इंद्र[१०] की भाँति ही ब्राह्म-संप्रदाय के ब्रह्मा की गरिमा भी तुलसीयुगीन सनातनधर्म की दृष्टि में घट चुकी थी। अतएव कवि ने उनकी आराधना को कोई महत्त्व नहीं दिया। ब्रह्मा की शक्ति का नाम **सरस्वती** है। राम या सीता की महिमा का प्रतिपादन करते हुए तुलसी ने ब्रह्मा की शक्ति के रूप में उसका उल्लेख अवश्य किया है।[११] किंतु विष्णु-शक्ति रमा अथवा शिव-शक्ति उमा की भाँति ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती का व्यापक वर्णन उन्होंने नहीं किया। जब ब्रह्मा की भजनीयता को ही गौरव नहीं दिया गया तब फिर उनकी प्रिया को आराध्य रूप में कैसे चित्रित किया जाता? वाणी की देवी के रूप में ही

निरूपण किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे भी माया के वशीभूत हैं।

१. कवि० ६।१२, रा० ५।५६क; गी० ३।१७।२, ५।११।३

२. जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ —रा० ५।२१।३

३. हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जो दई। —वि० १३५।३

४. जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥—रा० २।१२७।१;
देo— भा० पु० २।५।१७, २।६।३१, ब्र० वै० पु० १।१५।४६-४७

५. बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट भेष मुखपंच पुरारी॥ —रा० १।२२०।४

६. लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥ —रा० ७।८१।१

७. रा० १।१४८।२; रा० ७।२४।५; रा० १।२४७।३

८. जगतपिता बिरंचि (वि० २१४।३), अगजग मय जग मम उपराजा। —रा० ७।६०।३

९. रा० १।१८२।६; रा० २।२३१।४, ६।१०४।६; 'भागवतपुराण' (२।१०।३) में कहा गया है कि ईश्वर-प्रेरित क्षुब्ध गुणों से सूक्ष्म जगत् की उत्पत्ति 'सर्ग' है; विराट् पुरुष से उत्पन्न ब्रह्मा द्वारा विभिन्न चराचर सृष्टियों का निर्माण 'विसर्ग' है। और भी दे०— वि० पु० १।४।४९-५०

१०. भक्तिकाल तक पहुँचते-पहुँचते जितना पतन इंद्र का हुआ उतना किसी अन्य वैदिक देवता का नहीं। तुलसी ने तो पाणिनि के सूत्र 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (अष्टाध्यायी, ६।४।१३३) के सहारे बेचारे इंद्र को कुत्तों की श्रेणी में बिठा दिया—सरिस स्वान मघवान जुबानू। (रा० २।३०२।४)

११. रा० १।५४, १।१४८।२

सरस्वती का चित्रांकन तुलसी का अभीष्ट रहा है। कवि ने अपनी शब्दमयी काव्य-रचना के लिए उसकी वंदना की है।[1] भरत ने अपनी वाणी की सफलता के लिए उसका स्मरण किया; उसी की प्रेरणा से रावण ने हनुमान् की पूँछ में आग लगाने की आज्ञा दी।[2] मंथरा, भरत और कुंभकर्ण की मति फेरने के प्रसंगों में भी उसका उल्लेख किया गया है।[3] परंतु उसकी सर्वाधिक योजन अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों के संदर्भ में हुई है।[4]

'रामचरितमानस' की कतिपय काव्यधर्मानुप्राणित अतिशयोक्तियों को लक्ष्य करके यह आलोचना की गयी है[5] कि तुलसी ने सरस्वती को सूत्रधर राम की कठपुतली के रूप में अंकित करके और उसे दशरथ के रथ तथा राम के अश्व जैसी क्षुद्र वस्तुओं के वर्णन करने में भी असमर्थ बतलाकर उसकी तुच्छता प्रदर्शित की है।[6] इसी प्रकार इस बात पर भी आश्चर्य प्रकट किया गया है कि त्रिदेवों की महनीयता के समर्थक तुलसा ने **'मूरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सत'**[7] इस सोरठे में रामभक्त ब्रह्मा की अवांछनीय हीनता चित्रित की है।[8] हमारा निवेदन है कि काव्यमयी अत्युक्तियों को तर्क की कसौटी पर परखना युक्तिसंगत नहीं है। अतिशयोक्ति यथार्थाभिधान नहीं होती। यथार्थ न होने पर भी वह काव्य का शोभाकारक धर्म है। उक्त प्रसंगों में कवि का प्रयोजन रमणीयार्थप्रदिपादक ढंग से प्रस्तुत विषयों की अतिशयता प्रतिपादित करना है, न कि सरस्वती या ब्रह्मा की तुच्छता। ऐसा न मानने पर **'रामु न सकहिं नाम गुन गाई'**, अथवा **'जानहिं रामु न सकहिं बखानी'**[9] आदि के आधार पर तुलसी के सर्व-समर्थ परब्रह्म राम के विषय में क्या धारणा बनायी जाएगी?

विष्णु—विष्णु के द्विविध रूपों (परमेश्वररूप और लोकपालकरूप) की चर्चा अवतार-निरूपण के प्रसंग में की जा चुकी है। तुलसीदास वैष्णव थे, अतः उन्होंने त्रिदेवों में विष्णु को महत्तम स्थान दिया है। अनेक स्थलों पर शिव-विरंचि के साथ विष्णु का उल्लेख न करके भी उन्होंने विष्णु का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है।[10] उनके मतानुसार परमविष्णु और राम एक ही हैं। तदनुसार विष्णुशक्ति लक्ष्मी और सीता भी एक हैं।[11] तुलसीदास स्मार्त थे, अतएव विभिन्न हिंदू-संप्रदायों में प्रतिष्ठित अन्य देवी-देवताओं को भी यथोचित गौरव दिया। उन

---

१. रा० १।१। श्लोक १, १।१५।१, रा० न० १, जा० मं० १, रा० प्र० १।१।१

२. रा० २।२९७।४; रा० ५।२५।२

३. क्रमशः रा० २।१२; रा० २।२९५।१; रा० १।१७७।४

४. रा० १।१९५।१, १।३४२।१, २।२८३।२, २।३०७।१, ७।९।४ आदि

५. दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ तुलसीदास (अप्रकाशित), पृ० ९९

६. आलोचित प्रसंगों के संदर्भों के लिए दे०—रा० १।१०५।३, १।३०१।४, १।३१७।१

७. रा० ६।१६ सो०

८. दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ तुलसीदास (अप्रकाशित), पृ० १०७

९. क्रमशः—रा० १।२६।४; रा० २।२८९।१

१०. रा० १।३५५।३, ३।६।३, ४।२५, गी० १।७।३, ५।२२।२

११. बसै नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। —रा० १।२८९
अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा। —रा० ६।१०७।छं०
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ॥ —रा० ७।२४।४
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला रिझवै सुरमौरहि। —कवि० ७।२६
तुलसी कहु राम समान को आन है सेवकि जासु रमा घर की। —कवि० ७।२७

सबमें, युग की धर्मभावना के अनुरूप, शंकर-भवानी का स्थान अन्यतम है।

शंकर—शिव का विविध रूपों में निरूपण अनेक स्थलों पर किया गया है जिनमें 'विनय-पत्रिका', 'कवितावली' और 'रामचरितमानस' में की गयी स्तुतियाँ विशेष आलोकनीय हैं।[1] राम की भाँति ही शिव की महिमा अगम्य है।[2] वे 'बेदपार' एवं 'ग्यानगिरागोतीत' हैं।[3] वे भगवंत हैं,[4] सच्चिदानंद[5] ब्रह्म[6] हैं। करोड़ों सूर्यो के समान प्रकाशमान, विज्ञानघन, ओंकार-मूल, एक, तुरीय, निर्वाणरूप, व्यापक और विभु हैं।[7] विश्वात्मा,[8] विश्वरूप,[9] और सर्वभूताधिवास[10] हैं। सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, लोकनाथ या जगदीश[11] हैं। वे जगज्जनक हैं; विश्व उनके अंश से उद्भूत है।[12] वे विश्व के संहारक हैं, महाकाल के भी काल हैं।[13] वे निर्गुण, निराकार, कलातीत, निर्विकार, विरज, निरंजन निरुपाधि और निर्विकल्प हैं।[14] अच्युत, अकल, अखंड, अज, अमित और अविच्छिन्न हैं।[15] अकाम, अभोगी, अनघ तथा अनवद्य हैं।[16] वे निर्गुण होते हुए भी गुणनिधान हैं—सर्वसौभाग्यमूल, कल्याणराशि तथा करुणामय हैं।[17] कृपालु, आशुतोष, औढरदानी, दीनबंधु और अशरणशरण हैं।[18] मंगलप्रद, सर्वहितकारी एवं आनंददायक हैं।[19] अभयकर्ता, जनरंजन और खलताड़क हैं।[20] कामादि, अज्ञान, संशय, पाप एवं त्रिताप के निवारक हैं।[21] भावगम्य, भाववल्लभ, चतुर्वर्गदाता और त्रिभुवनगुरु हैं।[22] भक्तजनों के बंधु, गुरु, माता-पिता

१. वि०, ३।१३, ४६; कवि० ७।१४६-६८; रा० १।१। श्लोक २, २।१। श्लोक १, ६।१। श्लोक २-३, ७।१। श्लोक ३, ७।१०८। स्तुति
२. पा० मं० १२१, वि० १३।३, कवि० ७।१६०; दे०—भा० पु० ८।७।३१
३. वि० १२।३, पा० मं० १२१; रा० ७।१०८।२
४. वि० ३।१, कवि० ७।१५२; कू० पु० १।३३।३६
५. वि० १२।२ (सच्चिदानंदकंदं), कवि० ७।१५० (सच्चिदानंदघन); शि० पु० २।१।६।२७, ४।४१।१२, स्कन्दपु०, ब्रह्मखण्ड, ब्रह्मोत्तरखण्ड, १।१२, ब्रह्माण्डपु० ३।३६।११७, ब्रह्मपु० १२४।१३२
६. वि० १०।७, रा० ७।१०८।१; भा० पु० ८।७।२४, कू० पु० १।२६।७८, ८१-८२, २।६।५१, शि० पु०, २।१।६।२७, ५६
७. रा० ७।१०८।१-२, ५; वि० १०।४, ६-७; कू० पु० २।४।३१, २।६।३, ब्रह्माण्डपु० ३।३६।११७
८. जगदात्मा महेसु पुरारी। जगत जनक सबके हितकारी॥ —रा० १।६४।३
९. वि० १०।७; कू० पु० २।५।३७, ब्रह्मपु० १३०।२४, वामनपु० ६६।३०, ना० पु० १।१६।७८
१०. रा० ७।१०८।७; वामनपु० ६७।४०
११. क्रमशः—वि० ३।१, १०।६, ११।६, १२।४, ४६।२; दे०—कू० पु० १।३३।४०, २।५।३५, वायुपु० १।५४।६६, भा० पु० ८।७।२२, २४, ना० पु० १।१६।७८
१२. रा० १।६४।३, वि० १०।६; भा० पु० ८।७।२५, कू० पु० १।३३।३६, २।५।३१, २।६।२
१३. वि० ११।७, १२।४, रा० ७।१०८।२, ६; कू० पु० १।३३।३६, २।५।३१, २।६।२, ना० पु० १।१६।७८
१४. वि० १०।७, १२।३-४, १३।३, ४६।८, रा० ७।१०८।१-२; शि० पु० २।१।६।२७, ५६
१५. वि० १०।६-७, ४६।३, ८, रा० ७।१०८।५; शि० पु० २।१।६।२८, ना० पु० १।१६।७६-८०
१६. रा० १।६०।२, वि० ४६।३, कवि० ७।१५०-५१
१७. क्रमशः—वि० १२।५; वि० १०।५, ४६।२, वि० ६।१, रा० १।१। सो० ४, गी० १।८०।१
१८. क्रमशः—रा० ४।१। सो०ख; पा० मं० ३१; वि० ६।२; रा० १।५७।४; वि० १०।१
१९. क्रमशः—वि० १२।१, १३।१; रा० १।६४।३; वि० ४६।८, कवि० ७।१६४
२०. क्रमशः—वि० ११।१, कवि० ७।१५२; वि० १२।५, रा० १।७०।४; रा० ६।१। श्लोक ३
२१. वि० १२।१, ५, १३।४, कवि० ७।१५१, रा० ६।१।श्लोक २, ७।१०८।५
२२. वि० १२।१; कवि० ७।१५२; कवि० ७।१५६, १५८; रा० १।१११।३

सब कुछ हैं।[1] सकल चराचर उनके दासभक्त हैं; अपनी महिमा के कारण वे ब्रह्मा तथा विष्णु द्वारा भी वंदनीय हैं।[2] उनका नाम भक्तों के लिए कल्पवृक्ष है।[3] उनकी आराधना के बिना अन्य साधनाएँ व्यर्थ हैं।[4] उसके बिना भवविवेक और संतापनाश नहीं हो सकता; सुख शांति आदि अभीष्ट फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती; शिव से द्रोह करके ऐश्वर्य की कामना करना मूढ़ता है।[5]

भगवान् शिव की माया का नाम **भवानी** है।[6] वे शक्तिस्वरूपा, अजा, अनादि और अविनाशिनी हैं; वे स्वेच्छा से लीलावपु धारण करती हैं।[7] पार्वती के रूप में जन्म लेना उनका **अवतार** है।[8] साकाररूप में ही उन्हें शंभु की अर्धांगिनी कहा गया है। वे अंतर्यामिनी, सर्वज्ञ, स्वतंत्र एवं समस्त लोकों की स्वामिनी हैं।[9] वे महामूल माया हैं। यह असंख्यनामरूपात्मक जगत् उन्हीं की अभिव्यक्ति है। अतएव वे अनेक नामरूप वाली हैं।[10] वे विश्व का सर्जन, पालन और प्रलय करने वाली हैं।[11] यह प्रपंचात्मक विश्व उन्हीं से विकसता, उन्हीं में विलसता और उन्हीं में समा जाता है; उन्हीं के प्रसाद से विधि रचना करते हैं, विष्णु पालन करते हैं तथा शिव संहार करते हैं।[12] वे विश्वमूला और जनपालिका हैं—इसीलिए उन्हें जगज्जननी कहा गया है।[13] उनका यह रूप विद्यामाया का है। वे विश्वमोहिनी भी हैं—यह उनका अविद्यामाया का रूप है। वे मोद-मंगल की राशि, करुणामयी,कृपावती, जनानुकूल, प्रणतपालिका,एवं विनय-प्रेम की वशवर्तिनी हैं।[14] वे भक्तभयहारिणी हैं; भक्तों को पीड़ित करने वाले शुंभ, निशुंभ, महिष आदि दानवों का दलन करने के लिए भीमा, कराल कालिका, हैं; पुरुषार्थचतुष्टय, भुक्ति और मुक्ति, की वरदायिनी हैं।[15] वे मुनियों द्वारा ध्यात; सुरों, असुरों तथा नरों द्वारा सेवित और सीता द्वारा भी पूजित हैं।[16]

समन्वय-भावना—तुलसी द्वारा किये गये राम-सीता और शिव-भवानी के पूर्वोक्त निरूपण

---

१. बंधु गुरु जनक जननी बिधाता—वि० ११।८; मेरे माय बाप गुरु संकरभवानिये—कवि० ७।१६८
२. रा० १।१०७।४; वि० १२।२
३. जोग ग्यान वैराग्य निधि प्रनत कल्पतरु नाम। —रा० १।१०७
४. इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें।। —रा० १।७०।४
५. वि० १३।८, रा० ७।१०८।७; रा० १।२६७।१
६. तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु। —रा० १।८१
७. अजा अनादि सक्ति अविनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि।।
जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि।। —रा० १।९८।२
८. जगदंबा जहँ अवतरी सो पुर बरनि कि जाइ। —रा० १।९४
९. क्रमशः—गी० १।७२।२; रा० १।७२।४; रा० १।२३५।४; वि० १६।३
१०. विश्वमूलाऽसि···महामूल माया—वि० १५।१, अनेकरूपनामिनी—वि० १६।३
११. भव-भव विभव पराभव कारिनि। बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि।। —रा० १।२३५।४
१२. रचत बिरंचि, हरि पालत, हरत हर, तेरे ही प्रसाद जग, अग-जग-पालिके।
तोहि में बिकास बिस्व, तोहि में बिलास सब, तोहि में समात, मातु भूमिधरबालिके।। —कवि० ७।१७३
१३. वि० १५।१; वि० १५।३, रा० १।४८।१
१४. कवि० ७।१७३-७४, वि० १५।१, १६।३, रा० १।२३६।३
१५. वि० १५।३-४, १६।१-२, रा० १।२३६।१
१६. कवि० ७।१७३; वि० १६।१; रा० १।२२८।३, गी० १।७२

से यह स्पष्ट है कि उन्होंने राम की परात्परता का निर्वाह करते हुए वैष्णव, शैव और शाक्त मतों के भजनीय देवों का समन्वय स्थापित किया है। उन आराध्य देवों के स्वरूप, तटस्थलक्षण और दिव्य गुणों में बहुत-सी एकसमान विशेषताएँ बतलाकर, राम[१] एवं सीता[२] के द्वारा क्रमशः शिव तथा पार्वती की पूजा करा कर और राम के प्रति शिव[३]-पार्वती[४] के उत्कट भक्तिभाव की अभिव्यंजना करके उन्होंने इस समन्वयवादी सिद्धांत का प्रभावशाली उपस्थापन किया है। उनका कोई भी रामभक्त पात्र शिवद्रोही नहीं है। कवि और उसके राम के अतिरिक्त दशरथ, भरत, अवधवासियों आदि ने भी अपनी शिवभक्ति का यथास्थान परिचय दिया है।[५] उनके आदर्श शिवभक्त भी उदारचेता हैं, हरिनिंदक नहीं हैं।[६] जिन शिवभक्तों ने राम से द्रोह किया है उन्हें उसका दंड भोगना पड़ा है। रावण और काकभुशुंडि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।[७] इस समन्वयन में कुछ अन्य बातें भी ध्यान देने योग्य हैं। तुलसीदास बार-बार जोर देकर यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि राम ही परात्पर और परम आराध्य हैं। वैष्णवों के परमविष्णु, शैवों के परमशिव एवं शाक्तों की परमशक्ति उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। पुराणों में कहा गया है कि जो शिव है वही विष्णु है, जो विष्णु है वही शिव है।[८] एक ही परमेश्वर शैवों की दृष्टि में शिवरूपी और वैष्णवों की दृष्टि में विष्णुरूपी है।[९] दोनों में कोई भेद नहीं है।[१०] जो इन दोनों में भेद देखता है वह नरकगामी होता है; जो इन्हें एक समझता है वह आनंद और मुक्ति प्राप्त करता है।[११] भिन्न रूप से प्रतीत हरि और हर में विरोध नहीं है। शिव के हृदय में विष्णु एवं विष्णु के हृदय में शिव का वास है।[१२] तुलसी-साहित्य में 'हरि' और 'हर' का स्थान-स्थान पर युगपत् उल्लेख[१३] उनकी इसी घनिष्ठता का सूचक है।

---

१. रा० २।१०३।१, ६।२।३; दे०—रामद्वारा शम्भुस्तुति—ब्रह्मपु० १२३।१९५-२०६, विष्णुद्वारा महादेव-स्तुति—कू० पु० १।२६।७८-८३, नारायणद्वारा रुद्रस्तुति—कू०पु० २।१।३३-३५, शंकर से कृष्ण की उक्ति—ब्र० वै० पु० १।६।२६-३२, ४८-५३

२. रा० १।२२८।३, गी० १।७२

३. रा० १।५०।२, १।५१।४, १।१११।४, १।११६, १।११९।१, ६।११५ स्तुति, ७।१२६।१—७।१२९।३; दे०—शिवद्वारा रामस्तुति—प० पु० ६।२४३।२४-४१, शंकरद्वारा कृष्णस्तुति—ब्र० वै० पु० ३।३२।२७-६९, शिव द्वारा जनार्दनस्तुति—वायुपु० २।४७।४३-५०, रुद्र की उक्ति—वाराहपु० ७३।५१-५२

४. रा० १।१०९।४, १।११९।४, ७।१२९

५. रा० २।४४।४, गी० २।१।१; रा० २।१५७।४; रा० २।१, २।४।२

६. परम साधु परमारथ बिंदक। संभु उपासक नहिं हरि निंदक ॥ —रा० ७।१०५।२

७. रा० ६।९४।३-४, ६।१०४।५-६; ७।१०५-७।१०७

८. यः शिवः स स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स सदा शिवः। —स्कन्दपु०, ब्रह्मखण्ड, चातुर्मास्यमाहात्म्य, २२।१०•
हरिरूपी महादेवः शिवरूपी जनार्दनः। —ना० पु० १।११।३०

९. शिवस्वरूपी शिवभक्तिभाजां यो विष्णुरूपी हरिभावितानाम्।
सङ्कल्पपूर्वात्मकदेहहेतुस्तमेव नित्यं शरणं प्रपद्ये ॥ —ना० पु० १।२।२८

१०. हरिरूपधरं लिङ्गं लिङ्गरूपधरो हरिः। ईषदप्यन्तरं नास्ति भेदकृच्चानयोः कुधीः ॥ —ना० पु० १।६।४४
अन्तरं शिवविष्ण्वोश्च मनागपि न विद्यते। —स्कन्दपु०, काशीखण्ड, २३।४१

११. ना० पु० १।६।४८, १।१५।१५८-५९; ना० पु० १।६।४९, कू० पु० २।११।११४-१५

१२. शि० पु०, २।१।९।५५, २।१।१०।६

१३. रा० १।४।२, २।१६७, ६।३२।१; गी० १।११।४, ३।१५।२; ब० रा० २२

'विनयपत्रिका' की हरिशंकरी स्तुति में[1] तुलसी ने विष्णु और शिव का समन्वय करते हुए इसी सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है कि राम हरिशंकररूप[2] हैं। 'रामचरितमानस' के उपक्रम में 'रामाख्यमीशं हरिं'[3] कहकर उन्होंने राम में शिव और विष्णु का समन्वय प्रस्तुत किया है। उन्होंने अन्यत्र भी बतलाया है कि राम विष्णु हैं, रुद्र भी रामरूपी हैं।[4] इस प्रसंग में यह याद रखना चाहिए कि उनके मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् राम ही हैं। वे ही शिव और उनकी शक्ति के मूल स्रोत हैं। उनका मूल कोई नहीं है। इसीलिए राम के अंश से शिव आदि की उत्पत्ति तो बतलायी गयी है, किंतु शिव या शिव की शक्ति से राम या उनकी शक्ति सीता के प्रादुर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठा। 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका', 'कवितावली', 'पार्वतीमंगल' आदि में शिव-पार्वती का निरूपण समन्वयभावना से प्रेरित होकर ही किया गया है। कवित्व की दृष्टि से उन संदर्भों का उत्तम न हो पाना भी इस बात का प्रमाण है कि वे कवि के प्रतिपाद्य नहीं हैं। उसका मन उन प्रसंगों की रचना में यथेष्ट रूप से रमा नहीं है। जो वस्तु कर्तव्य समझ करके ही निबद्ध की गयी है उसमें काव्यसौष्ठव की उत्तमता का न होना स्वाभाविक है।

उमा-महेश राम के भक्त के रूप में ही चित्रित किये गये हैं, उनके भजनीय के रूप में नहीं। रामचरितमानस' में राम ने शिव को प्रणाम किया है, उनसे विनती की है, पार्थिव-पूजन किया है, लिंगस्थापनपूर्वक विधिवत् पूजा की है[5]; किंतु यह कहीं नहीं कहा गया कि शिवभक्ति राम का साध्य है। शिवपूजा का एक कारण यह है कि राम को शिव के समान कोई दूसरा प्रिय नहीं है—लिंगस्थापना के प्रसंग में इसका स्पष्टीकरण राम ने स्वयं कर दिया है। दूसरा कारण यह है कि तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। सनातन धर्म के मर्यादापालन तथा आस्तिक्यभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी उन्होंने शिवपूजन किया है। दूसरी ओर, शिव ने राम को उपास्य और रामभक्ति को अपना साध्य माना है।[6] रामद्रोही के विषय में तुलसी ने बल देकर यह कहलाया है कि सैकड़ों शंकर भी उसका त्राण नहीं कर सकते[7]; किंतु, शिवद्रोही के विषय में केवल इतना ही कि वह रामभक्ति का अनधिकारी है, नारकी है—

सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।
संकरबिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥[8]

तुलसी की दृष्टि में रामभक्ति साध्य है, शिव और देवी की भक्ति उसका साधन है। शिव की कृपा के बिना रामभक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।[9] इसीलिए कवि ने राम से उन दोनों की भक्ति

---

१. बि० ४९; मधुसूदनी व्याख्या में 'महिम्नस्तोत्र' के स्तुत्य हरि-हर दोनों माने गये हैं।
२. अनादिनिधने देवे हरिशंकरसंज्ञिते। अज्ञानसागरे मग्ना भेदं कुर्वन्ति पापिनः॥ —ना० पु० १।६।४५
३. रा० १।१ श्लोक ६; यहाँ पर 'ईश' शब्द शिव का और 'हरि' विष्णु का व्यंजक है।
४. व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो'''दास तुलसी प्रणत रावणारी॥ —वि० ५४।३,९
पाहि भैरवरूप रामरूपी रुद्र बंधु गुरु जनक जननी बिधाता॥ —वि० ११।८
५. क्रमशः —रा० ६।११९ क; रा० १।७६; रा० २।१०३।१; रा० ६।२।३
६. रा० ६।११५।स्तुति
७. राम कें रोष न राखि सकैं तुलसी बिधि श्रीपति संकरु सौ रे। —कवि० ६।१२
८. रा० ६।२।४-दोहा
९. बिनु तव कृपा राम-पद-पंकज सपनेहुँ भगति न होई॥ —वि० ९।२

की प्रार्थना न करके उन दोनों से रामभक्ति की ही याचना की है।[1] स्वयं राम ने भी शिवभक्ति को अपनी भक्ति का साधन बतलाया है—

औरौ एक गुपुत मत सबहि कहौं कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ॥[2]

तुलसी ने राम की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए (परब्रह्मस्वरूप) अवतारी और (लोक-मंगलकारी) अवतार राम का ही निरूपण किया है, शिव का नहीं। 'रामचरितमानस' में शिव के चरित का समावेश रामचरित की प्रस्तावना के रूप में, और उनका चरित्रांकन मानसी तथा वाचनिक रामकथा के प्रणेता के रूप में किया गया है। राम को कथानायक बनाकर शिव की वक्ता के रूप में और पार्वती की श्रोता के रूप में योजना की गयी है। इस प्रकार राम की आराध्यता को आगम-प्रमाण-संमत आप्त रूप देकर उसे शैवों और शाक्तों के लिए भी महनीय बनाने का प्रयत्न किया गया है। सती की शंका का शिव द्वारा समाधान[3] सभी सगुणराम-विरोधियों (शैवों, शाक्तों आदि) के संदेहवाद का निराकरण है।

सीता के द्वारा गिरिजापूजन कराकर तथा राम के प्रति सती-पार्वती की क्रमशः हेय अभक्ति और उपादेय भक्ति का अन्वयव्यतिरेकी निरूपण[4] करके समन्वयसाधनपूर्वक रामभक्ति की ही श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। यह लक्ष्य करने की बात है कि राम ने शिव की पूजा की है, पार्वती की नहीं; सीता ने पार्वती की पूजा की है, शिव की नहीं।[5] दूसरी ओर राम के प्रति पार्वती और शिव दोनों ही भक्तिमान् हैं। कारण यह है कि उन दोनों में से कोई परम आराध्य नहीं है। परम आराध्य केवल राम हैं। काकभुशुंडि की पूर्वकथा के प्रसंग में भी उज्जयिनी के परमार्थविदक शैव विप्र द्वारा शिव को रामभक्त[6] तथा रामभक्ति को शिव-सेवा का फल[7] बतलाकर, हरिद्रोही काकभुशुंडि को शिव से शाप और फिर रामभक्ति-प्राप्ति का वरदान दिलाकर[8], शैव-वैष्णव-समन्वय द्वारा रामभक्ति की श्रेष्ठता का निदर्शन किया गया है। इस प्रकार समन्वय करते हुए भी आद्योपांत इसी मान्यता पर बल दिया गया है कि राम स्वामी हैं, भजनीय हैं; शिव सेवक हैं, उनके दासभक्त हैं।

---

१. वि० ३।४, ७।५, ६।५, १०।६; १४।६, और १५।५, १६।३
२. रा० ७।४५; जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥—रा० १।१३८।४
३. रा० १।१०८।३-१।१११।२, १।११२।१-१।११६।४, ७।१२६।१-७।१२६।४
४. रा० १।५०।३-१।५७, १।११३।१...
५. 'होहु प्रसन्न महेस भवानी' (रा० १।२५७।३) में सीता ने पार्वती के साथ शिव का भी स्मरण किया है। इसमें दो बातें परिलक्ष्य हैं। सीता राम के दाम्पत्य संबंध की अभिलाषिणी हैं, अतएव उन्होंने केवल भवानी का स्मरण न करके दम्पती का किया। उन दोनों का स्मरण भी अन्य देवों के साथ किया गया है जो बहुदेववादी स्मार्तों की इस धारणा का पोषक है कि सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।
६. रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पावँर कै केतिक बाता ॥ —रा० ७।१०६।२
७. सिव सेवा कै फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई ॥ —रा० ७।१०६।१
८. रा० ७।१०७।२-४, ७।१०६।१-५

तृतीय अध्याय

चेतन जीव

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो मायाबस भएउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं।।[1]

जीव का लक्षण—प्राचीनों ने जीव का लक्षण-निरूपण अनेक प्रकार से किया है।[2] तुलसीदास के अनुसार सच्चिदानंदस्वरूप ईश्वर का अंश जीव[3] है। वह स्वरूपतः चेतन है; देहादि जड़ पदार्थों से भिन्न अजड़ है। 'अजड़' का अर्थ है—स्वयमेव प्रकाशमान।[4] तुलसीदास ने जीव के लिए 'जड़' विशेषण का भी अनेकशः व्यवहार किया है।[5] उन प्रसंगों में 'जड़' का अर्थ 'अज्ञानोपहित' है, 'अचेतन' नहीं। जीव नित्य[6] अर्थात् सर्वकालवर्ती है। उसके जन्म और मरण का व्यवहार उसके देहसंबंध और देहवियोग का ही द्योतक है।[7] वह वस्तुतः अविनाशी है।[8] जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नया धारण कर लिया करता है उसी प्रकार अनश्वर शरीरी जीव एक जीर्ण शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में संक्रमण कर जाता है।[9] वह सहज

---

१. रा० ७।११७।१-२

२. आत्मनः प्रतिबिम्बश्च देही जीवः स एव च, प्राणदेहादिभृद्देही स जीवः परिकीर्तितः; अविद्याप्रतिबिम्बितं (अवच्छिन्नं, उपहितं) चैतन्यम् ; अन्तःकरणप्रतिबिम्बितं (अवच्छिन्नं) चैतन्यम् ; अन्तःकरणाभासश्चेतनः, इन्द्रियविशिष्टशरीरवान् , प्राणधारणानुकूलव्यापाराश्रयः, शेषत्वे सति कर्ता, सुखादिसमवायिकरणम् , ज्ञान-दर्शनादिमान् ० दे०—सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह, पृ० ८७
अल्पज्ञश्चेतनोजः सततपरवशः सूक्ष्मतोत्यन्तसूक्ष्मो,
भिन्नो बद्धादिभेदैः प्रतिकुणपमसौ नैकधा सूरिवर्यैः।
श्रीशाक्रान्तालयस्थो निजकृतिफलभुक्तत्सहायोभिमानी,
जीवोऽसौ प्रोच्यते श्रीहरिचरणरते तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः॥ —वै० म० भा० गु० ७

३. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। —गीता, १५।७
अंशांशिनोर्न भेदश्च ब्रह्मन्वह्निस्फुलिङ्गवत्। —ब्र० वै० पु० १।१७।३७
यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा···तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः। —मु० उ० २।१।१

४. अजडत्वं नाम ज्ञानेन बिना स्वयमेव प्रकाशमानत्वम्। —तत्त्वत्रय, पृ० ९

५. वि० १७७।३, रा० १।१२।४, १।६९, ७।१११ ख

६. प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥ —रा० ४।११।३
दे०—अ० रा० ४।३।१४-१६, गीता २।२०-२४, भा० पु० ६।१६।८

७. नित्यत्वं सर्वकालवर्त्तित्वम्।···जन्म देहसम्बन्धो, मरणं देहवियोगः। —तत्त्वत्रय, पृ० १०
जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः। —भा० पु० ७।७।१८

८. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —गीता, २।२०

९. जोइ तनु धरौं तजौं पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान॥ —रा० ७।१०९ ग

सुखराशि है। तत्त्वतः देहजनित विकार से रहित होने के कारण निर्विकार[1], निर्मल, निरंजन और सहजानुभवरूप है।[2] ईश्वर का सहज स्नेही, चिरपरिचित और सँघाती है।[3] संक्षेप में, जीव के स्वरूप की ये ही विशेषताएँ हैं जिसकी विस्मृति और पुनः अनुभूति की चर्चा तुलसी ने प्रसंगानुसार की है। जीवों की सख्या अनंत है।[4] जीवस्वरूप-निरूपण के विविध प्रसंगों में तुलसी ने उसे अणु या विभु कहीं नहीं कहा। देहविशेष में सीमित होने के कारण उसे 'अणु' और संपूर्ण शरीर में व्याप्त होने के कारण 'विभु' कहा जा सकता है।

ईश्वर से विलग होने पर अविद्यामाया के कारण आत्मस्वरूप को भूल कर वह संसारी हो जाता है। उसकी अविद्यावच्छिन्नता पर बल देने के लिए ही राम ने लक्ष्मण से जीव का लक्षण बतलाते हुए केवल इतना ही कहा था—**'माया जीव न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव'**।[5] यद्यपि माया का बंधन मिथ्या है तथापि कोशकृमि, कीर और मर्कट की भाँति भ्रांत जीव माया का वशवर्ती होकर भव-कूप में पड़ा हुआ अनेक प्रकार के क्लेश सहता है।[6] जिस प्रकार गंगा से निकला हुआ गंगाजल मदिरा के संपर्क से कलुषित हो जाता है, किंतु गंगा में पुनः पहुँचकर पावनता प्राप्त कर लेता है; उसी प्रकार स्वरूपतः निर्मल अनीश जीव ईश्वर से अलग और मायोपहित होने के कारण मोहग्रस्त हो जाता है, किंतु ईश्वर की प्राप्ति होते ही पुनः स्वस्वरूपता

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ —गीता, २।२२
यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम्।
तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम्॥ —अ० रा० २।७।१०४

१. निर्विकारत्वं नामाचिद्विकारत्वेन विनैकरूपतयाऽवस्थानम्। —तत्वत्रय, पृ० १३

२. निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि अब आयो तहाँ।
निरमल निरंजन निरविकार उदार सुख तैं परिहर्‌यो।
निःकाज राज बिहाय नृप इव सपन कारागृह पर्‌यो॥ —वि० १३६।२

३. रा० १।२१७।२, वि० १९३।९, रा० १।२०।२; दे०—भा० पु० ११।११।६, श्वे० उ० ४।५-७

४. जीव अनेक (रा० ७।७८।४), अनेक प्रकारा (रा० १।५५।१), जीव निकाय (वि० १३६।४, रा० ३।१५।१)

५. रा० ३।१५

६. जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो॥
माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥
पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख-लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
भव-सूल, सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो॥
बहु जोनि जनम, जरा, बिपति, मतिमंद! हरि जान्यो नहीं। —वि० १३६।१
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥ —रा० ३।१५।३
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी॥ —रा० ७।११७।२-४
हम हमार आचार बड़ भूरि भार धरि सीस।
हठि सठ बरबस परत जिमि कीर कोसकृमि कीस॥ —दो० २४३
दे०—भा० पु० ३।३२।३८, ६।१७।१८, १०।५४।४५, ११।८।४१

प्राप्त कर लेता है।[1]

पार्वती की रामविषयक भ्रांति का निराकरण करते हुए शंकर ने जीव के छः धर्म बतलाये हैं—हर्ष, विषाद, ज्ञान, अज्ञान, अहमिति और अभिमान।[2] अनुकूल की प्राप्ति और प्रतिकूल की निवृत्ति से उत्पन्न सुखानुभूति 'हर्ष' है। इसी का विलोम 'विषाद' है। ईश्वर, माया, और निज के स्वरूप को जान लेना ही 'ज्ञान' है। इसके विपरीत भावना, सत् को असत् और असत् को सत् समझना 'अज्ञान' है। अपने को ईश्वर से भिन्न स्वतंत्र और समर्थ समझना 'अहमिति' है। देहादि जड़ पदार्थों में ममता आदि की बुद्धि रखना 'अभिमान' है। देहादिभिन्न चैतन्यस्वरूप जीवात्मा के जड़ देहादि से संबद्ध हो जाने को ही तुलसी ने **अभिमान, अभिमान की चित-ग्रंथि** अथवा **जड़-चेतन की ग्रंथि** कहा है।[3] इसी को उपनिषद्, पुराण आदि में 'हृदयग्रन्थि' कहा गया है।[4] इसे **आभ्यंतरि ग्रंथि**[5] कहकर तुलसीदास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह बंधन स्थूल शरीर का बंधन नहीं है; यह केवल मन की गाँठ है।

जीव कर्ता और भोक्ता है।[6] कर्मजन्य सुख-दुःख-स्वरूप फल का भोक्ता होने के कारण ही उसे 'संसारी' कहा जाता है। जीव का सुख-दुःख-भोक्तृत्व ही उसका संसारित्व है।[7] वह कर्म करने में स्वतंत्र किंतु फल भोगने में परतंत्र है। वह अपने कर्म के अनुसार ही फल का भोग करता है; कर्मवश विविध योनियों में जन्म लेता है; कर्म से ही उसे सद्गति मिलती है।[8] नैतिक दृष्टि से जीव के कर्म दो प्रकार के हैं—शुभ और अशुभ। इन्हीं को नामांतर से पुण्य और पाप भी कहा गया है। इनके फल क्रमशः सुख और दुःख हैं। जीव के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इस फल-भोग का नियामक ईश्वर है।

कर्मवाद—

तुससीदास ने 'कर्म' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है—किसी प्रकार की चेष्टा या क्रिया, उद्यम, शुभ कृत्य, कर्तव्य, नैतिक कर्तव्य, यज्ञ आदि वेदविहित धार्मिक कृत्य, प्रारब्ध या भाग्य आदि।[9] सनातन धर्म की मान्यता है कि जीवन में जो कुछ हो रहा है वह केवल संयोग नहीं है, घटनाओं का उच्छृंखल एवं अस्त-व्यस्त जमघट नहीं है। उस समस्त घटनाचक्र का एक निश्चित और नियमित विधान है, एक सुसंचालित क्रमबद्ध परंपरा है। 'कर्म' घटनाविशेष का ही सूचक नहीं है। उसका अर्थ है जीव की इच्छा, इच्छानुसार ज्ञान, ज्ञानानुसार क्रिया, क्रिया-नुसार फलभोग तथा इन सब की समष्टि। तुलसीदास ने भी किये गये कृत्य, उनके फलभोग एवं

---

१. रा० १।७०।१; मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥—रा० ३।३६।५

२. हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥ —रा० १।११६।४

३. मोहि जानि अति अभिमानबस प्रभु कहेउ राखि सरीरही॥ —रा० ४।१० छं० १
चित ग्रंथि अभिमान की—वि० २०६।४; जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। —रा० ७।११७।२

४. मु० उ० २।२।८; भा०पु० ३।२६।२, ११।३।४७, ब्र० वै० पु० २।६०।४०

५. बाहिर कोटि उपाय करिय अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै। —वि० ११५।१

६. वि० १३६।३-४, करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ —रा० २।२१९।२

७. सुखदुःखसंभोगः संसारः, पुरुषस्य च सुखदुःखानां संभोक्तृत्वं संसारित्वम्। —गीता, १३।२० पर शा० भा०

८. रा० २।१२।२, २।९२।२; रा० २।२४।३, ४।१०।छं० २; रा० ३।३१।४

९. क्रमशः दे०—रा० २।२१९।२, वि० २५९।४; कवि० ७।६६; वि० १०९।३; दो० ४१४; वि० २३६।१, ३६४।३; कवि० ७।८४, वि० ५२।८; रा० १९७।४, २।६९।३

तज्जन्य संस्कारों के संमिलित प्रवाह, आवर्त या चक्र के लिए 'कर्म' शब्द का व्यवहार किया है। **'करम की डोरी', 'करमजाल', 'करमकोल्हुन्ह'** आदि प्रयोगों में प्रस्तुत शब्द इसी अर्थ का व्यंजक है।[१] उपर्युक्त समष्टि (कर्ता जीव की समस्त गतिविधि) का संचालन करने वाली शक्ति को भी उन्होंने 'कर्म' कहा है।[२] 'कर्म' का सामान्य प्रचलित अर्थ है—जीव की चेष्टना। केवल शारीरिक कर्म, क्रियमाण कर्म, प्रारब्ध कर्म आदि के लिए 'कर्म' का प्रयोग लाक्षणिक है। अधिष्ठान-माध्यम की दृष्टि से कर्म तीन प्रकार के हैं—मानसिक, वाचिक और शारीरिक। जब तुलसी मन, बचन और कर्म का उल्लेख करते हैं तब उनका अभिप्राय इन्हीं तीन प्रकार के कर्मों से रहता है और 'कर्म' शब्द शारीरिक कर्म का द्योतन करता है।[३] कर्म-फल दो प्रकार के हैं—सुख तथा दुःख।[४] इन्हीं को आह्लाद और परिताप भी कहा गया है। इनके हेतु या बीज क्रमशः पुण्य और पाप हैं।[५] शुभ-अशुभ, सुकृत-दुष्कृत, सुकर्म-दुष्कर्म तथा धर्म-अधर्म इन्हीं के पर्यायवचन हैं।[६] 'सुपंथ' और 'कुपंथ'[७] भी इसी अर्थ के ज्ञापक हैं। पहले का फल सुख और दूसरे का फल दुःख है। पूर्वदेह को त्याग कर जीव अपने कर्म के अनुसार ही स्वर्ग या नरक में पहुँचता है।[८]

जीव की तीन शक्तियाँ हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। तदनुसार कर्म के तीन भेद हैं—कामना, चिंतन और चेष्टना जिनसे, क्रमशः, जीव की तीनों शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं। कामना सबका मूल है। वह चिंतन को प्रेरित और संचालित करती है। उससे प्रेरित तथा निर्णीत चिंतन चेष्टना के रूप में अभिव्यक्त होता है। कामनाएँ जीवात्मा को फल की ओर खींच ले जाती हैं और उसके भावी जीवन का विधान करती हैं।[९] यह फलासक्ति ही बंधन है।[१०] फलार्थी जीव स्वनिर्मित कर्मगुणों से बँधा हुआ शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता रहता है।[११] ज्ञान जीवात्मा की कारयित्री शक्ति है। इस जन्म के चिंतन के अनुसार ही उसके अगले जन्म का रूप निर्मित होता है; चिंतन के अनुसार ही जीव चेष्टना में प्रवृत्त होता है और अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप उसे भोग की प्राप्ति होती है।[१२] सारांश यह कि जीव जैसी कामना करता है, जैसा चिंतन करता है, जैसा आचरण करता है, उसी के अनुसार ही उसके अगले जन्म की पारिपार्श्विक अवस्था का निर्माण और नियमन होता है।

---

१. वि० ९८।२, १३६।३; वि० १३६।४; वि० १४३।२
२. वि० १६१।३, रा० २।२८२।२, कवि० ७।१२६
३. रा० १।१५६।१, वै० सं० ५, वि० ७५।१
४. रा० १।६।३, २।९२।२
५. दे०—यो० सू० २।१४ और उस पर व्यासभा०; वै० सं० ५, रा० १।६।३
६. रा० १।१३७।२, ७।११७ क; रा० १।१६।३, ४।१६।३; रा० १।२।६, वि० २२।८; रा० ७।१०४।३, वि० २४९।४
७. रा० ४।७।२, कवि० ७।२९, दो० ५५६
८. पूर्वदेहं परित्यज्य जीवः कर्मवशानुगः।
स्वर्गं वा नरकं वापि प्राप्नोति स्वकृतेन वै ॥ —देवीभागवतपु० ४।२१।२२-२३
९. मु० उ० ३।२।२, बृ० उ० ४।४।६
१०. अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते। —गीता, ५।१२
११. यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी करोत्ययं कर्मफले निविष्टः।
तथा तथायं गुणसम्प्रयुक्तः शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति ॥ —महा०, शान्ति० २०१।२३
१२. छा० उ० ३।१४।१; बृ० उ० ४।४।५

फल-भोग की दृष्टि से जीव के कर्म त्रिविध हैं—संचित, प्रारब्ध और वर्तमान।[1] अनेक जन्मों में किये गये प्राक्तन कर्म को 'संचित' कर्म कहते हैं।[2] जीव के देह-धारण करते समय काल संचित कर्मों के जिस अंश के भोग के लिए उसे प्रेरित करता है उसे 'प्रारब्ध' कहते हैं।[3] 'वर्तमान' कर्म वह है जो क्रियमाण (इस समय किया जा रहा) है।[4] संचित कर्म उस कच्चे फल के समान है जो भोग के योग्य नहीं हुआ। प्रारब्ध कर्म पका हुआ फल है जो भोग के योग्य है। इस जन्म का जो प्रारब्ध कर्म है उसको भोगना ही पड़ेगा, बिना भोगे उसका क्षय नहीं हो सकता। वह तो धनुर्मुक्त बाण है जो लक्ष्य को बेध कर ही रहेगा। कर्मवासनाएँ जन्मजन्मांतरों तक बनी रहती हैं। और जब तक चित्तवृत्तियों का आत्यंतिक नाश नहीं हो जाता तब तक जीव को अपने कर्म-संस्कारों का फल (पुनर्जन्म, आयु और भोग के रूप मे प्रारब्ध होकर) मिलता रहता है।[5] इसी का नाम 'कर्मविपाक'[6] है। किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है, बिना भोगे उनका क्षय नहीं हो सकता।[7] यही नहीं, सुकृत करते हुए भी पापों का अंत नहीं होता। अतएव मुक्ति के लिए शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों एवं उनके फलभोगों का आत्यंतिक नाश आवश्यक है।

दैव-पुरुषकार-वाद के संबंध में तुलसी की उक्तियाँ तीन प्रकार की हैं। १. कहीं-कहीं पर उन्होंने पुरुषार्थवाद की असंदिग्ध प्रतिष्ठा की है।[8] लक्ष्मण ने दैववाद का सशक्त विरोध करते हुए बड़े ही ओजस्वी शब्दों में उद्घोष किया है कि दैववाद कायरों तथा आलसियों की जल्पना मात्र है, वीर पुरुष को उसके भरोसे न रहकर पराक्रम करना चाहिए।[9] ज्ञान के प्रतीक वृहस्पति ने भी इसी सिद्धांत का समर्थन करते हुए कर्म को प्रधानता दी है, उसे ही फलभोग का हेतु बतलाया है।[10] अन्यत्र भी कर्मानुसार फलप्राप्ति की चर्चा की गयी है।[11] २. कहीं-कहीं पर दैववाद, विधिवाद या भाग्यवाद[12] का उपस्थापन है। समस्त जीव शतरंज के शक्तिहीन मोहरे

१. उदाहरणार्थ—रा० १।२५५।४; रा० २।१५५।२, दो० २४९; वि० ८९।१, ११७।१
२. अनेकजन्मसंजातं प्राक्तनं संचितं स्मृतम्। —देवीभागवतपु० ६।१०।९
३. संचितानां पुनर्मध्यात्समाहृत्य कियत्किल। देहारम्भे च समये कालः प्रेरयतीव तत्।
प्रारब्धं कर्म विज्ञेयं···। देवीभागवतपु० ६।१०।१३-१४
४. क्रियमाणं च यत्कर्म वर्तमानं तदुच्यते।— देवीभागवतपु० ६।१०।१२
५. दे०—यो० सू० २।१२-१३, ४।८ और उन पर व्यासभा०, तत्त्ववैशारदी तथा भोजवृत्ति
६. रा० प्र० ७।६।५
७. महा०, शान्ति० १८१।१६
८. काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निजकृत करम भोग सबु भ्राता॥ —रा० २।९२।२
९. नाथ दैव कर कौन भरोसा। सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥ —रा० ५।५१।२
दे०—यो० वा० २।४।१०, २।५।२०, २।७।३; महा०, शान्ति० १३९।८२; हितोपदेश, प्रस्ताविका, ३१
१०. करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ —रा० २।२१९।२
११. रा० २।९६।३, वै० सं० ५, गी० ६।४।३, वि० १७३।२; दे०—यो० वा० २।७।१९, २।८।१६, भा० पु० १०।२४।१३, १७, ११।३।६-७, १८, २०, ना० पु० १।८।८६, ब्र० वै० पु० २।२४।१७-१९, २।३६।६७, २।६०।२५, २।६०।२८-३०, ३।११।१९-२१, ३।१२।१९-२८, ४।६६।६-८
१२. तुलसी जसि भवितब्यता तैसी मिलै सहाइ।
आपु न आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥ —रा० १।१५९ ख, दो० ४५०;
—दे०—वि० पु० १।१९।४३-४५

हैं। वे स्वतः कुछ कर सकने में असमर्थ हैं। उनकी गति राम के अधीन है।[१] 'मानस' के शंकर की मान्यता है कि राम ने जो कुछ (जीव के लिए) रच रखा है वही होकर रहेगा, उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता।[२] जिस पर राम की कृपा होती है उसी के कर्म सफल होते हैं।[३] वे जीव को कठपुतली की भाँति नचाते हैं।[४] काकभुशुंडि ने भी कहा है कि सकल जीव-समुदाय नट-राम के संकेत पर मर्कट की भाँति नाच रहा है।[५] याज्ञवल्क्य भी हरि-इच्छा को बलवान् बताकर इसी मत का अनुमोदन करते हैं।[६] अन्य पात्रों ने भी अनतिक्रमणीय नियामक दैव की महिमा व्यक्त की है।[७] कर्म की गति गहन और कठिन है; वह जीव को बलात् भरमाता रहता है; उस पर जीव का कोई वश नहीं।[८] विधि का लिखा अमिट है।[९] भावी बड़ी प्रबल होती है, जीव को मजबूरन उसके अनुसार कर्म करना पड़ता है।[१०] भगवान् की गति अत्यंत विचित्र है—अपराध कोई और करे, दंड किसी और को भोगना पड़े![११] ३. कहीं-कहीं पर उपर्युक्त विरोधी मतों में समन्वय की स्थापना की गयी है। ईश्वर या विधाता जीव को उसके कर्मानुसार सुखदुःखरूप उचित फल प्रदान करता है।[१२] इसका तात्पर्य यह हुआ कि जीव कर्म करने में स्वाधीन किंतु फल भोगने में पराधीन अर्थात् ईश्वराधीन है।

यह बात विशेषरूप से लक्ष्य करने योग्य है कि तुलसीदास ने विधिवाद का उल्लेख प्रायः आपत्ति की परिस्थितियों में ही किया है। यह मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने प्रयत्नों की विफलता से हताश हो जाने पर भाग्यवादी बन जाता है। कवि की एतादृशी अभि-व्यंजना इस निष्कर्ष का पोषण करती है कि भाग्यवाद उसका सिद्धांत नहीं है; इस प्रकार की निबंधना का एक मुख्य कारण काव्यधर्म है।

दैववाद के प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब ईश्वर ही जीव तथा उसके कर्म का

---

१. सतरंज को सो राज, काठ को सबै समाज, महाराज बाजी रची—वि० २४६।४
२. होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥ —रा० १।५२।४
३. तुलसी उद्यम करत जुग जब जेहि राम सुडीठि। होइ सुफल सोइ ताहि सब —दो० ७५
४. उमा दारुजोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥ —रा० ४।११।४
५. नट मर्कट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥ —रा० ४।७।१२
   तु० दे०—भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ —गीता, १८।६१
६. भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान। —रा० १।१२७
   राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ —रा० १।१२८।१
७. रा० २।१८।४, २।२१।१, ६।९९।४; दे०—प० पु० २।८१।६६
८. रा० २।९९।४; वि० १०३।३, रा० १।७।१; कृ० ३४
९. जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥—रा० १।६८
१०. रा० १।६२।४, २।१७१; दे०—ब्र० वै० पु० ३।१६।३, प० पु० २।९४।११
११. औरु करै अपराधु कोउ, और पाव फल भोगु।
   अति बिचित्र भगवंत गति, को जग जानइ जोगु॥ —दो० २४१, रा० २।७७
   कर्मवाद की दृष्टि से इस असंगति का एक समाधान तो यह है कि अपराधी व्यक्ति से संबंध रखना भी कर्म है और जीव उसका फल भोगने के लिए विवश है। दूसरा समाधान यह है कि जब जीव फलभोग और उसके कारणरूप कर्म का संबंध नहीं समझ पाता तब वह भोग उसे दूसरे के कर्म का फल प्रतीत होता है।
१२. सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी॥
   करइ जो करमु पाव फलु सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई॥ —रा० २।७७।४

स्वामी है, उसे नचाने वाला उत्प्रेरक है; पराधीन जीव ईश्वर और उसकी माया की प्रेरणा से ही कर्म करता है; तब फिर भगवान् की सृष्टि में जीवों के सुखदुःख में वैषम्य क्यों है। उत्तर यह है कि ईश्वर अन्यायी नहीं है। सारी सृष्टि उसी की है। उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। जीव के अपने शुभाशुभ कर्म ही असमानता के लिए उत्तरदायी हैं। जीवों के शुभाशुभ कर्मों का वैषम्य या तारतम्य ही वैषम्य-सृष्टि का वास्तविक कारण है। ईश्वर तो निमित्तमात्र है।[1] इस संबंध में दूसरा प्रश्न उठता है—जब जीव का कर्म ही वैषम्य का कारण है तब फिर जीव का सर्वप्रथम दुःख या वैषम्य किस कर्म का विपाक था? दार्शनिकों के पास इसका एक ही पेटेन्ट उत्तर है—संसार अनादि है।[2]

कर्म की ग्रंथि जीव ने अपने हाथ से दी है।[3] वह कर्म करने में स्वतंत्र है। ईश्वर उसके पूर्व-संस्कारों के अनुसार ही उसे शासित करता है। फल-भोग में वह स्वतंत्र नहीं है। शुभाशुभ फलों की प्राप्ति उसे ईश्वर से ही होती है। इसीलिए शांडिल्य और नारायण तीर्थ ने कहा है कि जीव के कर्म फल के हेतु न होकर भगवान् के प्रसाद-कोप के हेतु हैं। अर्थात् उसके शुभ कर्मों से प्रसन्न परमात्मा उसे सुख, स्वर्ग आदि प्रदान करता है और अशुभ कर्मों से रुष्ट होकर दुःख, नरक आदि।[4] तुलसी ने कर्म की उत्पत्ति जीव से न मानकर ईश्वर से मानी है।[5] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्म अनादि है, किंतु उसका अनादित्व प्रवाह-अनादित्व है, अजन्यत्वरूप नहीं।

कुछ विद्वान् दैव को, कुछ स्वभाव को, कुछ पुरुषकार को और कुछ उनके संयोग (समुच्चय) को इष्टानिष्टलक्षणा फलप्राप्ति का कारण मानते हैं।[6] वस्तुतः जीव का पौरुष ही अन्य तीनों का निर्णायक है। पौरुष ही प्रधान है।[7] कर्म के द्वारा जीव इंद्रत्व, गणेशत्व और शिवत्व तक प्राप्त कर सकता है।[8] पुरुषकार के दो प्रकार हैं—ऐहिक तथा पौर्वदेहिक (अथवा अद्यतन और प्राक्तन)।[9] जो पौरुष इसी शरीर और इसी लोक से संबद्ध है, जो अपने फल के कारणरूप में हमें दिखलायी पड़ता है, वह ऐहिक अथवा अद्यतन है, उसी को सामान्यतः 'पौरुष' कहा जाता है। जिस पौरुष और फल का कार्यकारण-संबंध हम स्थापित नहीं कर पाते, जो पौरुष पूर्वदेहार्जित है, उसे 'प्राक्तन' कहते हैं। प्राक्तन पौरुष का ही नाम 'दैव' है।[10] उसी को तुलसी ने 'पूरब करम' भी कहा है। कर्मसिद्धि की व्यवस्था का आधार केवल पुरुषकार ही नहीं है, दैव भी है। लोक में अल्प प्रयत्न से या बिना प्रयत्न के ही महान् फलों की प्राप्ति का कारण पूर्वजन्म में अर्जित

---

१. दे०—ब्र० सू० २।१।३४ और उस पर शा० भा० तथा रा० भा०

२. दे०—ब्र० सू० २।१।३५ और उस पर शा० भा० तथा रा० भा०

३. तैं निज करमडोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गाठि गहि दीन्हीं।। —वि० १३६।३

४. एवं शुभाशुभे फले प्रसादरोषाभ्यां स एव ददाति। पापपुण्ये तु तस्य प्रसादकोपौ प्रत्येव हेतू न फलं प्रतीत्याशयवानाह—शा० भा० सू० ३।१।७ पर भ० च० की अवतरणिका

५. माया जीव काल के, करम के, सुभाय के, करैया राम—हनु० ४४; दे०—ब्र० वै० पु० २।६०।३१

६. केचिद्दैवात्स्वभावाद्वा कालात्पुरुषकारतः।
संयोगे केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः।। —याज्ञ० १।३५०; दे०—ब्रह्माण्डपु० २।६०।२६-२७

७. दे०—यो० वा० के 'मुमुक्षुव्यवहार' प्रकरण का 'पौरुषप्राधान्यसमर्थन' नामक सप्तम सर्ग

८. देवीभागवतपु० ।। ६।२७।१८-२०

९. प्राक्तनं चैहिकं चेति द्विविधं विद्धि पौरुषं। —यो० वा० २।४।१७

१०. प्राक्तनं पौरुषं तद्वै दैवशब्देन कथ्यते। —यो० वा० २।६।३५

पौरुष (दैव) ही है।[1] जिस प्रकार एक ही पहिये से रथ नहीं चल पाता उसी प्रकार दैव के बिना केवल पुरुषकार से सिद्धि नहीं मिल पाती।[2] दैव तथा पुरुषकार दोनों अन्योन्याश्रित हैं।[3] दोनों के संयोग से ही सिद्धि प्राप्त होती है।[4]

याज्ञवल्क्य आदि की भाँति तुलसी भी संयोगवादी हैं। वे पुरुषार्थ, पूर्वकर्म (दैव) और परमेश्वर तीनों को ही फल-प्राप्ति का कारण मानते हैं।[5] ईश्वर प्रथम दो का संचालक और नियामक है। ईश्वर-बुद्धि से कर्म करने वाले जीव को पुरुषार्थ की सफलता पर अहंकार नहीं होता; उसकी निष्फलता पर उसे कुंठा नहीं होती। **'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'**, **'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'** आदि पंक्तियों में अभिव्यक्त भाग्यवाद की भी व्यावहारिक जीवन में मनोवैज्ञानिक उपयोगिता है। इस प्रकार की दैवभावना से युक्त कर्मकर्ता जीव अनागत भविष्य की दुर्दम्य कामनाओं एवं अतिक्रांत अतीत की खेद-खिन्नता से पीड़ित नहीं होता।[6]

'योगवासिष्ठ' में कहा गया है कि ऐहिक और प्राक्तन कर्मों में भेड़ों का-सा द्वन्द्व-युद्ध चला करता है। जो बलवत्तर होता है वह दूसरे पर विजय प्राप्त कर लेता है—कभी प्राक्तन कर्म ऐहिक को और कभी ऐहिक कर्म प्राक्तन को पछाड़ देता है। इस प्रकार ऐहिक कर्म के द्वारा प्राक्तन कर्म का परिवर्तन संभव है। अतएव जीव को यत्नपूर्वक सत्कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए।[7] तुलसीदास कर्म के द्वारा प्राक्तन कर्म, कर्मवासना या कर्मसंस्कार का नाश नहीं मानते। सत्कार्य करते रहने पर भी पाप रक्तबीज की भाँति बढ़ते ही जाते हैं।[8] प्रवृत्तिमार्गी जीव स्वभावतः अविवेकपूर्ण एवं विषयपरक कर्मों की ओर आकृष्ट होता रहता है।[9] ऐसे ही कर्मों को तुलसी ने **'कीच'** कहा है। जिस प्रकार मल से धोकर मल को दूर नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार कर्म के द्वारा कर्मवासना का नाश संभव नहीं है—

क. **छूटइ मल कि मलहि कें धोयें। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोयें॥**
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

ख. **करमकीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो॥**
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो॥

ग. **जनम अनेक किये नाना बिधि करमकीच चित सान्यो।**
होइ न बिमल बिबेक-नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो॥[10]

---

१. याज्ञ० १।३४९ और उस पर मि०; दे०—गीता, १८।१४

२. यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्। एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति॥—याज्ञ० १।३५१

३. दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात्।—महा०, शान्ति० १३९।८२

४. न हि दैवेन सिद्ध्यन्ति कार्याण्येकेन सत्तम।
न चापि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धस्तु योगतः॥—महा०, सौप्तिक० २।३

५. पुरुषारथ, पूरब करम, परमेस्वर परधान।
तुलसी पैरत सरित ज्यों सबहिं काज अनुमान॥ —दो० ४६८

६. दे०—महा०, शान्ति० १०४।२२

७. यो० वा० २।५।५, २।६।१०, २।८।४

८. करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ —वि० १२८।३

९. वि० ११५।१-४, ११८।१-३, १३२।२

१०. क्रमशः—रा० ७।४९।३; वि० २४५।३; वि० ८८।३

तुलसीदास की कर्म-विषयक इस मान्यता पर आक्षेप किया गया है—"जिस वेद की तुलसी बार-बार दुहाई देते हैं, वह उनके कर्म-सिद्धांत का समर्थन नहीं करता।...कर्म को कीचड़ कहना और उसे मल से मल को धोने की उपमा देना कम-से-कम साधना की दृष्टि से तो उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।"[1] इस आक्षेप का एक उत्तर तो पूर्वपक्ष का निरूपण करते हुए वहीं पर दे दिया गया है—"तुलसी कोरे कर्मवाद के समर्थक नहीं हैं। वे भक्तिविहीन कर्म के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते, जो कर्म भगवान् को ध्यान से हटाकर और उन्हें समर्पित किये बिना ही किये जाते हैं (**हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा**[2]) वे उनकी संमति में व्यर्थ हैं।' साधना-क्षेत्र में केवल कर्म को वे उत्थानकारक नहीं मानते।"[3] दूसरा उत्तर यह है कि तुलसी ने जिस कर्म को कीच कहा है वह अभिमानपूर्वक किया गया सकाम कर्म है, 'गीता'-प्रतिपादित निष्काम कर्म नहीं। स्वर्ग आदि की कामना से अनुष्ठित वैदिक यज्ञ आदि भी सकाम कर्म ही हैं, अतः वे भी जीव के कर्म-संस्कारों का उच्छेद करने में असमर्थ हैं। चित्त की निर्मलता के लिए भक्ति और विवेक की आवश्यकता है। तीसरा उत्तर यह है कि अपनी समझ से पुण्यकर्म करते हुए भी पाप हो सकता है। सुकर्म की प्रक्रिया में भी वासनाएँ उपजती रहती हैं, कर्माशय की सत्ता बनी ही रहती है। कर्म का भोग अनेक संस्कारों को जन्म देता रहता है। अतएव कर्म-प्रवाह का अवसान नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि देहधारी जीव विवश होकर कुछ-न-कुछ करता ही रहता है; वह कर्म का अशेषतः त्याग करने में समर्थ नहीं होता।[4] ब्रह्मा आदि भी जिस कठिन कर्म के वशवर्ती हैं[5] उससे मुक्ति पाना सरल नहीं है।

तुलसी की दृष्टि में कर्म के निरास के दो ही उपाय हैं—ज्ञान और भक्ति। द्रष्टा विद्वान् अपने बंधनरूप कर्मों को जलाकर निर्लेप हो जाता है।[6] स्वरूप-ज्ञान (आत्मानुभव) हो जाने पर कर्म की संभावना का अंत हो जाता है—**'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे।'**[7] विज्ञान-दीपक के प्रकरण में उन्होंने बतलाया है कि ज्ञान-योग की अग्नि में सभी शुभाशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं। अनासक्त कर्मयोग और पातंजल योग ज्ञान के ही अंतर्गत हैं, क्योंकि ज्ञान की अग्नि में कर्मों को दग्ध कर देने वाला पंडित ही फलासक्ति को त्याग कर कर्मयोग में प्रवृत्त होता है और विवेक-ज्ञानी योगी ही कर्माशय का नाश कर पाता है।[8] दूसरा उपाय भक्ति है। राम कर्म के भी कर्म हैं—कर्म उन्हीं का वशवर्ती है, उन्हीं से उत्पन्न होता है, उन्हीं के संयोग से बढ़ता है।[9] शाप, वरदान आदि की धारणाएँ भी कर्म के विषय में इस दैवी प्रभाव का द्योतन करती हैं। जीव पर राम की कृपा ही कर्म का संहार कर सकती है। राम-भक्त के स्पर्शमात्र से 'कर्म बिला' जाता

---

१. भक्ति का विकास, पृ० ७२७-२८
२. रा० ३।२१।४
३. भक्ति का विकास, पृ० ७२७
४, गीता, ३।५-६, १८।११
५. देवीभागवतपु० ४।२।८
६. मु० उ० ३।१।३ और उस पर शा० भा०
७. रा० ७।११२।२
८. गीता, ४।१९-२०; यो० सू० ४।२९-३०; भा० पु० ११।३।१२
९. कवि० ७।१२६; रा० ६।६।५; हनु० ४४; दो० २००

है।[1] भगवान् शंकर भावी को भी मेंट सकते हैं।[2] राम की दृष्टि फिरते ही विधाता की लिखी हुई ललाटलिपि लुप्त हो जाती है।[3] भगवान् की यह कृपा भक्ति से प्राप्य है। जहाँ भक्ति करने पर भी राम की कृपा नहीं होती वहाँ यह समझना चाहिए कि प्रारब्धकर्म प्रतिबंधक हैं। प्रतिबंधक का क्षय होते ही कृपा हो जाती है। यद्यपि राम क्रियमाण, प्रारब्ध और संचित तीनों ही प्रकार के कर्मों का नाश करके जीव को इच्छानुसार मुक्त कर देने में सर्वथा समर्थ हैं तथापि वे प्रारब्ध में प्रायः हस्तक्षेप नहीं करते। यह आस्तिक भक्त का विश्वास है। विश्वास के इस मंदिर में तर्क का प्रवेश निषिद्ध है।

ईश्वर और जीव—

कहा जा चुका है कि जीव ईश्वर का अंश है। अतएव ईश्वर के स्वरूप-लक्षण से संपन्न है। वह चेतन, सुखराशि और नित्य है। ईश्वर की भाँति ही वह भी निर्विकार, निर्मल, निरंजन और निरामय है। तथापि दोनों में तादात्म्य नहीं है। जीव ईश्वर नहीं है, ईश्वर के समान भी नहीं है। दोनों में शक्ति और मात्रा का बहुत भेद है।[4] जो ज्ञानाभिमानी जीव ईश्वर की बराबरी का दावा करता है वह कल्प भर नरक की दुर्गति भोगता है।[5] ईश्वर और जीव का भेद निम्नांकित तुलासारणी से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है—

ईश्वर	जीव
अंशी (रा० ७।११७।१)	अंशमात्र (रा० ७।११७।१)
एक (रा० १।२३।३)	अनेक (रा० १।५५।१)
मायापति (दो० २७६)	मायावश (वि० १३६।१)
मायाप्रेरक (रा० ३।१५)	मायाप्रेरित (रा० ७।४४।३)
ईश (रा० १।७०।१)	अनीश (रा० १।७०।१)
स्ववश (वि० १४६।५)	परवश (वि० १३६।३)
स्वतंत्र (रा० ६।७३।६)	ईश्वराधीन (रा० ६।६।५)
विश्व का कर्ता-भर्ता-संहर्ता (कवि० ७।१४६)	इस प्रकार की शक्तिमत्ता का अभाव
'काल कर्म सुभाव गुन भक्षक' (रा० ३।३५।४)	'काल कर्म सुभाव गुन घेरा' (रा० ७।४४।३)

१. मुख देखत पातक हरै, परसत कर्म बिलाहिं। —वै० सं० २४
२. संभु सहज समरथ भगवाना।···भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥ —रा० १।७०।२-३
३. राय दशरत्थ के समत्थ राम राजमनि तेरे हेरे लोपै लिपि बिधिहू गनक की। —कवि० ७।२०
४. ज्ञान अखंड एक सीताबर। मायावस्य जीव सचराचर॥
जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥ —रा० ७।७८।२-४
हौं जड़ जीव ईस रघुराया। तुम मायापति, हौं बस माया॥
हौं तो कुजाचक, स्वामी सुदाता। हौं कुपूत, तुम हितु पितु-माता॥ —वि० १७७।३-४
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान। —रा० ७।१११ख
५. जौं अस हिसिषा करहिं नर जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ जीव कि ईस समान॥ —रा० १।६९

स्वामी (रा० २।७१)	दास (रा० २।७१)
जीव का प्रेरक (रा० ७।११३।१-२)	
जीव का बंधमोक्षप्रद (रा० ३।१५)	
जीव की गति-अगति का संचालक (वि० १११।३)	
अखंड विज्ञान वाला (रा० १।११६।३), सदैव परमानंदरूप (रा० १।११६।४)	विषाद, अज्ञान आदि से युक्त (रा० १।११६।४)
सर्ववासी (वि० ५५।७), सर्वव्यापक (रा० १।१३।२), सर्वरूप (वि० ५४।३), सर्वाधार (रा० ६।७०।२) आदि	सीमाओं में बंधा हुआ

क्या ईश्वर और जीव में बिंब-प्रतिबिंब-भाव है ?—

केहिं मग प्रबिसति जाति केहिं कहु दरपन में छाँह ।
तुलसी त्यों जग जीव गति करी जीव के नाँह ।।[1]

उपर्युक्त दोहे से तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धांत के विषय में दो निष्कर्ष निकलते हैं । एक तो यह कि जीव ईश्वराधीन है । दूसरा यह कि वह ईश्वर का नित्यप्रतिबिंब है । प्रतिबिंब के विषय में दो मत हैं । प्रतिबिंबवादी प्रतिबिंब को सत्य मानते हैं; आभासवादी उसे मिथ्या कहते हैं ।[2] शंकराचार्य का मत है कि जल में सूर्य के प्रतिबिंब की भाँति जीव ईश्वर का आभास है; वह न तो साक्षात् ईश्वर है और न तो वस्त्वंतर ।[3] माध्व मत के अनुसार प्रतिबिंब के दो भेद हैं—नित्य प्रतिबिंब और अनित्य प्रतिबिंब । जीव भगवान् का प्रतिबिंब है, क्योंकि वह बिंबरूप परमात्मा से अलग न रहने वाला और उसके सदृश तत्त्व है, उसकी सत्ता और क्रिया बिंब के अधीन हैं । वह नित्य प्रतिबिंब है, क्योंकि परमात्मा-रूप बिंब का तथा अन्य चेतनों का, अथवा उनकी सन्निधि का, नाश कभी नहीं होता । दर्पण में मुख का प्रतिबिंब नश्वर होने के कारण अनित्य है ।[4] अद्वैत वेदांत के अनुसार अचित् (प्रकृति) पर चित् (ब्रह्म) का प्रतिबिंब अंतःकरण है । वही जीव है । जो एक काल्पनिक वस्तु, भ्रांति-भावना या मिथ्या प्रतीति है । इस अंतःकरण (अर्थात् जीव के जीवत्व) का नाश ही मोक्ष है । बिंबरूप ब्रह्म ही सत्य है । उसका प्रतिबिंब तो केवल दर्पण (माया-शरीर) के कारण है । दर्पण का तिरोभाव हो जाने पर प्रतिबिंब स्वयं तिरोहित हो जाता है । जीव के विषय में अनित्यप्रतिबिंबवाद तुलसी-संमत नहीं है । क्योंकि, वे जीव को मिथ्या न मानकर उसे नित्य और ईश्वर का अंश मानते हैं । प्रस्तुत दोहे में 'छाँह' शब्द का प्रयोग आलंकारिक है । अनित्य प्रतिबिंब के उपमान द्वारा कवि ने नित्यप्रतिबिंबरूप जीव के मायिक देह-संबंध, उसके ईश्वर-सादृश्य, तदाश्रितता और तदधीनता की व्यंजना की है । उसका तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वर-प्रेरित जीव अपने अधिष्ठानरूप शरीर में, दर्पण

---

१. दो० २४४
२. तस्य च प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वमेवेति प्रतिबिम्बवादिनः । मिथ्यात्वमेवेत्याभासवादिनः । —सि० बि०, पृ० ४४
३. ब्र० सू० ३।२।२० पर शा० भा०; दे०—'श्री शंकराचार्य', पृ० २५५
४. दे०—भा० द० (उ० मि०), पृ० ४४०

में प्रतिबिंब की भाँति, अलक्ष्य पथ से प्रवेश करता है और उसी के प्रेरणानुसार शरीर से निष्क्रमण भी करता है। नित्यप्रतिबिंब-विषयक उपर्युक्त स्थापना का समर्थन कतिपय पौराणिक वचनों से भी हो जाता है। 'भागवत' के कृष्ण ने तत्त्वसंख्या-विषयक विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि छः तत्त्व मानने वालों के अनुसार परमात्मा ही पंचभूतनिर्मित शरीर में जीवरूप से प्रवेश करता है। उन्होंने अन्यत्र बतलाया है कि वह अद्वितीय ब्रह्म ही माया और उसमें प्रतिबिंबित जीव के रूप में दो भागों में विभक्त-सा हो गया।[1] 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में सावित्री के प्रति यम की और कृष्ण के प्रति पार्वती की भी उक्ति है कि जीव भगवान् कृष्ण का प्रतिबिंब है।[2]

जीव और जगत् दोनों की ही सत्ता अस्वतंत्र है। दोनों ही ईश्वर के आश्रित और शासित हैं; दोनों ही ईश्वर से आविर्भूत और उसी में स्थित हैं।[3] दोनों ही माया के वशवर्ती है। इन बातों का साम्य होने पर भी जीव स्वरूपतः जगत् से विलक्षण है।[4] वह जगत् की भाँति जड़ न होकर चेतन है, सविकार न होकर निर्विकार है, सावयव न होकर निरवयव है, अनित्य और 'मिथ्या' न होकर सत्य और नित्य है।

जीव के त्रिविध शरीर—

संसारी जीव को अपने कर्म-फल-भोग के लिए किसी-न-किसी भोगायतन का आश्रय लेना पड़ता है। भोगायतन का ही नाम 'शरीर' है। जीव की चेष्टाओं, इंद्रियों और अर्थों के आश्रय को ही 'शरीर' कहा गया है।[5] माया के द्वारा जीव का स्वरूपज्ञान आवृत हो जाता है। वह भोगायतन को ही अपना गेह समझने लगता है।[6] जीव का शरीरविषयक ममकार ही उसका देहाभिमान है। 'विनयपत्रिका' के एक पद में तुलसीदास ने जीव की जीवन-यात्रा का व्यापक निरूपण किया है।[7] उनकी मान्यता है कि जीव भगवान् से विलग नहीं था। विलग होने पर उसने देह को गेह मान लिया। माया के कारण वह अपने स्वरूप को भूल गया। अनेक योनियों में जन्मता रहा। स्वनिर्मित कर्मजाल में आबद्ध होकर गर्भवास के जघन्य क्लेश सहे। जन्म, शैशव, कौमार और कैशोर में नाना प्रकार की वेदनाएँ सहीं। युवावस्था में धर्म की मर्यादा त्याग कर संसृतिचक्रकारक कर्म किये। जरावस्था में असमर्थता, निरादर, व्याधि आदि के शूलों से पीड़ित रहा। इसी क्रम से चारों खानियों के महाभवचक्र में भ्रमता रहा। जीवन-यात्री जीव के भोगायतन[8] के संघटन-विघटन-क्रम की दृष्टि से उसे आवृत करने वाले पाँच कोशों तथा तीन शरीरों एवं तदवस्थान-दृष्टि से जीव की चार अवस्थाओं की चर्चा की गयी है।

कारणशरीर—जीव के तीन शरीर हैं—कारण शरीर, सूक्ष्म (लिंग) शरीर और स्थूल शरीर। तुलसीदास ने त्रिविध शरीर का स्पष्ट निरूपण नहीं किया। इससे यह धारणा बना लेना

---

१. क्रमशः—भा० पु० ११।२२।२०; ११।२४।३

२. ब्र० वै० पु० २।२५।१४, ३।७।११४

३. रा० २।७७।३, २।२४४, २।२६३।३; रा० १।६, ७।८०।२-४

४. अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिये। —वि० १३६।११

५. दे०—न्यायसूत्र, १।१।११ और उस पर वात्स्यायनभा०

६. वि० १३६।१, गी० २।२६।५

७. वि० १३६; तु० दे०—भा० पु० ३।३१

८. जीव के सूक्ष्म-स्थूल भोगायतन के विवृत प्रतिपादन के लिए विशेष द्रष्टव्य—वि० ५८, ५६, १३६, १८६, २०३; रा० ७।७०।४-७।७३क

कि उन्हें शरीर का यह त्रिविधत्व मान्य नहीं है युक्तिसंगत न होगा । जीव की विविध अवस्थाओं तथा कोशों के उल्लेख से उनकी त्रिविधशरीरविषयक औपनिषदिक मान्यता स्पष्ट झलकती है । उन्होंने प्रतिपादित किया है कि जीव माया के वशीभूत होकर ही संसारी होता है ; उसी की प्रेरणा से चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है ।[1] अद्वैत वेदांत के अनुसार जीव के स्वरूपज्ञान को आवृत करने वाली अविद्यामाया ही (जिसमें संस्कार बीजरूपेण अवस्थित रहते हैं) जीव के अगले जन्म का हेतु होने के कारण उसका कारणशरीर है । जीव को लपेटे हुए अविद्यामाया जीव और ब्रह्म के बीच आवरणरूप है।[2] दुर्निवार्य होने के कारण विषम, प्रबल एवं प्रचंड है ।[3] वह ज्ञानी सुर-मुनियों को भी भवपंथ में भ्रमाती रहती है ।[4] जीव सर्वप्रथम स्वकर्मजनित शरीर-बंधन में कब और कैसे आया––इस प्रश्न का कोई समाधायक उत्तर नहीं है। संसार-प्रवाह अनादि है––यह दार्शनिकों की स्वयंसिद्धि है ।

सूक्ष्मशरीर–जीव के कारण शरीर से उसके सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मशरीर को लिंगशरीर भी कहते हैं । यह शरीर अज्ञानोपहित जीव को वासनारूपेण उसके कर्मफलों का अनुभव कराता है ।[5] 'विनयपत्रिका' के अनेक पदों[6] में तुलसी ने मन के विविध विकारों का जो विस्तृत निवेदन किया है वह इस सूक्ष्म शरीर की गतिविधियों का ही उपस्थापन है। सूक्ष्मशरीर के अवयव हैं—अंतःकरण, इंद्रियाँ और प्राण ।[7]

अंतःकरण—महाभूतों के सत्त्वप्रधान अंश से एक ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मक, चित्ररूपसदृश, स्वच्छ द्रव्य की उत्पत्ति होती है । इस द्रव्य के ज्ञानशक्तिप्रधान अंश को 'अंतःकरण' कहते हैं । दूसरे शब्दों में, जीव की ज्ञानशक्तिसमष्टि का नाम 'अंतःकरण' है ।[8] ब्रह्म से स्वरूपतः अभिन्न (वस्तुतः विकाररहित) जीव अंतःकरण-संबंध के कारण ही उससे भिन्न प्रतीत होता है ।[9] पूर्वोक्त 'अभ्यंतर ग्रंथि' में 'अभ्यंतर' शब्द अंतःकरण का ही प्रतिपादक है । वासना[10] इसी अंतः-

---

१. रा० ७।११७।२-३; रा० ७।४४।२-३

२. पञ्चदशी, १।१७; रा० ३।७।२, ४।१४।३

३. रा० ७।१३।छं० २; दो० २७६, रा० १।१४०; रा० १।१२८।४

४. रा० १।१४०।४, ७।१३।छं० २

५. सवासनं कर्मफलानुभावकं स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः ।—वि० चू० ९९

६. वि०, ५९, ८८, ८९, ९०, १२४, २४५

७. पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् । अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ।। —आत्मबोध, १३
और भी दे०—पञ्चदशी,१।२३; वे० प०, पृ० १६८; वे० सा० ४।२७-२८
'विवेकचूडामणि' (९८) में कर्मेंद्रियपंचक, ज्ञानेंद्रियपंचक, प्राणपंचक, महाभूतपंचक, अंतःकरणचतुष्टय, अविद्या, काम और कर्म को पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्मशरीर कहा गया है । मधुसूदन सरस्वती ने अपंचीकृतभूत-पंचक, अंतःकरण, प्राणपंचक, ज्ञानेंद्रियपंचक और कर्मेंद्रियपंचक के समुदाय को लिंगशरीर कहा है ।
(सि० बि०, पृ० १५९-६३) ।
उक्युंक्त मतों में कोई विरोध नहीं है । अविद्या, पंचभत, काम और कर्म अंतःकरणादि से निर्मित भोगायतनरूप सूक्ष्म शरीर के कारण हैं; अतः उनकी गणना भी सूक्ष्मशरीर के अवयवों के रूप में कर ली गयी है । वृत्ति-भेद से एक ही अंतःकरण के दो(बुद्धि-मन)या चार (बुद्धि-अहंकार-मन-चित्त)रूप माने गये हैं।

८. दे०—सि० बि०, पृ० १५९

९. दे०—शा० भ० सू० ३।२।३ पर भ० च०

१०. वि० ५९।२, ७४।२

करण की वृत्ति है। उसकी हेयता पर बल देने के लिए तुलसी ने उसे 'दुर्बासना' या 'कुबासना' कहा है।[1] समस्त जगत् को ईश्वरमय देखना[2] वासना का उदात्तीकरण है। वृत्ति-भेद से अंतः-करण के चार रूप हैं[3]—बुद्धि, अहंकार, चित्त और मन।[4] कुछ दार्शनिकों ने अहंकार एवं चित्त को बुद्धि तथा मन के ही अंतर्गत माना है।[5] तुलसी-साहित्य में इन चारों के एक साथ उल्लेख[6] से यह सिद्ध है कि उन्हें अंतःकरण-चतुष्टय की मान्यता स्वीकार्य है।

बुद्धि—'बुद्धि' के दो अर्थ हैं—प्रज्ञा और बोधि। पहले अर्थ में, अंतःकरण की वह विधा जिसके द्वारा जीव पदार्थों का अध्यवसाय या निश्चय करके कर्म में प्रवृत्त होता है 'बुद्धि' कहलाती है।[7] जिस प्रकार बीज में भावी अंकुर निहित रहता है उसी प्रकार बुद्धि जीव के भविष्यद्-वृत्तिक अध्यवसाय का बीज है। अध्यवसाय बुद्धि का धर्म है, उसकी क्रिया है। तथापि क्रिया और क्रियावान्, धर्म और धर्मी, में अभेदविवक्षा की दृष्टि से उसे अध्यवसाय कहा गया है।[8] दूसरे अर्थ में, बुद्धि जीव के अंतःकरण की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह सूक्ष्मादि अर्थों का अव-बोध करने में समर्थ होता है।[9] इसी अर्थ में मधुसूदन सरस्वती ने उसे 'आत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका' और शंकरानंद ने 'वस्तुतत्त्वनिश्चयवती' एवं 'ईश्वराश्रया' कहा है।[10] मन का निरूपण-सामर्थ्य अथवा विवेकपूर्वक निश्चयरूप ज्ञान 'बुद्धि' है।[11] बुद्धि का यह लक्षण-निरूपण वस्तुतः सात्त्विक बुद्धि के विषय में है। बुद्धि के इसी वैशिष्ट्य के कारण उसे 'विज्ञान' कहा गया है।[12] **'बिज्ञान-रूपिनी बुद्धि'**[13] में 'बिज्ञान' शब्द उसके इसी अर्थ का द्योतक है। ज्ञान और धृति भी बुद्धि की ही वृत्तियाँ हैं।[14] धर्मादिरूप प्रकृष्ट गुणों से उसका संबंध होने के कारण बुद्धि की एक संज्ञा 'महान्' भी है।[15] 'मति' आदि इसके अन्य नाम हैं।[16] बुद्धि प्रकृति की विकृति है। अतएव प्रकृति के त्रिगुण बुद्धि में भी निसर्गतः आ जाते हैं। तदनुसार उसके तीन रूप हैं—सात्त्विकी, राजसी

---

१. रा० ३।४४।२, वि० ५६।१, कवि० ७।८४

२. रा० १।८।१, ७।११२ ख

३. मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्। चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥—भा० पु० ३।२६।१४
निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीरहङ्कृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः। —वि० चू० ९५
एकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिमात्रभेदेन प्राणादिवच्चतुर्धाविभागात्। —ब्र० सू० २।३।१५ पर विज्ञान०

४. चौथि चारि परिहरहु बुद्धि-मन-चित-अहँकार। —वि० २०३।५

५. दे०—वे० सा० ५।२, सि० बि०, पृ० १५९

६. वि० २०३।५, रा० २।२४१।१

७. बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः। —वि० चू० ९५; बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका। —पञ्चदशी, १।२०

८. सा० का० २३ पर गौड० और वाच०, सांख्यसूत्र, १३ पर विज्ञान०

९. बुद्धिः अन्तःकरणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधनसामर्थ्यम्। —गीता, १०।४ पर शा० भा०

१०. गीता, २।४१ पर गू० दी० और शंकरानंदी टीका

११. बुद्धिर्मनसो निरूपणसामर्थ्यम्, बुद्धिः विवेकपूर्वकं निश्चयरूपं ज्ञानम्। —गीता, १०।४ एवं १८।२९ पर रा० भा०

१२. ब्र० सू० २।३।१५ पर विज्ञान०, पृ० ३३३

१३. रा० ७।११७ ख

१४. गीता, १८।३० पर शा० भा०

१५. वि० ५४।२; तस्य धर्मादिरूपप्रकृष्टगुणयोगात् महत्संज्ञा, तदेव च लक्षणम्। —साङ्ख्यसार, पृ० १२

१६. रा० ३।१५।१; महान् बुद्धिः प्रज्ञेत्यादयश्च तस्य पर्यायाः, तथा चोक्तमनुगीतायाम्—
महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान्।

और तामसी। जो बुद्धि बंधहेतु प्रवृत्ति और मोक्षहेतु निवृत्ति को, कर्त्तव्य और अकर्तव्य को, दृष्टादृष्टफलविषयक भय और अभय को एवं बंध और मोक्ष को समझती है वह 'सात्त्विकी'[1] है। जो बुद्धि इन सबको यथावत् नहीं जानती वह 'राजसी'[2] है। जो बुद्धि धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म, सत् को असत् और असत् को सत्--इस प्रकार सब कुछ उलटा समझती है, वह 'तामसी'[3] है।[4]

अहंकार—अंतःकरण की दूसरी विधा अहंकार[5] है। 'मैं हूँ'--इस प्रकार का अभिमान 'अहंकार' है।[6] 'अहमिति' के द्वारा तुलसी ने उसके इसी स्वरूप की अभिव्यंजना की है।[7] कहीं-कहीं 'अहंकार' के पर्याय-रूप में 'अभिमान' और 'आत्मा' का भी व्यवहार किया गया है।[8] इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि 'अहंकार' और 'अभिमान' शब्द पर्यायवाची[9] भी हैं तथा दोनों में व्याप्य-व्यापक-संबंध भी है[10]; अहंकार अभिमान का एक विशिष्ट रूप है।[11] शरीर 'मैं' नहीं है, उसमें अपनेपन का आरोप 'अभिमान' है। इसी तात्पर्य (दृष्टि) से तुलसी ने 'देहाभिमान' के लिए 'अभिमान' का प्रयोग किया है।[12] अहंकार 'मैं' का अभिमान है जो जीव की प्रवृत्तियों का बीज[13] और धर्मग्लानि का मुख्य कारण[14] है। 'मैं' आदि की भावना मायारूप ही है।[15] प्रबल अहं-

---

बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा प्रज्ञा धृतिः स्मृतिः ।।
पर्यायवाचकैरेतैर्महानात्मा निगद्यते ।। —दे०-साङ्ख्यसार, पृ० १२

१. गीता, १८।३० और उस पर शा० भा०; रा० ६।८०।४, ७।११८।४
२. गीता, १८।३१; रा० १।१०८, २।५५।२
३. गीता, १८।३२ और उस पर रा० भा०; रा० १।१७२।४, १।२६६।४
४. प्राकृत गुणों के आधार पर ही धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये आठ बुद्धि के धर्म (सा० का० २३ पर वाच०), कार्य (सांख्यसूत्र, २।१४ पर विज्ञान०), रूप या अंग (सा० का० २३ पर गौड०) बतलाये गये हैं।
५. वि० २०३।५, ५९।६
६. अत्राभिमानादहमित्यहङ्कृतिः—वि० चू० ९६; परमार्थ ने ममत्व को ही 'अहंकार' माना है—मम शब्दः, मम स्पर्शः, मम रूपं, मम रसः, मम गन्धः, मम पुण्यगुणः प्रिय इत्येवमभिमानोऽहङ्कार आख्यायते। —सांख्यसप्ततिव्याख्या, २४
७. रा० १।११६।४, २।२४१।१, ७।१०५।४
८. रा० १।१६१।१, ७।६२।४, ७।७४।३; वि० ५४।२
९. अहङ्कारो निरूप्यते...तस्य च पर्यायाः कौमें प्रोक्ताः--
अहङ्कारोऽभिमानश्च कर्त्ता मन्ता च संस्मृतः ।।
आत्मा देही च जीवश्च यत. सर्वाः प्रवृत्तयः ।। —साङ्ख्यसार, पृ० १३
१०. 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारः। —सा० का० २४ पर वाच०
११. 'जीव धर्म अहमिति अभिमाना' (रा० १।११६।४) की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकता है। (१) 'मैं हूँ'—इस प्रकार का अभिमान। यह व्याख्या शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रतिपादित अहंकार-लक्षण के अनुसार है। (२) अहंकार और अभिमान। 'मानस-पीयूष' में बतलाया गया है कि "अहंकार और अभिमान में भेद यह है कि अहंकार अपने का होता है और अभिमान वस्तु का होता है।" —मा०पी० १।११६।७
१२. रा० ४।१०।छं०१; दे०—यो० वा० ३।९६।१९ पर तात्पर्यप्रकाश
१३. संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना ।। —रा० ७।७४।३; गीता, ७।४ पर शा० भा०
१४. देवीभागवतपु० ४।७।२
१५. मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया ।। —रा० ३।१५।१

कार दुर्लंघ्य है।[1] जीव की अभिमानी प्रकृति उसकी बुद्धि को विपर्यस्त कर देती है।[2] 'भागवत-पुराण' में अहंकार को मोह का हेतु कहा गया है।[3] तुलसी ने अहंकार को मोह का कार्य बतलाते हुए उसे अतिशय दुःखदायक मानस रोग माना है।[4] अहंकार और ममकार के निर्मूलन के बिना जीव का उद्धार संभव नहीं है।[5] राम को स्वामी और अपने को उनका सेवक मानने का 'अभिमान'[6] इस वृत्ति का उदात्तीकरण है।

चित्त—अंतःकरण की तीसरी विधा चित्त है। पतंजलि ने 'चित्त' का व्यवहार 'मन' के पर्यायरूप में किया है। वेदांत में 'चित्त', 'मन' का एक रूप है। 'चित्' समष्टि-मन है और 'चित्त' व्यष्टि-मन। चित्त अंतःकरण की वह वृत्ति है जिसका धर्म अनुसंधान या चिंतन है।[7] स्वार्थ-प्रेरित जीव स्वभावतः विभिन्न इष्ट पदार्थों का चिंतन करता रहता है। चित्त जीव की इच्छा-शक्ति की समष्टि है। वह भावों की धारणा का आश्रय है, इसीलिए तुलसी ने उसे 'दिआ' का का उपमेय माना है।[8] चित्त के उपर्युक्त अनुसंधान या चिंतन में विचार का अभाव रहता है। वस्तुतः अंतःकरण की यह वृत्ति विचार का परित्याग करके बालक की भाँति एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय का चिंतन करती रहती है।[9] अपनी विवेकहीनता के कारण ही चित्त माया द्वारा अपहृत हो जाता है।[10] चित्त को वेताल कहकर तुलसी ने उसकी भयानकता, चंचलता और दुर्निरोध्यता ध्वनित की है।[11] वह विषयों की डाल को जल्दी छोड़ता ही नहीं। अंतःकरण के अर्थ में भी उन्होंने 'चित्त' का प्रयोग किया है।[12] चित्तवृत्तियों के उपमानरूप में पाँच खगों का नामोल्लेख करके तुलसी ने उनके पंचतयत्व का संकेत किया है।[13] योगदर्शन के अनुसार चित्त की पाँच वृत्तियाँ (अर्थात् परिणाम) हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।[14] इन वृत्तियों का निरोध हो जाने पर ही जीव क्लेशमुक्त होता है।

मन—अंतःकरण की चौथी विधा मन है। अद्वैत वेदांत में अंतःकरण के संकल्पविकल्पात्मक अथवा विमर्शात्मक या संशयात्मक रूप को 'मन' कहा गया है।[15] सांख्यों ने संकल्पक[16] उभयात्मक

---

१. प्रबल अहँकार दुरघट महीधर, महामोह गिरिगुहा निबिड़ांधकारं। —वि० ५९।६
२. रा० ५।५७।१-२
३. अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतुः—भा०पु० ११।२२।३२; अहङ्कारो यो विमोहनः— भा० पु० ११।२४।६
४. मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।···अहंकार अति दुखद डमरुआ। —रा० ७।१२१।१५, १८
अहंकार की आगिनि में दहन सकल संसार। —वै० सं० ५३
५. वि० १२२।५; तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै। —वि० १२०।५
६. अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥ —रा० ३।११।११
७. चितचिंता—वि० २३५।४; स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम्।—वि० चू० ९६
८. दो० २५०, रा० ७।११७ख
९. यो० वा० ३।९६।२०
१०. जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥—रा० ७।५९।३
११. चित्त बेताल मनजाद मन प्रेतगन रोग भोगौघ बृश्चिक-विकारं।—वि० ५९।६
१२. दीप निज बोध गत क्रोध-मद-मोह-तम प्रौढ़ अभिमान चितबृत्ति छीजै। —वि० ४७।२
१३. बिबिध चितबृत्ति खग निकर श्येनोलूक, काक बक गृध्र आमिष-अहारी। —वि० ५९।३
१४. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। —यो० सू० १।५-६
१५. मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिः—वि० चू० ९५; मनो विमर्शरूपं स्यात्—पञ्चदशी, १।२०
१६. दे०—सा० का० २७ पर गौड०, वाच०, जयमङ्गला, चन्द्रिका

इंद्रिय को 'मन' कहा है। तुलसी ने 'मन' का व्यवहार दोनों ही अर्थों में किया है। **'मन बुधि चित अहमिति बिसराई,' 'मन महुँ तरक करै कपि लागा', 'खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई'** आदि प्रयोग पहले अर्थ के द्योतक हैं।[१] **'सुनहु तात मति मन चितु लाई', 'मन माधव को नेकु निहारहि', 'मनु थिरु करि तब संभु सुजाना', 'होइ बिकल सक मनहिं न रोकी'** आदि में दूसरे अर्थ की अभिव्यंजना हुई है।[२] यह भी अवेक्षणीय है कि तुलसी ने मन की इंद्रियप्रवर्तकता की अपेक्षा इंद्रियों द्वारा मन के बरबस विषयाभिमुख हो जाने की प्रवृत्ति पर ही विशेष बल दिया है। मन स्वभावतः दुर्निग्रह, चंचल और विषय-लोलुप है। इंद्रियाँ उसे बलात् खींचकर विषय-जाल में उलझाये रखती हैं।[3] मन की अतिशय प्रबलता और अजेयता से हार कर ही तुलसी ने राम से उसके वर्जन की प्रार्थना की है।[४]

मन, चित्त या अंतःकरण का अधिष्ठान हृदय है 'हिय', 'उर' आदि हृदय के ही वाचक हैं।[५] लोकप्रचलित शब्द-व्यवहार के अनुसार 'हृदय', 'उर' आदि का प्रयोग मन, चित्त या अंतःकरण के अर्थ में भी हुआ है।[६] 'योगवासिष्ठ' में दृश्य से युक्त या स्पृष्ट चित् को 'मन' कहा गया है; बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि मन के ही नाम-रूप हैं।[७] तुलसी-द्वारा अंतःकरण के विस्तृत अर्थ में 'मन' का प्रयोग 'योगवासिष्ठ' की इस मान्यता से बहुत कुछ साम्य रखता है। 'मन' के इसी व्यापक अर्थ की भूमिका में उन्होंने विविध मनोरथों (एषणाओं या वासनाओं) मनःप्रवृत्तियों, मनोविकारों, मानसरोगों आदि का निरूपण किया है।[८] प्रतिपाद्य विषय के विशिष्ट प्रसंगों में तुलसी ने 'मन' का व्यवहार अंतःकरण की संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति के शास्त्रीय अर्थ में किया है।[९] भावाभिव्यंजनात्मक स्थलों में उसका प्रयोग अर्थचिंतक चित्त[१०] या स्वाधिष्ठानरूप हृदय[११]

---

१. क्रमशः—रा० २।२४१।१, ५।६।१, ७।५६।१
२. क्रमशः—रा० ३।१५।१; वि० ८५।१; रा० १।८२।२; रा० ३।१७।३
३. कबहूँ मन विश्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥
जदपि बिषय-सँग सह्यो दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस जानत हूँ नहिं जान्यो ॥ —वि० ८८।१-२
मेरो मन हरिजू हठ न तजै।
निसिदिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै ॥ —वि० ८९।१
दे०—गीता, २।६७, ६।३४-३५, १५।९; महोपनिषद्, ४।६६
४. हौं हार्यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥ —वि० ८९।४
५. रा० २।१२८।३, २।१३१।२, ४
६. रा० ७।७।४, ७।११३।१
७. यो० वा० ५।१३।५४; यो० वा० ३।९६।१८-२०; विस्तार के लिए दे०—योगवासिष्ठ के सिद्धांत, पृ० २२३-२५
८. क्रमशः—वि० ५८।३, रा० ७।७१।३, ७।११०।३; वि० ५८।२; वि० १२४।१-४, रा० ७।१३।छं० ६; रा० ७।१२१।१४-१९, वि० ८१।१-४
९. वि० ५४।२ (बुद्धि मन इन्द्रिय), २०३।५ (बुद्धि-मन-चित); रा० २।२४१।१, ३।१५।१
१०. रा० ७।१ श्लोक २ (चिंतकस्य मनभृंगसंगिनौ); दो० २६८, वि० २३३।१
११. रा० २।१२९।३ (राम बसहु तिन्ह कें मन माहीं); रा० २।१३०।३, दो० ६९

के लोकप्रचलित अर्थ में हुआ है। जीव की वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—आभ्यंतर और बाह्य। दार्शनिक दृष्टि से अंतर्वृत्ति और उसके प्रवर्तक अंतःकरण के सामान्य अर्थ में ही तुलसी ने 'मन' का प्रायः प्रयोग किया है।[1] उदाहरणार्थ, मन-वचन-कर्म के प्रसंगों में 'मन' के इसी अर्थ की व्यंजना हुई है। इस प्रकार 'मन' का व्यवहार अनेक अर्थों में हुआ है—१. संपूर्ण अंतःकरण, २. चित्त अथवा हृदय, ३. अंतःकरण की संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति, ४. वह अंतरिंद्रिय जो ज्ञानेंद्रियों द्वारा बाहर से आये हुए संस्कारों को निर्णय के लिए बुद्धि तक पहुँचाती है और बुद्धि के निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए कर्मेंद्रियों को प्रेरित करती है।

'योगवासिष्ठ' में 'मन' को सर्वशक्तिसंपन्न मानकर उसकी अद्भुत शक्तियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मन ही जगत् का कर्ता है, यह विश्व मनोमय है। मन की भावना और कल्पना के अनुसार ही बाह्य जगत् का रूप बनता और बदलता रहता है। उसके संकल्पानुसार ही सत्, असत् और सदसत् जगत् की उत्पत्ति होती रहती है।[2] वृक्ष से पुतली और सूत से कंचुकी की भाँति ही मन से संसार प्रकट होता है। जैसे मणि से भोजन, वस्त्र आदि की प्राप्ति होती है वैसे ही मन के द्वारा स्वर्ग, नरक आदि की। शत्रु, मित्र और उदासीन की भावना भी मन की ही कल्पना है। यथार्थतः सारा जगत् राम का ही लीलारूप है, चिद्विलास है। उनसे भिन्न विश्व की कल्पना मन का विकार मात्र है। मन के निर्मल अर्थात् विकारशून्य हो जाने पर सारा द्वैतभाव तिरोहित हो जाता है और जगत् रामरूप में दृष्टिगोचर होने लगता है—

> **जौ निज मन परिहरै बिकारा ॥**
> **तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा ॥**
> **सत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआईं।**
> **त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि, हाटक, तृन की नाईं ॥**
> **असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे ॥**
> **सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ॥**
> **बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।**
> **मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये ॥**
> **रघुपति-भगति-बारि-छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।**
> **तुलसिदास कह चिदबिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥**[3]

यहाँ एक प्रश्न उठता है—क्या प्रत्येक जीव का विश्व अलग-अलग है? हाँ। कैसे? इसके तीन समाधान हो सकते हैं। एक तो यह कि यह विशाल माया-जगत् गूलर वृक्ष के समान है, अनेक ब्रह्मांड उस वृक्ष में लटके हुए फल हैं, प्रत्येक जीव का अपना विश्व उसी में सीमित है, उसे तदतिरिक्त विश्व का कोई ज्ञान नहीं है।[4] दूसरा यह कि ईश्वर की माया से रचित यह विश्व जीव को अपने यथार्थ रूप में दृष्टिगोचर न होकर उसकी मनःकल्पना के अनुसार ही उसे

१. वि० ८६।३, ६६।२, रा० १।६०।२, १।५६।१
२. यो० वा० ३।६१।४, १६-१७, ५२; ३।११०।४६; ६/१।११४।१७; ६/२।१३६।१
३. वि० १२४
४. ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना ॥ —रा० ३।१३।३-४;
दे०—यो० वा० ४।१८।६-७

प्रतिभासित होता है।[1] रात में सोये हुए अनेक सैनिकों के स्वप्न-जगत् की भाँति प्रत्येक जीव का विश्व दूसरे से भिन्न होता है। तीसरा यह कि जीव का मायारचित मन ही उसके सुख-दुःख, गतिविधि, परिस्थितियों और शरीर का निर्माता है।[2]

सहज प्रवृत्तियाँ—जीव का मन कुछ सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित होता है। प्राचीन मनीषियों की भाँति तुलसी ने भी जीव की चार मुख्य सहज प्रवृत्तियाँ मानी हैं—आहार, निद्रा, भय और मैथुन।[3] ये प्रवृत्तियाँ सभी प्राणियों में समान रूप से पायी जाती हैं। भौतिक दृष्टि से प्रथम तीन का संबंध जीव की आत्मरक्षा से है और अंतिम का आत्मविस्तार से। मानव का गौरव इस बात में है कि वह इनसे ऊपर उठकर राम में मन लगाए।[4] तृषा और क्षुधा दोनों ही आहार के अंतर्गत हैं। तृषित चातक धुएँ को बादल समझकर अपने नेत्रों की हानि करता है; क्षुधातुर श्येन फर्श में अपनी चोंच तोड़ डालता है; क्षुधित श्वान पुरानी हड्डी को चूसता हुआ अपने ही रक्त का 'पान' करता है; मछली आहार के लोभ में अपना प्राण गवाँ देती है।[5] यही दशा अन्य जीवों की भी है। **'जातहिं नींद जुड़ाई होई', 'माँगेसि नींद मास षट केरी', 'निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं'** आदि संदर्भों में निद्रा की प्रवृत्ति का सांकेतिक निरूपण हुआ है।[6] जीव का सारा जीवन ही मोह-निद्रा है।[7] भावी अनिष्ट की आशंका से जीव भयभीत रहता है।[8] निसर्ग-निर्बल नारी में इस प्रवृत्ति का आधिक्य होना स्वाभाविक है; इसी आधार पर भय की गणना नारी के स्वाभाविक अवगुणों या गुणों में की गयी है।[9] जीव का भववृक्ष भयशूलों से भरा हुआ है।[10] संसार-भय से त्रस्त तुलसी ने उससे त्राण पाने के लिए ही राम की शरण गही।[11] मैथुन-प्रवृत्ति, जो सामान्यतः काम-प्रवृत्ति के नाम से अभिहित की गयी है, जीव की बड़ी ही दुर्दम्य प्रवृत्ति है। **'संगम करहिं तलाव तलाई।', 'सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न', 'नारि बिबस नर सकल गोसाईं।**

---

१. जीवो यद्वासनाबद्धस्तद्वेवान्तः प्रपश्यति। —यो० वा० ४।१७।२६
 यं यं भावमुपादत्ते तं तं बस्त्विति विन्दति। —यो० वा० ४।२१।२२
 यद्यथा भावयत्याशु तत्तथा परिपश्यति। —यो० वा० ६/१।५१।३
२. तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम्।
 मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः॥ —वि० पु० २।६।४७
 मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
 तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥ —भा० पु० १२।५।६
 दे०—यो० वा० ३।४०।१३, ३।६६।१०, ३।६६।४३, ३।११५।२४, ४।१३।६, ४।४५।७
३. आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। —हितोपदेश, प्रस्ताविका, २५
 भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जग जाये। —वि० २०१।४
४. वि० २००।४, २०१।२-५
५. वि० ६०।२-३, ६२।२, ४
६. क्रमशः—रा० १।३६।१, १।१७७।४, ३।२८।४
७. मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ —रा० २।६३।१
८. रा० १।१८२।३-४, ३।२८।४, ३।२८, ६।१४।१
९. भय अबिबेक असौच अदाया। —रा० ६।१६।२; मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥ —रा० २।६३।२
१०. द्वैत-मूल, भय-सूल, सोक-फल, भवतरु टरै न टार्‌यो। —वि० २०२।२; दे०— वि० ५८, ५६
११. परम कठिन भव-व्याल-ग्रसित हौं त्रसित भयो अति भारी।— वि० ६२।५
 तुलसिदास भव-व्याल-ग्रसित तव सरन उरगरिपु-गामी।—वि० ११७।५

नाचहिं नट मर्कट की नाई ॥' आदि[1] तथा नारद और दशरथ के उदाहरण[2] उसकी बलवत्ता सिद्ध करते हैं। जीव और उसके दारुण शत्रु मृत्यु के बीच में नारी की स्थिति बतलाकर[3] तुलसी ने इस प्रवृत्ति की घातकता का मार्मिक निर्देश किया है। एक अन्य स्थल पर उन्होंने आठ प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है—भूख, प्यास, निद्रा, भय, काम, क्रोध, मद और लोभ।[4] इनमें से प्रथम पाँच तो मूलतः पूर्वोक्त चार प्रवृत्तियाँ ही हैं। अंतिम तीन बाद में उत्पन्न होने वाले मनोविकार है।

भोग्य वस्तुओं की कामना जीव के मन का रथ है।[5] '**बिषय मनोरथ पुंज कंज बन**', '**कीट मनोरथ दारु सरीरा**' आदि में मनोरथों के विषयपरक प्रकृत रूप का द्योतन हुआ है।[6] अतएव तुलसी ने उन्हें 'कुमनोरथ'[7] कहा है। ईश्वर-प्राप्ति की चाहना[8] मनोरथ का उदात्तीकरण है। नक्र की भाँति दुःखदायक विषय-मनोरथ जीव के असाध्य शूल है।[9] 'मनोरथ' की ही एक संज्ञा 'एषणा' है। जीव के समस्त ऐहिक काम्य पदार्थ तीन वर्गों में रखे जा सकते हैं—पुत्रकलत्र, धन तथा यश। इसी आधार पर तुलसी ने त्रिविध एषणाओं का उल्लेख किया है—पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा।[10] जीव की मति को मलिन कर देने वाली ये एषणाएँ प्रचंड तिजारी ज्वर की भाँति कष्टकारिणी हैं।[11] भगवद्भक्ति ही इनसे मुक्ति दिलाने में समर्थ है।[12] 'आशा' (वस्तुतः दुराशा) भी 'मनोरथ' का ही पर्याय है।[13] दुःख और दोष उस ताड़का-रूपी दुराशा के दो पुत्र हैं। उसकी शोककारकता के कारण ही तुलसी ने उसे दारुण पिशाची[14] तथा विपरीत-लक्षणा से देवता-देवी भी कहा है जिससे विमुख हो जाने में ही जीव का कल्याण है।[15] आशाओं का दास व्यक्ति सभी का गुलाम होता है। जो आशाओं को जीत लेता है, उनका परिहार कर देता है, वह रामभक्त भवसागर को अनायास पार कर लेता है।[16] विषय-आशाओं का दूर हो जाना

---

१. क्रमशः —रा० १।८५।१, ७।४०।१, ७।९९।१

२. रा० १।१३१।१-१।१३७; रा० २।२५।२

३. दारुन बैरी मीचु के बीच बिराजति नारि। —दो० २६८

४. काम क्रोध मद लोभ नींद भय भूख प्यास सबही के।
मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय-पी के॥ —वि० १७५।२

५. मन के रथ के अर्थ में 'मनोरथ' का व्यवहार—
दे०—महा०, शान्ति० २९२।१; कुमारसम्भव, ५।६४; नैषध-चरित, ३।५९; घनानंदकवित्त, पद्य १४९

६. रा० ६।११५। छं० ३, ७।७१।३

७. रोगबस तनु, कुमनोरथ मलिन मनु। —वि० २५२।२

८. मनोरथ मन को एकै भाँति। चाहत मुनि मन अगम सुकृत फल—वि० २३३।१
मंजुल मनोरथ करति सुमिरति बिप्रबरबानी भली। —गी० ३।१७।१

९. वि० ५८।३, रा० ७।१२१।१९

१०. सुत बित लोक ईषना तीनी। —रा० ७।७१।३; दे०—बृ० उ० ३।५।१

११. केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी।…त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी॥ —रा० ७।७१।३, ७।१२१।१८

१२. रा० ७।११०।६-७

१३. वि० १२३।५, रा० १।२४।३

१४. अब तुलसिहि दुख देहि दयानिधि दारुन आस-पिसाची। —वि० १६३।४

१५. तुलसी अदभुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये अभिराम॥ —दो० २५८

१६. वि० १६८।४, रा० ४।१६।५, ७।१३। छं० ३

जीव की मानसिक स्वस्थता का प्रमाण है।[१] आशाओं का क्षय ही मोक्ष है।[२]

'मनोरथ' का एक पर्याय 'वासना' है। किसी अभुक्त भोग्य वस्तु के भोग के लिए पूर्वापर विचार त्याग कर अनन्यभाव से की गयी दृढ़ भावना 'वासना' है। मन में ही बसी हुई होने के कारण इस भावना को 'वासना' की संज्ञा दी गयी है।[३] यही जीव का **मनोराज्य** है।[४] वासना का इससे किंचिद्भिन्न दूसरा रूप भी है। जिस प्रकार फूलों में बासे गये तिल पर फूलों का प्रभाव छा जाता है उसी प्रकार जीव के पूर्वकर्म या विषयभोग उसके मन को दृढ़ संस्कारों से आवृत कर देते हैं। इन अवशिष्ट संस्कारों का नाम भी 'वासना' है।[५] निष्कर्ष यह है कि विषयजनित भावना ही वासना है, चाहे वह अभुक्त विषयों की आसक्तिपूर्ण ईहा के रूप में हो अथवा भुक्त विषयों के बलवान् संस्कारों के रूप में। वह तत्त्वतः कुवासना या दुर्वासना ही है।[६] भोग्य वस्तुओं एवं भोगों की संख्या अनंत होने के कारण मनोरथों या वासनाओं की संख्या भी अनंत है। चराचररूप सर्ववासी भगवान् की भावना[७] वासना का उदात्तीकरण है।

विषय-वासना वृक्ष के विकास को कुंठित कर देने वाली वल्ली की भाँति जीव को कंचुकवत् आच्छादित करके उसके अभ्युत्थान को अवरुद्ध किये रहती है, अतः वासनालिप्त मन से प्रेरित कर्मों को तुलसी ने वृथाश्रमकारक, स्वाँग एवं कर्मकीच कहा है।[८] जीव के समस्त वृत्ति-व्यापार मन द्वारा ही संचालित होते हैं।[९] अतएव वासनासिक्त मन को ही जीव के बंध एवं मोक्ष का कारण माना गया है।[१०] मन ही संसाररूप मायाचक्र की नाभि है।[११] आशा-डोर में बँधा हुआ मन बंदर की भाँति नाचता रहता है।[१२] स्वनिर्मित आशा और वासना का पाश ही जीव का बंध है।[१३] यही जीव का कोशकृमित्व है।[१४] वासना का परिहार ही उसका मोक्ष है।[१५] शरीर

---

१. जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं।···बिषय आस दुर्बलता गई॥ —रा० ७।१२२।५

२. सकलाशास्वसंसक्त्या यत्स्वयं चेतसः क्षयः। स मोक्षनाम्ना कथितः···। —यो० वा० ५।७३।३६

३. यो० वा० ५।९१।२९, ३।९६।२४

४. मनोराजु करत अकाजु भयो आजु लगि—कवि० ७।६६; दे०—यो० वा० ६/१।११४।२०-२१

५. वि० चू० ९९-१००, वे० सा० ५।२९

६. कवि० ७।११६; कवि० ७।८४, ७।११९

७. अचरचररूप हरि सरवगत सरवदा बसत इति बासना धूप दीजै। —वि० ४७।२

८. वि० ५९।२, ८८।३, ९१।२, २४५।३

९. मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया। —धम्मपद १।१,२

१०. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयसङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥ —वि० पु० ६।७।२८
चित्ताधीनवतो राम बन्धमोक्षावपि स्फुटम्। —यो० वा० ३।९८।३

११. अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव।
चित्तं विद्धि महानाभिं भ्रमतो भ्रमदायिनः॥ —यो० वा० ५।५०।६

१२. लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा-डोरि। —वि० १५८।५

१३. यो० वा० ४।२७।१८ (वासनातन्तुबद्धा ये आशापाशवशीकृताः), ४।४३।३

१४. कीर कोसकृमि कीस—दो० २४३;
दे०—यो० वा० ४।४२।३१, ६/१।१०।८ (कोशकारवदात्मानं···अवबुध्यते)

१५. मुक्तिकोपनिषद्, २।१६; मन तें सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥ —रा० ७।११०।३

के जीर्ण हो जाने पर भी आशा और तृष्णा जीर्ण नहीं होतीं।[1] कामोपभोग से काम का शमन संभव नहीं है।[2] विषय-भोग से तृप्ति नहीं हो सकती। इनसे मुक्ति पाने के लिए विराग आवश्यक है।[3] तृष्णाक्षय ही महत्तम सुख है।[4] राम में ही आशा, वासना और व्यसन का निवेश[5] इन वृत्तियों का उदात्तीकृत रूप है। मन को परमात्मा में अभिनियुक्त करके जीव को सुखी होना चाहिए।[6]

मानस रोग—सभी संसारी जीव प्राणांतकारी रोगों से सतत पीड़ित हैं।[7] 'योगवासिष्ठ' में जीव के दुःख के दो कारण बतलाये गये हैं—आधि और व्याधि। उनकी निवृत्ति सुख है। उनका क्षय मोक्ष है। देह-दुःख का नाम 'व्याधि' और वासनामय दुःख का नाम 'आधि' है।[8] जीव का मन आधि से और तन व्याधि से पीड़ित रहता है।[9] वस्तुतः आधि से ही व्याधि की उत्पत्ति होती है और आधि का क्षय होने पर व्याधि का भी क्षय हो जाता है।[10] दूसरे शब्दों में, मनोविकारों से मुक्त हो जाना ही नीरोगता है।[11]

रूपक बाँध कर तुलसी ने आधि-व्याधियों का व्यवस्थित निरूपण मानस रोग के प्रकरण में किया है—

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह तें दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी। त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥

---

१. ब्रह्मपु० १२।४५, ब्रह्माण्डपु० २।६८।१०२, वायुपु० २।३२।६६
२. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। —ब्रह्माण्डपु० २।६८।६७, म० पु० ३४।१०, लि० पु० १।६७।१६, १।८६।२४, वायुपु० २।३१।६४, ब्रह्मपु० १२।४०
३. लि० पु० १।८।२४
४. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखं।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम्॥ —ब्रह्मपु० १२।४६
५. आसा बसन ब्यसन येह तिन्हहीं। रघुपति चरित होहिं तहँ सुनहीं॥ —रा० ७।३२।३
६. ना० पु० १।३४।५८
७. रा० ७।१२१क, ७।१२२।१ (येहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी।)
८. यो० वा० ६/१।८१।१२, १४
९. आधि-मगन-मन, ब्याधि-बिकल तन, बचन मलीन झुठाई। —वि० १६५।४
१०. दे०—यो० वा० ६/१।८१।२४-३८ और उन पर तात्पर्यप्रकाश
११. रा० ७।१२२।५, दे०—यो० वा० ६/१।२६।१०-३५, ६/१।८१।३६-४२

एक व्याधि बस नर मरहिं ये असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि ॥[1]

इन रोगों की संख्या बहुत बड़ी है। अतएव सोलह व्याधियों और उन्नीस आधियों को असाध्य कुरोग मानकर केवल उन्हीं का नामोल्लेख किया गया है। इनमें भी छः मानस रोग अत्यंत असाध्य हैं—मोह, काम, क्रोध, लोभ, मद और मत्सर। षड्वर्ग के नाम से विख्यात ये विकार निशाचर, मकर तथा उरग के तुल्य घातक हैं, जीव के अजेय षड्रिपु हैं।[2] इसीलिए इनकी विजय की आवश्यकता पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है।[3] इन मनोविकारों में भी तीन खल अति प्रबल हैं—काम, क्रोध और लोभ। ये मुनियों के विज्ञान-धाम मन को भी पल पर में क्षुब्ध कर देते हैं। नारी काम को, कठोर वचन क्रोध को तथा इच्छा-दंभ लोभ को अतिशय बलवान् बना देते हैं।[4] उनमें भी जीव की प्रबलतम मनःप्रवृत्ति काम है।[5] मैथुन-प्रवृत्ति के प्रसंग में इसकी बलवत्ता की चर्चा की जा चुकी है। क्योंकि तुलसी ने उनका परिगणन करते समय कहीं काम को, कहीं क्रोध को और कहीं लोभ को प्रथम स्थान दिया है[6], इसलिए उक्त तीनों ही एकसमान प्रधान हैं, कोई एक दूसरे से कम नहीं है[7]—यह मान्यता समीचीन नहीं प्रतीत होती। इस विषय में तुलसी द्वारा काम-वृत्ति का इतना अधिक निरूपण एवं 'गीता', 'भक्तिरसायन' आदि प्रमाण हैं।[8] उनकी दृष्टि में कामाभिभूत जीव तो मृतक-तुल्य हैं।[9] इन सब मानस रोगों में मोह का स्थान अन्यतम है। तुलसी ने मोह को समस्त शरीर और मानस रोगों का, सभी प्रकार के मलों का, मूल माना है; क्योंकि, मोह के कारण ही वे सारे विकार उत्पन्न होते हैं जिनसे जीव द्वैत-जनित संसार-दुःख का भागी बनता है।[10] मोह की महिमा अतिशय बलवती है, वह समस्त भ्रम-भेद-बुद्धि का जनक है, जीव के सारे अकर्तव्य कर्म मोह-प्रेरित हैं, मोहग्रस्त पर उपदेशों का प्रभाव ही नहीं पड़ता।[11] उसकी मोहशृंखला इतनी दृढ़ है कि वह केवल राम

१. रा० ७।१२१ क, और भी दे०—
सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिध जुर, करत फिरत बौराई। —वि० ८१।१
संसृति संनिपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै। —वि० ८१।४
जोबन-जुर जुवती-कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय। —वि० ८३।२

२. वि० ५८।५, ५९।८, ८६।४; दे०—भा० पु० ५।१।१७-१८, स्कन्दपु०, काशीखण्ड, ३५।३४

३. छठ षटवरग करिय जय—वि० २०३।७; षटबिकार जित अनघ अकामा।—रा० ३।४५।४

४. लोभ-ग्राह, दनुजेस-क्रोध, कुरुराज-बंधु खल मार। —वि० ६३।६
तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥ —दो० २६४, रा० ३।३८ क
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥ —दो० २६५, रा० ३।३८ ख

५. रा० ३।४३, दो० २६६; रा० ७।७०ख, दो० २६२

६. क्रमशः—रा० ३।३८ क, ३।४३, दो० २६६, २७०; रा० ३।३९।२; रा० ३।३८ ख

७. दे०—रा० ३।३८ पर मा० पी०

८. गीता, २।६२; भ० र० २।३६

९. रा० ६।३१।१-२

१०. रा० ७।१२१।१५, वि० ८२।१; रा० ७।१३०। छं० २, वि० १२४।१, २०२।२-३

११. रा० ६।१६।१, दो० २५९; गी० ५।१०।५, वि० २४६।१; रा० ६।२०।३, ७।४१।२; दो० ४८३ ८५

के छुड़ाने से ही छूट सकती है।[1]

मोह, काम आदि की उत्पत्ति माया से हुई है।[2] माया की संतान होने के कारण इन्हें **माया का परिवार** कहना सर्वथा सार्थक है। कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक में मन और उसकी पत्नी प्रवृत्ति से जनित मोह आदि आठ पुत्रों, मिथ्या आदि पुत्रवधुओं, अहंकार आदि नातियों एवं ममता आदि नतबहुओं की चर्चा की गयी है। यह भी निरूपित किया गया है कि प्रवृत्ति की कन्या वासना का विवाह ईश्वर की अदया के पुत्र अज्ञान से हुआ और उनसे संशय, विक्षेप आदि संतानों का जन्म हुआ। मानसरोग-निरूपण में तुलसी ने कृष्ण मिश्र की भाँति सांगरूपक की प्रतीकयोजना नहीं प्रस्तुत की किन्तु अपनी मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना को सरस और शक्तिमती बनाने के लिए खंडरूपकों के शबलित चित्र मार्मिकता के साथ अंकित किये—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहि दाहा॥
ज्ञानी तापस सूर कवि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न येहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि लोचन सर को अस लाग न जाहि॥
गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥
जौबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जसु न नसावा॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥
चिंता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥[3]

बंदीकृत, पराजित अथवा आक्रांत शत्रु के सदृश जीव को परिपीड़ित करने वाले इन मनोविकारों को रूपकांतर से तुलसी ने **'मायाकटक'** भी कहा है। माया-परिवार के मुख्य सदस्य ही इस कटक के संचालक हैं।[4] मन-रूपी मय ने वपुषरूपी ब्रह्मांड में प्रवृत्तिरूपी लंका-दुर्ग का निर्माण किया है। मोहरूपी रावण उसका राजा है। अहंकार, काम आदि उसके कुटुंबी तथा सेनापति हैं। असहाय विभीषण-सरीखा जीव चिंताग्रस्त है।[5] विभिन्न मनोविकारों से संकुल जीव का

१. माधव मोह-फाँस क्यों टूटै। —वि० ११५।१
तुलसिदास प्रभु मोहसंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे। —वि० ११४।५

२. मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥ —रा० ७।५७।१

३. रा० ७।७०।४-७।७१।४

४. ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥ —रा० ७।७१क, दो० २६३

५. बपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित मन-दनुज-मय-रूपधारी।
बिबिध कोसौघ, अति रुचिर मंदिर-निकर, सत्वगुण प्रमुख त्रैकटककारी॥
कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर, बिपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल, संग-संकल्प बीची-बिकारं॥

मनोमय जगत् प्राणघातक पशु-पक्षियों, भूत-प्रेतों आदि से समाकीर्ण भीषण कांतार[1] एवं नर-भक्षी जल-जंतुओं से पूर्ण घोर उत्तुंगतरंगिणी[2] के सदृश भयाकुल है।

दर्शन का मुख्य प्रयोजन उक्त मानस रोगों की आत्यंतिक निवृत्ति है। अतएव 'रामचरित-मानस' के उपसंहार में तुलसी ने उन रोगों का सम्यक् निरूपण करके उनके मूलोच्छेद की संजीवनी-औषधि भी बतायी है। ज्ञानवादी योगवासिष्ठकार ने एकमात्र ज्ञान को ही मानसी चिकित्सा का उपाय बतलाया है।[3] 'रामचरितमानस' के काकभुशुंडि ज्ञान की केवल किंचित्सा-धनता ही स्वीकार करते हैं। उनका अभिमत है कि ज्ञान इन मानस रोगों का केवल आंशिक क्षय करने में ही समर्थ है। विषय-कुपथ्य पाते ही ये परितापी रोग मुनियों के हृदय में भी पुनः अंकुरित हो उठते हैं। इनके आत्यंतिक नाश का एक ही उपाय है—रामभक्ति।[4]

इंद्रियाँ—इंद्रियाँ दस हैं।[5] श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेंद्रियाँ हैं। मन सभी इंद्रियों से संयुक्त होकर जीव को विषयों का भोग कराता है अतः उसे ग्यारहवीं (उभयात्मक) इंद्रिय माना गया

मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ठ-बिबुधांतकारी॥
द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद मद शूलपानी।
अमितबल परम दुर्जय निशाचर-निकर सहित षडवर्ग गोयातुधानी॥
जीव भवदंघ्रि-सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता। —वि० ५८।२-६

१. संसार-कांतार अतिघोर, गंभीर, घन, गहन तरुकर्मसंकुल, मुरारी।
वासना-बल्लि खर-कंटकाकुल बिपुल निबिड़ बिटपाटवी कठिन भारी।
बिबिध चितवृत्ति खग-निकर श्येनोलूक काक बक गृध्र आमिष-अहारी।
अखिल खल, निपुण छल, छिद्र निरखत सदा, जीवजनपथिकमनखेदकारी॥
क्रोध करि मत्त, मृगराज कंदर्प, मद-दर्प बृक-भालु अति उग्रकर्मा।
महिष मत्सर क्रूर, लोभ सूकररूप, फेरु छल, दंभ मार्जारधर्मा॥
कपट मर्कट बिकट, ब्याघ्र पाखण्डमुख, दुखद मृगव्रात उत्पातकर्ता।
हृदय अवलोकि यह शोक सरनागतं, पाहि मां पाहि भो बिश्वभर्ता॥
प्रबल अहंकार दुरघट महीधर, महामोह गिरि-गुहा निबिडांधकारं।
चित्त बेताल, मनुजाद मन, प्रेतगन रोग, भोगौघ बृश्चिक-बिकारं॥
बिषय-सुख-लालसा दंस-मसकादि, खल झिल्लि, रूपादि सब सर्प, स्वामी।
तत्र आक्षिप्त तव बिषम माया नाथ अंध मैं मंद ब्यालादगामी॥ —वि० ५९।२-७

२. घोर अवगाह भव आपगा पापजलपूर, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर, अपारा।
मकर षड्वर्ग, गोनक्र चक्राकुला, कूल सुभ-असुभ दुख तीब्र धारा॥ —वि० ५९।८

३. आत्मज्ञानं विना सारो नाधिर्नश्यति राघव। —यो० वा० ६/१।८१।२५

४. जाने तें छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे॥
राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौं इहि भाँति बनइ संजोगा॥
सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवनि मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
येहि बिधि भलेहि कुरोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥ —रा० ७।१२२।२-४

५. वि० ५४।२, २०३।११-१२

है।[1] वह अंतरिंद्रिय है, अंतःकरण है। अतएव सामान्यतः उसकी गणना इंद्रियों में नहीं की जाती। जब जीव एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त करता है तब वह अपने मन एवं ज्ञानेंद्रियों को भी साथ लेकर जाता है और उनको आश्रय बनाकर शब्दादि विषयों का सेवन किया करता है।[2] तुलसी ने जिस षड्वर्ग के वशीकरण का उल्लेख किया है[3] उसका एक अर्थ यह (मन और ज्ञानेंद्रियों का) षड्वर्ग भी है। यही मनोमय कोश है।

ज्ञानेंद्रिय जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा उसे बाह्य विषयों का बोध होता है। कर्मेंद्रिय वह शक्ति है जिसके द्वारा जीव बाह्य विषयों के भिन्न-भिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न रूपों में अनुभव करता है। जीव को मन के माध्यम से अपने-अपने विषयों का अनुभव कराना इंद्रियों का स्वभाव है। वे इसी में रत रहती हैं; जीव को घेरे रहती हैं; उसे रामविमुख करके विषयों में आसक्त रखती हैं; मन को विश्राम नहीं लेने देतीं।[4] उन्हें रामाभिमुख कर देना उनका उदात्तीकरण है।[5] इंद्रियसंभव दुःख को हृषीकेश राम ही दूर कर सकते हैं।[6] प्रत्येक महाभूत के ज्ञानशक्तिप्रधान सत्त्वांश से अलग-अलग पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और उनके क्रियाशक्तिप्रधान रजोगुणी भाग से पाँच कर्मेंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं[7]—

पाँचों महाभूतों के गुणों का ग्राहक होने के कारण मन पंचमहाभूतात्मक है।[9] अंतःकरण बाह्येंद्रियों के द्वारा उपनीत विषयों का ग्रहण करता है। अतः बाह्येंद्रियाँ 'द्वार' हैं। अंतःकरण द्वाराधिप है। अंतःकरण का संयोग जिस इंद्रिय के साथ होता है उसका द्वार खुल जाता है। अन्य इंद्रियों के द्वार बंद रहते हैं।[10] देववादी हिंदू-दर्शन के अनुसार तुलसी ने इन इंद्रिय-द्वारों के अधिष्ठातृदेवताओं की भी कल्पना की है।[11] ये देवता स्वभावतः विषयभोग के प्रेमी हैं; इन्हें

१. मनु० २।९०-९२; महा०, आश्व० ४२।१३-१४, सा० का० २६-२७
२. गीता, १५।८-९ और उन पर शा० भा०
३. वि० २०३।७
४. वि० ११०।१, वि० १७०।२-४; वि० ८८।१
५. रा० २।१२८।२-२।१२९।३
६. तुलसिदास इंद्रियसंभव दुख हरे बनिहिं प्रभु तोरे। —वि० ११९।५
७. वे० प०, पृ० १६४-६५, सि० बि०, पृ० १६०
८. सा० का० २८
९. सि० बि०, पृ० १६१
१०. सा० का० ३५ पर परमार्थ
११. रा० १।११७।३, ७।११८।६-८; बाह्येंद्रियों के अधिष्ठातृदेवता इस प्रकार हैं—

इंद्रियाँ—	श्रोत्र	त्वचा	चक्षु	रसना	नासिका	वाक्	पाणि	पाद	पायु	उपस्थ
देवता—	दिक्	वात	वरुण (मित्र)	अग्नि	अश्विनीकुमार	वह्नि	इंद्र	उपेंद्र	मृत्यु (यम)	प्रजापति

दे०—वे० प०, पृ० १६४-६५

ज्ञान अच्छा नहीं लगता। ज्यों ही ये देखते हैं कि विषय-बयार आ रही है त्यों ही अपनी अधिष्ठित इंद्रिय का द्वार हठपूर्वक खोल देते हैं—

इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥[1]

'इंद्रीद्वार' से तुलसी का निश्चित अभिप्राय बाह्येंद्रिय के अधिष्ठान से है। किंतु अंतःकरण के अधिष्ठातृदेवों की कल्पना[2] भी उन्हें मान्य है—शंकर[3] और मंदोदरी[4] की उक्तियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

प्राण—सूक्ष्म शरीर का अन्य अवयव 'प्राण'[5] है। प्राण पूर्वोक्त ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मक[6] द्रव्य का क्रियाशक्तिप्रधान अंश है।[7] वृत्तिभेद से वह पाँच प्रकार का होता है—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान।[8] प्राण की दूसरी संज्ञा 'वायु' भी है।[9] उच्छ्वास, निःश्वास, उत्क्रमण आदि प्राण की क्रियाएँ हैं। क्षुधा और पिपासा उसके धर्म हैं।[10] जड़ शरीर को स्पंदित करने के कारण प्राण का विशेष महत्त्व है। 'प्रानहुँ तें प्यारे'[11] जैसे मुहावरे उसकी महत्ता के द्योतक हैं। प्राण के भी परिस्पंदक होने से राम प्राण के भी प्राण हैं।[12]

---

१. रा० ७।११८।६-८

२. अंतःकरण— १. बुद्धि २. अहंकार ३. चित्त ४. मन

अंतःकरण	१. बुद्धि	२. अहंकार	३. चित्त	४. मन
अधिष्ठातृदेवता	ब्रह्मा	शिव	विष्णु	चंद्रमा

—दे०—वे० प०, पृ० १६४

३. 'बिषय करन सुर जीव समेता' (रा० १।११७।३) में प्रयुक्त 'करन' शब्द से अंतःकरण और बाह्यकरण दोनों की अर्थ-व्यंजना होती है।

४. अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ —रा० ६।१५क
जिस प्रकार राम के अंशभूत अन्य देवता जीव के बाह्यकरणों के अधिष्ठाता हैं उसी प्रकार उनके अंशभूत शिव आदि भी जीव के आभ्यंतर करणों के अधिष्ठाता हैं। जीव का शरीर भी विश्वविग्रह (वि० ५४।२-३) राम का ही शरीर है। जो तत्त्व ब्रह्मांड में हैं वे ही पिंड में भी हैं।

५. बि० ५४।२

६. कुछ वेदांती पंचमहाभूतों के सत्त्वांशप्रधान भाग से प्राण की उत्पत्ति मानते हैं, (सि० बि०, पृ० १५६), दूसरे उनके संमिलित रजोगुणी भाग से (पञ्चदशी, १।२२, वे० सा० ५।१७-१८)

७. सि० बि०, पृ० १५६

८. वि० २२।७; दे०—वि० चू० ९७, पञ्चदशी, १।२२, वे० प०, पृ० १६५; वे० सा० ५।६-१३
कुछ विद्वानों ने नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय को मिलाकर इनकी संख्या दस मानी है। अन्य विद्वानों ने इन पाँचों का पूर्वोक्त पाँचों में अंतर्भाव स्वीकार करके उनकी संख्या पाँच ही मानी है।
—(वे० सा० ५।१३-१७)

९. गीता, ४।२७ पर शा० भा०, वे० सा० ४।२८, सा० का० २९

१०. वि० च० १०४

११. राम प्रानहुँ तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥ —रा० २।१६९।१

१२. कवि० ७।१२६ (देवन के देव, देव प्रानहुँ के प्रान हौ), रा० २।२९० (प्रान प्रान के···)

स्थूल शरीर—पूर्वोक्त पाँच तत्वों के पंचीकरण से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है।[१] अमूर्त और सूक्ष्म भूत भोगों के गृहरूप शरीर के बिना जीव के सुखदुःखात्मक भोग उत्पन्न करने में असमर्थ हैं; अतः उसके कर्मों से प्रेरित होकर स्थूल होने के लिए वे पंचीकृत होते हैं।[२] पंचीकृत भूतों के मेल से इंद्रियाधिष्ठान भोगायतन की उत्पत्ति होती है। इसी को सामान्यतः 'शरीर' कहा जाता है। देवों का शरीर सत्त्वप्रधान, मानवों का शरीर रजःप्रधान और तिर्यक्, स्थावर आदि का शरीर तमःप्रधान होता है।[३] मनुष्यादि का शरीर सप्तधातु-निर्मित है। ये सात धातुएँ हैं—मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म और त्वचा।[४] देह-बुद्धि वाला जीव मोह के आश्रयरूप इस क्षणभंगुर शरीर को अपना समझकर उसी की सेवा में रत रहता है।[५]

सूक्ष्म शरीर के पुर्यष्टकरूप[६] की चर्चा तुलसी ने नहीं की। स्थूल शरीर को उन्होंने नौ द्वारों वाला पुर अवश्य कहा है।[७] इस प्रसंग में 'द्वार' शब्द छिद्रार्थवाची है। ये नौ द्वार हैं—दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिका, वाक्, पायु और उपस्थ।[८] ये विषयों की उपलब्धि और विसर्ग के द्वार हैं इसलिए इन्हें 'द्वार' कहा गया है। पुर के स्वामी आत्मा तथा पौरजन-सदृश इंद्रिय-मन-बुद्धि-विषयों का अधिष्ठान होने से इसकी संज्ञा 'पुर' है।[९] इस पुर का वासी होने के कारण जीव 'पुरुष' कहलाता है।[१०]

स्थूलशरीर के उत्पत्तिस्थान (जिसे तुलसी ने 'आकर' और 'खानि' कहा है) की दृष्टि से जीव चार प्रकार के हैं।[११] तुलसी ने उनकी नाम-चर्चा नहीं की। आप्त ग्रंथों में दिये गये उनके नाम हैं—जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज।[१२] भोगभूमि (निवास-स्थान) की दृष्टि से जीवों के तीन वर्ग हैं—जलवासी, स्थलवासी, नभोवासी। जिन विविध योनियों में जीव भ्रमण करता है उनकी संख्या चौरासी लाख है। कतिपय विद्वानों ने भगवान् राम की एक उक्ति के आधार पर मनुष्ययोनि को चौरासी लाख योनियों के अतिरिक्त माना है। इसी प्रकार काक-

---

१. छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥ —रा० ४।११।२
'जड़ पंच मिलै जेहि देह करी करनी लखु धौं धरनीधर की।' (कवि० ७।२७) से वेदांत-प्रतिपादित पंचीकरण की प्रक्रिया ध्वनित होती है।

२. सि० बि०, पृ० १६५

३. सि० बि०, पृ० १७०

४. वि० २०३।८; भा० पु० २।१०।३१, वि० च० ७४

५. रा० २।१६०।२, २।२११।४; वि० १३६।१; रा० २।१४२।१

६. सूक्ष्म शरीर की आठ पुरियाँ—अविद्या, कर्म, काम, अन्तःकरणचतुष्टय, पंचमहाभूत, पंचप्राण, पञ्च-ज्ञानेंद्रिय और पंचकर्मेंद्रिय। —दे०—वि० च० ९८; परमार्थसार, १३ पर विवरण

७. नवद्वारपुर—वि० २०३।१०; दे०—गीता, ५।१३ (नवद्वारे पुरे देही…)

८. गीता, ५।१३ पर विविध भाष्य

९. गीता, ५।१३ पर शा० भा०

१०. पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः। —सा० का० ५५ पर वाच०

११. आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥ —रा० १।८।१
आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं॥ —रा० १।४६।२
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत येह जिव अबिनासी॥ —रा० ७।४४।२
चारि खानि संतत अवगाहीं। अजहुँ न करु बिचार मन माहीं॥ —वि० १३६।६

१२. मनु० १।४३-४६; वे० प०, पृ० १६६; वे० सा० ६।१३-२६

भुशुंडि के कथन के आधार पर नरों के साथ ही सुरों, सिद्धों, नागों और किन्नरों को भी चौरासी लाख की परिधि के बाहर समझा गया है।[1] हमारी मान्यता है कि ये सब चौरासी लाख के अंतर्गत ही हैं। उक्त प्रसंगों में इनका स्वतंत्र उल्लेख केवल गौरवप्रदर्शनार्थ किया गया है; जैसे, **'सुर नर मुनि सबकें येह रीती'**[2] में 'मुनि' शब्द का प्रयोग। भक्तिसाधन की दृष्टि से मानवतन सर्वश्रेष्ठ है।[3]

पाँच कोश—जीव के ब्रह्मांडरूपी शरीर का निरूपण करते हुए तुलसी ने सत्त्व आदि गुणों से घिरे हुए विविध कोशों की ओर भी संकेत किया है।[4] 'तैत्तिरीयोपनिषद्',[5] 'पञ्चदशी'[6] आदि ग्रंथों में कोशों का व्यवस्थित निरूपण किया गया है जीवात्मा को परिच्छिन्न करने वाले वे आवरण (खोल) जिनसे यह शरीर बना है 'कोश' कहे जाते हैं। आवरक होने के कारण उनकी संज्ञा 'कोश' है। वे पाँच हैं—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनंदमय कोश।

यह स्थूल देह ही **अन्नमय कोश** है। जो प्राणियों का भोज्य और भोक्ता है, वह अन्न है।[7] अन्न से उत्पन्न, अन्न का विकार[8], यह शरीर अन्न से जीता तथा वृद्धि को प्राप्त होता है और उसके बिना नष्ट हो जाता है, अतएव इसे 'अन्नमय कोश' कहते हैं।[9] अन्नमय कोश का प्रवर्तक **प्राणमय कोश** है। 'प्राण' का अर्थ है वायु। जिस प्रकार वायु से धौंकनी भरी रहती है उसी प्रकार प्राणमय वायु से यह अन्नरसमय शरीर भरा हुआ है।[10] पाँच कर्मेंद्रियों से युक्त यह प्राण ही 'प्राणमय कोश' कहलाता है[11] जो अन्न से तृप्त अन्नमय कोश का बलदाता और कर्म-

---

१. दे०—मा० पी० १।८।१, ७।८०।८

२. रा० ४।१२।१

३. रा० ७।४३।४, ७।१२१।५, वि० १९४।१-२

४. बिबिध कोसौघ अतिरुचिर मंदिर निकर, सत्वगुन प्रमुख त्रैकटककारी। —वि० ५८।२
सर्वश्री वियोगी हरि, हनुमानप्रसाद पोद्दार, देवनारायण द्विवेदी, श्रीकान्तशरण आदि ('विनयपत्रिका' के) टीकाकारों ने उपर्युक्त 'कटक' का अर्थ किया है—सेना (कटककारी=सेनापति)। हमारे विचार से प्रस्तुत प्रसंग में उसका अर्थ 'घेरा' है। इस अर्थ के समर्थन में दो तर्क दिये जा सकते हैं—(क) कोशों के उपमान महल हैं और महलों के चारों ओर प्राचीर आदि का घेरा हुआ करता है। (ख) अथर्ववेद (१०।८।४३) में भी शरीर को तीन गुणों (रस्सियों) से 'आवृत' कहा गया है—पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।

५. तै० उ०, ब्रह्मानन्दवल्ली, अनुवाक १-५

६. पञ्चदशी, प्र० ३ (पञ्चकोशविवेकप्रकरण)

७. अद्यते भुज्यते चैव यद्भूतैरन्नमत्ति च भूतानि स्वयं तस्माद्भूतैर्भुज्यमानत्वाद्भूतभोक्तृत्वाच्चान्नं तदुच्यते ॥
—तै० उ० २।२।१ पर शा० भा०

८. स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः। —वे० सा० ६।३०

९. अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते। —तै० उ० २।२।१ पर शा० भा०
देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोशश्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः। —वि० च० १५६
पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥ —पञ्चदशी, ३।३

१०. प्राणो वायुस्तन्मयस्तत्प्रायः। तेन प्राणमयेनान्नरसमय आत्मैष पूर्णो वायुनेव दृतिः।
—तै० उ० २।२।१ पर शा० भा०

११. प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। —वे० सा० ५।१९

प्रेरक है।[1] अन्नमय कोश और प्राणमय कोश दोनों ही क्रियाप्रधान है। प्राणमय कोश से प्रेरित अन्नमय कोश के समस्त व्यापारों का आदेशक या सचालक **मनोमय कोश** है। इसीलिए इसे प्राणमय कोश का शारीरिक आत्मा कहा गया है।[2] संकल्पविकल्पात्मक अन्तःकरण को 'मन' कहते हैं, जो तद्रूप हो वह 'मनोमय' है।[3] यद्यपि 'मन्' धातु का सामान्य प्रचलित अर्थ है सोचना-विचारना तथापि व्यापक अर्थ में काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय—ये सभी मन है।[4] इस प्रकार मूर्धा-तत्त्व और हृदय-तत्त्व दोनों ही मन के अंतर्गत हैं। ज्ञानेद्रियों-सहित मन ही बलवान् मनोमय कोश है जो पूर्वकोशों को व्याप्त करके स्थित है[5], जो देह में अहंता और गेहादि में ममता-बुद्धि की कल्पना करता है।[6] यह कोश ज्ञानशक्ति-प्रधान है।[7] उपर्युक्त मनोमय कोश की शक्ति का स्रोत और उसका संचालक **विज्ञानमय कोश** है। चित्त, इंद्रिय आदि का अनुगमन करने वाली चेतन की प्रतिबिंबशक्ति (जो प्रकृति का विकार है) 'विज्ञान' कहलाती है।[8] ज्ञानेंद्रियों सहित वृत्तियुक्त बुद्धि ही विज्ञानमय कोश है जो कर्तापन के स्वभाव वाला और जीव के संसार का कारण है[9]; आत्मा के अति सांनिध्य के कारण अत्यंत प्रकाशमय है।[10] यद्यपि मन और बुद्धि दोनों ही अंतःकरण हैं तथापि मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश दोनों एक नहीं है, क्योंकि बुद्धि कर्तृरूप है और मन करणरूप। दूसरा कारण यह है कि दोनों परस्पर अंतर्बहिर्वर्ती हैं; अर्थात् विज्ञानमय कोश मनोमय कोश को व्याप्त करके उसके अंतर में वर्तमान है।[11] यह कोश संवेदनशक्तिप्रधान है। अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय कोश के संचालक विज्ञानमय कोश का शक्तिदायक और आंतर कोश **आनंदमय कोश** है। शंकर ने विद्या और कर्म के फल को 'आनंद' कहा है; उस आनंद का विकार 'आनंदमय' है।[12] पुण्य के भोगकाल में आनंद के प्रतिबिंब से युक्त बुद्धि की अंतर्मुख वृत्ति ही आनंदमय कोश

---

१. वि० चू० १६७, पञ्चदर्शी, ३।५
२. तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। —तै० उ० २।४।१
३. मन इति सङ्कल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो मनोमयः। —तै० उ० २।३ पर शा० भा०
४. कामः सङ्कल्पः। विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वम्मन एव। —श० ब्रा० १४।४।३।६
५. ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयांस्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भते यः॥ —वि० चू० १६९
६. अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः॥ —पञ्चदशी, ३।६
७. इस वाक्य में 'ज्ञान' का तात्पर्य व्यावहारिक ज्ञान है।
८. वि० चू० १८७, पञ्चदशी, ३।७
९. बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम्॥ —वि० चू० १८६
अनादिकालोऽयमहंस्वभावो जीवः समस्तव्यवहारवोढा।
करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि॥ —वि० चू० १८८
१०. वि० चू० १९०
११. पञ्चदशी, ३।८
१२. आनन्द इति विद्याकर्मणोः फलं तद्विकार आनन्दमयः। स च विज्ञानमयादान्तरः।
—तै० उ० २।५।१ पर शा० भा०

है।[1] यह आनंदप्रचुर है और कोश की भाँति जीवात्मा को आच्छादित किये हुए है, अतएव इसका नाम 'आनंदमय कोश' है।[2]

पूर्वोक्त तीन शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) तथा इन पाँचों कोशों का संबंध इस प्रकार है। ये पंचकोश ही त्रिदेह हैं। स्थूलशरीर पूर्णस्थूल अन्नमय कोश एवं अल्पस्थूल प्राणमय कोश का संयुक्त रूप है। अंशतः सूक्ष्म प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश मिलकर सूक्ष्मशरीर हैं। कारणशरीर ही आनंदमय कोश है। इन तीन शरीरों और इनकी तीनों अवस्थाओं से परे जो चतुर्थ अवस्था या दिव्य शरीर है वह इन पाँच कोशों से मुक्त है। युक्त योगी अपने ज्ञान-बल से पाँचों कोशों, तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं को पार कर इस जीवन में भी ब्रह्म-सुख की अनुभूति कर सकता है। भक्त के लिए यह दशा और भी सुलभ है।

जीव की चार अवस्थाएँ—

तुलसीदास के अनुसार, देहाभिमान की दृष्टि से, जीव की चार अवस्थाएँ[3] हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। प्रथम तीन अवस्थाएँ अभिमानी जीव की हैं।[4] चौथी अवस्था (तुरीया)[5] अभिमान-मुक्त जीव की है। जाग्रदवस्था में इंद्रियाँ और मन दोनों कार्यशील रहते हैं। स्वप्नावस्था में इंद्रियों का कार्य बंद हो जाता है, केवल मन (स्वतेजसा) कार्यशील रहता है। सुषुप्ति-दशा में मन का कार्य भी बंद हो जाता है, परंतु वह अविद्या-रूप में वहाँ विद्यमान रहता है। तुरीयावस्था में मन ही समाप्त हो जाता है और चैतन्य अपने स्वरूप में स्थित होता है। इन चार अवस्थाओं के अनुसार जीव भी चार प्रकार के हैं–विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय।

जाग्रदवस्था—अविद्या, (उसके परिणाम) अंतःकरण और स्थूलशरीररूप उपाधि से युक्त एवं जाग्रदवस्था का अभिमानी जीव 'विश्व' कहलाता है।[6] इस अवस्था में जीव को सब बातों का ज्ञान होता है; वह इंद्रियों द्वारा विविध प्रकार के विषयों, व्यवहारों एवं कार्यों का अनुभव करता है अतएव इसे '**जाग्रदवस्था**' कहते हैं।[7] बाह्य-ज्ञान का समस्त विषय विश्व है। विश्वनिष्ठ होने के कारण इस अवस्था के अभिमानी जीवात्मा की संज्ञा 'विश्व' है।[8] स्थूलशरीरपर्यंत प्रविष्ट होने के कारण भी इसे 'विश्व' कहते हैं।[9] इसका स्थान जागरितावस्था है, अतः इसे

---

१. क्वचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते॥ —पञ्चदशी, ३।९

२. आनन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः। —वे० सा० ३।१९

३. जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं। —रा० १।३२५। छं० ४
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिश्च तुरीयं चाधिभौतिकम्। —लि० पु० १।८६।७२

४. जीव सीव सम सुखसयन सपनें कछु करतूति।
जागत दीन मलीन सोइ बिकल बिषाद बिभूति॥ —दो० २४६

५. तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास ते काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करइ सुगाढ़ि॥ —रा० ७।११७ ग

६. अविद्यान्तःकरणस्थूलशरीरावच्छिन्नो जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वः। —सि० बि०, पृ० १५३

७. जाग्रतदवस्था का? श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दादिविषयैश्च ज्ञायते इति यत्सा जाग्रदवस्था। —तत्त्वबोध; मा० पी० १।३२५। छं० ४, (पृ० ९०३ पर उद्धृत)

८. दे०—मा० पी० १।३२५। छं० ४

९. दे०—वे० सा० ७।३

'जागरितस्थान' कहते हैं।[1] यह 'बहिष्प्रज्ञ' कहलाता है, क्योंकि इसकी प्रज्ञा अपने से भिन्न विषयों में रहती है, अर्थात् इसकी अविद्याकृत बुद्धि बाह्यविषयों से संबद्ध-सी भासती है।[2]

स्वप्नावस्था—स्थूलशरीर के अभिमान से रहित एवं अविद्या तथा अंतःकरण की उपाधियों से अवच्छिन्न स्वप्नाभिमानी जीव 'तैजस' कहलाता है।[3] तेजोमय अंतःकरण से उपहित,[4] और अपनी विषयशून्य एवं केवलप्रकाशस्वरूप प्रज्ञा का विषयी (अनुभव करने वाला) होने के कारण इसकी संज्ञा 'तैजस' है।[5] इसका स्थान स्वप्न है इसलिए इसे 'स्वप्नस्थान' कहा गया है।[6] इसका शरीर सूक्ष्म होता है। जाग्रदवस्था में देखे या सुने गये विषयों के द्वारा उत्पन्न वासना से निद्राकाल में जो प्रपंच प्रतीत होता है वह **'स्वप्नावस्था'** है।[7] अनेकसाधनवती जाग्रत्कालीना प्रज्ञा मन का स्पंदनमात्र होने पर भी बाह्यविषयसंबंधिनी-सी प्रतीत होती हुई मन में वैसा ही संस्कार उत्पन्न करती है। उपनिषदों का हवाला देकर आचार्य शंकर ने बतलाया है कि चित्रित वस्त्र के समान इस प्रकार के संस्कारों से युक्त मन (बाह्य साधन की अपेक्षा के बिना ही) अविद्या, काम और कर्म से प्रेरित होकर जाग्रत्-सा भासने लगता है।[8]

सुषुप्त्यवस्था—स्थूलशरीर और अंतःकरण इन दोनों उपाधियों से रहित, अंतःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न अविद्यामात्र से उपहित एवं सुषुप्ति का अभिमानी जीव 'प्राज्ञ' कहलाता है।[9] अव्यक्त-नामक त्रिगुणात्मिका अविद्या ही इसका शरीर है।[10] अहंकारादि सबका कारण होने के कारण इसे 'कारणशरीर' कहते हैं।[11] 'प्राज्ञ' की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। १. प्रायेण अज्ञः—अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदि गुणों से विशिष्ट होने के कारण यह प्राज्ञ है।[12] २. प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः—भूत, भविष्य और संपूर्ण विषयों का ज्ञाता यही है, अतएव प्राज्ञ है; सुषुप्त होने पर भी भूतपूर्वगति से प्राज्ञ है; अथवा, प्रज्ञप्तिमात्र इसका असाधारणरूप है, इसलिए प्राज्ञ है (क्योंकि विश्व और तैजस को तो विशिष्ट विज्ञान भी होता है)।[13] तुलसी के सिद्धांत प्रथम व्याख्या के ही समर्थक हैं।[14] प्राज्ञ की अवस्था सुषुप्ति

---

१. जागरितस्थानमस्येति जागरितस्थानः। —मा० उ०, मन्त्र ३ पर शा० भा०

२. बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाविद्याकृतावभासत इत्यर्थः। —मा० उ०, मन्त्र ३ पर शा० भा०

३. स एव स्थूलशरीराभिमानरहित उपाधिद्वयोपहितः स्वप्नाभिमानी तैजसः। —सि० बि०, पृ० १५३

४. व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। —वे० सा० ५।३०

५. विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः।—मा०उ०, मन्त्र४ पर शा० भा०

६. स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स्वप्नस्थानः। —मा० उ०, मन्त्र ४ पर शा० भा०

७. स्वप्नावस्था केति चेत्? जाग्रदवस्थायां यद्दृष्टं यच्छ्रुतं तज्जनितवासनया निद्रासमये यः प्रपन्चः प्रतीयते सा स्वप्नावस्था। —तत्त्वबोध; मा० पी० १।३२५। छं० ४ (पृ० ९०३ पर उद्धृत)

८. मा० उ०, मन्त्र ४ पर शा० भा०

९. शरीरान्तःकरणोपाधिद्वयरहितोऽन्तःकरणसंस्कारावच्छिन्नाविद्यामात्रोपहितः सुषुप्त्यवस्थाभिमानी प्राज्ञः। —सि० बि०, पृष्ठ १५३

१०. वि० चू० ११०, १२२ (अव्यक्तमेतत्त्रिगुणैर्निरुक्तं तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः।)

११. अहंकारादिकारणत्वात्कारणशरीरम्। —वे० सा० ३।१८

१२. अल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यत एकाज्ञानावभासकत्वात्॥ —वे० सा० ३।१६-१७

१३. मा० उ०, मन्त्र ५ पर शा० भा०

१४. रा० ७।१११ ख, ७।११७।२

है। इसमें सोया हुआ पुरुष किसी भोग की कामना नहीं करता और न कोई स्वप्न देखता है। इसमें इंद्रिय-बुद्धि की संपूर्ण वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं, सब प्रकार की प्रमा शांत हो जाती है और बुद्धि बीजरूप से अवस्थित रहती है। इसमें स्थूलसूक्ष्म प्रपंच का लय हो जाता है। सर्वोपरम के कारण ही इसे 'सुषुप्ति' कहते हैं।[1] इसकी प्रतीति 'मैं सुख से सोया, कुछ नहीं जानता' इस प्रकार की लोकप्रसिद्ध उक्ति से होती है।[2]

तुरीयावस्था—अज्ञान और अज्ञानोपहित चैतन्य के आधारभूत अनुपहित चैतन्य को 'तुरीय' कहा जाता है। विश्व, तैजस और प्राज्ञ से भिन्न यह चतुर्थ चैतन्य अद्वैत, अवस्थात्रयसाक्षी और सच्चिदानंदस्वरूप है। इस तुरीयावस्था में समस्त भेद-ज्ञान का नाश हो जाता है। परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं देख पड़ता। जीव उसी में लय हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है।[3] ज्ञानमार्गी सिद्ध भगवान् में लीन हो जाता है और भक्तिमार्गी उपासक दिव्यशरीर से भगवान् के लोक में दासभाव से निवास करता है।

'माण्डूक्य' उपनिषद् आदि में आत्मा को 'चतुष्पात्' कहा गया है—वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा।[4] उपनिषद्कार की उपर्युक्त मान्यता तुलसी को अंशतः स्वीकार्य है, क्योंकि ब्रह्म और जीवात्मा का सर्वथा अद्वैत उन्हें मान्य नहीं है। वे जीव की चार अवस्थाएँ तो मानते हैं; परंतु, राम की नहीं। क्योंकि राम सभी आवरणों से परे है, अतः वे कोशावच्छिन्न नहीं हो सकते। तुरीयावस्था में जीव राम का स्वरूप तो प्राप्त कर लेता है, किन्तु शक्ति नहीं। 'सोऽहं'-बुद्धि और 'दासोऽहं'-बुद्धि के अनुसार उसकी स्थिति में भेद भी हो सकता है।

ताप और पुरुषार्थ—

जीव के त्रिविध ताप[5]—कहा जा चुका है कि अविद्या के वशीभूत जीव अपने सहज स्वरूप को भूल जाता है। अपने हृदय में सच्चिदानंदस्वरूप भगवान् का निवास होने पर भी दुःखी होता है।[6] विभिन्न भोगायतनों के माध्यम से विविध भोगभूमियों में भ्रमता हुआ नाना प्रकार के नारकीय क्लेश सहता है।[7] उसके पीड़क दुःख तीन प्रकार[8] के हैं—दैहिक, दैविक और भौतिक।[9] दैहिक ताप भी दो प्रकार के हैं—आधि और व्याधि,[10] दूसरे शब्दों में—मानसिक और शारीरिक। ये दोनों ताप क्रमशः पूर्वविवेचित मानस और शारीर रोग हैं। आघात और व्रण से उत्पन्न कष्ट भी शारीरिक के अंतर्गत हैं। रामराज्य में जहाँ धर्म के चारों चरण विद्यमान थे,

---

१. मा० उ०, मन्त्र ५ और उस पर शा० भा०; वि० चू० १२२-२३; वे० सा० ३।१०-११
२. वि० चू० १२३, वे० सा० ३।२३
३. दे०—वे० सा० ३।२८-३०; मा० उ०, मन्त्र ७, उस पर माण्डूक्यकारिका, १०-१६ तथा शा० भा०; मा० पी० १।३२५। छं० ४
४. दे०—मा० उ०, मन्त्र २-७ और उन पर शा० भा०; रा० उ० ता० उ०, ६-१४
५. तुलसी यह तन तवा है, तपत सदा त्रय ताप। —वै० सं० ६
६. ब्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी। —रा० १।२३।३-४
७. वि० २३१।२, २४४।१-४
८. वि० ६८।१, ७४।३, १०१।१; रा० २।२३५।२, ५।३१।४, ६।१२०।५; गी० १।५।६, २।४६।२
९. दुःखत्रय(आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक)के विवेचन के लिए दे०—सा० का० १ पर वाच०,गौड०
१०. आधि मगन-मन,ब्याधि-बिकल-तन, बचन मलीन झुठाई। —वि० १९५।४

कोई भी कष्ट किसी को भी नहीं व्यापा।[1] धर्म-भ्रष्ट कलियुग में इन दुःखों का ही साम्राज्य है।[2] तुलसीदास ने स्वयं भी इन सभी प्रकार के क्लेशों का कटु अनुभव किया था।[3]

जीव के पुरुषार्थ—उपर्युक्त तापों के निवारणार्थ, ऐहिक एवं आमुष्मिक सुख की प्राप्ति के लिए, जीव अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। उसके सामान्यतः वर्णित पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।[4] इन्हीं को तुलसी ने चार पदार्थ[5] या चार फल[6] भी कहा है। यद्यपि अर्थ काम के ही अंतर्गत है तथापि उसके वैशिष्ट्य के कारण उसका अलग से व्यपदेश हुआ है। इन चार अर्थों से भी बढ़कर अर्थ (परमार्थ)[7], इन चार फलों का भी फल, रामभक्ति है।[8] तुलसी ने इन पाँचों पुरुषार्थों को मोटे तौर पर दो वर्गों में रखा है—स्वार्थ और परमार्थ।[9] इनको हम क्रमशः अभ्युदय और निःश्रेयस कह सकते हैं। अर्थ तथा काम स्वार्थ के अंतर्गत आएँगे, और मोक्ष एवं भक्ति परमार्थ के। अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुक होने के कारण धर्म उभयनिष्ठ है।

जीव के विविध प्रकार—

त्रिविध जीव—पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए जीव कर्म में प्रवृत्त होता है। कर्मण्यता की दृष्टि से तुलसी ने जीव के तीन वर्ग माने हैं—पाटलसम, रसालसम और पनससम। जो केवल बकवाद करते हैं, पुरुषार्थ नहीं करते, वे पाटल के समान हैं। जो वाणी से कहते भी हैं और पराक्रम से उसे कार्यान्वित भी करते हैं, वे रसाल के समान हैं। जो मनसा चिंतित कार्य का वाचिक प्रकाशन न करके उसे केवल चरितार्थ करते हैं, वे पनस के समान हैं।[10] समाजशोषक अकर्मण्यों या कर्महीनों की गणना करना तुलसी को अनपेक्षित प्रतीत हुआ, अतएव उन्होंने यहाँ पर उनका उल्लेख नहीं किया।

द्विविध जीव—ज्ञान की दृष्टि से जीव दो प्रकार के हैं—जड़ और सुजान। जो देह-गेह के स्नेह की भ्रांतिमयी मृगतृष्णा में पड़ा हुआ है वह जीव जड़, अविवेकी या मूढ़ है।[11] सुजान वह है जो मोह-निद्रा का त्याग कर भगवान् के प्रति अनुराग करता है।[12] सिद्धि-प्राप्ति की दृष्टि से

१. दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥ —रा० ७।२१।१
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥ —रा० ७।२१।३

२. शारीरिक—रा० ७।१०२।२, मानसिक—रा० ७।१०२।४, दैविक—रा० ७।१०१।५, भौतिक—रा० ७।९९

३. शारीरिक (हनु० ३०); मानसिक (वि० २४५); दैविक (कवि० ७।७३); भौतिक (कवि० ७।१०६-८)

४. कवि० ७।१५८, रा० १।३७।५, २।२०४; दे०—ना० पु० १।४।१९, मा० पु० ४१।२०

५. रा० १।१६४।४, गी० १।२२।९

६. वि० १३५।१, गी० ३।१५।४, जा० मं० २४, पा० मं० ४५, ब० रा० ५६

७. सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥ —रा० २।९३।३

८. नाम को भरोसो बल चारिहूँ फल को फल, सुमिरिये छाँड़ि छल, भलो क्रतु है॥ —वि० २५४।२
बेद हू पुरान हू पुरारि हू पुकारि कह्यो नाम-प्रेम चारि फल हू को फरु है। —वि० २५५।३

९. वि० १३९।६, १५१।५, १९५।२, रा० २।२८९।४

१०. संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा।
एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥ —रा० ६।९०।छं०

११. वि० ७३।१-२, २४५।१, रा० २।१४२।१

१२. जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव, जागि त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्रीहरे। —वि० ७४।१

सुजान के भी दो प्रकार हैं—साधक और सिद्ध ।[1]

पुनः त्रिविध जीव—साधना के आधार पर तुलसी ने जीवों की तीन विधाएँ बतलायी हैं—विषयी, साधक और सिद्ध ।[2] त्रिविध जीवों का ऐसा ही वर्गीकरण उन्होंने दूसरे प्रसंग में भी प्रस्तुत किया है—विषयी, विरत और विमुक्त ।[3] दूसरे वर्गीकरण के 'विरत' और 'विमुक्त' पहले वर्ग के 'साधक' तथा 'सिद्ध' के ही समशील हैं । इन तीनों का अंतर्भाव उपर्युक्त जड़ और सुजान में ही हो जाता है । विषयी जीव जड़ हैं । साधक (विरक्त) और सिद्ध (विमुक्त) जीव सुजान हैं । 'विनयपत्रिका' में जीव की दीनहीनता का जो वर्णन तुलसी ने अनेक स्थलों पर किया है[4] वह वस्तुतः विषयी जीव का ही निरूपण है ।

भोग्य-पदार्थों में आसक्त जीव को '**विषयी**' कहते हैं । विषयी का प्राप्य ऐश्वर्य-भोग है । उसका अभागा मन भगवान् से विमुख होकर सुखसंपत्ति की प्राप्ति में ही यत्नशील रहता है जो उसका बंधमोक्ष नहीं होने देती; उसकी सहज लोलुप इंद्रियाँ कलंक-कारक प्रपंच-विषयों में स्वभावतः लिप्त रहती हैं । उसके नेत्र परनारी के दर्शन में, कान परनिंदा के श्रवण में, नासिका उद्दीपक सुगंधित पदार्थों के घ्राण में, रसना षड्रस के आस्वादन में और त्वचा चंद्रवदनी के वस्त्रादि के स्पर्श में ही सुख का अनुभव करती हैं । रामभक्तिप्रापक शरीर मिल जाने पर भी वह अघाकर पाप ही करता है ।[5] वह हृदय को विषयों के हाथ बेचकर शरीर-सेवा करता हुआ सारा जीवन नष्ट कर देता है ।[6] विपर्यस्तबुद्धि विषयी जीव भोग्य वस्तुओं को अनर्थरूप जानता हुआ भी उनमें अनुरक्त रहता है; काम, क्रोध आदि चित्तवृत्तियों से अभिभूत होकर वासनाओं के संकेत पर नाचता हुआ संसृति का दारुण दुःख सहता रहता है ।[7] अपनी मतिहीनता के कारण ऐसा जीव फर्श में अपने ही प्रतिबिंब को पक्षी समझकर चोंच मारने वाले श्येन अथवा धूम-समूह को मेघ समझकर पीड़ित होने वाले चातक के समान है; अपनी विषय-लोलुपता के कारण वह बकरे, गधे, कुत्ते, सियार और सूअर के तुल्य है ।[8] विषयों के चक्कर में दुर्गति भोगता हुआ भी वह उनका परित्याग नहीं कर पाता ।[9] पहले कहा जा चुका है कि जीव की प्रमुख सामान्य प्रवृत्तियाँ चार

---

१. साधक सिद्ध सुजान—रा० १।१
'साधक सिद्ध सुजान' के विविध अर्थों के लिए दे०—मा० पी० १।१

२. बिषई साधक सिद्ध सयाने । त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥ —रा० २।२७७।२

३. सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई । लहहिं भगति गति संपति नई ॥ —रा० ७।१५।३

४. वि० ८१, ६१, ११०, ११७, ११८, १३६, १४३, १५८, १७०

५. दो० २६०, वि० ११०।१-२, १७०।२-४, १६४।२

६. वि० १७१।४-५, रा० २।१४२।१, वि० १३६।६-८;
जनम गयो बादिहिं बर बीति ।
परमारथ पाले न पर्‌यो कछु, अनुदिन अधिक अनीति ॥
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौबन जुवतिन लियो जीति ।
रोग-बियोग-सोग-श्रम-संकुल बड़ि बय बृथहि अतीति ॥ —वि० २३४।१-२

७. वि० ११७।२-४; ६१।१-३; वि० ८१।१-४

८. वि० ६०।२-३; वि० ८६।३, ६२।४, ११७।२, १४०।३

९. ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै ॥

हैं—भय, निद्रा, मैथुन और आहार। इनमें भी अंतिम दो प्रबलतम हैं। विषयी जीव इन्हीं के वशीभूत रहता है। ऐसे ही कलियुगी जीवों को तुलसी ने **शिश्नोदरपर** कहा है।[1] मूढ़ विषयी जीव प्रभुता पाकर मूढ़तर हो जाता है।[2]

'साधक' जीव वे हैं जो भक्ति या ज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है और जिन्हें उसकी उपलब्धि अभी हुई नहीं है। साधकों की भी दो कोटियाँ हैं। पहली कोटि में वे अपरिपक्व साधक हैं जो विषयविरक्त होकर राम की भक्ति में मग्न हो जाना चाहते हैं, किंतु उनका मन बारंबार विषयों की ओर खिंच जाया करता है।[3] रामकथा के पात्रों में सुग्रीव इसका उपयुक्त उदाहरण है।[4] दूसरी कोटि उन परिपक्व साधकों की है जिन्हें भोग-विषयों से विराग हो गया है, विवेक-ज्ञान की प्राप्ति से जिनकी इंद्रियाँ निश्चेष्ट हो गयी हैं और जो अप्रतिहत गति से मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर हैं।[5] अत्रि, शरभंग, शबरी आदि की साधकावस्था इसी प्रकार की है। पूर्वोक्त विरत जीव साधकों की इसी कोटि में आएँगे। जिसने संसार की मायिकता एवं राम के परमार्थ-स्वरूप को जान लिया है[6], जिसकी जड़-चेतन की ग्रंथि खुल गयी है, जो ब्रह्मानंद में सदैव लयलीन रहता है, वह जीव **'सिद्ध'** है।[7] उपरिसंकेतित संदर्भों से क्रमशः संबद्ध तुलसीदास, जनक और सनकादि सिद्ध जीव हैं।

तुलसीदास ने राम और पार्वती के मुख से इन जीवों का तारतम्य भी निरूपित किया है। सभी प्रकार के जीव राम की संतान होने के कारण उन्हें प्रिय हैं। विषयी जीवों में मनुष्य महान् है, और ब्राह्मण महत्तर। विषयी जीवों की अपेक्षा साधक जीव राम को अधिक प्रिय है। साधक जीवों की भी दो कोटियाँ हैं—धर्मशील और विरक्त। सामान्य धर्मशील की तुलना में विरक्त श्रेष्ठ है। सिद्ध जीवों की क्रमशः चार कोटियाँ हैं—ज्ञानी, जीवन्मुक्त, ब्रह्मलीन विज्ञानी और

लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यौं जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥ —वि० ८९।२-३

१. लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिश्नोदर पर जमपुर त्रास न॥ —रा० ७।४०।१

२. बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिं जनाई॥ —रा० २।२२८।१

३. परमारथ पहिचानि मति लसति बिषयँ लपटानि।
निकसि चिता तें अधजरति मानहुँ सती परानि॥ —दो० २५३
मैं तुम्हरो लेइ नाम ग्राम इक उर आपने बसावो।
भजन, बिबेक बिराग लोग भले, मैं क्रम क्रम करि ल्यावों॥
सुनि रिसि भरे कुटिल कामादिक, करहिं जोर बरिआईं।
तिन्हहिं उजारि नारि-अरि-धन पुर राखहिं राम गुसाईं॥ —वि० १४५।३-४
कबहुँक हौं संगति प्रभाव तें जाउँ सुमारग नेरो।
तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो॥ —वि० १४३।६
संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि।
करौं जो कुछ धरौं सचि-पचि सुकृत सिला बटोरि।
बैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि॥ —वि० १५८।३-४

४. रा० ४।१९।२, ४।२०।४, ४।२१।२-३

५. रा० २।१३२।४, रा० ४।१५।१, ६, ७।११७।७-८

६. वि० १८८।१-५; तु० दे०—धम्मपद, ११।८-९

७. गी० १।८८।३, रा० ७।३२।२

रामभक्त। रामभक्त सर्वश्रेष्ठ है—

क. मम माया संभव परिवारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा ॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब तें अधिक मनुज मोहिं भाए ॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी ॥
तिन्ह महुँ प्रिय बिरक्त पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहुँ तें अति प्रिय बिज्ञानी ॥
तिन्ह तें पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥

ख. नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मब्रत धौरी ॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई ॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ॥
ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन्मुक्त सकृत जग सोऊ ॥
तिन्ह सहस्र महँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी ॥
धर्मसील बिरक्त अरु ज्ञानी। जीवन्मुक्त ब्रह्मपर प्रानी ॥
सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया ॥[१]

मुक्ति और मुक्त जीव—पूर्वोक्त विषयी, विरत और विमुक्त जीवों के मूलतः दो ही वर्ग हैं—अमुक्त या बद्ध और मुक्त। प्रथम दो अमुक्त हैं। इनकी चर्चा की जा चुकी है। मुक्तजीवों का विवेचन करने के पहले मुक्ति के विषय में भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। त्रिविध दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति ही जीव का परम पुरुषार्थ है।[२] इसके लिए तुलसी ने **मुक्ति** या **मोक्ष**[३], **निर्वाण**[४], **कैवल्य**[५], **अपवर्ग**[६], **सुगति**,[७] **परम गति**[८] आदि शब्दों का व्यवहार किया है। पुराणों में भी 'निर्वाण', 'कैवल्य' आदि शब्दों का प्रयोग 'मोक्ष' के पर्यायरूप में हुआ है।[९]

'**मोक्ष**' के स्वरूप के विषय में विभिन्न दार्शनिकों में काफी मतभेद हैं, परंतु सभी विचारकों को यह समान रूप से इष्ट है कि मोक्ष संसार-दुःख का आत्यंतिक निरोध है, संसार से निःसरण है, अतएव उपादेय है। वेदांतियों ने अज्ञानमय ग्रंथि के नाश को,[१०] परमात्मा में जीवात्मा के लय को, 'मोक्ष' कहा है।[११] इसी प्रकार पुराणों में भी जीव तथा ब्रह्म की एकता 'मुक्ति' कही गयी है।[१२] 'अध्यात्मरामायण' के राम ने बतलाया है कि जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होने पर कार्यसहित अविद्या की परमात्मा में लयावस्था 'मुक्ति' है।[१३] 'भागवत' में कहा

१. क्रमशः—रा० ७।८६।२-४, रा० ७।५४।१-४
२. सा० सू० १।१ और उस पर साङ्ख्यप्रवचनभाष्य
३. रा०४।१। सो०, दो० २३७, कृ० ३३; रा० ६।११२।३, दो० १२४, कवि० ७।१८२
४. वि० ५६।५, रा० २।२०४, गी० १।८८।३
५. रा० ७।११९।१-२, वि० ५८।८, कवि० ७।११५
६. दो० ३४०, रा० १।३१५।३, वि० २१०।३
७. गी० २।८२।३
८. रा० ३।५।९, ७।२१।२
९. प० पु० ६।२५६।८, कू० पु० २।२।५४, २।१०।११
१०. अज्ञानमयग्रन्थेर्भेदो यस्तं विदुर्मोक्षम्। —परमार्थसार, ७३
११. वेदान्तिनस्तु 'परमात्मनि जीवात्मलयो मोक्षः' इति वदन्ति—योगसारसंग्रह, पृ० ६५
१२. वायुपु० २।४२।९७, मा० पु० ३६।१
१३. अ० रा० ३।४।४२-४४

गया है कि अज्ञान-कल्पित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्मभाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाना ही 'मुक्ति' है।[1] योगवासिष्ठकार ने कहा है कि समस्त आशाओं से अलग होने पर चित्त का क्षीण हो जाना, अज्ञान से उत्पन्न अहंभावरूप मृषाग्रंथि का खुल जाना, ही 'मोक्ष' है।[2] मीमांसकों ने प्रपंचसंबंध अर्थात् (भोगायतन-भोगोपकरण-भोगविषय-रूप) त्रिविध बंधन अथवा धमाधर्म और देह के आत्यंतिक विनाश को 'मोक्ष' कहा है।[3] परमार्थतः सभी दुःखों का अंत, जरा-जन्म-मरण का विनाश, भव का रुक जाना, बुझे हुए दीपक की भाँति वासनारहित जीव के मन की क्रिया का शांत हो जाना, 'निर्वाण' है।[4] सांख्य-योग के मतानुसार पुरुष और प्रकृति की समभाव से शुद्धि, उनके कल्पित तथा आरोपित संबंध (बंधन) के दूर हो जाने पर उनका स्वस्वरूप में अवस्थान, धर्माधर्म का क्षय और प्राकृत गुणों से आत्यंतिक वियोग होने पर पुरुष का अपने स्वच्छ ज्योतिर्मय स्वरूप में केवलीभाव से प्रतिष्ठित हो जाना, 'कैवल्य', 'अपवर्ग' या 'मोक्ष' है।[5] न्यायदर्शन में शरीर, मनसमेत छः इंद्रियाँ, उनके छः विषय और छः ज्ञान तथा उनसे उत्पन्न सुख-दुःख—इन इक्कीस दुःखों के आत्यंतिक नाश को 'मोक्ष' या 'अपवर्ग' कहते हैं।[6] भक्तिदर्शन में केवल निष्कामभक्ति के द्वारा जीव के अंतःकरण का आत्यंतिक नाश हो जाने पर ब्रह्मानंद की प्राप्ति 'मुक्ति' कही गयी है।[7] तुलसीदास के अनुसार भी जड़-चेतन की मृषा ग्रंथि का छूट जाना, देह-जनित विकार को त्याग कर जीव का आत्माराम हो जाना, जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं को पार करके तुरीयावस्थित हो जाना, 'मुक्ति' है।[8] भक्ति भी मुक्ति ही है, ज्ञानमार्गियों की मुक्ति से उच्चतर है।[9]

मुक्त और मुक्ति के प्रकार—मुक्त जीव तीन प्रकार के हैं—जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त और नित्यमुक्त। जो जीव कर्मवश जन्म-मरण को प्राप्त नहीं होते और भगवान् के अवतारों की भाँति स्वेच्छा से अथवा भगवदिच्छा से विभिन्न लोकों में आवागमन करते रहते हैं वे नित्यमुक्त हैं। लक्ष्मण, हनुमान, गरुड़ आदि इसी प्रकार के जीव हैं। देह के संबंध से भवबंधनग्रस्त जीवों की मुक्ति दो प्रकार की है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति।[10] जो शरीर के रहते हुए हरिभक्ति

---

१. मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः। —भा० पु० २।१०।६

२. यो० वा० ५।७३।३६, ६/२।२०।१७ (अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मिथ्यावेद्यात्मनोऽसतः। अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः॥)

३. प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः—शास्त्रदीपिका, पृ० ३५७;
तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः। —शास्त्रदीपिका, पृ० ३५८;
दे०—भा० द० (उ० मि०), पृ० २५२-५३

४. दे०—बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४८७-५०१; यो० वा० ६/१।३८।३२, ६/२।४२।५१

५. यो० सू० ३।५५, ४।३४ और उन पर व्यासभा० तथा भोजवृत्ति; योगसारसंग्रह, पृ० ६४-६५; सा० का० ४४, ५६-५७, ६५-६८ और उन पर गौड० तथा वाच०, सांख्यसंग्रह, पृ० २४

६. दे०—न्यायसूत्र, १।१।२ तथा उस पर वात्स्यायनभाष्य, तर्कभाषा, पृ० ९१-९२

७. दे०—शा० भ० सू० ३।२।४ और उस पर भ० च०

८. रा० ७।११८।२-३; वि० १३६।११; रा० ७।११७

९. रा० ७।११९।२-४

१०. यो० वा० ५।४२।११

अथवा ज्ञान का उदय हो जाने पर बंधनमुक्त हो जाते है, वे जीवन्मुक्त हैं, जैसे—जनक, वाल्मीकि, काकभुशुंडि आदि। जो जीव देह के नष्ट होने पर मुक्ति प्राप्त करते हैं वे विदेहमुक्त हैं, उदाहरण के लिए—दशरथ, विराध, बालि आदि। मन का वासना से युक्त होना बंधन है। उससे त्यक्त हो जाना ही मुक्ति है।[1] वासना का विलय हो जाने पर मन दीपवत् शांत हो जाता है।[2] यह मनोनाश दो प्रकार का है—सरूप (शरीर के रहते हुए) और अरूप (शरीर के नष्ट हो जाने पर)। इन्हीं को क्रमशः 'जीवन्मुक्ति' और 'विदेहमुक्ति' कहा जाता है।[3] तत्त्वज्ञान हो जाने पर जीवितावस्था में ही ब्रह्मभावप्राप्ति, एषणारहित होकर अनासक्त भाव से कर्म करते रहने की स्थिति, प्रारब्धकर्म के क्षयपर्यंत छाया के समान सदैव साथ रहने वाले इस शरीर के वर्तमान रहते हुए भी इसमें अहंता और ममता का अभाव हो जाना, 'जीवन्मुक्ति' है।[4] जिस प्रकार कुम्हार चक्र को घुमाकर छोड़ देता है फिर भी संस्कारवश वह चक्र कुछ काल तक चलता रहता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीवन्मुक्त जीव भी पूर्वसंस्कारों के कारण उनके क्षयपर्यंत शरीर धारण किये रहता है।[5] कालवशात् प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर आत्मज्ञानी जीवात्मा का शरीर छोड़कर परमधाम को प्राप्त करके अपने वास्तविक स्वरूप से संपन्न हो जाना[6], देह के नष्ट हो जाने पर पुनर्जन्म का न होना[7], 'विदेहमुक्ति' है। विदेह-मुक्ति ही कैवल्यमुक्ति है।[8] शरीर-साहित्य और शरीर-राहित्य के कारण भिन्न प्रतीत होने वाली इन मुक्तियों में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है; तरंगित और सौम्य जल तथा सस्पंद और निष्पंद वायु की भाँति दोनों अभिन्न हैं।[9]

जीवन्मुक्ति[10] और विदेहमुक्ति[11] के रूप में मुक्ति का द्विविधत्व तुलसी को मान्य है।[12] अधिकतर वैष्णव आचार्य जीवन्मुक्ति नहीं मानते। उनके मतानुसार सकलबंधननिवृत्तिरूपा मुक्ति जीवितदशा में नहीं हो सकती।[13] उनकी इस प्रचलित मान्यता के विरुद्ध तुलसी ने

१. मुक्तिकोपनिषद्, २।१६, ६८-६९
२. वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत्। —मुक्तिकोपनिषद्, २।१७
३. द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च।
जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः॥ —मुक्तिकोपनिषद्, २।३२
४. क० उ० २।३।१४-१५ पर शा० भा०; यो० वा० ५।४२।१२; मुक्तिकोपनिषद्, १।४२, शा० भ० सू० ३।२।५ पर भ० च०; वि० चू० ४३२; जीवन्मुक्त के लक्षण के लिए दे०—वि० चू० ४२६-४५; वे० सा०, पृ० १४-१५; साङ्ख्यसार २।७।२-२५; वराहोपनिषद्, ४।२१-३०;
गीता (२।५५-७२) में प्रतिपादित 'स्थितप्रज्ञ' और 'ब्राह्मी स्थिति' का लक्षण भी जीवन्मुक्त का लक्षण है।
५. सा० का० ६७ और उस पर गौड० तथा वाच०
६. शा० भ० सू० ३।२।५ पर भ० च०, मुक्तिकोपनिषद्, १।४३
७. यो० वा० ५।४२।१३; गीता, २।५१; सा० का० ६८ और उस पर वाच०, साङ्ख्यसार, २।७।२६
८. प्रारब्धक्षयाद्देहत्रयभङ्गं आचोपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत्परिपूर्णता विदेहमुक्तिः सैव कैवल्यमुक्तिरिति।
—मुक्तिकोपनिषद्, अ० १, अंतिम अनुच्छेद
९. यो० वा० २।४।४-५
१०. रा० १।३१।६, ७।४२, ७।५३।१, ७।५४।२-३, गी० ७।१५।४
११. रा० ३।७।३, ३।९।१, ४।११।१, ६।११६ घ, गी० ३।१६।४
१२. मुएँ मुकुत जीवत मुकुत मुकुत मुकुत हूँ बीचु। —दो० २२५
१३. दे०—भा० द० (ब० उ०), पृ० ४७६

जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का भक्तिवादी शैली में जोरदार प्रतिपादन किया है—

बिनु बिराग-जप-जाग-जोग-ब्रत, बिनु तप, बिनु तनु त्यागे।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु-पद-प्रयाग अनुरागे॥[1]

विदेहमुक्ति उन्होंने चार प्रकार[2] की मानी है—सालोक्य[3], सारूप्य[4], सामीप्य[5] और सायुज्य।[6] 'मुक्तिकोपनिषद्' में हनुमान् के प्रश्न और राम के उत्तर से विदित है कि सालोक्य-मुक्ति नामभक्तों का, सारूप्यमुक्ति सांख्ययोगी भक्तों का, सामीप्यमुक्ति सेवाभिलाषी भक्तों का और सायुज्यमुक्ति अद्वैतवेदांती निर्गुणोपासकों का इष्ट है।[7] भगवान् के अनवरत दर्शन-पूर्वक तुष्टि एवं आनंद का अनुभव करते हुए उनके साथ उनके वैकुंठलोक में निवास करना 'सालोक्य' है। भगवान् के अनुचररूप में उनके समान ही रूप धारण करके आनंदभोग करना 'सारूप्य' है। सदैव भगवान् के समीप रहकर अविच्छिन्न रूप से आनंदानुभव करते रहना 'सामीप्य' है। भगवान् के शरीर में प्रविष्ट और तद्रूप जीवात्मा का ऐश्वर्यभोग 'सायुज्य' है।[8] 'भागवत' आदि में कही गयी पाँचवी सार्ष्टिमुक्ति[9], 'शिवपुराण' में प्रतिपादित 'कैवल्याख्या पञ्चमी'[10] मुक्ति, 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' की षड्विध मुक्तियों में परिगणित 'साम्य' तथा 'लीनता'[11] और वल्लभ-संप्रदाय में स्वीकृत 'सायुज्य-अनुरूपा-मुक्ति-अवस्था'[12] सायुज्यमुक्ति के ही रूप-विशेष हैं। मध्व ने सालोक्य आदि मुक्तियों के आनदभोग में तारतम्य स्वीकार किया है।[13] 'कूर्मपुराण' में सायुज्य[14] को और 'शिवपुराण' में कैवल्य[15] (जो पुराणकार के अभिप्रायानुसार सायुज्य का ही रूप है) को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। तुलसीदास उनसे सहमत नहीं हैं। वे मोक्ष में तारतम्य नहीं मानते, क्योंकि इन अनेकधा प्रतिपादित मुक्तियों में कोई मौलिक या स्वाभाविक भेद नहीं है। 'दोहावली' में मुक्तिभेद की चर्चा का उद्देश्य तारतम्य-निरूपण नहीं है—

---

१. गी० ७।१५।४
२. सोहत साथ सुभग सुत चारी। जनु अपबरग सकल तनुधारी॥ —रा० १।३१५।३
रिधि सिधि, बिधि चारि सुगति जा बिनु गति अगति। —गी० २।८२।३
चार मुक्तियों के लिए दे०—ब्र० वै० पु० १।१२।३५, १।१४।५२,
शि० पु० ४।४१।२-३, मुक्तिकोपनिषद्, १।१६-२५
३. वि० २१४।५, रा० ३।६।१, ३।३१।५, ४।११।१, ६।३।१
४. गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥ —रा० ३।३२।१
५. जा मज्जन तें बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥ —रा० ७।४।३
६. रा० ३।८।३, ६।३।१, वि० २१४।४
७. मुक्तिकोपनिषद्, १।१५-२५
८. दे०—ए हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द ४, पृ० ३१८
९. भा० पु० ३।२९।१३ (सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्यत।), ब्र० वै० पु० २।१८।४०
१०. कैवल्याख्या च पञ्चमी—शि० पु० ४।४१।७
११. सार्ष्टिसालोक्यसारूप्यसामीप्यसाम्यलीनताम्।
वदन्ति षड्विधां मुक्तिं मुक्ता मुक्तिविदो विभो॥ —ब्र० वै० पु० १।६।१७
१२. दे०—अष्ट०, पृ० ४६७
१३. दे०—भा० द० (उ० मि०), पृ० ४५०
१४. एषा विमुक्तिः परमा मम सायुज्यमुत्तमम्।
निर्वाणं ब्रह्मणा चैक्यं कैवल्यं कवयो विदुः॥ —कू० पु० २।१०।११
१५. कैवल्याख्या पञ्चमी च दुर्लभा नृणाम्। —शि० पु० ४।४१।७

मुएँ मुकुत जीवत मुकुत मुकुत मुकुत हूँ बीचु।
तुलसी सबही तें अधिक गीधराज की मीचु॥[1]

यहाँ पर तुलसी का अभिप्राय इतना ही है कि मुक्तों के दो भेद हैं—जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त। दोनों में शरीर का अंतर है। जटायु की मुक्ति इन दोनों से ही अधिक है। वे जीवन्मुक्त भी थे और राम के काज में देह त्याग कर विदेहमुक्त भी हो गये। उनकी मुक्ति का दूसरा आधिक्य इस बात में है कि उन्हें विदेहमुक्ति देते समय जितना आदर राम ने उनका किया[2] उतना किसी अन्य भक्त का नहीं। यहाँ प्रसंगानुसार भक्त का गौरव प्रदर्शित करने के लिए ही मुक्तिविशेष की महिमा बतलायी गयी है।

'मुक्तिकोपनिषद्' में राम ने कहा है कि पारमार्थिकरूपिणी कैवल्यमुक्ति एक ही है।[3] वेदांतदेशिक का मत है कि सायुज्य-मुक्ति ही वस्तुतः मुक्ति है; सालोक्य आदि मुक्तियों के लिए 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है।[4] नारायण तीर्थ ने शांडिल्य-भक्तिसूत्र और उपनिषदों के आधार पर बतलाया है कि भगवद्भावरूप मोक्ष अत्यंतैक्य में ही संभव है, नानात्व की दशा में नहीं।[5] तुलसीदास इनसे सहमत नहीं हैं। वे सालोक्यमुक्ति को ही मूलतः मुक्ति मानते हैं। अन्य सभी विधाएँ उसी के अंतर्गत हैं। इसीलिए जटायु के सारूप्यमोक्ष के साथ ही सालोक्य का भी उल्लेख किया गया है।[6] एक स्थान पर शबरी की सायुज्यमुक्ति कही गयी है, और दूसरे स्थान पर सालोक्य।[7] सायुज्य प्राप्त करने वाले रावण के सालोक्य का भी कथन हुआ है।[8] भक्तों का वैकुंठगमन, राम के द्वारा मारे गये अभक्तों का उनके धाम में पहुँचना आदि इसी सिद्धांत के पोषक हैं। विशिष्टाद्वैत-दर्शन में विदेहमुक्ति की दो विधाएँ बतलायी गयी हैं—कैवल्य[9] और मोक्ष।[10] वह भेद तुलसी को मान्य नहीं है। उन्होंने 'मोक्ष' का पारिभाषिक प्रयोग 'कैवल्य'[11] के अर्थ में ही किया है—'**सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सुख त्यागि**', '**तातें उमा मोक्ष नहिं पावा**', '**राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं**', '**तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई**', '**मुकुति निरादरि रहहिं लुभाने**' आदि।[12] उनके अनुसार भक्ति का फल भी भक्ति ही है। भवबंधन से मुक्ति की दशा होने पर भी वे उसे 'भगति'[13] ही कहते हैं।

---

१. दो० २२५
२. दे०—गी० ३।१३, १५-१६
३. मुक्तिकोपनिषद्, १।१८
४. तत्वमुक्ताकलाप, २।६७
५. दे०—शा० भ० सू० ३।२।१ पर भ० च० (अवतरणिका)
६. रा० ३।३२।१, ३।३२; अ० रा० ३।८।४०, ५४, ५६
७. रा० ३।३६। छं०; कवि० ७।१०, गी० ३।१७।८
८. रा० ६।१०३।५; रा० ६।१०४।छं०
९. ज्ञानयोग द्वारा जीव का प्रकृति से भिन्न स्वात्मानुभव—दे०—यतीन्द्र०, पृ० ११२
१०. भक्ति या प्रपत्ति द्वारा ब्रह्मप्राप्ति—दे०—यतीन्द्र०, पृ० ११३
११. रा० ७।११६।१ (सो कैवल्य परमपद लहई।)
१२. क्रमशः—रा० ४।२६, ६।११२।३, ७।११६।२, ७।११६।३, ७।११६।४
१३. अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा॥
तातें मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति वर लयऊ॥ —रा० ३।६।१

मुक्त जीवात्मा की स्थिति तीन प्रकार की हो सकती है—परमात्मा में अभिन्न रूप से[1], भगवान् के सदृश दिव्यगुणों से संपन्न होकर[2] अथवा अपने वास्तविक चैतन्यमात्र-स्वरूप से।[3] बादरायण का कहना है कि उक्त स्थितियों में परस्पर विरोध नहीं है[4], क्योंकि मुक्तात्मा के भावानुसार उसकी तीनों ही प्रकार से स्थिति हो सकती है। ये तीन स्थितियाँ मूल रूप में दो ही हैं—भगवान् से पृथक् रूप और उनसे अपृथक् रूप। तुलसी को विदेहमुक्ति की ये ही दो स्थितियाँ मान्य हैं[5] जिनको उन्होंने द्विविध साधनयोग के अनुसार क्रमशः **भक्ति और निर्वाण** (मोक्ष, कैवल्य या लीनता[6]) कहा है। बादरायण की भाँति वे भी इनमें विरोध नहीं मानते, क्योंकि दोनों में ही दुःखाभाव और ब्रह्मानंदस्फुरण है।[7] मुक्त जीव अपने भावानुसार किसी भी स्थिति को प्राप्त कर सकता है।[8] ज्ञानमार्गियों का प्राप्य मोक्ष है।[9] अतएव निर्गुणोपासक (और राम के द्वारा मारे गये अभक्त जीव भी) मुक्त होने पर भगवान् में लीन होकर अपृथक् रूप से स्थित होते हैं। सगुणोपासक भक्तिमार्गियों का प्राप्य मोक्ष नहीं है—**'सगुनोपासक मोक्ष न लेहीं'**।[10] अतएव वे मुक्ति का निरादर करके भक्ति की ही कामना करते हैं।[11] मुक्त होने पर वैकुंठलोक में पृथक् रूप से स्थित रहकर भेदभक्ति के आनंद का अनुभव करते हैं; भगवान् के अवतीर्ण होने पर मोक्ष-सुख का तिरस्कार करके उनके संग रहना ही अधिक श्रेयस्कर समझते हैं।[12]

उपनिषदों में दो प्रकार की मुक्तियों का वर्णन मिलता है—क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति। क्रममुक्ति विदेहमुक्ति है। मृत्यु के उपरांत क्रममुक्ति प्राप्त करने वाले जीव की यात्रा के दो प्रधान मार्ग बतलाये गये हैं—देवयान और पितृयान। "ज्ञान-कर्म-समुच्चय के अनुष्ठाता, ज्ञान के साथ श्रद्धा तथा तपस्या आदि शोभन कार्य करने वाले, पुरुष देवयान के द्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं।[13]...अंत में परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इष्टापूर्त (श्रौत तथा स्मार्त कर्म) के अनुष्ठाता कर्म-मार्ग के अनुयायी पुरुष पितृयान के द्वारा चंद्रलोक जाते हैं, और कर्मानुसार सुख भोग कर वे पुनः इस लोक में आते हैं।[14]...उपासना के विधिवत् अनुष्ठान से वे पुनः देवयान पन्था का

---

१. (क० उ० २।१।१५, मु० उ० ३।२।८), ब्र० सू० ४।४।४
२. (म० उ० ३।१।३, छा० उ० ८।३।४), ब्र० सू० ४।४।५, गीता, १४।२
३. (बृ० उ० ४।५।१३), ब्र० सू० ४।४।६
४. ब्र० सू० ४।४।७
५. राम चरन रति जो चहै अथवा पद निर्बान। —रा० ७।१२८; दे०—ब्र० वै० पु० २।२५।१०
६. रा० ३।९।१, ३।३६। छं०, वि० २१४।४ (कियो लीन सु आप में हरि)
७. रा० ७।११५।७, वि० १६७।४;
ब्रह्मानन्दस्फुरणं दुःखाभावश्च मुक्तिः —सिद्धान्तकल्पवल्ली, ४।७
८. रा० ३।९।१, ६।११२।३
९. रा० ६।११२।४, गी० ३।५।५; दे० ब्र० वै० पु० २।२५।११, कू० पु० २।२।५३
१०. रा० ६।११२।४; दे०—गी० ३।५।५; ब्र० वै० पु० १।१२।३५, २।३६।७०
११. रा० ७।११९।४; दे०—ब्र० वै० पु० १।१४।५२, २।२५।११, २।३६।७२
१२. रा० ३।९।१, ६।११२।३-४; रा० ४।२६
१३. छा० उ० ४।१५।५, बृ० उ० ६।२।१५, कौषी० १।२-३
१४. छा० उ० ५।१०।२-५

आश्रय लेकर ब्रह्मलोक में जा सकते हैं। इसे **क्रममुक्ति** कहते हैं।"[1] जो मुक्ति बिना किसी विलंब के साक्षात् ही प्राप्त हो जाती है वह **सद्योमुक्ति** है। जब जीव की समस्त पारलौकिक एवं ऐहिक पुत्रवित्तलोकैषणाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं तब वह इस शरीर में रहता हुआ ही ब्रह्मभावरूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[2] तुलसी ने देवयान, पितृयान अथवा अर्चिरादि-मार्ग का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने विभिन्न स्थलों पर मुक्ति की जो चर्चा की है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें सद्योमुक्ति का ही सिद्धांत मान्य है।

जीवों के अन्य वर्गीकरण—विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत दर्शन में जीवों के जो वर्गीकरण किये गये हैं वे अपने स्थूल रूप में तुलसी को मान्य हैं। विशिष्टाद्वैत[3] के अनुसार तुलसी-साहित्य में

१. भा० द० (ब० उ०), पृ० ८३-८४

२. बृ० उ० ४।४।७ और उस पर शा० भा०

३. दे०—तत्त्वत्रय, पृ० २३, यतीन्द्र०, पृ० ३-४, १०७-२१—
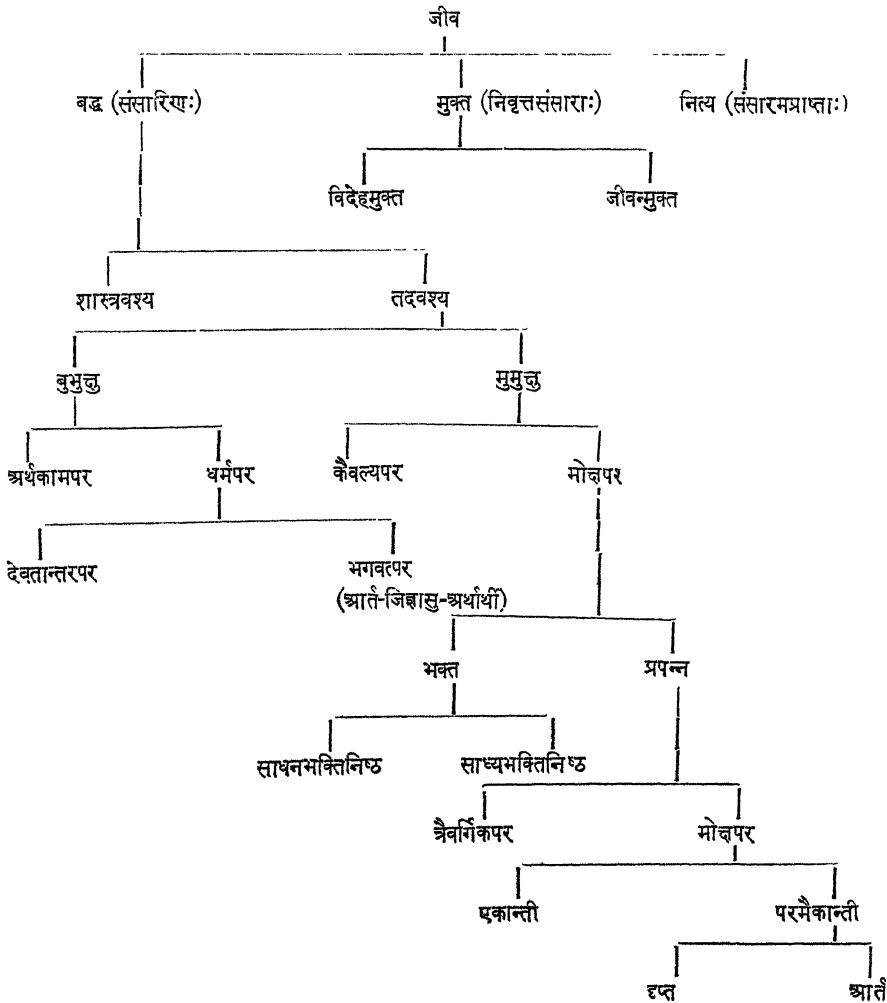
जीव-भेद-निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है—
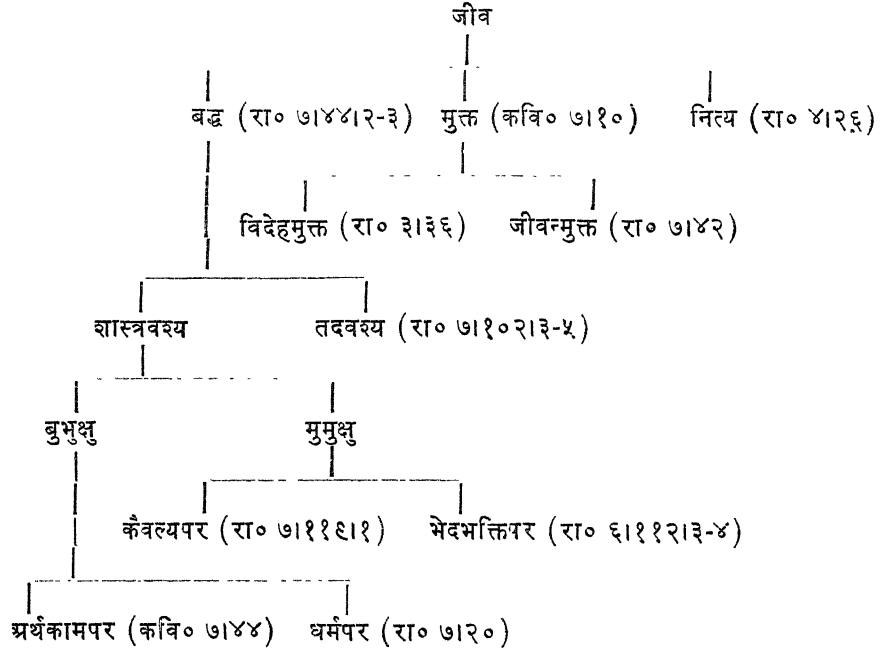
तुलसीदास के पूर्वोक्त जीव-त्रैविध्य की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत के 'अर्थकामपर' जीव 'विषयी' हैं। 'धर्मपर' जीव भोगाभिलाषी होने के कारण मुख्य रूप से 'विषयी' हैं, किंतु साथ ही वे 'साधक' भी हैं, क्योंकि उनका धर्माचरण अभ्युदय के साथ ही निःश्रेयस की सिद्धि करने वाला भी है। 'मुक्त' जीव निश्चय ही 'विमुक्त' या 'सिद्ध' हैं। 'नित्य' जीव भी 'सिद्ध' के अंतर्गत आएँगे। शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य[1] के अनुसार, तुलसी-साहित्य में जीव-भेद-निरूपण इस प्रकार किया

१. दे०—अणु भा० पर 'बालबोधिनी' का उपोद्घात, पृ० १०; अष्ट०, पृ० ४२५—
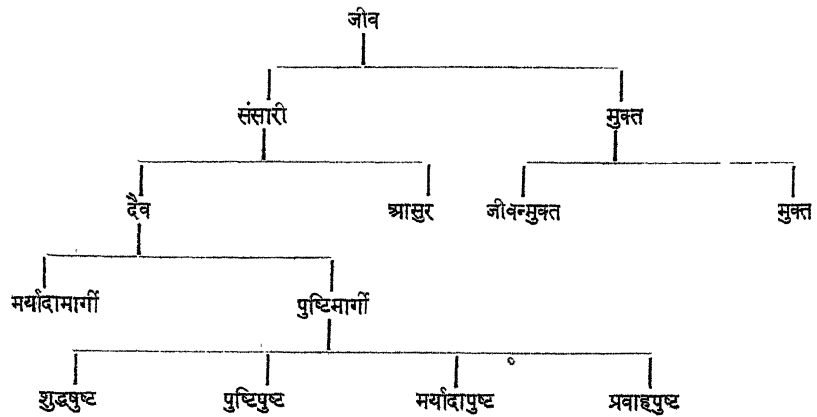
जा सकता है—
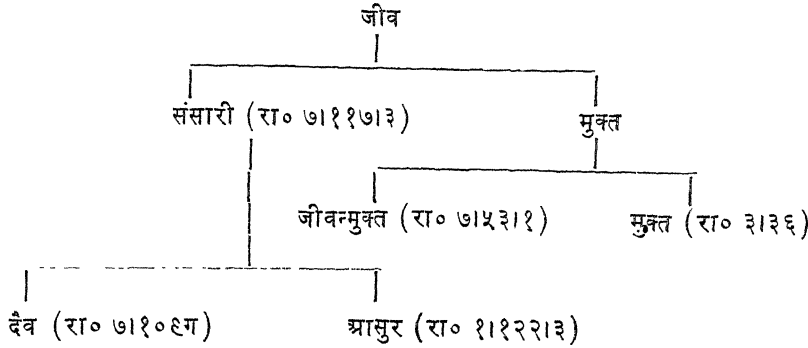
उपर्युक्त वर्गीकरण के 'मुक्त' जीव पूर्वोक्त 'विमुक्त' या 'सिद्ध' जीव ही हैं। 'दैव' और 'आसुर' क्रमशः 'साधक' और 'विषयी' कहे जा सकते हैं।

पुनः द्विविध जीव—भक्ति के आधार पर तुलसी ने जीव दो प्रकार के माने हैं—भक्त और अभक्त। भगवान् राम भक्तों के प्रति समभाव से और अभक्तों के प्रति विषमभाव से लीला करते हैं।[1] आचरण की दृष्टि से जीवों के दो वर्ग हैं—संत और असंत। यह ध्यान देने योग्य बात है कि तुलसी के संत भक्त है और असंत अभक्त हैं। संतों का एक व्यावर्तक धर्म भगवद्-भक्ति भी है। उक्त दोनों को प्रकारांतर से सुमति और कुमति, धर्मशील और पापी, बड़भागी और अभागी आदि भी कहा गया है।[2] 'विनयपत्रिका' के आत्मनिवेदन में स्वयं तुलसीदास ने और 'रामचरितमानस' में नारद एवं भरत आदि के प्रति उनके आराध्य भगवान् राम ने संतों के लक्षण का विशेष विस्तार से निरूपण किया है।[3] संतों और असंतों के मानसिक, वाचिक और कार्मिक गुण असंख्य हैं। तुलसी ने प्रमुख गुणों की ही चर्चा की और करायी है। निम्नांकित तुलासारणी से संत और असंत जीवों की विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँगी—

संत-लक्षण	**असंत-लक्षण**
गुणागार, शुचि, अनघ	अवगुण-खानि, मलायन, पापमय
राम की अमायिक दास्य-भक्ति	हरिभक्ति-विरोध, हरिकथा में अरुचि
जप, तप आदि के पालक	जप-तप आदि के बाधक
अमितबोध, वेदपुराणविशारद	मंदमति, वेद-विदूषक
शम, संतोष, विषय-विरक्ति	अशांति, असंतोष, विषयासक्ति
अनीहता, शीतलता, मुदिता	आशा-वासना, अतिताप, जलन
नीतिपालक, धर्मगति, सन्मार्गी	अनीतिकारी, धर्मनिर्मूलक, कुमार्गी
धर्मजनयित्री द्विजपद-प्रीति	द्विजों के भोजन, यज्ञ, होम आदि में बाधा
श्रद्धा, विनय, सुशीलता	अश्रद्धा, अविनय, क्रूरता
गुरु-गोविंद-विप्र-पद-प्रेम	गुरु-हरि-विप्र के प्रति द्रोह
दृढ़चरित्र, धीर, सम	अस्थिर, अधीर, विषम

१. तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ —रा० २।२१९।३
२. वि० १९४।२, रा० १।२४।२; रा० १।१५५।१, १।१७६।४; रा० २।४१।४, कवि० ७।९९
३. वि० १७२, १८५ आदि; रा० ३।४५।३-३।४६।४, ७।३७।३-७।३८

षड्विकाररहित, क्षमावान्, सहिष्णु	विविधविकारयुक्त, महिषासुर-से क्रोधी
दमसंयमनियमशील	कामादि-किंकर, संयमादि-रहित
सत्यसार, परुषवचन का त्याग	कपटी, मिथ्यावादी, वचनवज्रप्रेमी
हर्ष, शोक, भय आदि से रहित	विफलमनोरथ, कुंठाग्रस्त
सरलस्वभाव, निर्मलहृदय, कोमलचित्त	कपट-कुटिलता, मलिनमन, कठोरहृदय
कहन और रहन में एकता	गजदंत एवं मयूर की भाँति कथनी और करनी में भेद
सबसे प्रेम, मैत्री	सबसे द्रोह, हित के भी अनहित
अविरोधिता, अजातशत्रुता	परिवार-विरोधी, सबके अकारण शत्रु
दाया, हेतुरहित परोपकार	निर्दय, स्वार्थरत, परहित सुनकर जलन, परहित-हानि से लाभ, उपकारी के प्रति भी अपकार
दूसरे के दुःख से दुःख, सुख से सुख	दूसरे के दुःख से अति सुख, संपत्ति से दाह
स्वगुणश्रवण से संकोच,	परनिंदाश्रवण से हर्ष,
परगुणश्रवण से हर्ष	परगुणश्रवण से पीड़ा
परगुणग्राहक, अनिंदक, मानद	परनिंदारत, गुरुजनों के प्रति भी अवज्ञा
परम अकिंचन, सुखधाम, सुखदायक	परधनस्वामी, अतितप्त, दुःखदायक
सावधान, मितभोगी आदि	सुरानीक, उदरपर आदि[1]

संतों और असंतों के आचरण के साम्य-वैषम्य का काव्यमय निरूपण तुलसी ने उपयुक्त उपमानों द्वारा किया है। दोनों का ही जनक यह जग-जलधि है। एक सुधा के तुल्य है और दूसरा सुरा तथा गरल के। एक ही जग-सलिल में उत्पन्न होने पर भी संत जलज के समान हैं और असंत जोंक के समान। दोनों ही सरिता-सदृश हैं—संत गंगा है और असंत वैतरणी। दोनों ही अगाध समुद्र हैं—संत गुणों के और असंत अघ-अवगुणों के। दोनों ही गुणावगुण को जानते हैं और उन्हें इच्छानुसार ग्रहण करते हैं—संत भलाई को एवं असंत बुराई को।[2] दोनों का स्वभाव अभंग होता है—सुकृती संत सुकृत को आजीवन नहीं छोड़ता और कपटी असंत कपट को।[3] संत स्वभावतः परदुःखहारी और परोपकारी होता है, असंत स्वभावतः पर-अपकारी होता है; यह दूसरी बात है कि सुसंगवश कभी किसी का भला कर दे।[4] दोनों ही इस दुःखमय संसार में कष्ट सहते हैं—संत ऊख और भूर्जतरु की भाँति परहित के लिए; तथा असंत रुखानी, सन और हिम-उपल की भाँति दूसरे की हानि के लिए।[5] दोनों ही दुःखप्रद हैं—संत बिछुड़ते समय और

१. दे०—रा० १।२।२-१।५, १।१२।१-२, १।११४-१।११५।४, १।१८१।४-१।१८४।१, ३।४५।४-३।४६।४, ५।४८।२-४, ७।३७।४-७।४०।४, वि० १३९, १७२, दो० ३७४-४१२; ना० पु० १।५।४९-७६, प० पु० ४।१।२१-३२, ६।७।२३-२५
२. रा० १।५।३-१।६।१
३. दो० ३४१, रा० १।७।२
४. रा० १।७।२, ७।१२१।७-९
५. दो० ३४२, रा० ७।१२१।८-१०

असंत मिलते समय ।[1] दोनों का ही उदय विश्वनभ में ग्रहों की भाँति होता है—संत का सुखद सूर्य-चंद्र की भाँति और असंत का अनर्थकारक केतु की भाँति ।[2] दोनों तरुजीवी प्राणी के समान हैं—सुमति संत मधुप है, जो वृक्ष को क्षति पहुँचाये बिना ही सुमनरस का पान करता है; कुमति असंत वह कोल है जो वृक्ष को काटकर उसका फल खाता है ।[3] संत और असंत दोनों की ही उपमा पाहन तथा पानी से दी जा सकती है, किंतु संत की प्रीति पाहन की रेखा की भाँति अमिट एवं वैर पानी की रेखा के समान क्षणिक होता है और असंत की प्रीति पानी की रेखा के समान क्षणिक एवं वैर पाहन के समान अमिट होता है ।[4] इन गुणों के कारण ही तुलसीदास ने संतों की उपमा अंजलिगत सुमन, सिंधु, निर्मल जल, सरोवर, विटप, सरिता, गिरि, धरणी आदि से दी है ।[5] संतसमाज को तीर्थराज कहा है ।[6] उनका अभिमत है कि दूसरे के दुःख से द्रुत संत-हृदय की उपमा अपने ही ताप से पिघलने वाले नवनीत से देना अनुचित है, कवियों की अज्ञानता का सूचक है ।[7]

भक्तों के प्रकार—वल्लभ-संप्रदाय में भक्त चार प्रकार के माने गये हैं—शुद्धपुष्ट, पुष्टि-पुष्ट, मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट ।[8] इस प्रकार के वर्गीकरण को दृष्टि में रखकर तुलसीदास ने भक्तों की निबंधना कहीं नहीं की और न तो इन चतुर्धा निरूपित जीवों का कहीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख ही किया है । किंतु यदि हम इस प्रसंग में वल्लभ-संप्रदाय की दृष्टि से तुलसी के भक्तों को देखना ही चाहें तो कह सकते हैं कि लक्ष्मण, हनुमान् आदि शुद्धपुष्ट भक्त हैं। दशरथ, जटायु आदि पुष्टिपुष्ट भक्त हैं । कर्म या ज्ञान का अवलंबन करने के कारण जनक, वसिष्ठ आदि मर्यादापुष्ट भक्त हैं । राम के द्वारा वधे जाकर मुक्ति पाने वाले मारीच, बालि आदि प्रवाहपुष्ट भक्त हैं । रावण को रामभक्त कहना उचित नहीं है । शिवभक्ति की दृष्टि से वह इसी वर्ग के अंतर्गत है । 'भक्तमाल' के दो सौ उनहत्तर भक्तों के निष्ठाभेद से किये गये चौबीस वर्ग[9] युक्तिसंगत नहीं हैं । अतः इस वर्गीकरण के अनुसार तुलसीदास के भक्तों का अध्ययन अनपेक्षित है । वोपदेव ने काव्य के नौ रसों के आधार पर भक्तों के नौ वर्ग किये हैं ।[10] भक्तों का इस प्रकार से नवधापात्र-निरूपण चिंत्य है । काव्य के क्षेत्र में नवरसमिलित भक्ति-रस की रचना को पढ़कर तो भक्त नवरसों की अनुभूति कर सकता है परंतु भक्तिभावना के

---

१. रा० १।५।२
२. रा० ७।१२१।१०-११
३. दो० ३४३
४. उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि ।
प्रीति परिच्छा तिहुँन की बैर बितिक्रम जानि ।। —दो० ३५२ ,
५. रा० १।३ क, १।८।७, ३।३९।४, ४।१४।४, ४।१७।३, ७।१२५।३
६. मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू ।। —रा० १।२।४
७. संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना ।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ।। —रा० ७।१२५।४
८. दे०—अष्ट०, पृ० ४२५-२६
९. २४ निष्ठाओं में वर्गीकृत २६९ भक्त—पृ० ९३६ से ९४३; संक्षिप्त यन्त्र—पृ० ९४४
१०. स नवधा भक्तः । भक्तिरसस्यैव हास्यशृङ्गारकरुणरौद्रभयानकबीभत्सशान्ताद्भुतवीररूपेणानुभवात् ।
—मुक्ता०, पृ० १६४

क्षेत्र में इसकी संभावना नहीं है। यह ठीक है कि भक्त लोग भक्तिभाव को भक्तिरस कहते आये हैं और तुलसीदास को भी भक्तिरस का यह दुहरा अर्थ मान्य है तथापि काव्य-प्रसिद्ध नवरसों के आधार पर भक्तों के वर्गीकरण में औचित्य नहीं दिखायी पड़ता, क्योंकि भगवान् भक्त की जुगुप्सा आदि के आलंबन नहीं हो सकते।

भागवतकार, वल्लभाचार्य, नारायणतीर्थ आदि ने जीव के जो तीन वर्ग उत्तम, मध्यम और प्राकृत (कनिष्ठ या हीन) किये हैं[1]—वे उन अर्थों में तुलसी को मान्य नहीं हैं। तुलसी की असहमति दो प्रकार की है। एक तो यह कि वे किसी भी भक्त को हीन नहीं समझते। उनकी दृष्टि में सभी भक्त उत्तम जीव हैं। उनका तारतम्य केवल इस बात में हो सकता है कि वे महान्, महत्तर तथा महत्तम है। दूसरी बात यह है कि उनके उत्तमोत्तम भक्त भी राम के द्वेषी का किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकते। राम को 'चराचरनायक' समझने वाले दशरथ ने कैकेयी को राममय नहीं समझा; आदर्श भक्त भरत भी अपनी जननी में राम का दर्शन नहीं कर सके।[2] विभीषण ने अपने भाई के प्रति भी उदासीनता नहीं बरती। यहाँ तक कि परमज्ञानी शंकर ने भी गरुड़ की उपेक्षा की, तथा अपनी धर्मपत्नी तक को त्याग दिया।[3] फिर भी तुलसी के वे सब भक्त उत्तम कोटि के ही हैं। उनको उक्त रूप में चित्रित करने के दो हेतु हैं। पहला हेतु है राम के प्रति प्रातिकूल्य का वर्जन तथा प्रतिकूल जनों के प्रति भक्तों की श्लाघ्य असहिष्णुता का प्रदर्शन करके उनके रामविषयक परमानुराग का द्योतन करना। दूसरा हेतु है अभक्ति के संभावित समर्थन का निराकरण, क्योंकि भक्तिहीनों का सम्मान या उनके प्रति तटस्थभाव भी अप्रत्यक्षरूप से अभक्ति का समर्थन ही है।

भक्तों के वर्गीकरण की चर्चा तुलसी ने केवल एक स्थान पर की है—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जानी चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥
जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥
राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पिआरा॥[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने इतना ही कहा है कि चारों ही प्रकार के भक्त सुकृती, अनघ, उदार तथा नामाश्रित हैं और उन सबमें ज्ञानी राम को विशेष प्रिय हैं। उन्होंने न तो शेष तीन भक्तों के नाम ही बताये हैं और न उनके परस्पर तारतम्य का ही सिद्धांत प्रतिमादित किया है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि तुलसी की इस मान्यता का निश्चित आधार 'भगवद्गीता' है। 'गीता' में चार प्रकार के भक्त बतलाये गये हैं—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी।[5] 'मानस' के

१. भा० पु० ११।२।४५-४७; तत्त्वदीप, १।१०२-३; भ० च०, पृ० १५१
२. रा० २।७७।३; रा० २।१६१।३–२।१६२, गी० २।६०-६१
३. क्रमशः—रा० ७।६२।४; रा० १।५७।१
४. रा० १।२२।१-४
५. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ —गीता, ७।१६

उद्धरण की प्रथम दो पंक्तियों में ज्ञानी भक्त का, तीसरी में जिज्ञासु का, चौथी में अर्थार्थी का और पाँचवीं में आर्त भक्त का निरूपण किया गया है। जो साधक रोग आदि से अभिभूत होने के कारण आपद्ग्रस्त है, जो प्रतिष्ठाहीन एवं ऐश्वर्यभ्रष्ट होने के कारण पुनः उसकी प्राप्ति का अभिलाषी है, वह **'आर्त'** है।[1] उदाहरणार्थ, 'हनुमानबाहुक' में रोगग्रस्त तुलसी की भक्ति आर्तभक्ति है। 'विनयपत्रिका' आदि में भी अनेक स्थलों पर जहाँ मानसरोग तथा भव-रोग के कष्ट से पीड़ित भक्त ने उनसे मुक्ति दिलाने के लिए भगवान् से प्रार्थना की है वहाँ ज्ञान-तत्त्वनिरूपण होने पर भी आर्तभक्ति ही है।[2] जो ऐश्वर्य पा नहीं सका और उसकी प्राप्ति की कामना करता है वह **'अर्थार्थी'** है।[3] सीता द्वारा की गयी गिरिजा-पूजा और देववंदना इसी प्रकार की भक्ति है।[4] सुग्रीव की गणना भी अर्थार्थी भक्तों में की जा सकती है। जो भक्त भगवत्तत्त्व और प्रकृति-संसर्ग से रहित आत्मतत्त्व को जानने का इच्छुक है वह **'जिज्ञासु'** कहलाता है।[5] लक्ष्मण जिज्ञासुभक्त के सुंदर उदाहरण हैं। ज्ञानी होने पर भी भरद्वाज[6] और 'अज्ञानी' होने पर भी भवानी[7] भक्तों के इसी वर्ग में अंकित की गयी हैं। **'ज्ञानी'** भक्त वह है जो भगवान् के अधीन रहने वाले एकरस आत्मा के स्वरूप को जानता है और भगवान् को ही परमप्राप्य समझता है।[8] तुलसी के शंकर, वाल्मीकि आदि ज्ञानी भक्त हैं।[9] तुलसी की अपनी भक्ति भी मुख्य रूप से इसी प्रकार की है।[10] यह भक्ति 'भागवत'-प्रतिपादित अहैतुकी या निर्गुणा-भक्ति है।[11]

उपर्युक्त चारों ही प्रकार के भक्त पुण्यात्मा एवं उदार हैं। उनका यह वर्गीकरण सुकृत-तारतम्य की दृष्टि से है।[12] उक्त चारों भक्तों का तारतम्य 'गीता' में निरूपित नहीं है। वहाँ पर भगवान् ने केवल इतना ही कहा है कि 'इन चारों में नित्ययुक्त और अनन्य भक्त होने के कारण ज्ञानी श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानी का अत्यंत प्रिय हूँ और वह मेरा। यद्यपि ये सभी उत्कृष्ट हैं तथापि ज्ञानी तो, मेरे मत से, मेरा स्वरूप ही है।'[13] इस प्रकार 'गीता' के अनुसार, ज्ञानी प्रथम तीन भक्तों की अपेक्षा महत्तर कोटि में प्रतिष्ठित है। यह लक्ष्य करने की बात है कि प्रथम तीन के तारतम्य पर शंकर मौन हैं। नारद ने गुणभेद से और आर्तादिभेद से गौणी भक्ति के त्रिविधत्व

---

१. गीता, ७।१६ पर शा० भा० और रा० भा, शा० भ० सू० २।२।१७ पर भ० च०
२. वि० ३४, ३५, ६०, १२५, १३१, १४७, १६१, २१६; कवि० ७।१६६-६७, १६६
३. गीता, ७।१६ पर रा० भा०, शा० भ० सू० २।२।१७ पर भ० च०
४. रा० १।२२८।३, १।२५७।२-४
५. गीता, ७।१६ पर शा० भा० और रा० भा०, शा० भ० सू० २।२।१७ पर भ० च०
६. रा० १।४४।१, १।४६।३–दोहा
७. रा० १।१०८।२-१।१०६।१, १।१२०।२
८. गीता, ७।१६ पर शा० भा०, रा० भा० और गू० दी०
९. रा० १।११२।१-१।११८, २।१२६।छं०-२।१२७
१०. रा० १।१।श्लोक ५-६; वि० १११, ११६
११. भा०पु ३।२६।११-१२
१२. दे०—गीता, ७।१६ पर रा० भा०
१३. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
—गीता, ७।१७-१८

का उल्लेख करके उन प्रकारों के क्रमिक तारतम्य का संकेत किया है।[१] किंतु उन्होंने उन तीनों का नाम नहीं गिनाया। अतः उनके तारतम्य की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। मधुसूदन सरस्वती ने 'गीता' में लिखित क्रम के अनुसार ही तारतम्य स्वीकार किया है।[२] अर्थात् आर्त की अपेक्षा जिज्ञासु, उसकी अपेक्षा अर्थार्थी और उसकी अपेक्षा ज्ञानी श्रेष्ठ है। उनका यह मत चिंत्य है। जिज्ञासु की तुलना में अर्थार्थी को गुरुतर मानना न्याय-संगत नहीं है। श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार का यह कथन भी मानने योग्य नहीं है कि अर्थार्थी और जिज्ञासु इन दोनों की अपेक्षा आर्त की भक्ति विशेष कल्याणकारिणी होती है।[३]

रामानुज ने 'गीता' के श्लोक का पदान्वय करके तीनों के तारतम्य का हृदयग्राही निरूपण किया है। जो आर्ति-पीड़ित है वह मजबूरन भक्त है, अतएव उसकी कोटि निम्न है। आर्त और अर्थार्थी में नाममात्र का भेद है। अर्थार्थी स्वेच्छा से भक्त है इसलिए उसका पद आर्त से उच्चतर है। जिज्ञासु किसी ऐश्वर्य-कामना से प्रेरित या स्वार्थ-विवश नहीं है। इस कारण यह उक्त दोनों से महत्तर है। परमतत्त्ववेत्ता--भगवत्साक्षात्कार से नित्युक्त--ज्ञानी निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ है।[४] ज्ञानी भक्त भगवान् को प्रियतम है, क्योंकि, वह जगत् तथा जगदीश के वास्तविक स्वरूप, भगवान् के श्रेष्ठ पद, अपनी भगवत्किंकरता एवं भक्ति की महिमा को तत्त्वतः जानता है। इसी आधार पर तुलसीदास ने भी ज्ञानी भक्त को विशिष्ट कोटि में प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि उन्होंने अन्य तीन भक्तों को सामान्यकोटि में ही रखा है तथापि जिस क्रम से उनका वर्णन किया गया है, उससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि उनकी मान्यता रामानुज द्वारा किये गये तारतम्य-निरूपण के अनुकूल है।

कामना की दृष्टि से भक्त दो प्रकार के होते हैं--अकाम और सकाम।[५] अकाम-भक्ति ही तुलसीदास का आदर्श है। यही परमप्रेमरूपा अहैतुकी भक्ति है। सकलकामनाहीन जन की अनन्यभक्ति ही वस्तुतः भक्ति है। स्वयं तुलसीदास, उनके काव्य में निबद्ध आदर्शभक्त और भगवान् राम भी इसी भक्ति को गौरव देते हैं।[६] अर्थ, काम, धर्म या मोक्ष की भी कामना से प्रेरित होकर की गयी भक्ति सकाम भक्ति है।[७] विषयी रावणादि राक्षसों की भक्ति ऐश्वर्यपरक

---

१. गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा। —ना० भ० सू० ५६
उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति। —ना० भ० सू० ५७

२. दे०—गीता, ७।१६ पर गू० दी०

३. प्रेमदर्शन (नारदभक्तिसूत्र), पृ० ११२

४. गीता, ७।१६ पर रा० भा०

५. अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ —भा०पु० २।३।१०

६. सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम पेम पीयूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥ —दो० ३०, रा० १।२२
तुलसिदास तजि आस सकल भजु कोसलपति मुनिबधू उधारन॥—वि० २०६।४
बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निहकाम।
तिनके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥ —रा० ३।१६

७. जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥
सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं॥
सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥ —रा० ७।१५।२-३

होने से इसी कोटि की है। 'भागवत' के शुकदेव ने उनतीस प्रकार के सकाम भक्तों का उल्लेख किया है।[1] आदर्शवादी भक्तों के समाज में सकाम भक्ति हेय मानी गयी है। भक्त्याचार्यों ने ऐसी भक्ति की विगर्हणा की है। उन्होंने विशेष वल देकर अपने इस मन्तव्य की शक्तिमती व्यंजना की है—जो भगवान् के भजन के बदले में अर्थ आदि की कामना करता है वह भक्त नहीं है, बनिया है।[2] 'रामचरितमानस' में राम को निवास-स्थान बतलाते हुए तुलसीदास के वाल्मीकि ने भी निष्काम भक्त को भगवत्प्राप्ति का विशिष्ट अधिकारी बतलाया है—

सबु करि माँगहिं एकु फलु रामचरन रति होउ।
तिन्हकें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥[3]
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ लउ लाई। तेहि कें हृदय रहहु रघुराई॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा॥
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥[4]

---

१. दे०—भा० पु० २।३।२-१०—

१. ब्रह्मवर्चस्काम	१६. स्त्रीकाम
२. इन्द्रियकाम	१७. आधिपत्यकाम
३. प्रजाकाम	१८. यशस्काम
४. श्रीकाम	१९. कोशकाम
५. तेजस्काम	२०. विद्याकाम
६. वसुकाम	२१. दाम्पत्यकाम
७. वीर्यकाम	२२. धर्मकाम
८. अन्नाद्यकाम	२३. तन्तुकाम
९. स्वर्गकाम	२४. रक्षाकाम
१०. राज्यकाम	२५. ओजस्काम
११. प्रजानुकूल्यकाम	२६. राज्यकाम
१२. आयुष्काम	२७. अभिचारकाम
१३. पुष्टिकाम	२८. कामकाम
१४. प्रतिष्ठाकाम	२९. मोक्षकाम
१५. रूपाभिकाम	

२. यस्ते आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्। —भ० च०, पृ० १५०

३. रा० २।१२९

४. रा० २।१३१।३-दोहा

चतुर्थ अध्याय

जड़ जगत्

प्रकृति महतत्व सब्दादि गुन देवता ब्योम मरुदग्नि अमलांबु उर्वी ।
बुद्धि मन इंद्रिय प्रान चित्तातमा काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी ।।
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तअव्यक्त गत भेद विष्णो ।[1]

संपूर्ण जड़चेतनात्मक विश्व भगवान् में लीन था । जीवों के अदृष्टवश सृष्टि का विस्तार 'आ ।[2] राम से दो प्रकार के पदार्थ आविर्भूत हुए—चेतन और जड़ । चेतन का ही नाम जीव : । ज्ञानशून्य और विकाराश्रय पदार्थ को अचित् अर्थात् जड़ कहा गया है ।[3] पूर्ववर्ती अध्यायों i राम के तटस्थ लक्षण, माया, त्रिदेव, और जीव के त्रिविध शरीरों तथा पाँच कोशों का निरू- ण करते समय सृष्टि के विषय में भी प्रसंगानुसार बहुत कुछ कहा जा चुका है । राम ही जगत् 5 उपादान और निमित्त कारण हैं । सृष्टि का प्रयोजन है भगवान् की लीला और जीव का कैवल्य । यह विश्व उनकी माया द्वारा रचित है । ब्रह्मा आदि उन्हीं की शक्ति के प्रतीक हैं । यह ारा जगत् राममय है । राम और राम की भक्ति को ही अपने काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य बनाने ाले तुलसीदास ने व्यवस्थित रूप से विस्तारपूर्वक तत्त्वों का विभाग करके सृष्टि-प्रक्रिया का ास्त्रीय उपस्थापन कहीं नहीं किया । उन्होंने माया, अव्यक्त, प्रकृति, काल, स्वभाव, कर्म, गुण, नहत्तत्त्व, अहंकार, चित्त, मन, आकाश आदि पाँच तत्त्वों अष्टधा प्रकृति, परमाणु, चिच्छक्ति, इंद्रियों, देवताओं, प्राण, ब्रह्मांड, तीन लोकों, चौदह भुवनों, सप्तावरण, त्रिविध सृष्टि, विविध प्रकार के सृष्टि-विस्तार आदि का यत्र तत्र उल्लेख मात्र किया है ।[4] इन्हीं बिखरे हुए विचार- बिंदुओं को शृंखलाबद्ध करके उनकी सृष्टि-प्रक्रिया-विषयक धारणा का निरूपण किया जा सकता है । 'विनयपत्रिका' की उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर[5] तुलसीदास की सृष्टिप्रक्रिया- विषयक मान्यता का उपस्थापन इस प्रकार किया जा सकता है । यह नामरूपात्मक जगत् भगवान् का आयतन है, भगवद्रूप है । कालवादियों का 'काल', वैशेषिकों का 'परमाणु', शैवों की

---

१. वि० ५४।२-३; दे०—वि० पु० १।२।६८-७०

२. भा० पु० ३।१०।१२; ३।२६।१६

३. अचिज्ज्ञानशून्यं विकारास्पदम् । —तत्वत्रय, पृ० ३४

४. विशेष द्रष्टव्य—दो० २००; वि० ५४।२-३, २०३।१-१२, २४६।३-४; रा० ७।१३। छं० ५

५. 'विनयपत्रिका' के उक्त पद्य में शब्दादि को तुलसी ने 'गुण' कहा है । उनका यह प्रयोग शास्त्रसंमत है । सृष्टिप्रक्रिया के प्रसंग में 'गुण' शब्द का व्यवहार 'सत्त्व' आदि के लिए भी होता है और 'शब्द' आदि के लिए भी । शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध को क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी का 'गुण' कहा गया है (दे०—पञ्चदशी २।२) । 'आतमा' शब्द का व्यवहार 'अहंकार' के अर्थ में किया गया है । अहंकाररूप शिव (रा० ६।१५ क) को 'भागवत' (१०।६३।३५) में 'आत्मा' कहा गया है ।

'चिच्छक्ति' सब इसी के अंतर्भूत हैं। भगवान् से प्रकृति, अंतःकरणचतुष्टय,[1] पंचतन्मात्राएँ[2], अपंचीकृत पंचमहाभूत[3], देवता[4], पंचप्राण[5], दस इंद्रियाँ[6] और स्थूल जगत्[7] उत्पन्न हुए। विष्णु राम ही इन तत्त्वों के अव्यक्तरूप कारण भी हैं और व्यक्तरूप कार्य भी।

तुलसीदास के उत्तमर्ण उपनिषदों[8], पुराणों[9] और सांख्य[10]-वेदांत[11]-ग्रंथों में सृष्टि-प्रक्रिया की अनेक प्रकार से सांगोपांग मीमांसा की गयी है। **'सांख्य सास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्व बिचार निपुन भगवाना।'**[12] —'रामचरितमानस' की इस उक्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसीदास को सांख्यदर्शनशास्त्र और विशेषकर 'भागवत' पुराण के कपिल[13] द्वारा प्रतिपादित तत्त्वनिरूपण मान्य है। तुलसी समन्वयवादी हैं। तत्त्व-विभाग-वर्णन में भी उन्होंने समन्वय-बुद्धि से काम लिया है। यह स्मर्तव्य है कि वेदांत में इयत्ता की दृष्टि से जड़-सृष्टि-रचना के दो रूप हैं—समष्टिगत और व्यष्टिगत। ब्रह्मांड-समष्टि भगवान् का संस्थान है। अतएव उसकी रचना का वर्णन समष्टिगत शरीर के रूप में किया गया है। पिंड जीव का संस्थान है। अतएव उसकी रचना व्यष्टिगत शरीर की रचना कहलाती है।[14] जो सृष्टिक्रम ब्रह्मांड की रचना का है वही पिंड की रचना का।

सृष्टिक्रम—भगवान् राम से माया, जीव, गुण, काल, स्वभाव तथा कर्म और फिर महदादि की उत्पत्ति हुई।[15] यहाँ 'उत्पत्ति' शब्द राम से विलग प्रतीयमानता एवं अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप में आने का द्योतक है। विद्यामाया जगत् की रचना का निमित्त-कारण है। (प्रकृति के) 'गुण' जगत् के उपादान या समवायिकारण हैं। 'काल', 'स्वभाव' तथा 'कर्म' असमवायिकारण हैं। सृष्टि और जीव की गतिविधि के प्रसंग में तुलसी ने **काल, स्वभाव, कर्म** तथा **गुण** का बहुधा उल्लेख किया है। अनीश्वरवादी दर्शनों में इन्हें स्वतंत्र तत्त्व के रूप में सृष्टि का कारण माना

---

१. अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। —रा० ६।१५ क
२. पाँचइ पाँच परस, रस, सब्द, गंध अरु रूप। —वि० २०३।६
३. गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रन्थन्हि गाए ॥ —रा० ५।५६।१-२
४. विषय करन सुर जीव समेता। —रा० १।११७।३
५. पंचाच्छरी प्रान मुद माधव। —वि० २२।७
६. दसइँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि। —वि० २०३।११
७. ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥ —रा० ३।१३।३
८. छा० उ० ६।३, बृ० उ० १।४, मु० उ० १।१।६-९, २।१, श्वे० उ०, अ० ९, प्र० उ० ६।४-५, ऐ० उ०, अ० १ और उन सब पर शा० भा०
९. दे० —वि० पु० १।२, १।४-८, भा० पु० २।५, ३।५-६, ३।१०, ३।१२, ११।२२, ११।२४-२५, कू० पु० १।४-८
१०. दे०—सा० का० २२-५३ और उन पर वाच०, गौड०, पर०; साङ्ख्यप्रवचनभाष्य, अ० २-३, साङ्ख्यसार, १।३
११. दे०—पञ्चदशी, १-३, वे० प०, पृ० १६२-१७१; वे० सा०, पृ० ४-७; सि० बि०, पृ० १५४-१७१
१२. रा० १।१४२।४
१३. भा० पु० ३।२६
१४. वे० सा० ३।१५, ५।२४-२५, ६।२७-२८
१५. दो० २००; दे०—भा० पु० १०।६३।२६

गया है। भौतिकवादी चार्वाकों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु का अपना **स्वभाव** होता है। वही इस विचित्र जगत् की रचना का कारण है।[1] सांख्यों की मान्यता है कि प्रकृति के साम्यावस्थित गुणों में वैषम्य होने पर उन्हीं से सृष्टि होती है।[2] वैशिषिकों के अनुसार **काल** ही प्रत्येक रचना का कारण है, जन्मादि क्रियाओं के द्वारा सभी सृष्ट पदार्थों का परिच्छेदक है।[3] काल की ही प्रेरणा से परमाणुओं का संघात होने पर जगत् का विकास होता है। मीमांसकों का सिद्धांत है कि **कर्म** या **अदृष्ट** ही सृष्टि का कारण है। व्यास[4] की भाँति तुलसी को इन चारों पदार्थों की सत्ता और कारणता अवश्य मान्य है, किंतु परतंत्र रूप में। जीव का जीवन इन शक्ति-तत्त्वों के द्वारा शासित है,[5] लेकिन ये तत्त्व स्वयं भगवान् राम के अधीन हैं।[6] उस परमात्मा को ही कोई 'कर्म' कहता है, कोई 'स्वभाव', कोई 'काल', कोई 'दैव', और कोई 'काम'।[7]

काल—'काल' वह शक्तितत्त्व है जो सभी पदार्थों का आधार है। वह प्रकृति-पुरुष के संयोग, समभाव से स्थित गुणों के वैषम्य, पृथक्-पृथक् उद्भूत महत्तत्त्व आदि के विक्षोभ तथा अन्य समस्त कार्यों की उत्पत्ति का कारण है।[8] अपने व्यापक अर्थ में काल मूलप्रकृति से लेकर प्रलय तक के समस्त कार्यों का कारणतत्त्व है।[9] लोक-व्यवहार ने संहारकशक्ति के रूप में उसका अर्थ-संकोच भी कर दिया। तुलसी ने 'काल' शब्द का अधिकतर प्रयोग इसी संकुचित अर्थ में किया है।[10] काल जगत् का दुरतिक्रमणीय संहारक है।[11] वह अरहट के चक्र की भाँति भाव-पदार्थों को प्रकाशित और कवलित करता है (कालयति भूतानि), अतः उसकी संज्ञा 'काल' है।[12]

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १३

२. महदादिसृष्टिर्हि गुणवैषम्यात् श्रूयते।—साङ्ख्यसार पृ० ६

३. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २१६; वाक्यपदीय, तृतीयकाण्ड, कालसमुद्देश, कारिका १ पर हेलाराज की टीका

४. दे०—भा० पु० ४।११।१६-२२

५. काल करम गुन सुभाउ सबके सीस तपत। —वि० १३०।३
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥ —रा० ७।४४।३
काल सुभाउ करम बरिआई। भलौ प्रकृति बस चुकै भलाई॥ —रा० १।७।१

६. माया जीव काल के, करम के, सुभाय के,
करैया राम, बेद कहैं, सॉची मन गुनिए। —हनु० ४४
काल करम गुन दोष जग जीव तिहारे हाथ। —दो० १७७
काल-करम दिगपाल सकल जग-जाल जासु करतल तो। —गी० ५।१३।४
राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥ —रा० ७।२१
काल करम सुभाव गुन भच्छक। —रा० ७।३५।४

७. केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे॥ —भा० पु० ४।११।२२

८. वि० पु० १।२।२४, भा० पु० २।५।२२, ३।२६।५०

९. वि० ५४।२, कवि० ७।१२६; भा० पु० ३।१०।१२, वि० पु० १।२।१७

१०. रा० ५।२२।५, ६।१६।४; गी० १।६५।२, ५।१२।१; रा० प्र० ३।२।१, ५।५।१

११. अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥
अंडकटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥ —रा० ७।६४।४

१२. दे०—वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड, कालसमद्देश, कारिका १४ और उस पर हेलाराज की टीका
करम खरी कर मोह थल अंक चराचर जाल। हनत गुनत गनि गुनि हनत जगत ज्योतिषी काल॥—दो० २४६

उरगरूप कराल काल संपूर्ण ब्रह्मांड का भक्षक है।[1] ब्रह्मवादी के मतानुसार ब्रह्म की शक्ति माया का ही नाम 'काल' है जिसके द्वारा इस अक्रम विश्व का निर्भास और उपगम क्रमबद्ध-सा प्रतीत होता है।[2] काल भी अविद्या ही है।[3] वैष्णवों की दृष्टि में यह काल भगवान् का ही रूप है।[4] काल का कालत्व उन्हीं का अंश है; उसका अस्तित्व और व्यापार राम की इच्छा के अधीन है; राम काल के भी काल हैं।[5] उसके सारे कार्य भगवान् की माया से ही प्रेरित होते है।[6] राम के शक्तिरूप होने के कारण ही उसे तुलसी ने उनका 'कोदंड' कहा है।[7] उनकी भक्ति प्राप्त कर लेने पर जीव काल के परिवेश से मुक्त हो जाता है; राम का भक्त कालधर्म के प्रभाव से वैसे ही अछूता रहता है जैसे ऐंद्रजालिक का सेवक इंद्रजाल के प्रभाव से।[8] लोकव्यवहारानुसार तुलसी ने 'काल' शब्द का प्रयोग समय के अर्थ में भी किया है। दार्शनिक दृष्टि से काल एक, नित्य और विभु है।[9] लोकजीवन में त्रिकाल (भूत, वर्तमान और भविष्य), कल्प, युग, वर्ष, मास, निमेष आदि के रूप में उसका विभाग केवल व्यवहार-सिद्धि के लिए है। कालवाद का सिद्धांत भाग्यवाद का समशील है जिसमें तर्क के लिए अवकाश नहीं है। कालवादियों का मत है कि समग्र सामग्री के रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति तब तक नहीं होती जब तक उसका काल नहीं आता।[10] तुलसी ने भाग्य के रूप में भी काल को स्वीकार किया है।[11]

स्वभाव—कालवाद की भाँति स्वभाववाद भी युक्तिहीन और भाग्यवादी सिद्धांत है।[12] इस मत के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का अपना विशिष्ट रूप है, अपना गुण या प्रतिनियतशक्ति है; जैसे वायु में स्पर्श, अग्नि में उष्णता आदि। वही कार्य की उत्पत्ति का अपरिहार्य कारण है। सृष्टि के आदि में काल द्वारा क्षुब्ध प्राकृत गुणों को स्वभाव ही रूपांतरित करता है।[13] जीव का भी अपना स्वभाव होता है। आचार्य शंकर का कथन है कि प्रत्येक शरीर में परब्रह्म का जो अंतरात्मभाव है, उसका नाम 'स्वभाव' है।[14] वह जीव का असाधारण भाव है, उसकी प्रकृति-

---

१. तुलसिदास हरि भजहि आस तजि, काल-उरग जग खायो।—वि० १९९।६
ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ —रा० ३।१३।४
दे०— यो० वा० १।२३।४

२. वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड, कालसमुद्देश, कारिका ४६ और उस पर हेलाराज की टीका

३. कालस्त्वविद्यैव। —सि० बि०, पृ० १५७

४. वि० ५४।२-३; गीता, ११।३२; वि० पु० १।२।२४; भा० पु० ४।११।२२

५. दो० २००; रा० ६।१०२।२, दो० ५०४; कवि० ७।१२६, रा० ६।५६।४

६. भा० पु० २।५।२२, ११।३।८

७. लव निमेष परवानु जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहुँ कालु जासु कोदंड॥ —दो० १३०, रा० ६। प्रथम दोहा

८. कालधर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही।
नटकृत बिकट कपट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापइ माया॥ —रा० ७।१०४।४

९. वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड, कालसमुद्देश, १; यतीन्द्र, पृ० ७५

१०. इस मत के उल्लेख के लिए द्रष्टव्य—भा० द० (उ० मि०), पृ० ८४

११. रा० २।१७६।१, गी० २।७५।२, ५।२४।२

१२. इस मत के उल्लेख के लिए द्रष्टव्य—भा० द० (उ० मि०), पृ० ८४-८५

१३. कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः। —भा० पु० २।५।२२

१४. परस्य ब्रह्मणः प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः स्वभावः —गीता, ८।३ पर शा० भा०

वासनारूप रुचिविशेष है, जो आत्मा में अनात्मवस्तु के संबंध से, पूर्वकर्मजनित संस्कारों से, उत्पन्न होती है।[1] जीवों के पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के संस्कार जब वर्तमान जन्म में स्वकार्याभिमुख होकर अभिव्यक्त होते हैं तब उन्हें 'स्वभाव' कहा जाता है।[2] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में क्रमशः शांति, ऐश्वर्य, चेष्टा और मूढ़ता के गुणों का प्रादुर्भाव निष्कारण नहीं है; स्वभाव ही उनकी उत्पत्ति का कारण है।[3] अनतिक्रमणीय स्वभाव में ही यह सारा जगत् स्थित और उसका अनुवर्ती है।[4] जीव स्वभाव द्वारा परिवृत है; उसके वशीभूत होकर अनुचित कर्म करता है, फलस्वरूप क्लेशभागी होता है।[5] ब्रह्मवादी स्वभाव को भी ब्रह्म की माया मानता है।[6] तुलसी के मतानुसार राम ही उसके संचालक एवं नाशक हैं।[7] राम का आश्रित जीव उसके दुःख से स्पृष्ट नहीं होता।[8] स्वभाव के त्याग के बिना परमानंद की प्राप्ति नहीं होती।[9] जीव को तप्त कर रखने वाला यह 'स्वभाव' रामनाम की चर्चा मात्र से लुप्त हो जाता है।[10]

कर्म—कर्म-सिद्धांत का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ पर केवल इतना ही वक्तव्य है कि दार्शनिकों ने **'कर्म'** या **'अदृष्ट'** को भी सृष्टि का एक हेतु माना है। संसार में कोई भी कार्योत्पत्ति अकारण नहीं होती। बौद्धों की मान्यता है कि जगत् की विचित्रता'कर्म' से उत्पन्न होती है।[11] वैशेषिकों के अनुसार प्रलयावस्था में "प्रत्येक जीवात्मा अपने मनस् के साथ तथा पूर्व-जन्मों के कर्मों के संस्कारों के साथ तथा 'अदृष्ट'-रूप में धर्म और अधर्म के साथ विद्यमान रहती है। परंतु इस समय सृष्टि का कोई कार्य नहीं होता। कारण-रूप में सभी वस्तुएँ उस समय की प्रतीक्षा में रहती हैं, जब जीवों के सभी 'अदृष्ट' कार्य-रूप में परिणत होने के लिए तत्पर हो जाते हैं। परंतु 'अदृष्ट' जड़ है, शरीर के न होने से 'जीवात्मा' भी कोई कार्य नहीं कर सकती, 'परमाणु' आदि सभी जड़ हैं, फिर सृष्टि के लिए 'क्रिया' किस प्रकार उत्पन्न हो? इसके उत्तर में यह जानना चाहिए कि उत्पन्न होने वाले जीवों के कल्याण के लिए परमात्मा में 'सृष्टि करने की इच्छा' उत्पन्न हो जाती है, जिससे जीवों के 'अदृष्ट' कार्योन्मुख हो जाते हैं।"[12] वात्स्यायन ने अदृष्टवाद का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि परमाणुओं के उस विशिष्ट गुण का नाम 'अदृष्ट' है जो कार्योत्पत्ति का हेतु है, जिससे प्रेरित परमाणु शरीर की उत्पत्ति करते हैं।[13] वैष्णव-मत में, भगवान् विष्णु की शक्ति और प्रेरणा द्वारा 'कर्म' या 'दैव' (अदृष्ट) महत्तत्त्व

१. गीता, ५।१४, ८।३ और १७।२ पर रा० भा०
२. गीता, १७।२ और १८।४१ पर शा० भा०
३. गीता, १८।४१-४४ और उन पर शा० भा०
४. भा० पु० ७।२।४६, १०।२४।१६
५. रा० ७।४४।३; रा० १।७।१, ७।२१
६. गीता, ५।१४ और १८।४१ पर शा० भा०
७. दो० २००, रा० ७।३५।४
८. रा० ७।२१
९. गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानंद। —वि० २०३।४
१०. वि० १३०।३
११. दे०—भा० द० (उ० मि०), पृ० १५५
१२. भा० द० (उ० मि०), पृ० २३२-३३
१३. अदृष्टं नाम परमाणूनां गुणविशेषः क्रियाहेतुस्तेन प्रेरिताः परमाणवः संमूर्च्छिताः शरीरमुत्पादयन्ति।
—न्यायसूत्र, ३।२।७३ पर वात्स्यायनभा०

की उत्पत्ति करता है।[1] कर्म जीवन की घटनाओं का प्रधान कारण है; उसकी गति गहन और अनुल्लंघनीय है।[2] जीव का मन कर्म के अधीन है; कर्म की शृंखला में बँधा हुआ जीव दुस्सह साँसत सहता है।[3] सुर, असुर, नाग, नर सभी कर्म की प्रबल डोरी में बँधे हुए है।[4] तुलसी के राम कर्म के भी कर्म, नियामक एवं संहर्ता हैं।[5] कर्म के प्रातिकूल्य-निवारण और उसके बंधन के उच्छेद का उपाय है राम-भक्ति।[6]

गुण——प्रकृति के स्वरूपानुबंधी स्वभावविशेष को 'गुण' कहते हैं।[7] 'गुण' शब्द से यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि ये प्रकृति के विशेषण है। ये तत्त्वतः प्रकृतिस्वरूप हैं। गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है।[8] 'साम्यावस्था' का तात्पर्य है—गुणों का अन्यूनाधिक भाव से अव्यक्तकारणरूप में अवस्थान।[9] भेद्य-भेदक-भाव या जन्य-जनक-संबंध से प्रकृति के गुणों की चर्चा[10] 'के वृक्ष' वन की भाँति औपलक्षणिक व्यवहारमात्र है।[11] तो फिर प्रकृतिरूप द्रव्य होने पर भी इन्हें 'गुण' क्यों कहा जाता है? इसके कई उत्तर हैं। ये गुण सुख, संयोग आदि गुणों वाले हैं; पुरुष के उपकरण होने के कारण गौण हैं तथा गुण (रस्सी) की भाँति उसके बंधनकारक हैं, अतः इनकी संज्ञा 'गुण' है।[12] पहले कहा गया है कि गुणों की उत्पत्ति भगवान् से हुई। गुणों के स्रोत होते हुए भी वे परमार्थतः गुणों से परे हैं।[13] सृष्टि, स्थिति और प्रलय की व्याख्या के लिए ही तत्त्वचिंतकों ने उनमें इन गुणों कल्पना की है।[14]

गुण तीन हैं—सत्त्व, रज और तम। प्रीति, लघुता (सूक्ष्मता) और प्रकाश सत्त्व गुण की स्वाभाविक विशेषता है। अप्रीति, उपष्टंभ और चंचलता रजोगुण की विशेषता है। विषाद, भारीपन और आवरण तमोगुण की विशेषता है। सत्त्व के उत्कट होने पर चित्त में प्रीति का,

१. कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्। —भा०पु० २।५।२२
दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥ —भा०पु० ३।२६।१९
२. रा० २।९१।४; २।११८।४, २।१६५।३
३. भा०पु० ११।२२।३७; वि० ७६।२, १३६।३-४
४. जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी। —वि० ९८।२
५. हनु० ४४, कवि० ७।१२६; वि० ११२।३, रा० ६।६।५; रा० ७।३५।४
६. वि० १३०।३, १५१।४
७. गुणाः प्रकृतेस्स्वरूपानुबन्धिनः स्वभावविशेषाः। —तत्त्वत्रय, पृ० ४३
८. सा० सू० १।६१, सा० का० ३ पर वाच०, भा० पु० ११।२८।२४
९. साम्यावस्था च न्यूनाधिकभावेनासंहननावस्था, अकार्यावस्थेति यावत्। —साङ्ख्यसार, पृ० ९;
दे०—सा० सू० १।६१ पर साङ्ख्यप्रवचनभाष्य
१०. ना० पु० २।५८।६०, गीता, १३।२१
११. प्रकृतेर्गुणा इत्यादिवाक्यन्तु वनस्य वृक्षा इतिवत् बोध्यम्। —साङ्ख्यसार, पृ० ९
१२. सत्त्वादित्रयञ्च सुखप्रकाशलाघवप्रसादादिगुणवत्तया संयोगविभागादिमत्तयाऽनाश्रितत्वोपादानत्वादिना च द्रव्यत्वेऽपि पुरुषोपकरणत्वात् पुरुषबन्धकत्वाच्च गुणशब्देनोच्यते, इन्द्रियादिवत्। —साङ्ख्यसार, पृ० १०
१३. निज इच्छा निर्मित तनु माया गन गो पार। —रा० १।१९२
तीज त्रिगुनपर परम पुरुष श्रीरमन मुकुंद—वि० २०३।४
१४. सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः॥ —भा०पु० २।५।१८

अंगों में हल्केपन का, बुद्धि में प्रकाश (ज्ञान) का तथा इंद्रियों में प्रसन्नता और विषयग्रहण-समर्थता का अनुभव होता है। जब रजोगुण उत्कट होता है तब अप्रीति (कलह-प्रियता), लोभ, चंचलता, विक्षोभ एवं अहंकारपूर्ण प्रवृत्ति जागृत होती है। तमोगुण के उत्कट होने पर मन में विषाद तथा अंगों में भारीपन का अनुभव होता है और इंद्रियाँ, आवृत हो जाने के कारण, विषयों का यथार्थ ग्रहण नहीं कर पाती।[1] जगत् की प्रत्येक वस्तु इन तीन गुणों से ही निर्मित है। ये गुण अपने धर्म या स्वभाव से कभी पृथक् नहीं होते। इन गणों की अपेक्षाकृत प्रधानता या गौणता के अनुसार वस्तुओं में भी भेद हुआ करता है। अर्थात्, सत्त्वप्रधान वस्तु में शांति आदि का, रजः-प्रधान वस्तु में क्रियाशीलता आदि का,तथा तमःप्रधान वस्तु में जड़ता आदि का होना अनिवार्य है। युगधर्म का निरूपण करते हुए तुलसी ने इन गुणों की स्वाभाविक विशेषता और प्रभाव का संकेत किया है—

सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥
सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥[2]

सत्ययुग में समता, विज्ञान और प्रसन्नता की अधिकता शुद्ध सत्त्वगुण की उत्कटता का प्रभाव है। त्रेता में कर्मकांड के प्रति निष्ठा रजोगुण की, और सर्वतोमुख सुख सत्त्वगुण की विशेषता है। द्वापर में हर्ष सत्त्वगुण का परिणाम है, और भय तमोविशिष्ट रजोगुण का। कलियुग में फैला हुआ विरोध मोहजनित विरोध है। कलहप्रियता का कारण रजोगुण है और अज्ञान का कारण तमोगुण।

इन गुणों का पारस्परिक संबंध भी अवेक्षणीय है। ये तीनों ही प्रत्येक वस्तु में अविनाभाव से (साथ-साथ) रहते हैं। प्रत्येक गुण का यह स्वभाव है कि वह अन्य गुणों को अभिभूत करना चाहता है। कभी सत्त्वगुण रज और तम को अभिभूत करके अपने धर्मों (प्रीति, प्रकाश, प्रसन्नता आदि) के रूप में प्रधानतया अभिव्यक्त होता है। कभी रजोगुण सत्त्व और तम को अभिभूत करके अपने धर्मों (अप्रीति, आसक्ति, प्रवृत्ति आदि) के रूप में प्रधानतया अभिव्यक्त होता है। कभी तमोगुण सत्त्व तथा रज को अभिभूत करके अपने धर्मों (आलस्य, मूढ़ता आदि) के रूप में प्रधानतया अभिव्यक्त होता है। नर-नारी की भाँति ये गुण अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करने में एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। ये आपस में मिलकर रहते हैं, और अपनी स्वाभाविक सहायता से अन्य गुणों के धर्मों की अभिव्यक्ति भी करते हैं।[3]

---

१. सा० का० १२-१३ और उन पर वाच०, गौड० तथा पर०; भा० पु० ११।२५।२-४; गीता, १४।१७-१८

२. रा० ७।१०४।१-३

३. अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः। —सा० का० १२
और भी दे०—भा०पु० ११।२५।१३-१५
गौडपाद ने सुंदर उदाहरणों द्वारा यह बात स्पष्ट की है। रूपशीला स्त्री मुख्यतया सत्त्वधर्म सुखादि का हेतु है, परंतु सौतों और रागियों में क्रमशः दुःख और मोह भी उत्पन्न करती है। प्रजापालन में उद्यत राजा रजःप्रधान है, परंतु शिष्टों के सुख और दुष्टों के मोह का भी उत्पादक है। विरहियों के मोह का कारण मेघ जगत् के सुख और कृषकों के उद्योग का भी जनक है। (दे०—सा० का० १२ पर गौड०)

अपने 'गुण' नाम के अनुरूप ये सत्त्व, रज तथा तम जीव के बंधनकारक हैं।[1] कार्य और कारणरूप में परिणत हुई प्रकृति में स्थित होकर जीव उसे आत्मस्वरूप समझता है। प्रकृति के संसर्ग से युक्त होकर तज्जन्य सुख, दुःख और मोह के रूप में अभिव्यक्त गुणों को भोगता हुआ यह अनुभव करता है कि मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मूढ़ हूँ, पंडित हूँ। भोगे जाते हुए गुणों में आसक्त जीव तद्रूप हो जाता है। यह आसक्ति ही 'काम' है। यह काम जीव के संसारचक्र का कारण है जिसके फलस्वरूप वह अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है।[2] इन गुणों के विभागानुसार ही भगवान् ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की सृष्टि की है।[3] जन्मजन्मांतर तक गुणों से घिरा रहकर जीव विविध प्रकार के तापों से तप्त होता है।[4] शंकर ने संन्याससहित ज्ञान-वैराग्य को इसकी निवृत्ति का कारण बतलाया है।[5] 'भागवत' में कहा गया है कि गुणों पर विजय प्राप्त कर लेने वाला जीव भक्तियोग से भगवत्स्वरूप हो जाता है।[6] शंकर के मत से असहमत न होते हुए भी तुलसी केवल रामभक्ति और उनकी करुणा को ही इसकी निवृति का अचूक उपाय मानते हैं।[7]

प्रकृति-सृष्टि—सांख्य-दर्शन में प्रतिपादित प्रकृति का अंतर्भाव ईश्वरवादियों ने माया के अंतर्गत किया।[8] शंकराचार्य ने ईश्वर की सृष्टिकारणशक्तिरूपा त्रिगुणात्मिका माया को 'प्रकृति' कहा है।[9] समन्वयवादी भगवद्भक्तों ने भगवान् को 'मूलप्रकृति' भी कहा है।[10] उक्त माया का ही एक नाम 'अव्यक्त' है।[11] इसको 'प्रधान' और 'प्रकृति' भी कहते हैं।[12] महदादि समस्त विकारों की जननी तथा किसी अन्य प्रकृति की विकृति न होने के कारण इसकी संज्ञा 'मूलप्रकृति' है।[13] यह स्वयं सामर्थ्यहीन और ईश्वराधीन है। भगवान् के अनुशासन, प्रेरणा और बल से ही सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होती है।[14] भगवान् कपिल ने रूपक द्वारा समझाया है कि जब परमात्मा ने

---

१. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ —गीता, १४।५
सत्त्वं रजस्तम इति गणाः जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥ —भा० पु० ११।२५।१२

२. दे०—गीता, १३।२१ पर शा० भा० और रा० भा०

३. दे०—गीता, ४।१३ और उस पर शा० भा०

४. रा० ७।४४।३, वि० १३०।३

५. अस्य च निवृत्तिकारणं ज्ञानवैराग्ये ससंन्यासे गीताशास्त्रे प्रसिद्धम् । —गीता, १३।२१ पर शा० भा०

६. भा० पु० ११।२५।३२-३३

७. रा० ७।११७; रा० ७।४४।३-४, वि० १३०।३

८. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । —श्वे० उ० ४।१०

९. प्रकृतिः ईश्वरस्य विकारकारणशक्तिः त्रिगुणात्मिका माया— गीता, १३।१९ पर शा० भा०

१०. स एव मूलप्रकृतिः —कू० पु० २।७।३१, ब्रह्मपु० २३।४३
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी । —भा० पु० १०।१०।३१

११. वि० चू० ११०; वि० ५४।३, रा० ७।१३। छं० ५

१२. भा० पु० ३।२६।१०, ना० पु० २।५८।५०-५१; वि० ५४।२

१३. सा० का० ३ पर पर० और गौड०

१४. लव निमेष महँ भुवन निकाया । रचै जासु अनुसासन माया ॥ —रा० १।२२५।२
एक रचै जग गुन बस जाकें । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ॥ —रा० ३।१५।३

अपनी माया में चिच्छक्तिरूप वीर्य स्थापित किया तब उससे तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ।[1] गुणों की साम्यदशा में प्रकृति अव्यक्त रहती है। गुणों में वैषम्य होने पर उसमें विकार उत्पन्न होता है।[2] भगवान् ही इस वैषम्य के कारण है। वे कालरूप से प्रकृति में गति उत्पन्न करते हैं; अथवा उन्हीं की शक्ति से काल गुणों में क्षोभ उत्पन्न करता हैं, स्वभाव उन्हें रूपांतरित करता है और कर्म महत्तत्त्व को जन्म देता है।[3] प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व है। तृतीय अध्याय में यह विवेचित किया जा चुका है कि 'महत्तत्त्व' का ही दूसरा नाम 'बुद्धि' है, 'बुद्धि' का लक्षण अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना है। व्यापकता और धर्म आदि प्रकृष्ट गुणों के कारण इसकी संज्ञा 'महान्' है। परमार्थतः, भगवान् में प्राकृत बुद्धि के धर्म नहीं हैं। इसकी कल्पना भी माया के द्वारा की गयी है। भगवान् की सृष्टिविस्तार-विषयक ईक्षा के निश्चय को ही 'बुद्धि' कह दिया गया है। ब्रह्मा इसी अध्यवसायात्मक निश्चय के प्रतीक हैं।[4] गुण-भेद से बुद्धि के त्रिविधत्व की चर्चा भी पिछले अध्याय में की जा चुकी है।

सत्त्वविशिष्ट महत्तत्त्व से रजोविशिष्ट क्रियाशक्तिप्रधान अहंकार[5] तत्त्व उत्पन्न हुआ।[6] अहंकार भी मायिक वस्तु है जो भगवान् के सृष्टिविस्तार-विषयक निश्चय को कार्यान्वित करने वाली शक्ति का प्रतीक है। गुण-भेद से इसके तीन रूप हैं—वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और भूतादि (तामस)।[7] वैकारिक अहंकार से मन और इंद्रियाधिष्ठाता देवता उत्पन्न हुए।[8] तैजस अहंकार से प्राण-समेत इंद्रियों की उत्पत्ति हुई।[9] भूतादि अहंकार से पंच-तन्मात्राओं तथा पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हुई।[10] भूतों की सूक्ष्मावस्था को ही 'तन्मात्र' कहा गया है।[11] उनकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—अहंकार से शब्द, शब्द से आकाश, आकाश से स्पर्श, स्पर्श से वायु, वायु से रूप, रूप से तेज, तेज से रस, रस से जल, जल से गंध और गंध से पृथिवी की उत्पत्ति हुई।[12] 'भागवत' के कपिल के अनुसार शब्द से आकाश और श्रोत्र, स्पर्श से वायु और त्वचा, रूप से तेज और नेत्र, रस से जल और रसना तथा गंध से पृथिवी और

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए॥ —रा० ५।५६।१-२

१. भा० पु० ३।२६।१६
२. महदादिसृष्टिर्हि गुणवैषम्यात् श्रूयते। —साङ्ख्यसार, पृ० ६
३. भा० पु० ३।२६।१७; भा० पु० २।५।२२
४. रा० ६।१५ क
५. वि० (५४।२) में 'आतमा'=अहंकार;
मि० दे०—भा० पु० १०।६३।३५ और रा० ६।१५क
६. वि० पु० १।२।३६, भा० पु० ३।२६।२३, ना० पु० २।५८।५२
७. वि० पु० १।२।३५, भा० पु० ३।२६।२४, ना० पु० २।५८।५३, तत्त्वत्रय, पृ० ४५
८. वि० पु० १।२।४६-४७, ना० पु० २।५८।५४-५५
९. भा० पु० २।५।३१, वि० पु० १।२।४६, ना० पु० २।५८।५५-५६;
कहीं-कहीं वैकारिक (सात्त्विक) अहंकार से ही इंद्रियों की उत्पत्ति बतलायी गयी है।
—दे०—तत्त्वत्रय, पृ० ४५-४६
१०. वि० पु० १।२।४६, भा० पु० २।५।२५
११. तन्मात्राणि भूतानां सूक्ष्मावस्थाः। —तत्त्वत्रय, पृ० ५०
१२. वि० पु० १।२।३७-४४, ना० पु० २।५८।५७-५९

नासिका का प्रादुर्भाव हुआ।[1] उत्पत्तिक्रम के उक्त दोनों ही मत शास्त्रसिद्ध हैं।[2] कपिल के प्रति तुलसी का आदरभाव[3] 'भागवतपुराण' की मान्यता का ही समर्थक है। महत्तत्त्व, अहंकार और पंचभूतों में गुणों का वैशिष्ट्य ध्यान देने योग्य है। महत्तत्त्व सत्त्वप्रधान है, अहंकार रजःप्रधान और पंचभूत तमःप्रधान।

'गीता' में भगवान् ने अपनी दो प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन किया है—अपरा और परा।[4] अपरा प्रकृति अष्टधा है। उसके आठ भेद हैं—गंधतन्मात्र भूमि, रसतन्मात्र जल, रूपतन्मात्र अग्नि, स्पर्शतन्मात्र वायु, शब्दतन्मात्र आकाश, मन का कारण अहंकार, अहंकार-कारण बुद्धि एवं अहंकारवासनाविशिष्ट अविद्यात्मक अव्यक्त। अपरा प्रकृति ही माया है। यह विश्व-प्रपंच उसी का कार्य है। अनृत, जड़, दुःखात्मक, अशुद्ध और संसारबंधनरूपा होने के कारण उसे 'अपरा' (निकृष्ट) कहते हैं। क्षेत्रज्ञ जीव परा प्रकृति है। वह शुद्ध है, अपरा प्रकृति का उपजीव्य है, सत्तास्फूर्तिदायक है, जगत् का धारक, पोषक, रक्षक आदि है; अतएव 'परा' (प्रकृष्ट) प्रकृति है।[5] अष्टधा अपरा प्रकृति की मान्यता स्पष्टतया स्वीकारते हुए तुलसी ने जीव को उससे परिवृत और राम को उसके परे मानकर उनकी प्राप्ति के लिए भक्तियोग का निर्देश किया है।[6] उन्होंने जीव के प्रकृतित्व का कहीं पर कोई उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह है कि अद्वैतवेदांतियों की भाँति जीव का प्रकृतित्व उन्हें मान्य नहीं है। तथापि, अपरा प्रकृति की तुलना में **'चेतन अमल सहज सुखरासी'**, **'निरमल निरंजन निरबिकार'**[7] जीव का परत्व उन्हें निस्संदेह स्वीकार्य है। 'विनयपत्रिका' की हरिशंकरी स्तुति में उनकी उक्ति है—

बामनाऽव्यक्त, पावन, परावर, बिभो, प्रगट परमातमा, प्रकृति-स्वामी।[8]

उपर्युक्त पंक्ति में प्रयुक्त 'परावर' एवं 'प्रकृति' शब्दों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहाँ पर तुलसी ने अस्पष्ट रूप से भगवान् की परा और अपरा प्रकृतियों का उल्लेख किया है। 'परावर' का अर्थ 'इहलोक और परलोक'[9] करने की अपेक्षा 'परतत्त्व चेतन जीव और अवरतत्त्व जड़ प्रकृति' करना अधिक समीचीन है। 'रामचरितमानस' की निम्नांकित पंक्ति से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ।[10]

---

१. भा० पु० ३।२६।३२-४४
२. दे०—तत्त्वत्रय, पृ० ४६-४७
३. रा० १।१४२।३-४
४. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ —गीता, ७।४-५
५. दे०—गीता, ७।४-५ पर शङ्करानन्दी व्याख्या; तत्त्वत्रय, पृ० ४८
६. आठहुँ आठ प्रकृति-पर निरबिकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहुकाम॥ —वि० २०३।६
७. क्रमशः —रा० ७।११७।१, वि० १३६।२
८. वि० ४९।३
९. वि० ४९।३ पर सि० ति०
१०. रा० १।११६

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'[१] के आधार पर 'परावर नाथ' का यह व्याख्यान कि 'राम त्रिपादविभूति और एकपादविभूति दोनों विभूतियों के स्वामी हैं'[२] सर्वथा ग्राह्य है। किंतु 'परावर' का दूसरा पूर्वोक्त अर्थ भी किसी प्रकार अग्राह्य नहीं है। तुलसीदास के तत्त्वत्रयविषयक सिद्धांत की भूमिका में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके मतानुसार राम परमतत्त्व हैं, चेतन जीव परतत्त्व है, जड़ प्रकृति अवरतत्त्व है; राम **'परावर'-स्वरूप** भी हैं और **'परावरनाथ'** भी। 'विनयपत्रिका' में व्यवहृत 'परावर' का दूसरा तर्कसंगत अर्थ यह किया जा सकता है कि राम कारणरूप से 'पर' और कार्यरूप से 'अवर' हैं। **'तस्मिन्दृष्टे परावरे'** (मु० उ० २।२।८) पर भाष्य करते हुए शंकर ने ब्रह्म के परावरत्व का इसी प्रकार विवेचन किया है—**परावरे परं च कारणात्मनावरं च कार्यात्मना तस्मिन् परावरे।**

कहा जा चुका है कि यह सृष्टि जीव के भोग के लिए है। संपूर्ण जगत् जीव के भोगायतन शरीर, भोग्य पदार्थ और भोगस्थान के रूप में ही निर्मित हुआ है। पूर्वोक्त अमूर्त और सूक्ष्म भूत स्थूल शरीर आदि के बिना भोग उत्पन्न करने में असमर्थ हैं।[३] अतएव ईश्वर उन भूतों को मिलाकर उन्हें स्थूल रूप प्रदान करता है। भूतों के मेलन की यह प्रक्रिया त्रिवृत्करण,[४] पंचीकरण[५] या सप्तीकरण[६] के नाम से प्रसिद्ध है। दार्शनिकों ने पंचीकरण-प्रक्रिया को विशेष गौरव दिया है और उसी में शेष दो का अंतर्भाव माना है।[७] **'पंचरचित', 'जड़पंच मिलै जेहिं देह करी'** आदि प्रयोगों से[८] यह प्रमाणित होता है कि तुलसी को पंचीकरण-प्रक्रिया का सिद्धांत मान्य है।

वेदांतग्रंथों के आधार पर **पंचीकरण** की प्रक्रिया इस प्रकार है। प्रत्येक भूत के दो भाग कर लिये गये। फिर प्रत्येक भाग को चार-चार भागों में विभाजित कर दिया गया। वे चार भाग अपने भाग को छोड़कर अन्य चार भूतों के आधे भाग में प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार प्रत्येक भूत के अर्धभाग का इतर चार भूतों के अष्टम भाग से मिश्रण होने पर पाँच-पाँच का एक संघात बन गया। अपने भाग के आधिक्य के कारण उनके लिए 'आकाश' आदि का प्रयोग किया जाता है।[९] निम्नांकित सारणी से पंचीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाएगी—

पंचीकृत स्थूल आकाश = $\frac{१}{२}$ आ० + $\frac{१}{८}$ वा० + $\frac{१}{८}$ अ० + $\frac{१}{८}$ ज० + $\frac{१}{८}$ पृ०
" " वायु = $\frac{१}{२}$ वा० + $\frac{१}{८}$ आ० + $\frac{१}{८}$ अ० + $\frac{१}{८}$ ज० + $\frac{१}{८}$ पृ०
" " अग्नि = $\frac{१}{२}$ अ० + $\frac{१}{८}$ आ० + $\frac{१}{८}$ वा० + $\frac{१}{८}$ ज० + $\frac{१}{८}$ पृ०
" " जल = $\frac{१}{२}$ ज० + $\frac{१}{८}$ आ० + $\frac{१}{८}$ वा० + $\frac{१}{८}$ अ० + $\frac{१}{८}$ पृ०
" " पृथिवी = $\frac{१}{२}$ पृ० + $\frac{१}{८}$ आ० + $\frac{१}{८}$ वा० + $\frac{१}{८}$ अ० + $\frac{१}{८}$ ज०

---

१. यजु० ३१।३
२. मा० पी० और सि० ति० १।११६
३. तानि च तादृशानि भूतानि भोगायतनं शरीरं भोग्यञ्च विषयमन्तरेण भोगं जनयितुमशक्नुवन्ति —सि० बि०, पृ० १६५
४. छा० उ० ६।३।३, ब्र० सू० २।४।२०
५. वि० च० ९०; सि० बि०, पृ० १६५; यतीन्द्र०, पृ० ६५
६. यतीन्द्र०, अवतार ४, अनुच्छेद ५२
७. दे०—सि० बि०, पृ० १६६-१६९; यतीन्द्र०, पृ० ६६
८. रा० ४।११।२, कवि० ७।२७
९. पञ्चदशी, १।२७; वे० प०, पृ० १६७; सि० बि०, पृ० १६७-१७१; यतीन्द्र०, अवतार ४, अनुच्छेद ५१-५२

इन्हीं पंचीकृत स्थूलभूतों से ब्रह्मांड-समष्टि का निर्माण हुआ। पौराणिक परंपरा में सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण करते हुए बतलाया गया है कि महत्तत्त्व, अहंकार और पंचभूत व्यवहित थे। अतएव भोगायतन आदि की रचना करने में असमर्थ थे। भगवान् ने उनमें प्रवेश किया। वे संहित हुए। ईश्वराधिष्ठित होने पर उनसे एक महान् अंड की उत्पत्ति हुई।[1] अंडस्थित भगवान् से ब्रह्मा उत्पन्न हुए; ब्रह्मा-रूप से ही भगवान् ने चतुर्दशलोकयुक्त असंख्य अंडों की रचना की।[2] उपर्युक्त अंड में ही समस्त लोकों और प्राणियों का आविर्भाव हुआ। चौदहों भुवन इसी अंड में स्थित हैं।[3] ब्रह्मा के पुत्र मनु से नर-सृष्टि का विस्तार हुआ।[4] तुलसीदास ने काकभुशुंडि के मुख से **सप्तावरण** का भी उल्लेख कराया है।[5] उपर्युक्त अंड या ब्रह्मांड सात आवरणों से परिवृत है। भूमंडल अपने दस गुने रसमात्र जल से, जल दस गुने रूपमात्र अग्नि से, अग्नि दस गुने स्पर्शमात्र वायु से, वायु दसगुने शब्दमात्र आकाश से, आकाश दसगुने अहंकार से, अहंकार दसगुने महत्तत्त्व से और महत्तत्त्व दसगुने प्रधान से आवृत है।[6] ये ही सप्तावरण हैं। यह संपूर्ण जड़ चेतनात्मक विश्व विष्णुशक्ति से आवृत है।[7] यह समस्त जगत् भगवान् से व्याप्त है—इस तथ्य पर बल देने के लिए भागवतकार ने रुद्र, प्रह्लाद, ब्रह्मा, धृतराष्ट्र, शुकदेव, दत्तात्रेय आदि वक्ताओं से यह बात अनेक बार कहलायी है कि परमेश्वर ने इस विश्व की रचना करके उसमें प्रवेश किया।[8]

स्थूल जगत् के रूप में करोड़ों ब्रह्मांडों[9] की रचना हुई। ब्रह्मांड को तुलसी ने 'अंडकटाह' और 'अंडकोस' भी कहा है।[10] 'भुवननिकाय' और 'भुवनकोटि' आदि ब्रह्मांडों की असंख्यता के ही द्योतक हैं।[11] इस सप्तद्वीपवती पृथ्वी[12] पर स्थित पुण्यभूमि भारतवर्ष[13] उन सभी ब्रह्मांडों में सुंदरतम देश है। यह पृथिवी कच्छप, कोल, शेषनाग और दिग्गजों पर थमी हुई है।[14] दसों दिशाओं की रक्षा के लिए दस दिक्पाल हैं।[15] सारी सृष्टि में तीन लोक हैं—नाकलोक, महीलोक

१. वि० पु० १।२।५१-५३, भा० पु० ३।२६।५०-५१, ना० पु० २।५८।६१
२. ना० पु० २।५८।६४; तत्त्वत्रय, पृ० ५५
३. वि० पु० १।२।५८; साङ्ख्यसार, पृ० १६
४. स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्हतें भै नर सृष्टि अनूपा॥ —रा० १।१४२।१
५. सप्तावरन भेद करि जहां लगें गति मोरि। —रा० ७।७९ ख
६. वि० पु० १।२।३४-४४, ५९-६०; भा० पु० ३।२६।५२;
तत्त्वत्रय, पृ० ४९-५०; साङ्ख्यसार, पृ० १६
७. वि० पु० २।७।२९-३०
८. भा० पु० ४।२४।६४, ७।९।३०, ८।६।११, १०।४९।२९, १०।८७।५०, ११।७।४७
९. रा० १।१९२। छं० ३, ५।२१।२, ७।८०।२
१०. कवि० ६।१४, रा० ७।८०, ७।८१।४; रा० ५।२१।३, ७।८१।३
११. रा० १।५१। छं०; गी० १।४।१
१२. सप्त दीप भुज बल बस कीन्हें।—रा० १।१५४।४
१३. यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।—वि० १३५।१
भलि भारतभूमि, भलें कुल जन्म, समाजु सरीरु भलो लहि कै।—कवि० ७।३३
१४. रा० १।२६०।१, १।२६१। छं०, गी० १।९०।४-५, ५।२२।८, कवि० १।११
१५. रा० १।२८२।४, ५।२०।४, गी० ५।१३।४, कवि० १।११

और पाताललोक।[१] उन्हीं का चौदह भुवनों के रूप में वर्णन किया गया है।[२] 'भुवन' और 'लोक' आदि शब्दों का व्यवहार पर्यायरूप में हुआ है।[३] इन चौदह भुवनों के अंतर्गत सत्यलोक, विधि-लोक, शिवलोक, दिक्पालों के लोक, अमरावती, भोगावती आदि विशिष्ट लोकों की भी कल्पना की गयी है।[४] लोकों के समुचित व्यवस्थापन के लिए लोकपतियों का भी विधान है।[५] जीव के केंद्र-बिंदु से स्वर्ग और नरक विशेष ध्यान देने योग्य हैं। ऐश्वर्यशाली देवलोक स्वर्ग इंद्र की राजधानी है।[६] वह जीवों के पुण्यकाल की भोगभूमि है।[७] कल्पलता, कामधेनु, कल्पवृक्ष, पीयूष आदि स्वर्ग के ही दिव्य पदार्थ हैं।[८] नरकलोक[९] पापी जीवों के यातना-भोग की भूमि है।[१०] नरक अनेक है जिनमें, कष्टदायकता की दृष्टि से, रौरव का स्थान अन्यतम है।[११] मृत्युदेव यम-राज नरकलोक के शासक हैं। अतएव उसे यमपुर या यमनगर भी कहा जाता है। उस देश की नदी का नाम वैतरणी है जिसमें यमदूतों के द्वारा अघी जीवों की नाना प्रकार से यातना की जाती है।[१२] नरक से त्राण पाने का एक मात्र उपाय रामभक्ति है।

त्रिविध-सृष्टि-विस्तार—तुलसीदास ने त्रिविध सृष्टि और नाना भाँति से सृष्टि-विस्तार का भी उल्लेख किया है—

क. जेहिं सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाइ न दूजा।[१३]
ख. उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥[१४]

'त्रिबिध' का व्याख्यान अनेक प्रकार से किया जा सकता है। वेदांत-ग्रंथों में सृष्टि-प्रक्रिया के क्रमिक निरूपण के प्रसंग में तीन प्रकार के समष्टिगत और व्यष्टिगत शरीरों का वर्णन मिलता

---

१. रा० १।२७।१, १।२६५।३, कवि० ७।५०
२. रा० १।२८६।४, वि० २०३।१५, कवि० १।१६;
सात पाताल लोकों और सात ऊर्ध्व लोकों के विस्तृत वर्णन के लिए दे०—वि० पु० २।५,७
३. यथा—चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। (रा० १।२७।१), तिभुवन तीनि काल जग माहीं। (रा० २।२।२)
४. क्रमशः—रा० १।१३८; रा० २।२९५।४, पा० मं० १८; रा० ३।२।२; रा० १।१८२।४; रा० १।१५२।४, २।२४८।४; रा० १।१७८।४
५. कवि० ६।३, ६।५८
६. रा० १।१५१।४, १।२८९।४, २।१७०।२, वि० २०९।३, गी० ६।६।२, रा० न० २
७. बसहु जाइ सुरपति रजधानी।···तहँ करि भोग बिसाल—रा० १।१५१
८. गी० ७।१३।८, रा० ६।२६।३
९. विभिन्न नरकों के विस्तृत वर्णन के लिए दे०—वि० पु० २।६।१-३४
१०. कवि० ७।५१-५२, रा० २।४५।१, २।६४
११. वि० १९९।३; रा० ३।५।८, ७।१०७।३, ७।१२१।१३
१२. कवि० ७।५१-५२, रा० १।२८०।३, वि० २१०।३
१३. रा० १।१८६। छं० ३
१४. रा० ७।८०।२-४

है—कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर; इन्हीं को नामांतर से 'अव्याकृत', 'अमूर्त' और 'मूर्त' भी कहा गया है।[1] सांख्य-दर्शन में जड़-सृष्टि के तीन रूप बतलाये गये हैं—प्रकृति, प्रकृति-विकृति और विकृतिमात्र।[2] विविध प्रकार की सृष्टियों का वर्णन करते हुए भागवतकार ने भी त्रिविध सर्ग की चर्चा की है—प्राकृत, वैकृत और कौमार या प्राकृत-वैकृत।[3] तुलसी-दर्शन की दृष्टि से इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सृष्टि की ये त्रिविधताएँ उनकी विचार-धारा के विरुद्ध नहीं हैं। कई स्थलों पर केवल भोगायतन को केंद्र मानकर भी त्रिविध सृष्टि का निरूपण किया गया है—दैव, तैर्यक् एवं मानुष्य।[4] इन संस्थानों का नामोल्लेख करके तुलसी ने इनकी मान्यता की स्पष्ट अभिव्यक्ति की है।[5] 'भागवत' के अक्रूर ने भी इस प्रकार के त्रिविधत्व का उल्लेख किया है और संस्थान-भेद से जीव-सर्ग के तीन प्रकार बतलाये हैं—देव, मनुष्य और तिर्यक्।[6] देवता, पितर, असुर, गंधर्व-अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध-चारण-विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच और किन्नरादि के रूप में[7] देव-सृष्टि आठ प्रकार की है।[8] इस प्रसंग में यह स्मर्तव्य है कि राम के अतिरिक्त समस्त चेतन-समुदाय, माया का वशवर्ती होने के कारण, जीव-रूप ही है। मनुष्य-सर्ग एकविध है; तिर्यक्-सर्ग पाँच प्रकार का है—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर।[9]

चराचरात्मक जगत्[10] के नाना प्रकार से सृष्टि-विस्तार का विशद उपन्यास पुराणों का एक मुख्य विषय है। सर्ग-विस्तार-वर्णन तो उनका आवश्यक लक्षण माना गया है।[11] 'विष्णुपुराण' के अनुसार मूल सर्ग नौ प्रकार के हैं।[12] 'भागवतपुराण' में दस प्रकार के मुख्य सर्गों के साथ ही ग्यारहवें प्रकार के देवसर्ग का वर्णन किया गया है।[13] अनेक प्रकार की प्राकृत[14] और वैकृत[15]

---

१. पञ्चदशी, १।१७, १।२३, १।२६-२७, वे० सा०, पृ० ४-६; सि० वि०, पृ० १५५
२. सा० का० ३
३. भा० पु० ३।१०।१७-२६, दे०—वि० पु० १।५।२५
४. सा० का० ५३
५. त्रिजग देव नर जोइ तन धरऊँ।—रा० ७।११०।१
६. गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥—भा० पु० १०।४०।१२
७. रा० १।७ घ, १।१८२।५-६, १।१८२ ख, ६।१०।४-५, ६।८८।१; भा० पु० ३।१०।२७-२८
८. 'साङ्ख्यकारिका' के टीकाकारों के अनुसार अष्टविकल्प दैवसर्ग—१. ब्राह्म, २. प्राजापत्य, ३. ऐंद्र, ४. गांधर्व, ५. यक्ष, ६. राक्षस, ७. पैशाच और ८. पैत्र (वाच०) या सौम्य (गौड०) या आसुर (पर०)—दे०—सा० का० ५३ पर उक्त टीकाएँ।
९. सा० का० ५३ पर वाच०; 'भागवत' (३।१०।२०-२४) के कपिल ने तिर्यग्योनि के अंतर्गत २८ प्रकार के पशु-पक्षियों की गणना की है।
१०. रा० २।७७।३, ५।२१, ६।२७
११. दे०—वि० पु० ६।८।१३, वायुपु० १।४।१०, शि० पु० ७।१।१।४१, भा० पु० १२।७।९, ब्र० वै० पु० ४।१३१।६, वाराहपु० २।४, कू० पु० १।१।१२, २५, म० पु० ५३।६४
१२. महत्तत्त्व, तन्मात्र (भूत), वैकारिक (ऐंद्रियक), स्थावर, तिर्यक्, देव, अनुग्रह और कौमार —वि० पु० १।५।१९-२६
१३. महत्तत्त्व, अहंकार, भूत, इंद्रिय, देवता, अविद्या, स्थावर, तिर्यक्सर्ग, मनुष्य, कौमार तथा देवसृष्टि —भा० पु० ३।१०।१४-२८
१४. प्राकृत सर्ग के तीन प्रकार—वि० पु० १।५।१९-२०, २४; प्राकृत सर्ग के छः प्रकार—भा० पु० ३।१०।१४-१७
१५. वैकृत सर्ग के तीन प्रकार—भा० पु० ३।१०।१८-२६; वैकृत सर्ग के पाँच प्रकार—वि० पु० १।५।२१-२४

सृष्टियाँ हुईं। पाँच प्रकार का अविद्यासर्ग, पाँच प्रकार का नगात्मक सर्ग, अट्ठाईस प्रकार का तिर्यक्सर्ग, आठ प्रकार का देवसर्ग हुआ।[1] सप्तद्वीपा और नवखंडवती पृथिवी, सात पाताल-लोकों, सात ऊर्ध्वलोकों, विभिन्न ग्रहमंडलों, इस प्रकार असंख्य ब्रह्मांडों एवं तद्गत असंख्य भोगायतनों तथा भोग्यवस्तुओं की रचना हुई।[2] तुलसी ने इस सृष्टि-विस्तार का वर्णन न करके केवल संकेत ही किया है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि उनके प्रतिपाद्य भगवान् राम हैं। राम और रामभक्ति की परमार्थता प्रतिपादित करने के लिए जितनी चर्चा अपेक्षित थी, कवि ने अपने को वहीं तक सीमित रखा। दूसरा यह कि काव्योचित रमणीयता की दृष्टि से भी पौराणिक व्यासशैली में सर्ग-विसर्ग-वर्णन अनपेक्षित था।

प्रलय—तुलसीदास ने अपनी कृतियों में प्रलय का उल्लेख तो बहुत बार किया है, किंतु उसके स्वरूप, प्रकार आदि का सैद्धांतिक निरूपण कहीं नहीं किया। वेदांत और पुराणों के आधार पर ही उनकी प्रलय-विषयक मान्यता का दिग्दर्शन किया जा सकता है। कार्य का सूक्ष्म-रूप से अपने कारण में अवस्थित हो जाना 'प्रलय' है।[3] दूसरे शब्दों में, त्रैलोक्यविनाश को 'प्रलय' कहते हैं।[4] 'विष्णुपुराण' के पराशर और 'भागवत' के शुकदेव ने प्रलय के तीन प्रकार बतलाये हैं—नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यंतिक। कल्प के अंत में सारे विश्व को अपने अंदर लीन करके ब्रह्मा और तत्पश्चात् शेषशायी भगवान् योगनिद्रा[5] में शयन कर जाते हैं। यह नैमित्तिक प्रलय है। ब्रह्मरूपधारी हरि का शयन करना ही इस प्रलय का निमित्त है, अतएव इसे 'नैमित्तिक' कहते हैं।[6] इसी को 'दैनंदिन' प्रलय कहा गया है।[7] कल्प (एक सहस्र चतुर्युगी) ब्रह्मा का एक दिन है।[8] अतएव इसका नाम 'दैनदिन' प्रलय भी है। तुलसी का 'कल्पांत'[9] शब्द इसी प्रलय का ज्ञापक है।

ब्रह्मासमेत समस्त कार्यों का विनाश 'प्राकृत' प्रलय है।[10] इस प्रलय में स्थूल पृथिवी से लेकर महत्तत्त्वपर्यंत संपूर्ण विकारों का संहार हो जाता है। अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्र—ये सातों प्रकृति-विकृतियाँ अपने कारण मूलप्रकृति में लीन हो जाती हैं। प्रकृति और पुरुष परमात्मा में लीन हो जाते हैं।[11] तुलसी ने 'लय' या 'प्रलय' शब्द का प्रयोग प्रायः 'प्राकृत प्रलय' के अर्थ में किया है—**'जग संभव पालन लय कारिनि'**, **'उतपति थिति लय बिषहु अमी कें'**, **'भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई'**, **'उतपति पालन प्रलय समीहा'** आदि।[12] **संहार, पराभव, नाश,**

---

१. वि० पु० १।५।४-६, भा० पु० ३।१०।२०-२८
२. वि० पु० २।२-३, २।५-१२
३. स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थानं लयः। —सि० बि०, पृ० १७२
४. प्रलयो नाम त्रैलोक्यविनाशः। —वे० प०, पृ० १७२
५. अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते। —रघुवंश, १३।६
६. वि० पु० ६।४।३-७, भा० पु० १२।४।४
७. सि० बि०, पृ० १७२
८. भा० पु० १२।४।२
९. वि० ११।७, ५४।६, रा० ७।५७।१
१०. प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यविनाशः। —वे० प०, पृ० १७४
११. वि० पु० ६।४।१३, ४६, भा० पु० १२।४।५, २२
१२. क्रमशः — रा० १।१९८।२, २।२८२।३, ३।२८।२, ६।१५।३

विश्राम आदि शब्दों से भी उनका अभिप्राय प्राकृत प्रलय से ही है।[1] प्रलय का क्रम सृष्टि-विपरीत क्रम है। पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में समा जाता है। इसी क्रम से महत्तत्त्व अव्यक्त में लीन हो जाता है।[2] प्रलय के बादल[3] और अग्नि,[4] उनचास पवन[5] आदि प्रलय के इसी क्रम के सूचक हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रलयों में कर्म का उपरम तो हो जाता है लेकिन अज्ञान का नहीं। फलतः संसारचक्र का नाश नहीं होता। इसलिए वे प्रलय आत्यंतिक नहीं है। तापत्रय को जानकर ज्ञान-वैराग्य उत्पन्न होने पर ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा प्राप्त सर्वमोक्ष को 'आत्यंतिकप्रलय' कहते हैं।[6] तुलसी के विदेहमुक्त अथवा जीवन्मुक्त पात्रों का 'हरिपदलीन' अथवा 'ब्रह्मलीन' होना[7] आत्यंतिक प्रलय है। भेदभक्तिकांक्षी सगुणोपासक का 'लय' नहीं होता।[8] तुलसी की प्रलय-भावना के विषय में भी यह स्मरणीय है कि राम ही प्रलय-कारण हैं। सृष्टि-प्रलय उनका भृकुटि-विलास या इच्छामात्र है। विभिन्न नामों से अभिहित माया, शिव, भवानी, काल आदि निमित्तों के प्रेरक वे ही हैं। जिस भक्त पर उनकी कृपा होती है वह सभी प्रकार के प्रलयों के प्रभाव से मुक्त रहकर दास्यभक्ति का आनंद प्राप्त करता है—'महाप्रलयहुँ नास तव नाहीं।'[9] कहीं-कहीं 'नित्यप्रलय' की चर्चा भी की गयी है। सुषुप्त्यवस्था ही 'नित्यप्रलय' है, क्योंकि उसमें समस्त कार्यों का तिरोभाव हो जाता है।[10] तुलसी ने नित्यप्रलय की व्यंजना नहीं की। जीव के सुख-शयन[11] और योगी की सुषुप्तिकल्पा योगनिद्रा[12] में इस प्रलय की सांकेतिक अभिव्यक्ति संकोच के साथ ही मानी जा सकती है।

जगत् का स्वरूप—जगत् के स्वरूप के विषय में तुलसीदास ने तीन प्रकार की उक्तियाँ की हैं—

१. जगत् असत्य है।

२. जगत् राम का रूप है, अतः सत्य है।

३. जगत् को सत्य, झूठ या उभयरूप मानना तीनों ही भ्रम हैं।

---

१. क्रमशः — रा० १।१। श्लोक ५, १।२३५।४, ६।३५।४, वि० ५५।१
२. वि० पु० ६।४।१४-५०, भा० पु० १२।४।६-२२
३. रा० ६।४६। छं०, कवि० ५।१६, गी० १।६०।८
४. जुग-षट भानु देखे, प्रलय कृसानु देखे,
   सेषमुख-अनल बिलोके बार बार हैं। —कवि० ५।२०
५. हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास। —रा० ५।२५
६. वि० पु० ६।५।१, भा० पु० १२।४।२३-२४
   तुरीयप्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः। —वे० प०, पृ० १७७
७. हरिपद लीन भइ—रा० ३।३६। छं०
   दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी—रा० ७।५४।३
८. रा० ३।६।१ (ताते मुनि हरिलीन न भयऊ)
९. रा० ७।६४।३
१०. नित्यः प्रलयः सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्यप्रलयरूपत्वात्। —वे० प०, पृ० १७२
११. जीव सीव सम सुख सयन सपने कछु करतूति। —दो० २४६
१२. सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि योगी। —वि० १६७।४

१. जगत् असत्य[1], असत्[2], अविद्यमान[3], झूठा[4] या मृषा[5] है—

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जगु, संत कहंत जे अंतु लहा है।
ताको सहै, सठ ! संकट कोटिक, काढ़त दंत, करंत हहा है।।[6]

'कवितावली' की उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी ने अपनी मान्यता बड़े ही जोरदार शब्दों में उपस्थापित की है। कवि की ये पंक्तियाँ जगन्मिथ्यावादियों का मज़ाक उड़ाने के लिए लिखी गयी हैं[7]—यह कहना न्यायोचित नहीं है। हमारे विचार से, तुलसी का आशय बिलकुल स्पष्ट है—तत्त्वज्ञानी वेदांतियों ने जिस जगत् के मिथ्यात्व की डके की चोट पर बारंबार घोषणा की है[8], उसके लिए मूढ़ जीव करोड़ों क्लेश सहता है, चारों ओर खीस निपोरता फिरता है। जगत् के असत्यत्व और दोषदर्शन की यह व्यंजना विरागभाव उद्दीप्त करने के लिए की गयी है। यहाँ पर उन्होंने जगन्मिथ्यावाद का समर्थन किया है। जगत् का मिथ्यात्व समझाने के लिए तुलसी ने अनेक प्रकार के उपमानों या दृष्टांतों की योजना की है—

१. रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
२. जग नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे।
३. बूड़्यो मृगबारि खायो जेवरी को साँप रे।
४. मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी।
५. स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक, प्रगट होइ अबिचारे।
६. सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनकूला।
७. मोहनिसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।

---

१. एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।। —रा० १।११८।१
२. श्रुति-गुरु-साधु-स्मृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी। —वि० १२०।४
३. अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं। —वि० १२०।२
४. तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ स्रुति गावै। —वि० १२१।५
झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।। —रा० १।११२।१
५. जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी। —वि० १२०।१
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः —रा० १।१।श्लोक ६
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि। —रा० १।११७
६. कवि० ७।३१
7. "Tulasidasa leaves no room for doubt on this point. He even makes fun of those who regard the world as unreal. The saints, he says, who claim to have fathomed the depths of reality scorn the world as false, only to show their helplessness and wail and moan when they find themselves crushed under the weignt of its limitless sorrows and sufferings." —The Philosophy of Tulasidasa (unpublished), P. 88
८. जगत् रज्जुसर्पवत् है—मा० उ०, गौडपादकारिका, वैतथ्यप्रकरण, कारिका-१७ और उस पर शा० भा०
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या—वि० चू० २०
समुद्र में फेन आदि की भाँति ब्रह्म में नामरूप की प्रसारणा सृष्टि है—दृग्दृश्यविवेक, १४
अधिष्ठान-ब्रह्म में शून्य जगत् सत्य-सा भासित होता है—भा० पु० १०।१४।२६-२८
भवाम्बुधि अनृत है—भा०पु० १०।१४।२४
असदेव सदिव भाति—यो० वा० ३।२६।४५
जगत् मनोनिर्मित और कल्पनामात्र है—यो० वा० ३।४०।५७, ६।२१०।११

८. उमा कहउँ मै अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।

९. सब फोकट साटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनो दिन है।[1]

जिस प्रकार अधिष्ठानरूप सीप, सूर्यकिरण, रस्सी और माला ही सत्य पदार्थ हैं; अध्यस्त रजत, जल और सर्प मिथ्या है; उसी प्रकार अधिष्ठानरूप राम ही एकमात्र सत्य तत्त्व हैं, अध्यस्त जगत् मिथ्या है। अध्यास के कारण, भ्रांतिवश, सत्य प्रतीत होता है। पूर्वोद्धृत **'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः'** और **'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोहसहाया।'** जैसी उक्तियों के द्वारा तुलसी ने अपने सिद्धांत की संशयमुक्त पुष्टि कर दी है। बाजीगर ही सत्य है, उसकी रचना सत्य नहीं है। ऐंद्रजालिक राम की माया द्वारा रचित इंद्रजालरूप यह विश्व भी मिथ्या है। स्वप्न में देखे गये पदार्थों की भाँति जाग्रदवस्था में अनुभूत यह जगत् भी मृषा है। मोहनिद्रा के कारण ही सत्य-सा भासित होता है। इस प्रकार तुलसी के मतानुसार जगत् मिथ्या है। महामायी भगवान् राम की शतरंज-खेला है जिसके मोहरे, उनके घर और गतिविधियाँ, सभी काल्पनिक हैं।[2]

यहाँ जिज्ञासु यह प्रश्न कर सकता है—यदि यह जगत् मिथ्या है तो जीव के कष्ट का हेतु कैसे बन जाता है? तुलसी का उत्तर है कि भ्रम के कारण—

जो जग मृषा तापत्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाय मृगबारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे।
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै।[3]

भ्रम में अध्यस्त वस्तु का ही भावन होता है।[4] रस्सी, इंद्रजाल, मृगजल, स्वप्न आदि में प्रतिभात सर्प आदि सब झूठे है, लेकिन अज्ञान के कारण प्रवृत्ति के हेतु बनकर लोगों को कष्ट देते हैं। वैसे ही, सत्य-रूप में प्रतीयमान यह मनःकल्पित जगत् भी जीव के कष्ट का हेतु बनता है।[5] अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर सर्प आदि का भय तिरोहित हो जाता है। उसी प्रकार जगद्विषयक अध्यास की निवृत्ति से, अधिष्ठानरूप राम का ज्ञान हो जाने पर, जगत् की भी निवृत्ति हो जाती है। जगत् का स्वरूप मायिक है; वह माया ही है।[6] माया की रचना[7] होने के कारण वह मायिक है; माया की भाँति दुर्ज्ञेय एवं अनिर्वचनीय[8] होने के कारण मायास्वरूप है। माया के स्वरूप की

---

१. क्रमशः—रा० १।११७; वि० ६६।४; वि० ७३।२; वि० १३६।२; वि० १२२।३; रा० ३।३६।२; रा० २।९३।१; रा० ३।३९।३; कवि० ७।४१; और भी दे०—वि० ७४।२, ११६।३-४, १२०।३, १२१।२ १४०।२, १८८।३, रा० १।११८।१, २।९२, दो० २४५-४७

२. वि० २४६।४

३. वि० १२१।२-३

४. अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु। —सं० शा० १।३६, दे०—सि० वि०, पृ० १९३

५. एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥ —रा० १।११८।१

६. कहि जग गति मायिक मुनि नाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा॥ —रा० २।२४७।१
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ —रा० ३।१५।२
ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ —रा० ३।१३।३

७. रा० १।२२५।२ (रचै जासु अनुसासन माया।), ३।१५।३ (एक रचै जग गुन बस जाकें)

८. केसव! कहि न जाइ का कहिये।

विशेषताएँ उसके स्वरूप की विशेषताएँ हैं। जगत् के स्वरूप को तुलसी-प्रतिपादित माया के द्विविध रूपों की भूमिका में सरलता से समझा जा सकता है। जगत् की रचयित्री विद्यामाया है। वह राम की शक्ति है। उनसे अभिन्न है। तदनुसार तन्निर्मित यह जगत् भी राम से अभिन्न है। उनका रूप है। अस्तित्वहीन नहीं है। मोहकारिणी अविद्यामाया जीव के ज्ञान को आवृत कर लेती है। परिणामस्वरूप वह जगत् को राम-रूप में न देखकर अपने भोगायतन, भोग्यपदार्थ और भोगस्थान के रूप में ही देखता है। उसका जागतिक ज्ञान सर्वथा मनःकल्पित है। मोह के दूर हो जाने पर, ज्ञान या भक्ति का उदय होने पर, सत्य अधिष्ठान को जान लेने पर, जिस प्रकार अविद्यामाया का तिरोधान हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण मनोभासित जगत् के नामरूप का भी। यही जगत् का 'निर्मूल हो जाना'[1] या 'हेरा जाना'[2] है। जिस प्रकार मिथ्या[3] अविद्यामाया इस अर्थ में मिथ्या नहीं है कि उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है; बल्कि, वह इस अर्थ में मिथ्या है कि उसका बाध हो जाता है, उसका अपना कोई स्वतंत्र और स्थायी स्वरूप नहीं है; उसी प्रकार यह जगत् भी केवल इस अर्थ में मिथ्या है कि वह एकरूप से सर्वकालवर्ती नहीं है। वह केवल पारमार्थिक दृष्टि से मृषा है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं। उसकी सत्ता वंध्यापुत्र, आकाशपुष्प या शशविषाण की भाँति अलीक कदापि नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि तुलसी को जगत् का अस्तित्व ही अमान्य है। वे सत्य के दो रूप मानते हैं—पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य। व्यावहारिक सत्य का अस्तित्व सापेक्ष है। यदि पूर्वोक्त दृष्टांतों पर ध्यान दिया जाए तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी। सर्प आदि विवर्त हैं, क्योंकि उनके अधिष्ठान रज्जु आदि ही सत्य हैं।[4] यह 'रज्जु' जगत् का ही अंग है, अतः उसकी सत्यता का प्रतिपादक है। परंतु रज्जु का अस्तित्व शाश्वत नहीं है। वह नश्वर है। जिस प्रकार रज्जु की तुलना में अध्यस्त सर्प मिथ्या है, उसी प्रकार परमार्थरूप राम की तुलना में जगत् असत्य है, क्योंकि उसका रूप परिवर्तनशील है। **'दृश्य असत दुखकारी'**[5] में 'असत' का यही अर्थ[6] है। 'मृषा' आदि शब्द भी उसकी परिवर्तनशीलता या भंगुरता के ही व्यंजक हैं, अस्तित्वहीनता के नहीं। अद्वैतवेदांत[7] की भाँति

देखत तव रचना बिचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे ॥ —वि० १११।१-२
अद्वैतवेदांत में भी 'मिथ्या' का अर्थ 'असत्' नहीं है, प्रत्युत 'अनिर्वचनीय' है (पञ्चपादिका, पृ० ४)
—दे०भा०द० (ब०उ०), पृ० ४४२

१. तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निरमूल न जाई । —वि० १२२।५
२. जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागें जथा सपन भ्रम जाई । —रा० १।११२।१
३. सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि । —रा० ७।७१ख
४. तात्त्विक दृष्टि से यह भी समझ रखना चाहिए कि कभी-कभी लोग सांप को ही रस्सी समझ बैठते हैं। ऐसी दशा में अधिष्ठानरूप सर्प ही सत्य है और अध्यस्त रज्जु मिथ्या है।
५. वि० १२०।४
६. यद्विषया बुद्धिः व्यभिचरति तदसत्—गीता, २।१६ पर शा० भा०
७. त्रिविधं सत्त्वम् । परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः । अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वं मायोपाधिकमाकाशादेः ।
अविद्योपाधिकं सत्त्वं रजतादेरिति । अन्यत्राप्युक्तम्—
कालत्रये ज्ञातृकाले प्रतीतिसमये तथा ।

तुलसी-साहित्य में निरूपित सत्ता के तीन रूप हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। राम की सत्ता पारमार्थिक है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। रज्जुसर्प आदि प्रातिभासिक सत्ताएँ हैं। वंध्यापुत्र, आकाशकुसुम, शशशृंग आदि[1] अलीक या तुच्छ पदार्थ हैं—ये अनुभव के विषय नहीं हैं; अतएव इनकी सत्ता अमान्य है। तो फिर तुलसी ने जगत् को रज्जुसर्प, मृगजल, इंद्रजाल, स्वप्न आदि के समान क्यों कहा ? इसका समाधान अलंकारशास्त्र की दृष्टि से किया जा सकता है। तुलसीदास को उपमाओं के द्वारा जगत् की अपारमार्थिकता, उसकी व्यावहारिकता, प्रतिपादित करनी थी। जगत् के पदार्थ स्वयं उपमेय थे। उपमानरूप में उनकी निबंधना नहीं की जा सकती थी; क्योंकि, उपमा के लिए दो भिन्न पदार्थों का साधर्म्य-निरूपण आवश्यक है।[2] अतएव प्रातिभासिक सत्ताओं का उपमान बनाया गया। दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं। रज्जुसर्प, इंद्रजाल, स्वप्न आदि का बाध लौकिक प्रमाणों से हो जाता है। परंतु ये प्रमाण जगत् की प्रतीति ही कराते हैं, न कि बाध। दूसरी ओर, दोनों में अपारमार्थिकता का साधर्म्य भी है। इसी आधार पर उपमाओं का विधान किया गया। प्रातिभासिक उपमानों की योजना का प्रयोजन है जगत् की नश्वरता की प्रतीति कराना। तुलसी ने अपना यह मन्तव्य सटीक शब्दों में स्पष्टतया व्यक्त कर दिया है—**'नस्वर रूप प्रपंच सब देखहु हृदयँ बिचारि।'**[3]

ब्रह्मवादी शंकराचार्य ने भी जगत् को स्वप्नवत् अलीक समझने की मान्यता का खंडन किया है।[4] तुलसी की **'ब्यवहारी सुखकारी'**, **'सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू'**, **'बूझै नहिं ब्यवहार'** आदि उक्तियाँ[5] जगत् के नास्तित्व का विरोध और उसकी व्यावहारिक सत्यता का समर्थन करती हैं। जो उसके व्यावहारिक स्वरूप की वास्तविकता को जान लेता है वह मृगतृष्णा या सर्पभ्रम-जैसी अन्यथाप्रतीति से क्लिशित नहीं होता[6]—

क. मैं तोहिं अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल, प्रगट कपट-आगार॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किये बिचार।
ज्यों कदली-तरु मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार॥
तेरे लिए जनम अनेक में फिरत न पायों पार।

बाधाभावात्पदार्थानां सत्त्वत्रैविध्यमिष्यते ॥
तात्त्विकं ब्रह्मणः सत्त्वं व्योमादेर्व्यावहारिकम् ।
रूप्यादेरर्थजातस्य प्रातिभासिकमिष्यते ॥
लौकिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं लौकिकेवधौ ।
तत्प्रातिभासिकं सत्त्वं बाध्यं सत्येव मातरि ॥
वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिकेवधौ ।
तद्व्यावहारिकं सत्त्वं बाध्यं मात्रा सहैव तत् ॥ —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४४६

१. रा० ७।१२२।८-६
२. काव्यप्रकाश, १०।८७; साहित्यदर्पण, १०।१४
३. रा० ६।७७
४. दे०—ब्र० सू० २।२।२६ पर शा० भा०
५. क्रमशः—वि० १२१।४; रा० २।६२।४; वि० १८८।५
६. वि० १८८।१-३, ५

महामोह-मृगजल-सरिता महँ बोर्‌यो हौं बारहिं बार ॥
ख. तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु-अहि तें, बूझै नहिं व्यवहार ॥

'घन-दामिनी', धुआँ के से धौरहर' आदि उपमानों द्वारा भी जगत् का अनित्य (विकारी) रूप अंकित किया गया है।[1] इस प्रकार के उपमानों की योजना में यह बात ध्यान देने योग्य हैं कि उन प्रसंगों में तुलसी का उद्देश्य जगत् का अनित्यत्व बतलाकर संसारविषययासक्त जीव का उद्‌बोधन करके उसे परमार्थरूप रामभक्ति की ओर प्रेरित करना है।[2] अलीक 'नभ-बाटिका', व्यवहारतः सत्य 'कदलीतरु' आदि उपमान जीव के मोह और जगत् की मायिकता एवं निस्सारता का द्योतन करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। कांतार, व्याल, गयंद, समुद्र, सरिता, जाल, वृक्ष, यामिनी आदि (उपमेय संसार की) उपमाएँ उसकी भयानकता, कष्टकारिता, दुष्परिहार्यता तथा मोह-जनितता ज्ञापित करती हैं।[3] निष्कर्ष यह है कि जगत् की असत्यता (असत्ता नहीं) सापेक्ष है। प्रातिभासिक और अलीक सत्ताओं की तुलना में जगत् ही सत्य है। वह केवल राम की सत्यता के प्रकाश में असत्य है। वह भी केवल इस अर्थ में कि राम परमार्थ हैं, जगत् परमार्थ न होकर व्यावहारिक है। तुलसी का यह सिद्धांत[4] उनके शंकर और लक्ष्मण ने बहुत ही प्रांजल एवं प्रौढ़ शब्दावली में स्थापित किया है—

क. जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥
रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि ॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
ख. जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू ॥

---

१. जागु जागु जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी ।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे।
बूड़्यो मृग-बारि खायो जेवरी को साँप रे ॥ —वि० ७३।१-२
धुआँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे। —वि० ६६।४

२. नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को, स्रवन न राम-कथा-अनुरागी ।
सुत-वित-दार-भवन-ममता-निसि सोवत अति, न कबहुं मति जागी ॥ —वि० १४०।२
ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै ।
तौ कत मृगजलरूप बिषय कारन निसि-बासर धावै ॥
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै ।
सपने परबस परै, जागि देखत केहि जाइ निहोरै ॥ —वि० ११६।३-४
तुलसिदास हरि-कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं। —वि० ११६।५

३. क्रमशः—वि० ५६।२; वि० ६१।६, ६२।५, ११७।५; वि० १२६।३; वि० १४१।६, १४२।११, १७३।६; वि० ५६।८, १४३।५, १८५।५; वि० ७४।४; वि० २०२।२; वि० ७३।१, १०५।१, ११६।३

४. रा० १।१।श्लोक ६, वि० १२१।४, १८८।५

**धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मनमाहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥**[1]

२. राम को विश्वरूप, सचराचररूप, विश्ववास, विश्वायतन, आदि कहकर[2] और जगत् को राममय तथा उनका अंग, रूप आदि बतलाकर तुलसी ने जगत् की नित्यता प्रतिपादित की है। '**बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी**'[3]—वसिष्ठ की यह उक्ति भी जगत् की शाश्वत प्रवाहमयता प्रमाणित करती है। भिन्न रूप में आभासित जो जगत् राम के अतिरिक्त नहीं है, वह असत् भी नहीं हो सकता। तुलसीदास की दृष्टि में जगत् सत्य है—वह इस अर्थ में कि सृष्टि-प्रवाह अनादि एवं अनंत है; उसकी विद्यमानता कभी व्यक्तरूप में है, कभी अव्यक्तरूप में; कभी कार्यरूप में है, कभी कारणरूप में; कभी सृष्टिरूप में है, कभी प्रलयरूप में। इसीलिए तुलसी ने संसारविटप[4] के उच्छेद की चर्चा नहीं की। उन्होंने अन्यत्र जिस **भव-तरु** को काटने का उल्लेख किया है[5] वह जन्ममरणरूप संसार है। जग को '**मृषा तिहुँ काल**'[6] कहने का तात्पर्य यह है कि अतीतकाल में यह जगत्प्रपंच व्यक्त नहीं था, वर्तमान में यह जीव को उसके संकल्पानुसार भासित होता है और भविष्य में यह अपना नाम-रूप खोकर राम में लीन हो जाएगा। कौशल्या और काकभुशुंडि ने राम के उदर में जो विश्व देखा था[7] उससे यह सिद्ध होता है कि जगत् का बाह्य अस्तित्व रहे या न रहे किंतु वह राम के भीतर विद्यमान है। और इसलिए, सदैव सत् है। तुलसीदास ने एक और प्रकार से भी उपमानों की योजना करके जगत् की सत्ता का निरूपण किया है—

यथा पट-तंतु, घट-मृत्तिका, सर्प-स्रग, दारु-करि, कनक-कटकांगदादी।[8]

जिस प्रकार तंतु और तंतुनिर्मित पट, मृत्तिका और मृत्तिकानिर्मित घट, माला और उसका सर्पाकार, दारु और दारुनिर्मित हाथी, कनक और कनकनिर्मित कटक आदि आभूषण दोनों ही सत्तावान् हैं; उसी प्रकार जगत् के उपादानकारण राम और रामनिर्मित जगत् भी। पट आदि कार्य अपने उपादान या समवायिकारण तंतु आदि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। वैसे ही यह

१. रा० १।११७।४-१।११८।१; ७।६२।३-४
२. व्यापक बिस्वरूप भगवाना। —रा० १।१३।२
बिस्वरूप रघुबंस मनि—रा० ६।१४
मनुजबास सचराचर रूप राम भगवान। —रा० ६।१५क
बिस्वबास प्रगटे भगवाना।—रा० १।१४६।४
बिस्व-बिख्यात, बिस्वेस, बिस्वायतन—वि० ५४।१
सब रूप सदा सब होइ न सो।—रा० ६।१११।८
जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि। —रा० १।७ग
सीय राम मय सब जग जानी। —रा० १।८।१
भुवन भवदंग कामारि-वंदित—वि० ५४।३
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमणि—वि० ५४।३
अखिल लावण्य-गृह, बिस्वबिग्रह—वि० ५०।३
३. रा० २।२८२।३
४. रा० ७।१३।छं० ५
५. वि० २०२।२
६. रा० १।११७
७. रा० १।२०१-१।२०२।३, ७।८०।२-७।८२।४
८. वि० ५४।४

जगत् अपने उपादानकारण राम से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है। घट के रहते हुए ही उसके कारणरूप मृत्तिकातत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर घट ही मृत्तिकारूप में प्रतिभात होने लगता है। उसी भाँति जगत्कारण राम का ज्ञान हो जाने पर जगत् ही रामरूप में परावर्तित हो जाता है। **'सीय राम मय सब जग जानी'**, **'सातवँ सम मोहिमय जग देखा,'** **'ईस्वर सर्बभूत मय अहई'**, **'निज प्रभु मय देखहिं जगत'** आदि उक्तियाँ[1] इसी निष्कर्ष का अनुमोदन करती हैं।

३. जगत् को सत्यासत्य मानने वाले प्रस्थान भ्रांत हैं—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मान।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ।।[2]

'विनयपत्रिका' के टीकाकारों ने उपर्युक्त पंक्तियों का अर्थ करते हुए तीन भ्रमों के अंतर्गत वेदांत का भी किसी-न-किसी रूप में परिगणन कर दिया है। उनका यह व्याख्यान न्यायोचित नहीं है। तुलसीदास का दर्शन वेदांतसंमत है। यह तथ्य सभी स्वीकार करते हैं। विवाद तो इस बात पर है कि वे अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी या समन्वयवादी। वे वेदांतानुयायी थे—यह निर्विवाद है। अतः हमारी प्रस्थापना है कि इस पद्य में कवि का उद्देश्य वेदांत के किसी सिद्धांत का प्रत्याख्यान, तिरस्कार या उपहास करना नहीं है। तुलसी के तात्पर्य को उनके उत्तमर्ण ग्रंथों के प्रकाश में सुगमता से समझा जा सकता है। पुष्पदंत के 'महिम्नस्तोत्र' का एक श्लोक है—

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन्पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवञ्जिह्रेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ।।[3]

तुलसीदास की पूर्वोक्त दोनों पंक्तियाँ 'महिम्नस्तोत्र' के इसी श्लोक पर आश्रित हैं। यहाँ पर तीन आमान्य मान्यताओं का उल्लेख किया गया है—१. कोई इस विश्व-प्रपंच को ध्रुव कहता है, २. कोई अध्रुव कहता है और ३. कोई ध्रुव-अध्रुव दोनों मानता है। प्रश्न उठता है—ये तीनों मत किन दार्शनिक संप्रदायों के हैं? तुलसीदास के समसामयिक दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती ने उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए इस प्रश्न का युक्तिसंगत समाधान प्रस्तुत किया है।[4] सत्कार्यवादी सांख्यपातंजलमतानुसारी का कथन है कि समग्र जगत् सत् है। सर्वक्षणिकतावादी सुगतमतानुवर्ती के मत से यह सारा जगत् क्षणिक होने के कारण असत् है। तार्किक की मान्यता है कि आकाश, काल, दिक् और आत्मा—ये चार पदार्थ नित्य हैं तथा वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये चार अनित्य हैं। इन द्वैतपरक सांख्य-योग, बौद्ध और न्याय-वैशेषिक

---

१. क्रमशः—रा० १।८।१, ३।३६।२, ७।११०।८, ७।११२ख

२. वि० १११।४

३. महिम्नस्तोत्र, ६

४. सांख्यपातञ्जलमतानुसारी सर्वं समग्रं जगद् ध्रुवं जन्मनिधनरहितं सदेव गदति।...सुगतमतानुवर्ती सकलमिदमध्रुवं क्षणिकमिति गदति।...तार्किकः समस्तेऽप्येतस्मिञ्जगति ध्रौव्याध्रौव्ये नित्यत्वानित्यत्वे भिन्नधर्मवर्तिनी गदति...त्रिष्वप्येतेषु द्वैताङ्गीकारादद्वितीयसन्मात्ररूपस्य परमेश्वरस्य स्पर्शोऽपि नास्ति...एवं सर्वप्रकारप्रवादकवादादीनामाभासत्वमुक्तम्। —महिम्नस्तोत्र, ६ पर मधुसूदनीव्याख्या

मतों की अमान्यता का कारण यह है कि इनमें परमेश्वर की सर्वकारणता, सर्वाकारता, सर्व-शक्तिमत्ता एवं अद्वितीयता का निरूपण कहीं नहीं किया गया है। इसीलिए तुलसीदास ने इन तीनों मतों को 'भ्रम' कहा है। उनके मत से तो 'यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः, यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' ऐसे 'अशेषकारणपर' राम 'काल हू के काल, महाभूतन के महाभूत, कर्म हू के करम, निदान के निदान' हैं।[1] 'विनयपत्रिका' के इस पद के माध्यम से वे तीन बातें स्पष्ट कर देना चाहते है—

१. जो दार्शनिक संप्रदाय राम की महिमा को समझने-समझाने में असमर्थ हैं वे भ्रांत हैं—

> झूठो है झूठो है झूठो सदा जगु संत कहंत जे अंतु लहा है।
> ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है।
> जानपनी को गुमानु बड़ो तुलसी के बिचार गवाँर महा है।
> जानकीजीवनु जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है ॥[2]

यहाँ पर एक शंका उठ सकती है कि 'विनयपत्रिका' के उस पद में कवि ने जगत् को झूठा कहने वालों को भ्रांत कहा है और 'कवितावली' के इस सवैये में त्रिबाचा बाँधकर सिद्धांतरूप से जगत् को झूठा कहा है—यह प्रत्यक्ष विरोध है, वदतो व्याघात है। समाधान यह है कि दोनों में तनिक भी विरोध नहीं है—'विनयपत्रिका' की उक्ति वेदविरोधी एवं अनीश्वरवादी क्षणिकविज्ञान-संतानवादी बौद्धों के विषय में है और 'कवितावली' की उक्ति ब्रह्मवादी वेदांतियों के विषय में।

२. निर्गुण निराकार राम के द्वारा विविधनामरूपात्मक विश्वप्रपंच की रचना अनिर्वाच्य है।

३. आत्मकल्याण की दृष्टि से कार्यकारणवाद के विभिन्न वाद-विवादों के जाल में फँसना कथमपि श्रेयस्कर नहीं है। समस्त शास्त्रार्थों का प्रयोजन है जीव के अज्ञान की निवृत्ति। अज्ञान का कारण माया है। जब मायापति राम अपनी माया की प्रबलता को खींच लेते हैं। तब जीव में ज्ञान और भक्ति का उदय हो जाता है।[3] अतः सब वादविवादों को छोड़कर रामभक्ति का मार्ग अपनाना चाहिए।[4]

भारतीय दर्शन की भूमिका में जगत्कारणवाद की दृष्टि से भी तुलसीदास की मान्यता पर विचार कर लेना चाहिए। मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'प्रस्थानभेद'[5] में कार्यकारणसंबंध की दृष्टि से तीन प्रस्थान बतलाये हैं—१. आरंभवाद, २. परिणामवाद और ३. विवर्तवाद। पहला मत न्याय-वैशेषिक और मीमांसा का है। दूसरा मत सांख्य-योग, पाशुपत, और वैष्णव संप्रदायों का है। तीसरा मत ब्रह्मवादी अद्वैतवेदांत का है।[6] बौद्धमत को भी मिलाकर विभिन्न कार्यकारण-वादों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

---

१. रा० १।१।श्लोक ६, कवि० ७।१२६

२. कवि० ७।३६

३. रा० १।१३७-१।१३८।१, ४।११।२-३

४. वि० १७३।५-६

५. 'महिम्नस्तोत्र' के सातवें श्लोक पर लिखित मधुसूदनीव्याख्या का ही नाम 'प्रस्थानभेद' है।

६. दे०—प्रस्थानभेद, पृ० १६-१७
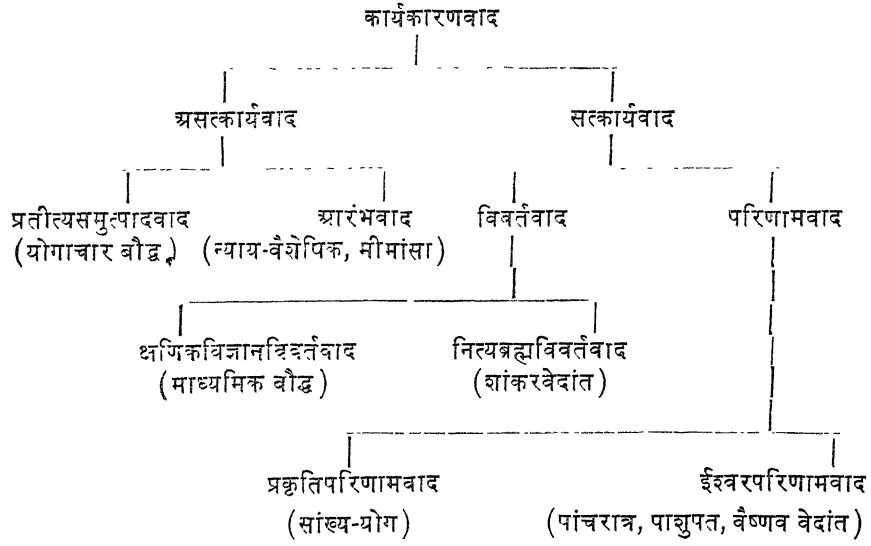
प्रतीत्यसमुत्पादवादी बौद्धों के अनुसार कारण और कार्य में आत्यंतिक भेद है, कारण नित्य अथवा परिणामी नहीं होता, उसमें कार्य की सत्ता किसी भी रूप में नहीं होती। परमार्थरूप राम को सब कुछ मानने वाले तुलसी की दृष्टि में यह मत सर्वथा अमान्य है। आरंभवादी नैयायिकों, वैशेषिकों एवं पूर्वमीमांसकों के मत से मूल कारण अनंत और परस्पर भिन्न हैं, कार्य तथा कारण में आत्यंतिक भेद है, कार्योत्पत्ति में कारण अपरिणामी है, कारण में कार्य का अस्तित्व नहीं है। रामवादी तुलसी को यद मत भी मान्य नहीं है। वे राम को ही जगत् का मूल कारण मानते हैं और कार्यरूप जगत् को राम से सर्वथा भिन्न नहीं मानते। उनके अनुसार, सूर्य और आतप की भाँति राम और जगत् में भेदाभेद है--**रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा।**[1]

क्षणिकविज्ञानविवर्तवादी बौद्धों तथा नित्यब्रह्मविवर्तवादी अद्वैतवेदांतियों की दृष्टि में पारमार्थिक सत्य एक है, वह न उत्पादक है और न परिणामी, स्थूल या सूक्ष्म भासमान जगत् न परिणाम है और न उत्पन्न होता है, जगत् की सत्ता मायिक भासमात्र है, उसका अस्तित्व काल्पनिक है। इनमें से अवैदिक तथा अनीश्वरवादी बौद्धमत तो तुलसी को नितांत अग्राह्य है। अद्वैत-वेदांत भी उन्हें सर्वांशतः स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि वे राम को जगत् का कर्ता-भर्ता-संहर्ता, जगत् को रामरूप और राम को विश्वरूप मानते हैं।

सांख्य-योग, पांचरात्र, पाशुपत, तथा वैष्णव वेदांत की मान्यता है कि मूल कारण एक है, कारण और कार्य में वस्तुतः अभेद है, कार्य कारण का परिणाम है, कारण का कार्य में और कार्य का कारण में अस्तित्व है। परिणामवाद दो प्रकार का है--प्रकृतिपरिणामवाद और ईश्वर-परिणामवाद। सांख्य-योग के अनुसार यह जगत् प्रकृति का परिणाम या विकृति है। तुलसी को यह मत वहीं तक मान्य है जहाँ तक वेदांत ने उसे स्वीकार किया है। उनका सिद्धांत वैष्णवों के द्वारा स्वीकृत ईश्वरपरिणामवाद या ब्रह्मपरिणामवाद है। यह अविकृतपरिणामवाद है। स्वयं अविकृत रहते हुए ही निर्गुण सच्चिदानंद ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत होता है। श्रुति कहती

१. रा० ६।१११।८

है—तदात्मानं स्वयमकुरुत।[1] 'भागवतपुराण' में भी कहा गया है कि भगवान् कारणकार्यरूप है।[2] 'आत्मकृतेः परिणामात्'[3] पर भाष्य करते हुए वल्लभाचार्य ने कहा है कि जगत् का समवायि-कारण ब्रह्म ही है। जिस प्रकार विभिन्न आभूषणों के रूप में परिणत होने पर भी सुवर्ण के सुवर्णत्व में अंतर नहीं आता उसी प्रकार जगत् के रूप में परिणत ब्रह्म अविकृत ही रहता है। पहले कहा जा चुका है कि तुलसीदास के अनुसार राम जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भी हैं, जगद्रूप भी हैं, जगत् के निवास भी हैं, और प्रकृतिपार भी हैं। उन्होंने अनेक उपमाओं की उपपत्ति के द्वारा अविकृतपरिणामवाद का उपस्थापन किया है—

> **सर्बमेवात्र त्वद्रूप भूपालमणि ! ब्यक्तमब्यक्त, गतभेद, बिष्णो।**
> **भुवन भवदंग, कामारि-बंदित, पदद्वन्द्व मंदाकिनी-जनक, जिष्णो ॥**
> **आदिमध्यांत भगवंत ! त्वं सर्वगतमीश, पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी।**
> **यथा पट-तंतु, घट-मृत्तिका, सर्प-स्रग, दारु-करि, कनक-कटकांगदादी।**[4]

तंतु अनेक प्रकार के पटों के रूप में परिणत होता है किंतु उसका तंतुत्व क्षीण नहीं होता। मृत्तिका घट आदि पात्रों के रूप में परिणत होती है परंतु उसका मृत्तिकात्व अखंडित रहता है। माला सर्प के रूप में (परिणत) दिखायी देती है लेकिन तत्त्वतः उसमें कोई विकार नहीं होता। दारु के परिणामस्वरूप हाथी आदि खिलौने बनाये जाते है फिर भी दारु का दारुत्व अविकल बना रहता है। कटक, अंगद आदि आभूषण सुवर्ण के परिणाम होते हैं तथापि सुवर्ण के सुवर्णत्व में किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार राम विश्वप्रपंच के रूप में परिणत होते हैं किंतु परिणामी राम में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता।

वैकुंठ—ऊपर जिस ब्रह्मांड के सृष्टि-प्रलय और स्वरूप पर विचार किया गया है वह त्रिगुणात्मक भौतिक जगत् है। इससे सर्वथा भिन्न राम का वैकुंठलोक है। सर्वांतर्यामी विश्ववास भगवान् के लोकविशेष की कल्पना भक्तों की मूर्तिभावना का तुष्टीकरण है। यह बात ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहती कि तुलसी ने पार्थिव अयोध्या का तो बड़े विस्तार से वर्णन किया है किंतु वैकुंठ का उल्लेख मात्र करके संतुष्ट हो गये हैं। इसका कारण यह है कि अवतार राम की लीला और उनका व्यक्तलीलाधाम कवि का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। अगोचर वैकुंठ आदि का निर्देश केवल आनुषंगिक रूप से हुआ है। तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस,' 'कविता-वली,' 'विनयपत्रिका' आदि में राम के जिस **धाम, पुर, लोक** या **वैकुंठ** की चर्चा की है[5]

---

१. तै० आ० २।७, दे०—वेदार्थसंग्रह (तात्पर्यदीपिका), पृ० ४७
२. यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
   योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्॥ —भा०पु० ८।३।३; दे०— वि० पु० १।१।३१
३. ब्र० सू० १।४।२६
४. वि० ५४।३-४
५. राम बालि निज धाम पठावा। —रा० ४।११।१
   ताहि दीन्ह निज धाम। —रा० ६।७१
   पुनि मम धाम सिधाइहहु—रा० ६।११६ख
   जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान—ब० रा० ६७
   निज लोकु दियो सबरी खग को—कवि० ७।१०
   श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी। —रा० १।८०।२

उसका दिग्दर्शन 'विष्णुपुराण' आदि उत्तमर्ण ग्रंथों[1] के आधार पर ही संभव है। वह वैकुंठलोक, जिसे वैष्णव 'विष्णुलोक' भी कहते हैं, सातों ऊर्ध्व लोकों के भी ऊपर स्थित है।[2] कार्यकारण-समष्टिरूप संसार और सप्तावरणों के परे है; ब्रह्मा आदि के वाङ्मनस अगोचर परमव्योम है, देश-काल, ईदृक्ता एवं इयत्ता की दृष्टि से अपरिच्छेद्य है; करोड़ों दिव्य आवरणों से आवृत हैं।[3] वह शुद्धसत्त्वमय, नित्य, ज्ञानानंदजनक और असीमतेजोरूप है।[4] विष्णु का वह परमपद विष्णु-स्वरूप ही है; सर्वोत्कृष्ट, सनातन, विशुद्धबोधवान्, अज, अव्यय, अव्यक्त, अविकार एवं निर्विशेष है।[5] वह स्वयंप्रकाशस्वरूप है; वहाँ सूर्य, चंद्र, अग्नि आदि की भी गति नहीं है।[6] संसार-बंधन-मुक्त जीव उस वैकुंठलोक में पहुँचकर दिव्य शरीर से परमात्मा की नित्य सेवा में रत रहता है।[7] विष्णु के उस परमधाम में पहुँचकर, एक बार उस अमृतपद को प्राप्त कर लेने पर, वह इस भवचक्र में फिर नहीं लौटता।[8]

बिमल बागीस बैकुंठस्वामी। —वि० ५५।५
रामकृपा बैकुंठ सिधारा। —रा० ३।९।१
ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाए।—रा० १।८८।२
पुर बैकुंठ जान कह कोई।—रा० १।१८५।१
देहिं राम तिन्हहूँ निज धामा।—रा० ६।४५।१
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।—७।४।२
गएउ गरुड़ बैकुंठ तब—रा०७।१२५क

१. दे०—वि०पु० २।८।९९-१२४; भा० पु० २।१०।९-१६; कू० पु० १।४९; 'वैकुण्ठगद्यम्'; यतीन्द्र०, अवतार-६
२. लि० पु० १।२३।३१
३. स्तोत्ररत्नावली, द्वितीय भाग, पृ० १२२
४. तत्त्वत्रय, पृ० ३४-३७
५. वि० पु० १।२।१६, १।९।५१-५४, ६।५।६८, गीता, १५।४-५
६. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। —क० उ० २।२।१५
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। —गीता, १५।६
७. सेवां कुर्वन्ति ते नित्यं विधाय देहमुत्तमम्।
गोलोके वापि वैकुण्ठे तस्यैव परमात्मनः॥ —ब्र० वै० पु० २।३६।७१
८. यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। —गीता, १५।६
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। —गीता, १५।४
तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे। —रा० ३।३६।छं०

पंचम अध्याय

मोक्ष-साधन

धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना। ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना ।।
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ।।[1]

शरीर या मन की जो क्रिया अथवा चित्त की जो दीप्ति या द्रुति भवबंधन से जीव के मोक्ष का कारण होती है उसे तुलसी ने **साधन, उपाय, डगर, पथ, पंथ, मग, मार्ग** आदि कहा है।[2] मुक्ति की साधकता और साधना का द्योतक होने के कारण 'साधन' शब्द सबसे अधिक उपयुक्त है। 'भगतिजोग'[3] में 'जोग' शब्द इसी साधन अथवा साधना का प्रत्यायक है।

मोक्ष के दो साधन—मोक्ष-सिद्धि की साधकता के अनुसार साधनों के दो रूप हैं—प्रत्यक्ष साधन और अप्रत्यक्ष साधन। जो मोक्ष के करण हैं, नियतपूर्ववृत्ति हैं, अविनाभाव से उसके लिए अपरिहार्य हैं, वे प्रत्यक्ष साधन हैं; जैसे, ज्ञान और भक्ति। जो मोक्ष-प्राप्ति में सहायक तो हैं किंतु प्रत्यक्ष साधन न होकर इन साधनों के भी साधन हैं, वे अप्रत्यक्ष साधन हैं; जैसे यम, नियम आदि। तुलसीदास ने उक्त दोनों ही प्रकार के साधनों के लिए 'साधन' आदि शब्दों का व्यवहार किया है। उन्होंने भक्ति,[4] उपासना,[5] पूजा,[6] ज्ञान,[7] विवेक,[8] विज्ञान,[9] ध्यान,[10] योग,[11] वैराग्य,[12] शम-दम-यम-नियम-जप-तप-व्रत,[13] तीर्थस्नान, यज्ञ, दया, दान, धर्म-कर्म, द्विज-देव-गुरु-संत-सेवा, निगमागमपुराण-पाठ आदि[14] को विभिन्न प्रसंगों में भवजन्य क्लेश से मुक्ति का साधन बतलाया है। भारतीय मोक्षशास्त्रप्रणेताओं की विविध मान्यताओं को दृष्टिपथ में रखते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि मुक्ति के मार्ग अनेक हैं।[15] संतसमाजरूपी तीर्थराज का वर्णन

---

१. रा० ३।१६।१
२. वि० १७३।१; रा० ७।१०३।२; वि० १७३।५; रा० ७।४६।१; रा० ३।१६।३; वि०१६४।३;रा० ७।४५।१
३. रा० ३।१७।१ (भगतिजोग सुनि अति सुख पावा।)
४. रा० ३।१६।१, वि० १२१।५
५. वि० १८४।२, कवि० ७।८४
६. रा० ७।१०३।२, ७।१३०।३
७. रा० ३।१६।१, वि० ११६।५
८. वि० ११५।५, रा० ७।१२६।३
९. वि० २११।३, रा० ७।६५।३
१०. रा० ७।१०३।१, ७।११३।४
११. वि० १६७।४, १८४।३
१२. वि० १८४।३
१३. रा० ७।६५।३, ७।११७।५
१४. रा० ७।४६।१-२, ७।१२६।३
१५. नाना पथ निरबान के नाना बिधान बहु भाँति। —वि० १६२।४

करते हुए तुलसी ने मोक्ष के तीन साधनों भक्ति, ज्ञान और कर्म का स्पष्ट संकेत किया है।[1] आगे चलकर मकरसंक्रांति के अवसर पर भरद्वाज के आश्रम में आये हुए ऋषियों द्वारा की गयी परमार्थ-चर्चा के विषयों की सूची[2] से भी इस संकेत का समर्थन हो जाता है। 'भागवतपुराण' में भी भगवान् ने उद्धव के प्रति इन तीन मोक्षोपायों का निर्देश किया है।[3]

सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष के, दुःख-निवृत्ति के, साधन-मार्ग तत्वतः दो ही हैं—ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग।[4] मोक्ष-मार्ग दो ही हैं, क्योंकि, बंध-कारण दो ही है—अज्ञान और अभक्ति। बंधन के स्वरूप की दृष्टि से जीव के बंध का कारण अविद्या (माया) है।[5] यह बंधन मोह का ही बंधन हैं।[6] ईश्वर, माया और अपने स्वरूप को न जानना ही अविद्या, मोह या अज्ञान है।[7] इसे दूर करने का उपाय है ज्ञान। इसीलिए तुलसी ने विवेक या ज्ञान को बंधन-मुक्ति का साधन बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—**'बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई'**अथवा **'ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।'**[8] बंधन एवं मोक्ष के नियामक के केंद्रबिंदु से बंध का कारण अभक्ति है।[9] तदनुसार मुक्ति का साधन भी भक्ति है।[10] दोनों ही मार्गों का समन्वय करके भक्ति की श्रेष्ठता का स्थापन करने वाले तुलसी ने मोह-जनित मल को अभक्तिजनित मल ही बतलाकर भक्ति को उसके आत्यंतिक नाश का साधन तथा ज्ञान का भी साध्य कहा है।[11] वैराग्य, विवेक, विज्ञान आदि 'ज्ञान' के ही अंतर्गत हैं। उपासना, पूजा आदि 'भक्ति' के अंतर्गत हैं। दया, दान आदि सभी कर्म 'धर्म' के अंतर्गत है जो कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धि के साधन होने के कारण ज्ञान तथा भक्ति दोनों के साधन हैं। कर्म के द्वारा कर्म का आत्यंतिक नाश संभव नहीं है।[12] कर्म राजस या तामस

१. राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
बिधि निषेध मय कलि मल हरनी। करम कथा रबिनंदिनि बरनी॥ —रा० १।२।४-५
२. ब्रह्म निरूपन धर्म बिधि बरनहिं तत्व विभाग। कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ज्ञान बिराग॥ —रा० १।४४
३. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ —भा० पु० ११।२०।६
४. दे०—शा० भ० सू० २।२।२६ पर भ० च०, पृ० २१६-२२२
५. एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥ —रा० ३।१५।३
६. वि० १०२।५, ११४।५, ११५।१
७. रा० ३।१५
८. क्रमशः—वि० ११५।५, रा० ३।१६।१
९. भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते॥ —रा० ७।१४।५
जो पै राम-चरन-रति होती।
तौ कत त्रिबिध सूल निसिबासर सहते बिपति निसोती॥ —वि० १६८।१
१०. रा० ७।११९क, ७।१२२क, दो० १२६, वि० १२१।५
११. मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। —वि० ८२।१
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ-चरन बिसराये॥ —वि० ८२।३
बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ तो हरि भगति देखु खगेस बिचारि॥ —रा० ७।१२०ख
१२. करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥
हरति एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभु-कृपा-कालिका॥ —वि० १२८।३-४
कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते। —भा० पु० ६।१।११

होने पर अधर्मजनक भी हो सकते हैं--कर्म की इसी बाधकता के आधार पर तुलसी ने उसे 'जाल' और 'कीच' कहा है।[1] इसीलिए 'रामचरितमानस' के किसी भी सोपान की पुष्पिका मे 'कर्मसंपादनो नाम' की योजना नही की गयी। तुलसीदास[2] और उनके राम[3] तथा काकभुशुडि[4] ने इन्हीं दोनों की साधनता की व्यंजना की है। तुलसी ने योग, वैराग्य, धर्म आदि को भी बारंबार साधन कहा है। एक तो, ये सब मोक्ष-साधन के साधन हैं अतएव, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, साधन तो हैं ही। दूसरे, साधन के साधन को भी विशेष गौरव देना तुलसी को अभीष्ट था, इसलिए उन्होने उन्हें साधन कहकर उच्चतर कोटि में प्रतिष्ठित कर दिया।

भारतीय दार्शनिकों और तदनुसार तुलसीदास ने भी मोक्षमार्गों का निरूपण करने में व्यक्ति (साधक) की शक्ति और सीमा तथा देशकाल की परिस्थितियों का विशेष ध्यान रखा है। दूसरे को ही उन्होंने 'युगधर्म' कहा है। जो जन विरक्त हैं, योग आदि की साधना करने में समर्थ हैं, शास्त्रीय शब्दावली में 'शमादिषट्कसंपत्तिसंपन्न' हैं, जिन्हें वह मार्ग रुचिकर प्रतीत होता है, वे ज्ञानमार्ग के अधिकारी है। जो संन्यास लेने में असमर्थ हैं, योगसाधना जिनके वश की बात नहीं हैं, जिनके मन से रागात्मक वृत्ति का अत्यंताभाव नहीं हुआ है, उनके लिए भक्ति ही मोक्ष का एकमात्र उपाय है। प्रत्येक युग की परिस्थिति दूसरे से भिन्न होती है, सभी में साधनों की उपलब्धि समान रूप से संभव नहीं होती; अतएव तुलसी ने युगधर्मानुसार ही साधनों के अवलंबन पर बल दिया है—

कृतजुग सब जोगी बिज्ञानी। करि हरिध्यान तरहिं भव प्रानी।
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाउ न दूजा।
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥[5]

यहाँ पर यह स्मर्तव्य है कि उक्त चारों ही साधन भक्तिमय हैं। यह और बात है कि पहला ज्ञान-प्रधान है और शेष तीन भक्तिप्रधान हैं।

दुःखध्वंस दो प्रकार का है—साभिलाष और निरभिलाष। साभिलाष दुःखध्वंस के भी दो वर्ग हैं। एक ऐहिकसुखभोग पर बल देता है। चार्वाकों का लौकिकसुख-मूलक दर्शन इसी सिद्धांत का प्रचारक है। दूसरा वर्ग आमुष्मिकसुख का अभिलाषी है। इस अमुत्रसुखाकांक्षी वर्ग के भी दो उपवर्ग हैं। पहले उपवर्ग में वे कर्ममार्गी हैं जो यज्ञ आदि कर्मों के द्वारा स्वर्गप्राप्ति

---

१. नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू। —रा० ३।३६।छं०
तू निज करम-जाल जहँ घेरो। —वि० १३६।४
जनम अनेक किये नाना बिधि करम-कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो॥ —वि० ८८।३
करम-कीच जिय जानि, सानि चित, चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो॥ —वि० २४५।३
२. ज्ञान भगति साधन अनेक, सब सत्य झूठ कछु नाहीं।—वि० ११६।५
३. धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥ —रा० ३।१६।१
४. भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥ —रा० ७।११५।७
५. रा० ७।१०३।१-२

की कामना करते है। दूसरा उपवर्ग ज्ञान-मार्गियों का है जिनकी दृष्टि में ज्ञान के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति ही जीव का परम पुरुषार्थ है। मुक्ति या निर्वाण की अभिलाषा भी अभिलाषा ही है, अतएव वह साभिलाष दुःखध्वंस के अंतर्गत ही रहेगी। निरभिलाष दुःखध्वंस वस्तुतः भक्तिमार्गियों का आदर्श है।[1] पुरुषार्थचतुष्टय के प्रति भक्त की लेशमात्र भी कामना नहीं होती, भक्ति ही उसका एकमात्र साध्य है।[2] अतएव उसे निरभिलाष कहना असमीचीन नहीं है।

भक्ति की श्रेष्ठता—पुराणों[3], महाभारत[4], भक्तिशास्त्रीय ग्रंथों[5] आदि में भक्ति की महिमा का पुनः-पुनः प्रतिपादन किया गया है। उन ब्रह्मविचार-विशारद मुनियों की इस मान्यता से भक्तकवि तुलसीदास भी सहमत हैं।[6] भक्तिश्रेष्ठता का निरूपण करने के लिए अनेक प्रकार की बौद्धिक एवं भाविक उपपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं—

१. भक्ति ही भवसंतप्त जीव की दुःखनिवृत्ति का उपाय है। शांडिल्य आदि भक्त्याचार्य 'अज्ञान' को जीव की संसृति का कारण नहीं मानते। उनका तर्क है कि जब अज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है तब फिर वह बधन का हेतु कैसे हो सकता है।[7] जीव के बंधन का वास्तविक कारण अभक्ति है। कारण के नाश से ही बंध-मोक्ष संभव है। अतएव जब अनन्य भक्ति के द्वारा बुद्धि का आत्यंतिक लय हो जाता है तब ईश्वर का साक्षात्काररूप बोध होने पर मुक्ति होती है।[8] भक्ति अमरत्वप्राप्ति का अनन्य उपाय है।[9] इसीलिए कहा गया है कि इस संसाररूपी विषवृक्ष के दो अमृतोपम फल हैं—एक भगवद्भक्ति और दूसरा भक्तसमागम।[10] वेदांतदेशिक का मत है कि

१. जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥ —रा० २।१३१

२. अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद येह बरदानु न आन॥ —रा० २।२०४

३. भा० पु० १।२।६, १।२।१४, १।२।२२, १।५।१२, १।५।१५, १७, १८, १९, १।७।४, ६, १०, २।१।५, २।२।१४, ३३, २।३।१०, ३।५।४६-४७, ३।२५।१९, ४४, ३।२९।२८-३३, ४।८।४१, ४।२१।३१, ३६, ४।२२।३९, ४।२४।५४, ५।६।१८, ५।१८।१२, १४, ६।१।१५, १६, १७, १८, ६।३।२४-२९, ७।७।२९, ४०, ५१, ५२, ७।९।९, १०, ८।९।२८, २९, ८।२४।३०, १०।२।३७, १०।१४।३, ४, ५, ८, २९, १०।४६।३३, ११।२।३३, ३७, ४२, ४३, ११।५।४१, ४२, ११।६।९, ११।१९।९, १२।४।४०, वि० पु० १।४।१८, १।११।४५-४९, ५।३०।१६, अ० रा० ३।४।४६-४७, ना० पु० १।४।२९-३०, १।३४।४१, १।४१।११८, कू० पु० २।४।२, २।१०।८-१०, वामनपु० ९४।३४, ४२, ७५, ब्र० वै० पु० १।१७।१७, शि० पु० ४।४१।१९

४. गीता, ६।३०, अ० १२; 'महाभारत' के अन्य संदर्भो के लिए दे०—षटसन्दर्भ, पृ० ४५१, ४७९, ४९०-९१, ५०६, ५०८

५. शा० भ० सू० १।२।१, १।२।२, १।२।८, १।२।१४ और उन पर भ० च०; षट्सन्दर्भ, पृ० ५१४, ५१६, ५१७, ५२२, ५३०, ५४१

६. सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक येहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥ —रा० ७।१२२।६-७

७. संसृतिरेषामभक्तेः स्यान्नाज्ञानात् कारणासिद्धेः॥ —शा० भ० सू० ३।२।६
एषां—जीवानाम्, अभक्तेरपि संसारो नाज्ञानमात्रात् केवलस्य···। —उक्त सूत्र पर भ० च०

८. अनन्यभक्त्या तद् बुद्धिलयादत्यन्तम्। —शा० भ० सू० ३।२।४; उस पर भ० च०

९. तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्। —शा० भ० सू० १।१।३

१०. संसारविषवृक्षस्य द्वे फले ह्यमृतोपमे। कदाचित्केशवे भक्तिस्तद्भक्तैर्वा समागमः॥ —ग० पु० २२७।३२

ध्यान आदि शब्दों से अभिहित ध्रुवानुस्मृति (अर्थात् भक्ति) ही ग्रंथिमोक्ष का विहित उपाय है।[1] सुरसुरानंद के मुक्ति-साधन-विषयक प्रश्न के उत्तर में रामानंद ने भी भक्ति के विधान का ही निरूपण किया है।[2] अविद्या को दुःख का कारण मानते हुए वल्लभ ने उसको नष्ट करने वाली विद्या के पाँच पर्व बतलाये हैं—वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भक्ति।[3] भक्ति अविद्या एवं अविद्याजन्य क्लेश का अभिघात करने वाली और शुभदा है; अतएव सब कुछ त्याग कर हरि-भजन करना चाहिए।[4] पांचरात्र आगम में कहा गया है कि न्यास ही परम धाम और परमात्मा की प्राप्ति का साधन है।[5]

पहले कह आये हैं कि रोग के निदान के अनुसार की गयी चिकित्सा ही सफल होती है। अतएव दुःखनिरोधगामी मार्ग की व्यवस्था भी दुःखसमुदय के आधार पर की जानी चाहिए। कर्म, ज्ञान, भक्ति—सभी साधनों का प्रयोजन दुःखध्वंस है। विभिन्न चिंतन-पद्धतियों में अपने-अपने ढंग पर सांसारिक क्लेश के कारणों की विवेचना की गयी है। तुलसीदास का कथन है कि मोह के कारण जीव अनेक प्रकार के पाप करता है; मोह ही सकल व्याधियों का मूल है जिससे जीव को अनेक प्रकार के शूल सहने पड़ते हैं।[6] जन्मजन्मांतर के अभ्यास के कारण यह मोह-मल जीव के चित्त पर अधिकाधिक लिपटता जाता है, परिणामस्वरूप अपने सहज स्वरूप को त्याग कर वह नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करता है। सभी प्रकार के मल-भार का कारण भगवान् राम के चरणों की विस्मृति है।[7] अतएव राम के चरणानुराग से ही इस मल का आत्यंतिक नाश हो सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।[8] जीव की यह मोह-श्रृंखला केवल उन्हीं के काटने से कट सकती है।[9]

तुलसीदास की दृष्टि में अभक्ति और दुःख एक प्रकार से समानार्थक हैं। उन्होंने हनुमान् के मुख से यह बात स्पष्ट करा दी है कि वस्तुतः राम का स्मरण और भजन न होना ही विपत्ति है।[10] यही सबसे बड़ी हानि है।[11] अनजान में भी राम के प्रति अभक्ति होने के कारण सती को इतनी साँसत सहनी पड़ी। राम-विमुख जीव को स्वप्न में भी सिद्धि नहीं मिल सकती। प्राप्त ऐश्वर्य भी अप्राप्त-सा चला जाता है। रावण आदि इस बात के प्रमाण हैं।[12] त्रिविध शूलों के विपत्तिजाल

---

१. तत्त्वमुक्ताकलाप, जीवसर, २६-३० और उस पर टीका, पृ० १८६-९१

२. वै० म० भा० गु० ६०-१११

३. तत्त्वदीप, १।४८-४९ और उन पर प्रकाश

४. ह० र० सि० १।१।१३-१४; तत्त्वदीप, १।५२ और उस पर प्रकाश

५. अहि० सं० ३७।२६-२७

६. रा० ७।४१।२ (करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।), ७।१२१।१५

७. मोह जनित मल लाग बिबिधबिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥ —वि० ८२।१
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराये॥ —वि० ८२।३

८. प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ —रा० ७।४९।३

९. तुलसिदास प्रभु मोहसंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे। —वि० ११४।५
तुलसिदास येहि जीव-मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥ —वि० १०२।५

१०. कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजनु न होई॥ —रा० ५।३२।२

११. हानि कि जग येहि सम कछु भाई। भजिअ न रामहिं नर तनु पाई॥—रा० ७।११२।५

१२. रा० १।५९।१, २।२५६।१, ५।२३।३, ६।१०४।५-६

में पड़े हुए भक्तिहीन भ्रांत दीन-मलीन जीव वर्षा के गोबर की भाँति निरंतर दुर्गति भोग रहे हैं।[1] उन्हें नरक में भी स्थान नहीं मिल सकता, वैकुंठलाभ तो होगा ही नहीं।[2] चूँकि इन आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों का कारण अभक्ति है, इसलिए इनकी हानि और सुख की प्राप्ति भी भक्ति के बिना नहीं हो सकती।[3] करोड़ों उपाय करने पर भी कोई शक्ति रामद्रोही का भव-बंधन नहीं खोल सकती।[4] सहस्रों ब्रह्मा, शंकर और विष्णु भी उसका त्राण करने में असमर्थ हैं।[5] भक्तिरहित नर वारिहीन वारिद है, इँदारुण का कड़वा फल है और अलोना साग है; भाग्यहीन, मतिमंद और ज्ञानरंक है; शोचनीय और धिक्कार्य है; कूकर, गधा और गीदड़ है।[6] वह अपनी जननी के यौवन-विटप का कुठार है।[7] ऐसी **'बिआनी'** (सुतवती) से तो **'बाँझ'** ही भली है।[8] राम के पदों में प्रीति-प्रतीति न होने के कारण बड़ी-बड़ी आशाएँ और लोभ उत्पन्न होते हैं; भेद-भाव से पूर्ण क्षुब्ध मन को विश्राम या संतोष नहीं मिलता; और मन को विश्राम मिले बिना जीव का कल्याण असंभव है।[9] हरिभक्ति के बिना जीवों के भव-संभूत क्लेश नहीं मिट सकते।[10] इस सिद्धांत का उपस्थापन तुलसी के काकभुशुंडि ने बड़ी ही सशक्त आलंकारिक शैली में किया है—

> **रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान।**
> **ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥**
> **राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।**
> **सकल गिरिन्ह दव लाइए बिनु रबि राति न जाइ॥**
> **ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥**[11]
> **कमठ पीठि जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥**
> **फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥**
> **तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥**
> **अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥**
> **हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥**

---

१. वि० १६८।१, रा० ४।१२।३, ७।१३।छं० २, ७।१४।६, दो० ७३
२. रा० २।२५२।४, ६।२६।४
३. करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥ —रा० २।१०७
४. रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भवबंधन छोरी॥ —रा० १।२००।२
५. राम कें रोष न राखि सकैं तुलसी बिधि श्रीपति संकरु सौं रे। —कवि० ७।१२
संकर सहस विष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥—रा० ५।२३।४
६. क्रमशः—रा० ३।३५।३; वि० १७५।३-४; रा० ३।३३।२, ३।४५।२; रा० २।१७३।२, ६।१११।६;
वि० १६८।३, गी० २।७४।४
७. रा० २।१६०।४, वि० १६४।७
८. नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥—रा० २।७५।१
९. रा० प्र० ७।४।६, रा० ६।२१।५, ६।७८; रा० ५।४६
१०. रा० ७।८९।३, वि० ८७।४, १२१।५
११. रा० ७।७८-७।७९।१

बारि मथे घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।।[1]

२. भक्ति भगवान् को सदैव प्रिय है।[2] अतएव विशेष रूप से आकृष्ट करने वाली और वशीकारिणी है।[3] वे भक्ति का ही नाता मानते हैं।[4] उन्हें केवल प्रेम ही प्यारा है।[5] सेवक उन्हें इतना प्रिय है कि वे उसकी सेवा से सुख और उसके वैरी से वैर मानते हैं।[6] अतः उनकी कृपा-प्राप्ति का जितना अधिक साधक 'निष्केवल प्रेम' है उतना योग, मख आदि कोई भी साधन नहीं।[7] सेवक पर इस प्रकार की ममता राम की ही विशेषता नहीं है। यह साँरे संसार की प्रथा है। प्रत्येक स्वामी को उसका पुनीत, सुशील तथा सुमति सेवक प्रिय होता है; अपने सेवक पर राम की प्रीति और भी अधिक है।[8] जब सेवक स्वामी को आत्मसमर्पण कर देता है तब उसकी रक्षा का भार स्वामी स्वयं उठाता है। यही सिद्धांत राम का भी है। वे अपने जन के प्रण की रक्षा स्वयं करते हैं। सारी लंका जल गयी परंतु राम की कृपा से विभीषण का घर बचा रहा। भक्त की सीमा का अतिक्रमण आक्रांता के लिए आत्मघातक है। राम के सेवक का अपमान ही रावण के संहार का कारण हुआ।[9] माता-पिता के उपमानों द्वारा तुलसी ने राम के भक्तरक्षक स्वरूप का हृदयस्पर्शी निरूपण किया है। माँ अग्नि, सर्प आदि से शिशु पुत्र की निरंतर रखवाली करती रहती है, लेकिन प्रौढ़ पुत्र को समर्थ समझ कर उसके रक्षण का कोई ध्यान नहीं रखती। राम के लिए ज्ञानी प्रौढ़पुत्र और भक्त शिशु के समान है। भक्त उन्हीं के भरोसे है; अतएव वे काम, क्रोध आदि से उसकी निरंतर रक्षा करते हैं। एक पिता के पृथक् गुण-शील वाले अनेक पुत्र होते हैं—धनवंत, धर्मनिष्ठ, तपस्वी, ज्ञानी आदि। यद्यपि पिता का सब पर समान स्नेह होता है तथापि सभी प्रकार अज्ञ होने पर भी मनसा-वाचा-कर्मणा पितृभक्त पुत्र पिता को प्राणवत् प्रिय होता है। जगत्पिता राम की भी सकल चराचर जीवों पर समान दया है। फिर भी जो सर्वात्मना निश्छलभाव से उनका सेवक है वह उन्हें परमप्रिय है। इसीलिए उनका स्नेहभाजन सेवक (भक्त)

---

१. रा० ७।१२२।८-दोहा

२. पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। —रा० ७।११६।२
मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग। —रा० ७।८५
त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका। —भा० पु० मा० २।३
भक्तिप्रिय, भक्तजन-कामधुक धेनु, हरि हरण दुर्घट बिकट बिपति भारी। —वि० ४६।८

३. भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन। —दो० १३५, रा० ७।६२ख
प्रेम बदौं प्रह्लादहि को जिन पाहन तें परमेस्वरु काढ़े। —कवि० ७।१२७
दे०—ह० र० सि० १।१।१३

४. कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भगति कर नाता ।।—रा० ३।३५।२

५. रामहि केवल पेमु पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा ।। —रा० २।१३७।१

६. सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहिं सेवकु परम पिआरा ।।
मानत सुखु सेवक सेवकाईं। सेवक बैर बैरु अधिकाईं ।। —रा० २।२१९।१

७. उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम ।। —रा० ७।११७ख

८. सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग। —रा० ७।८६
सत्य कहौं खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय। —रा० ७।८७

९. कवि० ७।८; रा० ५।२६।३-४; रा० २।२१८।२-३, वि० १३७।२; कवि० ७।३

मनोनिवेश हो जाने पर जीव मायिक विषयवासनाओं से सर्वथा मुक्त हो जाता है। भक्ति राम की प्रिया है। राम की अनुकूलता पर उसका पूरा अधिकार है। माया एक नर्तकी मात्र है। वह राम की प्रिया से सदैव भयभीत रहती है। भक्त के हृदय में निरुपाधि भक्ति का अबाध विकास होने के कारण संकुचित माया उस पर शासन नहीं जता सकती। यह विचार कर विज्ञानी मुनि भी भक्ति की याचना करते हैं।[1]

सृष्टि-विस्तार के प्रकरण में भागवतकार ने स्वयंभू की पीठ से अधर्म की उत्पत्ति बतलायी है।[2] इस रूपक की व्यंजना यह है कि भगवान् के पीठ फेर लेने पर या भगवान् से विमुख हो जाने पर जीव अधर्म या पाप में प्रवृत्त होता है। पुरंजनोपाख्यान का भी यही तात्पर्य है।[3] अकृत्य का करण और कृत्य का अकरण ही पाप है।[4] वह विषयानुभवरूप है।[5] और विषय-वासनाएँ तृप्ति के परे हैं। कामनाएँ नाना प्रकार के क्लेशों को जन्म देती हैं। विविध तापों से पीड़ित जीव शाश्वत शांति और सुख की अभिलाषा करता है। इसका सुंदरतम उपाय है लोक-विषयक रति को ईश्वरोन्मुख कर देना। यह सुखानुशयी राग का उदात्तीकरण है। भक्ति की यह मनोवैज्ञानिक विशेषता उसे अन्य मोक्ष-साधनों की अपेक्षा उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करती है।

४. भक्ति की श्रेष्ठता का एक प्रधान कारण उसके अधिकार-क्षेत्र की व्यापकता है। कर्म और ज्ञान भी दुःख-नाश के साधन हैं किंतु सभी व्यक्ति उनके अधिकारी नहीं हो सकते। भक्ति के लिए इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है।[6] स्त्री, पुरुष और तिर्यक् सभी इस पथ को अपना सकते हैं।[7] भगवान् की शरण में आये हुए पतित का भी उद्धार हो जाता है।[8] भगवान् तो सभी जाति और आकार वालों की शरण हैं।[9] वहाँ जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का कोई भेद-भाव नहीं है[10], क्योंकि सभी उनके हैं।[11] सामान्य धर्मों की भाँति भक्ति पर भी निंद्ययोनिजों तक का अधिकार परंपरा-सिद्ध है।[12] अनिर्विण्ण और सक्त व्यक्ति भी भक्ति का अधिकारी हो सकता है—यदि वह अतिसक्त या अभक्त नहीं है।[13] भक्ति के लिए केवल एक ही गुण आवश्यक है—भगवान् तथा भगवत्कथा के प्रति श्रद्धा-प्रीति-प्रतीति।[14] कुछ भक्त्याचार्यों के अनुसार

---

१. पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्त्तकी बिचारी ॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ॥ —रा० ७।११६।२-३
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी ॥ —रा० ७।११६।४

२. भा० पु० ३।१२।२५

३. भा० पु० ४।२५-२९

४. गीता, १८।६६ पर रा० भा०

५. गीता, ३।३६ पर रा० भा०

६. गीता, ९।२९-३२

७. अ० रा० ३।१०।२०, २८

८. गीता, ९।३०, भा० पु० २।४।१८, ह० र० सि० १।२।१९

९. गीता, ९।२९ और उस पर रा० भा०; श्रीभाष्य, मङ्गलश्लोक १

१०. नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः। —ना० भ० सू० ७२

११. यतस्तदीयाः। —ना० भ० सू० ७३

१२. आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्। —शा० भ० सू० २।२।२३

१३. भा० पु० ११।२०।८; भा० पु० मा० १।१६-१७

१४. भा० पु० ११।२०।८, भा० पु० मा० १।९

महापातकी जनों को केवल आर्तभक्ति का ही अधिकार है।[1] तुलसी ने इस प्रकार की मान्यता का कहीं भी समर्थन नहीं किया है। तुलसीदास का भक्तिमार्ग भी अन्य मोक्ष-पथों की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक और उदार है। कर्म और ज्ञान के मंदिर में प्रवेश करने के अधिकारी सभी नहीं हो सकते। कहीं नारी, कहीं शूद्र, कहीं विषयी जनों पर प्रतिबंध लगा हुआ है। किंतु भक्ति-मंदिर का द्वार सबके लिए सदैव उन्मुक्त है। भक्तिमार्ग राजमार्ग है; विमुक्त, विरक्त और विषयी सभी को उस पर चलने का समान अधिकार है; उस पर चलने वाले गनी और गरीब, बड़े और छोटे, बुद्ध और मूढ़, बलवान् और बलहीन, गुनी और निगुनी में कोई भेद-भाव नहीं है।[2] नर-नारी ही नहीं, नपुंसक एवं अचर तक को समकक्ष स्थान दिया गया है।[3] घोर से घोर पातकी और अधम से अधम पतित भी भक्ति की पीठिका पर अनायास ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। लोक-वेद-बहिष्कृत, कुजाति, कपटी, कायर, कुमति भी राम के द्वारा अपनाये जाने पर भुवन-भूषण हो गये; निषाद, भीलनी, गणिका, व्याध, गृद्ध, गज, आभीर, यवन, किरात, खस, श्वपच आदि इसके प्रमाण हैं।[4]

५. मोक्ष के लिए भक्ति अनिवार्य है। अन्य साधन (कर्म या ज्ञान) अनिवार्य नहीं हैं। यद्यपि भक्ति-निरूपक आचार्यों ने भक्ति के साधनरूप में कर्म, योग और ज्ञान की भी चर्चा की है तथापि कर्म आदि भक्ति के लिए आवश्यक नहीं हैं। इस विषय में गोपांगनाओं का प्रमाण अकाट्य है।[5] ध्यान और योग से हीन होने पर भी भगवान् की शरण में आया हुआ जन परमपद को प्राप्त कर लेता है।[6] आराधना के बिना मोक्षपद की प्राप्ति नहीं हो सकती।[7] आराधना करने से दुर्लभ मुक्ति भी सुलभ हो जाती है।[8] कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग में भी जहाँ कर्म या ज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाया गया है वहाँ भी साधनरूपा भक्ति की आवश्यकता स्वीकार की गयी है।[9] इसी आधार पर पद्मपुराणकार ने ज्ञान-वैराग्य को भक्ति-पुत्र और मुक्ति को उसकी दासी कहा है।[10] इसी दृष्टि से 'अध्यात्मरामायण' के राम ने भी शबरी को भक्ति की आवश्यकता बतलायी थी—जिस प्रकार आँखों वाला व्यक्ति अंधकार में पदचिह्नों को नहीं देख पाता किंतु दीपक के प्रकाश में अनायास ही देख लेता है उसी प्रकार भक्ति-दीपक

---

१. दे०—शा० भ० सू० २।२।२७ (महापातकिनान्त्वार्तौ) पर भ० च०

२. गी० ५।४२।१-२, रा० ७।१५।३, ७।५३।१-२

३. पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परमप्रिय सोइ॥ —रा० ७।८७
नव महुँ एकौ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥···—रा० ३।३६।३-४

४. रा० २।१९६।१, ७।१३०।छं० १, वि० १६६।२-८

५. शा० भ० सू० १।२।५, भा० पु० १०।८२।४५

६. ग० पु०, अ० २२७

७. वि० पु० १।४।१८, १।११।४३-४६, ५।२३।४३, अ० रा० १।१।५१, ३।४।४४-४५

८. आराध्य वरदं विष्णुमिष्टप्राप्तिमसंशयम्। ···—वि० पु० १।१४।१४

९. ना० पु० १।४।९; भा० पु० ११।१४।२६; गीता, १८।५५; शा० भ० सू० १।२।६ पर भ० च०, पृ० ७३; भ० नि०, पृ० ३६

१०. दे०—भा० पु० मा० २।७

के प्रकाश में वैराग्य-ज्ञानविज्ञान-रूपी नेत्रों के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है।[1]

६. भक्ति स्वतंत्र साधन है। उसके लिए किसी अन्य साधन का अवलंब आवश्यक नहीं। परंतु, अन्य साधनों के लिए भक्ति अनिवार्य है। ज्ञान-विज्ञान आदि उसके अधीन है।[2] जप, योग, कर्म, नियम, धर्म, व्रत, दान, दया, दम, तप, मख, वैराग्य आदि जो दु:खनिवृत्ति के अनेक उपाय बतलाये गये हैं वे सभी रामभक्ति के बिना निरर्थक है।[3] राख के होम और ऊसर की वृष्टि के समान निष्फल हैं।[4] इनकी उपयोगिता भक्ति के साधन के रूप में ही है। कोई भी मोक्षोपाय तब तक फलदायक नहीं हो सकता जब तक साधक का चित्त निर्मल न हो जाए। भक्तीतर साधन चित्त को कुछ काल तक के लिए ही शुद्ध कर पाते हैं। आत्यंतिक शुद्धि का उपाय केवल प्रेम-भक्ति है।

ज्ञान के स्थायित्व के लिए भी भक्ति अनिवार्य है।[5] जहाँ ज्ञान की साधनता को विशेष महत्त्व दिया गया है[6] वहाँ ज्ञान का प्रशंसन मात्र तुलसी का अभिप्राय है, भक्ति का अपकर्षण कदापि नहीं। ज्ञानी भक्त राम को विशेष प्रिय है। अतः ज्ञान का अर्थवाद तुलसी के भक्ति-सिद्धांत का पोषक ही है। धर्मशील, ज्ञानी, विज्ञानी आदि सभी के निस्तार के लिए वे सेवक-सेव्य-भाव को अनिवार्य मानते हैं।[7] भागवतकार का कहना है कि जो साधक भक्ति की उपेक्षा करके केवल ज्ञान के लिए ही कष्ट सहते हैं उनका प्रयत्न भूसी कूटने की भाँति निष्फल क्लेशमात्र ही रह जाता है।[8] तुलसीदास ने भी कहा है कि भक्ति का परिहार करके ज्ञानमात्र के लिए श्रम करने वाले जीव जड़ हैं। वे दूध के लिए, घर में ही स्थित कामधेनु को छोड़कर, आक खोजते फिरते हैं।[9] चतुर्वर्गदायक सभी साधन भक्ति के बिना जलहीन सरिता के समान हैं; भक्तिहीन उपाय के द्वारा सुखाभिलाषिता शठता है, तरणी के बिना महासिंधु के संतरण का हास्यास्पद प्रयास है।[10] 'नारदपुराण' में सनक ने नारद से कहा है कि भक्तिमान् चांडाल द्विज से बढ़कर है और भक्तिहीन द्विज भी श्वपचाधम हे।[11] तुलसीदास भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जो नर ज्ञानवंत होकर भी राम-भजन के बिना ही निर्वाण-पद की कामना करता है वह

---

१. अ० रा० ३।४।४६-४७
२. सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना॥ —रा० ३।१६।२
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥—रा० ७।४५।३
बिनु बिराग-जप-जाग-जोग-ब्रत, बिनु तप, बिनु तनु त्यागे।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु-पद-प्रयाग अनुरागे॥ —गी० ७।१५।४
३. रा० २।१७८।३, २।२९१।१, ७।६२।१, वि० ८१।५, १९४।३, कवि० ७।५५; दे०—ना० पु० १।४।७
४. करम-धरम श्रमफल रघुबर बिनु राख को सो होम है, ऊसर कैसो बरिसो। —वि० २६४।३
५. रा० ७।११९।३
६. रा० ३।१६।१, वि० ११५।५
७. रा० ७।११९, ७।१२४।३-४
८. श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥ —भा० पु० १० ।१४।४
९. जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥ —रा० ७।११५।१
१०. वि० १९२।३; रा० ७।११५।२
११. ना० पु० १।३४।४१

महामूढ़ पशु है।[1]

ज्ञान-वैराग्य और भक्ति के पूर्वापरसंबंध या कार्यकारणभाव के विषय में एक प्रश्न उठता है कि ज्ञान-वैराग्य हो जाने पर भक्ति का उदय होता है अथवा भक्ति हो जाने पर ज्ञान-वैराग्य का। यह भी प्रश्न उठता है—क्या ज्ञान और वैराग्य भक्ति के लिए आवश्यक हैं अथवा नहीं ? उत्तर है—यदि 'ज्ञान' का अर्थ शास्त्रज्ञान लिया जाए तो वह भक्ति के लिए गौरवपूर्ण होते हुए भी अनिवार्य नहीं है। शबरी, पिंगला, गुह आदि शास्त्रज्ञानी नहीं थे; उन्होंने वेदशास्त्रों का लेशमात्र भी अध्ययन या श्रवण नहीं किया था। फिर भी वे भक्तों की उत्तम कोटि में प्रतिष्ठित है। 'ज्ञान' का दूसरा अर्थ भगवान् का माहात्म्य-ज्ञान है। भक्ति-दर्शन में इस दूसरे अर्थ को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया है। यह ज्ञान प्रेमभक्ति का कारण (साधन) है। इसी कारण वल्लभ की 'भक्ति' माहात्म्यज्ञानपूर्विका[2] है। इसी कारण तुलसीदास भी अपनी सभी कृतियों में राम की महिमा का गान करते हुए अघाते नहीं हैं। जिस 'भक्ति' को ज्ञान का कारण कहा गया है वह भक्ति साधनभक्ति है। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तुलसी रामकृपा को ही सबका मूलाधार मानते हैं। उसी से ज्ञान और भक्ति दोनों की प्राप्ति होती है। राम भक्तिमान् पर ही कृपा करते हैं और राम की कृपा से ही भक्ति मिलती है। यह बीज-वृक्ष-न्याय है। भगवान् के अनुग्रह की कल्पना भक्तों का ब्रह्मास्त्र है। भक्त की साधना पर रीझ कर भी भगवान् कृपा करता है और साधनाहीन अभक्त पर भी। इसलिए भी उसकी कृपा अहैतुकी है, अकारण है। वह ऐसा क्यों करता है ? लीला के लिए। और लीला क्यों करता है ? उत्तर वही है—लीला के लिए। लीला अंतिम प्रयोजन है, उसके भी प्रयोजन का प्रश्न नहीं उठता।[3] उसका न्यायनिष्ठत्व स्वयंसिद्ध है। भक्त के विश्वास में शंका के लिए कोई अवकाश नहीं। भगवत्कृपापात्रों के इतिवृत्त पर विचार करके और अपने सदाचरणों की असफलता देखकर के भी भक्त भगवत्कृपा की प्रतीक्षा करता है।[4] यह तो हुई ज्ञान और कर्म की बात।

वैराग्य के विषय में दो मत हो सकते हैं। एक तो यह कि ईश्वर से राग करो, संसार से विराग अपने आप हो जाएगा। लोक में भी हमें इस प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं। एक व्यक्ति से प्रेम करने वाला पुरुष जब किसी दूसरे से प्रम करने लगता है तो पहले के प्रति स्वत: विराग हो जाता है। दूसरा मत यह है कि विषयों में अनुरक्त मन ईश्वरोन्मुख तब तक नहीं हो सकता जब तक वह विषयों के प्रति विरक्त न हो जाए। तुलसीदास ने दूसरे सिद्धांत को विशेष गौरव दिया है। यह बात उनकी जीवनी और कृतियों से प्रमाणित है। इन वैकल्पिक मतों का विरोध-परिहार भी किया जा सकता है। जब हम संसार को केंद्रबिंदु मानकर विचार करते हैं तब वैराग्य को भक्ति का साधन मान लेते हैं। किंतु जब भगवान् को केंद्रबिंदु मानकर चलते हैं

१. रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान।
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥ —रा० ७।७८क
मि० दे०—हरिसेवाविहीनो यः स पशुर्योनितः पशुः। —भवि० पु० २।१।५।४०
अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥ —रा० ५।५०।१

२. तत्त्वदीप, १।४५; रा० ७।८६।४

३. नहि लीलायां किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्। —ब्र० सू० २।१।३३ पर अणुभा०

४. केहि आचरन भलो मानैं प्रभु सो तौ न जानि परयो।
तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जोवत पंथ खर्यो॥—वि० २३६।७

तब वैराग्य भक्ति का अनुवर्ती प्रतीत होता है। वस्तुतः दोनों में यौगपत्य[1] और अन्योन्याश्रय-भाव है। दृष्टिकोण के भेद से मत-भेद दिखायी देता है। 'शरणागति' और 'शरणं गच्छामि' का समाधान भी ऐसा ही है। भक्ति और वैराग्य दोनों का उदय एक साथ ही होने पर भी एक व्यक्त हो सकता है—और दूसरा अव्यक्त। भर्तृहरि या तुलसी के दृष्टांत में वैराग्य की अभिव्यक्ति पहले हुई है और भक्ति की बाद में। इसके प्रतिकूल, नारद अथवा प्रह्लाद में भक्ति पहले से ही व्यक्त है और वैराग्य की विवृति तत्पश्चात् हुई है।

७. जीव के जो चार पुरुषार्थ प्रायः बतलाये गये हैं उन्हीं उपेयों के उपाय ज्ञान आदि हैं। भक्ति इन सबसे विशिष्ट है। जिस प्रकार प्रेम पथ भी है और उद्देश भी है[2]; उसी प्रकार, भक्ति साधन भी है और साध्य भी। भक्ति स्वयं पुरुषार्थ है।[3] वही मुक्ति है।[4] वह मोक्ष आदि से भी बढ़कर परमपुरुषार्थ है; मोक्ष उसकी तुलना में तुच्छ है।[5] इसलिए भक्त कर्मी, योगी और ज्ञानी से श्रेष्ठ है।[6] भक्ति अन्य साधनों का साध्य है। ज्ञान आदि साधन भक्ति की अपेक्षा रखते हैं। वे अंग हैं और भक्ति अंगी। जिस प्रकार लोक में किसी के ज्ञान के बाद ही उससे प्रीति होती है; उसी प्रकार साधना-मार्ग में भी साधनरूपज्ञान से साध्यरूपा भक्ति की प्राप्ति होती है।[7] श्रुतियों में भी ब्रह्मकांड का प्रतिपादन भक्ति के लिए ही किया गया है।[8] तारतमिक दृष्टि से कर्मयोग की अवधि अष्टांगयोग, अष्टांगयोग की अवधि भक्तियोग है; भक्ति उच्चतम है क्योंकि भक्ति के बिना मनःप्रसाद असंभव है।[9] यही मान्यता तुलसीदास की भी है। कर्ममूलक और ज्ञानमूलक विविध साधनों से भक्ति का वैशिष्टय इस बात में भी है कि वह साधन और साध्य दोनों ही है—**साधन सिद्धि रामपग नेहू।**[10] भक्ति साधन है, शत कामधेनुओं के तुल्य फल-दायिनी है।[11] वह साध्य भी है। सीता-राम के चरणों में सहज स्नेह ही सकल पुण्यों का महान् फल है।[12] वेदशास्त्र-प्रतिपादित कर्म, योग, वैराग्य, ज्ञान आदि समस्त साधनों का प्राप्य

---

१. भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैव त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ —भा० पु० ११।२।४२

२. रहरवाँ रा खस्तगी-ये- राह नीस्त, इश्को हम राह अस्त हम ख़ुद मंज़िल अस्त।
—किसी फारसी कवि की उक्ति, हिस्ट्री ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी ईस्टर्न ऐन्ड वेस्टर्न, आमुख, पृ० २८ पर उद्धृत।

३. अत्र भक्तिमीमांसेति विहाय भक्तिजिज्ञासेति कथनेन भक्तेः पुमर्थता सूचिता।
—शा० भ० सू० १।१।१ पर भ० च०
तस्मात्पुरुषार्थचतुष्टयान्तर्गतत्वेन स्वातन्त्र्येण वा भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वात्।
—शा० भ० सू० २।२।२३ पर भ० च०

४. निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्दन। —स्कन्दपु०
—दे०—ओ हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द ४, पृ० ४१६

५. भ० र० १।१ और उस पर टीका; ह० र० सि० १।१।१३

६. गीता, ६।४६-४७, शा० भ० सू० १।२।१५

७. शा० भ० सू० १।२।४ और उस पर भ० च०

८. दे०—शा० भ० सू० १।२।१६ (ब्रह्मकाण्डन्तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात्) पर भ० च०

९. भ० र० १।१ पर टीका, पृ० ६-१२

१०. साधन सिद्धि रामपग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत येहू॥ —रा० २।२८६।४

११. वि० ११६।५, रा० २।२६६।१

१२. रा० २।७५।२, गी० २।५०।६

हरिभक्ति ही है।[1] मानसरोगमुक्त जीव ज्ञानजल से स्नान करके भक्तिपूर्ण हो जाता है।[2]

लोकयात्री जीव फल की कामना से कर्म करता है। उसके वांछित फल धर्म, अर्थ आदि हैं। कर्म, ज्ञान आदि साधनों का लक्ष्य उन फलों में से एक या अनेक की प्राप्ति है। और, भक्ति इन चारों फलों का भी फल है। तुलसी ने यह मत बहुत जोर देकर व्यक्त किया है।[3] उनके अनुसार यही परम परमार्थ है। मानव-जीवन का लक्ष्य राम-भक्ति ही है। इसके समान कोई लाभ नहीं। इसीलिए उन्होंने ज्ञान को भक्ति का अलंकार मात्र माना है।[4] अलंकार (ज्ञान) तो केवल शोभाकारक साधन है, उसका अलंकार्य है भक्ति। इस मान्यता के विषय में यह शंका नहीं उठनी चाहिए कि 'रामचरितमानस' में कवि ने भक्ति को ही ज्ञान की शोभा कहा है—**'सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू'**।[5] प्रस्तुत प्रसंग में 'सोह न' का अर्थ है—व्यर्थ है। भक्ति की श्रेष्ठता के विषय में निगम-आगम, ऋषि-मुनि, सुर-संत सभी एकमत हैं।[6] वह मंगलमूल है, समस्त सुखों तथा शुभ गुणों की खानि है, पुरुषार्थचतुष्टयदायक और सकल-सिद्धिप्रद है।[7] अतः जिस किसी के द्वारा रामभक्ति का उदय हो वही सर्वथा परमहित, पूज्य तथा प्राण से भी प्रिय है—यह तुलसीदास का मत है।[8]

८. कर्म आदि साधन खेद-जनक होते हैं। उनमें सिद्धि के बाद ही सुखानुभव होता है। भक्ति का वैशिष्टय यह है कि वह सदा सुखदायिनी होती है—साधन-दशा में भी और सिद्धि-दशा में भी।[9] अतएव भक्त उस विपत्ति की भी कामना करता है जिससे भक्तिरस की अनुभूति हो सके।[10] भक्ति-जन्य आनंद भी ज्ञानादि-जन्य आनंद से विशेष अधिक होता है। इसीलिए उसे **अमृतद्रवसंयुत रस**[11] और **सांद्रानंदविशेषात्मा**[12] कहा गया है। शरणागत भक्त अगाध नीर में मीन का भाँति सुखी रहता है; स्वप्न में भी अनुभव किये गये भक्तिसुख की तुलना में ब्रह्मसुख नगण्य है।[13]

---

१. रा० ७।४६।१-२, ७।६५।३, ७।१२६।२-४

२ बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई ॥ —रा० ७।१२२।६

३. स्वारथ परमारथ रहित सीता राम सनेहँ। तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एहँ ॥ —दो० ६०

४. क्रमशः—रा० २।६३।३, ४।२३।३, ७।११२।४, वै० सं० ४३

५. रा० २।२७७।३

६. आगम निगम ग्रंथ रिषि मुनि सुर संत सबही को एक मत। —वि० १६६।३

७. रा० २।२०७, ७।८५।२-३, कवि० ५।३०, ७।१४०

८. तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥ —वि० १७४।४

९. रा० ७।४५।१-२, ७।४६।१, ७।६४।२, ७।८५।४, ७।११६।४-५
कर्मानुष्ठानवन्न साधनकाले साध्यकाले वा भक्त्यनुष्ठानं दुःखरूपं प्रत्युत सुखरूपमेव। —षट्सन्दर्भ, पृ० ४५७
दे०—ओ हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द ४, पृ० ४१७

१०. भक्तिरसस्य परमानन्दरूपतया स्वेतरसर्वाभिभावकत्वात्। अत एव दुःखासंस्पर्शित्वात्तादृशभक्तिरसव्याप्या विपदोऽपि स्वकीयाः कामिताः कुन्त्या—"विपदः सन्तु नस्तास्तास्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यस्माद-पुनर्भवदर्शनम्।" —शा० भ० सू० १।१।२ पर भ० च०, पृ० २७

११. निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ —भा० पु० १।१।३

१२. सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा। —ह० र० सि० १।१।१३

१३. रा० ४।१७।१, ७।८८

९. यदि भक्तिपथ को दु.खध्वंस का एकमात्र उपाय न भी माना जाए तो भी वह अन्य मार्गों की अपेक्षा अधिक सरल और सुगम होने के कारण विशेष श्रेयस्कर है। भक्तियोग सुलभ है, मानस है; काय, चित्त आदि के पीड़न से मुक्त है।[1] नारद ने भक्ति की सुलभता के चार कारण बतलाये हैं।[2] वह स्वयं प्रमाण है, उसे प्रमाणांतर की अपेक्षा नहीं; वह शांतिरूप है; वह परमानंद-रूप है; प्रेमपूर्वक कीर्त्यमान भगवान् शीघ्र ही आविर्भूत होकर भक्तों को अपना अनुभव करा देते हैं। इसीलिए मनीषियों ने भक्ति-साधनों की कलना करते समय भगवन्नाम-महिमा का इतना गान किया है। यही मान्यता तुलसीदास की भी है। अज्ञानांधकार को दूर करने के लिए ज्ञान एक दीपक है। दीपक के लिए पात्र, घृत, बाती आदि की आवश्यकता है।[3] इस सामग्री के संग्रह में कठिन प्रयास करना पड़ता है। भक्ति स्वयंप्रकाशवती मणि है। उसकी प्रभा के लिए उक्त प्रकार का कोई झंझट नहीं।[4] वेदविहित कर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि सुनने में मधुर और नरम तो प्रतिभासित होते है किंतु व्यवहार में कटु एवं कठोर हैं।[5] ज्ञान का पंथ तो कृपाण की धार है; वह कहने में कठिन है, समझने में कठिन है और साधन में कठिन है; ज्ञान के द्वारा कैवल्य-परमपद की प्राप्ति अत्यत दुर्लभ है; परंतु वही मुक्ति अनिच्छित होने पर भी, राम की भक्ति करते ही, भक्त के पास बरबस चली आती है।[6] पारलौकिक तथा ऐहिक सभी सुखों के लिए भक्ति का मार्ग अन्य पथों की तुलना में सहजसाध्य है। योग, यज्ञ, व्रत आदि का कष्ट उठाये बिना भवसागर पार करने के लिए रामभक्ति ही आश्रेय है।[7] राम और राम-भक्त का दर्शन ही दुःख-नाशक एवं मनोरथसाधक है। उनका नाम ही मोक्षकारी है।[8]

पगपग पर भक्ति को सुगम बताने वाले तुलसी ने उसकी दुस्साध्यता का भी उल्लेख किया है। भक्तिरूपी मणि की प्राप्ति के लिए वेदपुराणरूपी पर्वत की रामकथारूपी खानि को ज्ञान-वैराग्यरूपी नेत्रों की सहायता से सुमतिकुदारी-द्वारा खोदना[9] सरल नहीं कहा जा सकता। भक्ति कहने में सुगम है, सुनने में मीठी है; परंतु करने में कठिन, अपार और अगम है।[10] वह परम तपस्वी मुनियों के लिए भी दुर्लभ है।[11] वह किसी विरले को ही प्राप्त होती है।[12] इस विरोधा-

---

१. त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा।
सुलभत्वात् मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीडनात् ॥ —देवीभागवतपु० ७।३७।३

२. ना० भ० सू० ५८, ५९, ६०, ८०

३. रा० ७।११७।५-दोहा

४. रा० ७।१२०।१-२

५. वि० १३१।२

६. रा० ७।११८-७।११९।२ (राम भजत सोइ मुकुति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआइ।)

७. जो बिनु जोग जग्य व्रत संजम गयो चहै भव पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसिबासर हरि-पद-कमल बिसारहि ॥—वि० ८५।३

८. रा० १।१४९।१, ७।२।६, ७।३३।४; रा० ५।३९।४, ६।१।सो०२

९. रा० ७।१२०।७-८

१०. रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई। —वि० १६७।१
कहत सुगम, करत अगम, सुनत मीठी लगति। —गी० २।८२।१

११. जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं ॥ —रा० ७।८५।२

१२. कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ कोउ पाव भगति जिमि मोरी ॥ —रा० ४।१६।५

भास का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है। (क) पूर्वोक्त भक्ति-मणि की चर्चा ज्ञान-दीपक के प्रसंग में की गयी है। वह जिज्ञासु और ज्ञानी की भक्ति है। अतएव अध्ययन की भूमिका में उसका प्रतिपादन किया गया है। तात्पर्य यह है कि कर्म, ज्ञान आदि कष्टकारी साधनों की तुलना में भक्तियोग सरल है। (ख) आर्त आदि की भक्ति को भी कठिन कहने में तुलसी का दृष्टिबिंदु दूसरा है। जीव विषयों में इतनी बुरी तरह आसक्त है कि उन्हें छोड़कर भगवान् की ओर जाता ही नहीं।[1] अतः भक्ति करने में कठिनाई है। (ग) जिस पर राम की कृपा है, जो उनका दास है, उसके लिए भक्ति सुगम है। जिस पर कृपा नहीं हुई, जो उनका दास नहीं हुआ, उसके लिए भक्ति अगम है। शफरी और पिपीलिका के दृष्टांत द्वारा[2] कवि ने यह बात स्पष्ट भी कर दी है कि जो साधनभक्ति के मर्मज्ञ और भक्तिप्रेमी हैं, उनके लिए भक्ति सुलभ है; इतर जनों के लिए दुर्लभ है। (घ) भक्ति को लोग खिलवाड़ न समझ लें, संभवतः इसलिए भी तुलसी को भक्ति के गौरवार्थ उसकी दुष्प्राप्यता की बात कहनी पड़ी।

१०. भक्तिमार्ग भयरहित होता है, जब कि कर्म और ज्ञान में मत्सर, असहायता आदि का भय लगा रहता है।[3] मुक्त होने पर भी ज्ञानी को भगवान् का अनादर करने से पुनः भवबंधन में बद्ध होना पड़ता है।[4] भक्त के लिए कोई भय-बाधा नहीं है।[5] एक बार भगवान् के समीप पहुँचकर वह कभी पदच्युत नहीं होता। उसकी स्थिति अपुनरावर्तिनी होती है।[6] भक्ति की निरपायता उसकी सिद्धि-दशा और साधन-दशा दोनों में ही है। योग, समाधि, वैराग्य, ज्ञान आदि साधन निरुपाधि नहीं हैं।[7] उनमें रागद्वेषादि-जन्य दुःखों की संभावना बनी रहती है। ज्ञानी-विज्ञानी मुनियों के मन में भी काम आदि क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं।[8] किंतु जो विज्ञानी भक्त है उसका विज्ञान अखंडित रहता है, क्योंकि, शरणागत भक्त की अनवधानता को भगवान् स्वयं सँभाल लिया करते हैं।[9] इसीलिए पंडितजन ज्ञान प्राप्त करके भी भक्ति को नहीं त्यागते तथा विज्ञानी जन भी भक्ति की भीख माँगते हैं; विधाता और शंकर भी राम का भजन करते हैं।[10]

विज्ञानदीपक के रूपक में तुलसी ने ज्ञानपथ की संभावित नश्वरता एवं अपायसंकुलता का मनोहर विश्लेषण किया है। पहले तो ज्ञानदीपक का प्रदीप्त हो जाना ही निश्चित नहीं है और यदि घुणाक्षर-न्याय से प्रदीप्त हो भी गया तो बुझ जाने का भय निरंतर लगा रहता है।[11] मानव-

---

जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव। —रा० ७।८४क

१. वि० १४२, १५८, १९९ आदि

२. वि० १६७।२-३

३. न ज्ञानमार्ग इवासहायतानिमित्तभयं नापि कर्ममार्गवन्मत्सरादियुक्तेभ्यो भयम्। —षटसन्दर्भ, पृ० ५१३

४. जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः। यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥ —षट्सन्दर्भ, पृ० ५०५
दे०—ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द ४, पृ० ४१८

५. भा० पु० ६।१।१९, मुक्ता०, पृ० १६३; रा० ४।१७।१

६. मुक्तानामपि भगवदनादरेण परमार्थभ्रंश उक्तः। भक्तानां स नास्ति। —षट्सन्दर्भ, पृ० ५१३

७. जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान—वि० १८४।३

८. रा० ७।३८क, ७।११५

९. रा० ७।४९।४; रा० ३।४३।२-३; दे०—भा० पु० ११।५।४१

१०. रा० ३।४३।५, ७।११६।४; रा० ७।१०६।२

११. होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक। —रा० ७।११८ ख

मन की स्वाभाविक रागात्मक प्रवृत्ति उसे समाधि के शून्य में ठहरने नहीं देती। वह ज्ञान की उच्च भूमि से नीचे गिर पड़ता है। जब सात्त्विकी बुद्धि ज्ञानदीप से प्रकाशित उरगृह में बैठकर जड़चेतन की ग्रंथि को खोलने लगती है तब माया अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित करती है। उसके द्वारा प्रेरित ऋद्धि-सिद्धियाँ अपने आँचल के समीर से दीपक को बुझा देती हैं। यदि परम सयानी बुद्धि माया से बाधित नहीं हुई तो फिर देवता उपद्रव करते हैं। इंद्रिय-द्वारों पर अधिष्ठित देवता विषय-समीर को आते देखकर झरोखे खोल देते हैं और इस प्रकार आया हुआ प्रभंजन विज्ञान-दीप को बुझा देता है। एक बार बुझ जाने पर दीपक को फिर जला पाना असंभव है—

क. छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु जाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥
ख. जौं तेहि बिघन बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥
ग. ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥[1]

यदि किसी प्रकार इन उपद्रवियों से यह दीपक बच भी गया तो कामादि शलभों से इसकी रक्षा नहीं हो पाती। इन अपायों के निराकरण का एकमात्र उपाय भक्ति है। अंचलवात, प्रभंजन, शलभ आदि से अबाधित भक्ति-चिंतामणि का परम प्रकाश भक्त के हृदय में निरंतर बना रहता है। भक्ति मणि है इसलिए उसके बुझने की संभावना नहीं। राम से ममता होते ही संसार के प्रति समता आ जाती है। उसमें सदैव शुभ और कुशल है। वहाँ स्वप्न में भी विपत्ति नहीं पहुँच सकती। रामभक्त को अविद्या, काल, कर्म, गुन, दोष, स्वभाव, कुछ नहीं व्यापता। निश्चिंत भक्त राम के भरोसे सुख की नींद सोता है।[2] ज्ञान का पद सिद्धि-दशा में भी निरपाय नहीं है। भक्ति का अनादर करने वाला ज्ञानी सुरदुर्लभ पद पाकर भी उससे च्युत हो जाता है।[3] कारण यह है कि स्थल के बिना जल की भाँति भक्ति के बिना मोक्ष-सुख रह ही नहीं सकता।[4] संसार-बंधन-मुक्त भक्त इस वितर्क-वीचि-संकुल भवार्णव में फिर नहीं पड़ता। भक्ति की इस निरपायता से प्रभावित होकर ही दासभक्त भगवान् से मोक्ष न माँगकर अमल अनपायनी प्रेमा भक्ति ही माँगता है। और वे उसी वरदान से भक्त को कृतार्थ करते हैं।[5]

---

१. क्रमशः—रा० ७।११८।३-४, ७।११८।५-८, ७।११९।१

२. दो ९४; रा० ५।३०।१, ५।३२।१, ७।१०४।४, ७।११३, ७।११४।१; कवि० ७।१०९

३. जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥ —रा० ७।१३। छं० ३

४. जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥ —रा० ७।११९।३

५. रा० ३।४। छं० ७; दो० १२५, रा० ५।३४।१, ७।१४; रा० ४।२५।४

११. भक्ति सद्यःफलदायक उपाय है।[१] उसका प्रादुर्भाव होते ही भगवत्तत्त्वानुभूति और उससे मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।[२] भगवान् राम कर्म, ज्ञान आदि से द्रवीभूत नहीं होते। भक्ति ही वह साधन है जिससे वे अविलंब द्रवीभूत हो जाते हैं। भवखेदहारी राम ने जिसकी ओर करुणापूर्वक देख भर लिया उसके त्रिविध ताप सदा के लिए नष्ट हो गये।[३] राम का स्मरण या नाम मात्र ही संसार-सागर से पार उतारने के लिए पर्याप्त है। राम ही नहीं, उनके भक्त का गुणकथन, दर्शन आदि भी क्लेशनाशक हैं।[४] समस्त सुख और सुकृत रामभक्ति के अनुचर हैं।[५] इच्छामात्र से ही भक्त को फल-प्राप्ति हो जाती है।[६] यह और बात है कि भक्त निष्काम भाव से राम का भजन करे।

१२. यद्यपि योग आदि भक्तीतर उपाय भी मोक्ष के साधक हैं; किंतु भक्ति उन सबकी अपेक्षा अधिक पावन और अमोघ है।[७] उसमें व्यभिचार और अविश्वसनीयता के लिए अवकाश नहीं है। उसकी सफलता असंदिग्ध है। अविपक्वभाव वाले जनों की भक्ति भी निष्फल नहीं जाती।[८] 'मानस' के शंकर और काकभुशुंडि का कथन है कि कर्म, योग, ज्ञान आदि उपायों की पूर्ण सफलता अवश्यंभावी नहीं है।[९] विविध कर्म अधर्मजनक भी हो सकते हैं। जीव धर्म-पथ से भ्रष्ट भी हो सकता है। ज्ञान-मार्ग भी सन्देहरहित नहीं है। ज्ञानी तत्त्वचिंतकों में परस्पर मत-वैभिन्न्य है। षड्दर्शनों में परस्पर वैमत्य है। पुराणों का मत भी एक नहीं है।[१०] अपने युग के मनीषियों का ज्ञान-विषयक वाद-विवाद भी तुलसी को विषादकारक प्रतीत हुआ।[११] वेद, पुराण आदि के अध्ययन, ज्ञानियों के सत्संग एवं प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा तुलसी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये सारे बहुमत केवल शोकप्रद है, अतएव त्याज्य हैं। भक्तिरूपी राजडगर में असफलता का प्रश्न ही नहीं उठता। जीव के प्रबल परितापी मोह आदि मानसरोग ज्ञान के साधन से क्षीण तो हो जाते हैं किंतु उनका आत्यंतिक नाश नहीं हो पाता। वे विषय-कुपथ्य पाकर मुनियों के मन में भी पुनः अंकुरित हो जाते हैं। उनके नाश की रामबाण औषधि, सजीवनमूल,

---

१. सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु-पद-प्रयाग अनुरागे। —गी० ७।१५।४
जा तें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥ —रा० ३।१६।१

२. भक्तौ सञ्जातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥ —अ० रा० ३।१०।२६

३. जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिधि दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदनदच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥ —रा० ७।१३। छं० २

४. रा० २।२८८।२, ७।२।६

५. तुलसी सकल सुकृत-सुख लागे मानौ राम-भगति के पाछे। —गी० २।५०।६

६. जो ईछा करिहहु मन माहीं। प्रभु प्रसाद कछु दुरलभ नाहीं॥ —रा० ६।११४।२

७. उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥ —रा० ६।११७ ख
दे०—भा० पु० ३।२९।३५; भा० पु० २।२।३३, ११।१४।२०-२२

८. शा० भ०सू० २।२।२४ और उस पर भ० च०

९. रा० ६।११७, ७।९६।४-५

१०. रा० ३।३६। छं०; कवि० ७।१०५, वि० १७३।५, २५१।४

११. बाद-बिबाद बिषादु बढ़ाइ कै, छाती पराई औ आपनी जारैं।
चारिहु को, छहु को, नव को, दस-आठ को पाठु, कुकाठु, ज्यों फारैं॥ —कवि० ७।१०४

रामभक्ति ही है।[1] उनका भाव तभी तक रहता है जब तक राम-भक्ति का आविर्भाव नहीं हो जाता।[2]

१३. युगधर्म की समीक्षा से भक्ति की उपयोगिता तथा सुसाध्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में 'भागवत-माहात्म्य' के वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य हैं। कलि के दावानल में अन्य साधन भस्म हो गये हैं। सत्य, तप, शौच, दया, दान आदि का अस्तित्व ही मिट गया है। दुष्ट यवनों ने देवायतनों को नष्ट कर दिया है और आश्रमों, तीर्थों, सरिताओं आदि को रुद्ध कर रखा है। सत्ययुग आदि तीन युगों में ज्ञान, वैराग्य आदि मुक्ति-साधन थे; किंतु घोर कलियुग में मुक्ति का एक ही साधन रह गया है—भक्तियोग।[3] मोक्षशास्त्र के विचारकों ने देश, काल और पात्र की विशेषता का पूरा ध्यान रखा है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का विधान आँख मूंदकर सभी देशों, सभी कालों और सभी व्यक्तियों के लिए नहीं किया गया है। अध्यात्मविद्या, लोकधर्म और मानवमन के निष्णात पारखी तुलसी ने दुःखध्वंस के उपायों के निरूपण में युगधर्म पर पर्याप्त बल दिया है। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। तदनुसार उनमें मुक्ति-साधन क्रमशः ध्यान, यज्ञ और पूजन थे।[4]

कलियुग की परिस्थिति अन्य युगों से भिन्न है।[5] वह मल का कोश है।[6] उसने सभी धर्मों को ग्रस लिया है; देवालयों और तीर्थस्थानों पर किलेबंदी कर रखी है।[7] यवन-शूद्र-शासित भारत-वर्ष में देवदर्शन की कहानी केवल पोथियों में शेष रह गयी है।[8] वेद-पुराण-संमत सुपंथ का त्यागकर धर्म-विरोधी कुपंथों की कल्पना की जा रही है।[9] न कोई वर्णव्यवस्था रह गयी है और न आश्रमधर्म; न कोई आचार रह गया है, न विचार।[10] साधुता को अवसन्न करने वाली कुरीति, कपट और खलता की ही वृद्धि हो रही है।[11] कलिकाल के कारण परमार्थ के साधनों का लोप हो गया है।[12] ये निष्फल साधन केवल श्रमरूपी फल देने वाले हैं।[13] कुवासना ने इन्हें विनष्ट कर दिया है। इसीलिए इनको 'उपाय' न कहकर 'अपाय' कहना ही तुलसी को अधिक समीचीन जंचता है। ये साधन चित्रलिखित सूर्यों के समान हैं जो मोहांधकार का नाश नहीं कर

---

१. रा० ३।३६। छं०; वि० १७३।५-६, १६४।३-४; रा० ७।१२२।२-४

२. तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा ॥ —रा० ५।४७।१

३. भा० पु० मा० १।३१-३५; २।४, १६-२१

४. रा० ७।१०२-७।१०३।२

५. कलिस्वरूप-वर्णन के लिए दे०—रा० ७।६७।४-७।१०२, दो० ५४५-५६२, कवि० ७।८३-८७, वि०१३६, १७३; वि० पु० ६।१-२, भा० पु० १२।२, ब्रह्माण्डपु० १।३१, ब्र० वै० पु० ४।६०।२४-६३, कू० पु० ३०, लि० पु० ४०, ना० पु० १।४१।२१-८८, वायुपु० १।५८।३३-७०

६. रा० ३।६सो०, ७।१०२क

७. कवि० ७।१०५, दो० ५५८

८. दो० ५५७, ५५६

९. कवि० ७।८५, दो० ५५६

१०, कवि ८।८४-८५, ७।१०३

११. वि० १३६।५, दो० ५६५

१२. वि० १६५।२, २२१।२

१३. वि० १३६।६, १७३।१

सकते।[1] इन साधनों की असमर्थता का कारण यह है कि राजनैतिक और सामाजिक दुर्दशाओं के कारण इनकी समुचित साधना नहीं हो पा रही है। वेदचतुष्टयी और षड्दर्शन का अध्ययन कठिन है; स्मृतिप्रतिपादित व्रत, तीर्थाटन आदि में घोर शारीरिक कष्ट है; दान, दया, यज्ञ आदि धर्म-कर्म सब धन के अधीन होने से जनसाधारण की शक्ति के परे हैं।[2] कच्चे घट-सा मन संन्यास-जल को धारण करने में असमर्थ है; काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के द्वारा अपहृत ज्ञान, वैराग्य, योग तप आदि सारहीन प्रतीत होते हैं।[3] ऐसी दशा में राम का नाम, उसका श्रवण, कीर्तन और स्मरण ही निस्तार का एकमात्र सुरक्षित साधन है।[4]

भक्ति के उन्मेष के साथ ही भक्त में अखिल गुणों का आविर्भाव हो जाता है। चित्त की भगवदाकारता के कारण भगवान् के गुण भक्त में भी आ जाते हैं। भक्त की गति अनिर्वचनीय है। भरत की भक्ति से अभिभूत गुह को मार्ग ही भूल गया था; खग, मृग, और जड़ जीव भी प्रेममग्न हो गये थे; उनके भक्तिभाव ने चर को अचर और अचर को चर कर दिया था।[5] विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचकर ज्ञानी ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है—**'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'**।[6] ज्ञान के क्षेत्र में उससे आगे बढ़ने की गुंजाइश नहीं है। लेकिन भक्त राम से भी अधिक मान्य हो जाता है—**राम तें अधिक राम कर दासा**।[7] राम स्वयं भी दास को सदैव बड़ाई देते हैं। व्यावहारिक जगत् में कर्मद्वारा भी साहेब की अपेक्षा सेवक की महत्तरता प्रमाणित हो चुकी है—राम को पुल बाँधकर समुद्र पार करना पड़ा और हनुमान् कूदकर लाँघ गये थे। यह भक्तिमहिमामंडित भक्त के स्वरूप का वैचित्र्य है कि वह राम का दास भी है; उनसे अधिक भी है और राम उसे अपना प्रभु तक मानते हैं।[8] भक्ति की इन सब विशेषताओं के कारण ही तुलसीदास ने स्वयं और अपने सदादर्श पात्रों के द्वारा पग-पग पर भक्ति[9] और भक्त[10] की प्रशंसा, भक्तिहीनता की निंदा[11] एवं भजन का उपदेश[12] किया है।

---

१. कवि० ७।८४, वि० १८४।१
२. वि० १५५।२-३, कवि० ७।८७
३. वि० १७३।४, कवि० ७।८६
४. रा० ७।१०३।२-४, ७।१३०।३
५. रा० २। २३८।३-४
६. क्रमशः—मु० उ० ३।२।९; रा० २।१२७।२
७. मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥ —रा० ७।१२०।८
८. संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई॥ —रा० ३।१३।७
साहब तें सेवक बड़ो जो निज धरम सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि लाँघि गए हनुमान॥—दो० ५२८
वाल्मीकि के प्रति राम की उक्ति—
मोकहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ।—रा० २।१२५
९. रा० २।२६६।१, ७।६६।१-२, ७।१२०।१-५, विं० १६९।१, १७५।२, कवि० ७।३७
१०. रा० १।४१, २।१८२।४, ४।२३।४, ७।१२७।१-२, दो० ५९, गी० २।१४।३, कवि० ७।३४
११. रा० ७।८४।३, ७।११५।१-२, कवि० ७।४०, ७।११६, वि० १७४।१, १७५।३-४, २६४।३; गी० २।७४।४
१२. रा० १।१२४, ७।१२२।६-७, ७।१२३।१ वि० १९२।४, दो० ५१, कवि ७।८

षष्ठ अध्याय

धर्म-विधि

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं।।
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ।।[1]
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताकें।।[2]

तुलसीदास का दर्शन धर्मनिष्ठ दर्शन है। यद्यपि उनकी सभी रचनाएँ आदि से अंत तक, प्रत्यक्षत: या परोक्षत:, धर्म-निरूपण से व्याप्त हैं तथापि 'रामचरितमानस' के कतिपय संदर्भों में धर्म[3] और अधर्म[4] का विशेषरूप से व्यवस्थित उपस्थापन किया गया है। विभिन्न स्थानों पर संतों के लक्षण बतलाते हुए उन्होंने भागवत धर्म या वैष्णव धर्म का ही निरूपण किया है।

धर्मलक्षण—तुलसीदास ने 'धर्म' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में किया है—प्रभाव,[5] स्वभाव,[6] गुण, वृत्ति या विशेषता,[7] आचार के नियम,[8] सदाचार,[9] पुण्य,[10] कर्तव्य,[11] पुण्यात्मक कर्तव्यों की समष्टि,[12] नीति या न्याय,[13] आश्रमविशेष के कर्तव्य,[14] वर्णविशेष के कर्तव्य,[15] कर्मकांड के विहित अनुष्ठान,[16] अभ्युदय का हेतु,[17] नि:श्रेयस का हेतु,[18] प्रथम दो को छोड़कर शेष सभी अर्थों की समष्टि[19] आदि। उनकी दृष्टि में धर्म केवल कर्तव्यकर्म या आचार-संहिता

---

१. रा० १।२६४।१-२
२. रा० ६।८०।६
३. रा० ६।८०।२-दोहा क
४. रा० १।१८३।३-१।१८४।३, २।१६७।३-२।१६८।४, २।१७२।२-२।१७३।२, ७।६७-७।१०२।५
५. रा० ७।१०४।४
६. रा० १।११६।४
७. रा० ७।६७ ख
८. रा० ५।४६।३
९. रा० ३।३६
१०. रा० ७।१२१।११
११. रा० २।६१।३
१२. रा० ७।२०।१
१३. रा० ६।२२।४
१४. कवि० ७।८५
१५. रा० २।२०४।४
१६. कवि० ७।८७
१७. रा० ७।६६।४
१८. रा० ७।४८, रा० ७।१२६।३
१९. रा० ३।१६।१, दो० ४६६

का ही वाचक नहीं है, वह संपूर्ण जीवन-दर्शन के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पक्ष का निदर्शक है। लौकिक और पारलौकिक जीवन में जीव के अभ्युत्थान से संबंध रखने वाले सभी विधि-निषेध उसकी परिधि के अंतर्गत हैं। इसीलिए उनके धर्मरथ-वर्णन, सज्जन-धर्म-निरूपण आदि प्रसंगों में दर्शन, भक्ति, आचार आदि से संबद्ध अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करने वाले शारीरिक एवं अंतःकरण-संबंधी सभी साधनों का उपस्थापन कर दिया गया गया है। यह सनातन-धर्म की महनीय विशेषता है जो इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र में विशेषतया परिलक्षित होती है। इसी दृष्टि से तुलसी ने धर्मचर्चा के विविध प्रसंगों में सभी कर्तव्य कर्मों की गणना की है। भजन, विज्ञान, ज्ञान, विवेक, बुद्धि, योग, समता, शम, संतोष, दम, धैर्य, वैराग्य, यम-नियम, जप-तप, व्रत, तीर्थस्नान, सत्य, शील, शौर्य, बल, क्षमा, दया, कृपा, अहिंसा, परोपकार, दान, यज्ञ, सुरगुरु-विप्रधेनुसेवा आदि सब धर्म के अंग हैं।[1]

'धर्म' की एक परिभाषा की गयी है—अभ्युदय और निःश्रेयस के हेतु को 'धर्म' कहते हैं। यज्ञ, दान आदि धर्म अभ्युदय के हेतु हैं और अष्टांग योग निःश्रेयस का साधन है।[2] इस प्रकार धर्म के दो रूप हुए—अभ्युदयहेतुक धर्म और निःश्रेयसहेतुक धर्म। क्योंकि अभ्युदयहेतुक धर्म भी चित्तशुद्धि का कारण है, इसलिए वह भी अप्रत्यक्ष रूप से निःश्रेयस का हेतु है। इस प्रकार धर्म का प्रयोजन दुहरा है। उससे अभ्युदय की सिद्धि होती है। अवांछित होने पर भी सुख और वभव धर्मशील के पास पहुँच जाते हैं।[3] वह निःश्रेयस का भी साधक है। धर्माचरण से चित्तशुद्धि और वैराग्य का उदय होता है जो ज्ञान और भक्ति के लिए आवश्यक है।[4] धर्महीन का मोह दूर नहीं होता; गुण उसे त्याग कर चले जाते हैं।[5] इसीलिए तुलसीदास और उनके राम का संदेश है कि धर्म को मत छोड़ो; मन, वचन और कर्म से उसका पालन करो।[6]

धर्ममूल—धर्म के विषय में एक प्रश्न यह उठता है कि उसका मूल क्या है। अर्थात् धर्म और अधर्म के विषय में प्रमाण क्या है? मनु ने धर्म के पाँच प्रमाण बतलाये हैं—वेद, वेदज्ञों की स्मृति, उनका शील, साधुजनों का आचार और आत्मतुष्टि।[7] मनु आदि की स्मृतियाँ भी वेदमूल हैं। वेदज्ञों का शील सदाचार के ही अंतर्गत है।[8] अतएव उपर्युक्त पाँच प्रकार वस्तुतः तीन के ही अंतर्गत हैं—श्रुति-स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि। तुलसीदास ने धर्म की वेद-मूलकता का बहुधा उल्लेख किया है।[9] निगमप्रतिकूलता ही अधर्म है।[10] वे केवल श्रुति-स्मृति को

---

१. रा० १।२६४।२, ६।८०।३-५, ७।४६।१-२, ७।११७।५
२. धर्मः अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः । तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः । अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः ।—सा० का० २३ पर वाच०; दे०—भवि० पु०, मध्यम पर्व, प्रथम भाग, १।१६
३. रा० १।२६४।१-२, ३।३६ख
४. वि० ८२।४, रा० ३।१६।१, ७।४६।१-२, ७।१२६।२-४
५. रा० ३।१।सो०, ६।३८क
६. दो० ४६६, रा० ७।२०।१; दे०—स्कन्दपु०, ब्रह्मखण्ड, ब्रह्मोत्तरखण्ड, ११।१७
७. मनु० २।६ और उस पर म०
८. मनु० २।१२ पर म० की अवतरणिका
९. रा० २।१६८।४, ५।३६।२, ७।२०, ७।२४।१, ७।४६।१, ७।११७।५
१०. नर अरु नारि अधर्म रत सकल निगम प्रतिकूल । —रा० ७।६६ख

ही नहीं उनके साथ पुराण को भी धर्म के विषय में प्रमाण मानते हैं।[1] 'सदाचार' शब्द का अर्थ है—सज्जनों का शील[2] एवं पारंपर्यक्रमागत शिष्टाचार।[3] पहले की प्रामाणिकता एवं अनुकरणीयता का निरूपण तुलसी ने संत-लक्षण[4] तथा सज्जन-धर्म[5] के वर्णनों में किया है। विविध धार्मिक अनुष्ठानों के अवसरों पर लौकिक रीति या कुलरीति के पालन का कथन[6] सदाचार के दूसरे पक्ष (पारंपर्यक्रमागत शिष्टाचार) का ज्ञापक है। नैतिक-सामाजिक दृष्टि से धर्म की एक कसौटी यह है कि दूसरों के द्वारा करणीय जिस प्रकार के आचरण को अपने लिए पथ्य समझा जाए (जिससे आत्मतुष्टि हो), जिसे करने में संकोच न हो, दूसरों के प्रति उसी प्रकार का आचरण कर्तव्य है।[7] वैकल्पिक पदार्थों के विषय में सज्जनों की आत्मतुष्टि ही इस बात का प्रमाण है कि वह धर्म है या अधर्म।[8] कालिदास के दुष्यंत की भाँति तुलसी के राम ने भी जनकपुर की वाटिका में आत्मतुष्टि की धर्ममूलकता का प्रतिपादन किया है।[9] यह स्मरण रखना चाहिए कि सज्जनों की आत्मतुष्टि ही प्रमाण है, खलों की नहीं। इस प्रकार तुलसीदास के अनुसार वेद-स्मृति-पुराण, सदाचार और आत्मतुष्टि ही धर्मप्रमाण हैं। ये तीन ही धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, औचित्य-अनौचित्य के निर्णायक हैं। इस संबंध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्मविशेष के अपेक्षाकृत अधिक श्रेयस्करत्व में युगधर्म[10] का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। विद्वज्जन युगधर्म पर विचार करके अधर्म से विरत और धर्म में प्रवृत्त होते हैं।[11]

तुलसीदास की धर्मभावना सनातनधर्मभावना है। सनातनधर्म श्रुतिसंमत स्मार्तधर्म है, स्मार्त धर्म की छः विधाएँ बतलायी गयी हैं—साधारण धर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म और निमित्तधर्म।[12] गुणधर्म और निमित्तधर्म भी वर्णाश्रम धर्म के ही रूपविशेष हैं। अतः

---

१. सोधि सुमृत सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥ —रा० २।१७०।३

२. गोविन्दराज ने रागद्वेष के परित्याग को 'शील' कहा है।
हारीत के अनुसार शील तेरह प्रकार का होता है—
ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादित्व, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य तथा प्रशान्ति।—दे०—मनु० २।६ पर म०

३. मनु० २।१२ और २।१८ तथा उन पर म०

४. वि० १७२, रा० ३।४५।३-३।४६।४, ७।३७।३-७।३८

५. रा० ३।३६।१, ५।४८।२-३

६. रा० १।३१९।१, १।३२४।छं० ३, जा० मं १४२, १५०, १५६, पा० मं० १४४

७. याज्ञ० ३।६५; महा०, शान्ति० १२४।६७

८. साधूनां धार्मिकाणां आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम्।
तदाह गर्गः—'वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्।'—मनु० २।६ पर म०

९. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। —अभिज्ञानशाकुन्तल, १।२०
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥ —रा० १।२३१।२

१०. युगधर्म-निरूपण के लिए दे०—
म० पु० १४१-४३, १६४; वायुपु० १।३२, ५८; ग० पु० २२३,
ना० पु० १।४१; लि० पु०, अ० ३९-४०

११. रा० ७।१०४।१-३ (बुध जुगधर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं।)

१२. अत्र च 'धर्म'शब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः। तद्यथा वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मः, साधारणधर्मश्चेति। तत्र वर्णधर्मो ब्राह्मणो नित्यं मद्यं वर्जयेदित्यादिः। आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैक्षचर्यादिः।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तुलसी के धर्मसिद्धांत को दो विभागों में प्रस्तुत करना अधिक समीचीन होगा—साधारण धर्म और वर्णाश्रमधर्म। वर्णाश्रमधर्म के मुख्य प्रतिपाद्य होंगे—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म और स्त्रीधर्म। इस प्रसंग में यह अनुबोधनीय है कि भरत के आश्वासनार्थ धर्महीनों की चर्चा करते समय वशिष्ठ ने धर्म के इन्हीं पाँच रूपों का उल्लेख किया है—

> सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥
> सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
> सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥
> सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी। मुखरु मानप्रिय ज्ञान गुमानी॥
> सोचिअ पुनि पतिबंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी॥
> सोचिअ बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुर आयेसु अनुसरई॥
> सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करमपथ त्याग।
> सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥
> बैखानस सोइ सोचइ जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥
> सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। जननि जनक गुर बंधु बिरोधी॥
> सब बिधि सोचिअ पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी॥
> सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरि जन होई॥[1]

साधारण धर्म—

जिन धर्मों का पालन सभी आश्रमों में सभी वर्णों का कर्तव्य है उन्हें 'साधारण धर्म' कहते हैं। जाति, वय, लिंग आदि संबंधी किसी भेदभाव के बिना समान रूप से सर्वसाधारण के धर्म होने के कारण ये 'सामान्य धर्म' हैं। इन धर्मों की सार्ववर्णिकता एवं साधारणता के विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि ये मुख्यतया द्विजातियों के ही साधारण धर्म हैं।[2] शूद्र का तो एकमात्र धर्म सेवा है। मानवतावादी तुलसी ने सर्वाधिक महत्त्व साधारण धर्म को दिया है। यह दूसरी बात है कि साधारण धर्म का विस्तृत निरूपण करते समय वे वर्णाश्रमधर्म अथवा भागवत धर्म का भी संनिवेश किये बिना नहीं रह सके हैं। इसका कारण यह है कि वे सामान्यधर्म को अन्य धर्मों से सर्वथा पृथक् नहीं मानते। उसी प्रकार अन्य धर्मों का निरूपण करते समय भी उन्होंने मानवधर्म की निबंधना की है। तथ्य यह है कि उनकी दृष्टि में वर्णाश्रमधर्म के बिना मानवधर्म का और मानवधर्म के बिना वर्णाश्रमधर्म का कोई मूल्य नहीं है। 'धर्ममयरथ'[3] इसका उत्कृष्टतम उदाहरण है। यह और बात है कि किसी धर्म के रूपविशेष का माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिए उसे परमधर्म या अन्यतम धर्म घोषित कर दिया गया है। इतिहास, पुराणों आदि में अनेक

वर्णाश्रमधर्मः पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्येत्येवमादिः। गुणधर्मः शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापरिपालनादिः। निमित्तधर्मो विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम्। साधारणधर्मोऽहिंसादि।
—याज्ञ० १।१ पर मि०

१. रा० २।१७२।२-२।१७३।२
२. महा०, शान्ति० ६०।८, मनु० ६।९१
३. रा० ६।८०।२-दोहा

स्थलों पर सार्ववर्णिक मानव-धर्मों का निरूपण किया गया है। मनु[1] और याज्ञवल्क्य[2] ने अहिंसा, क्षमा, धृति, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, दया, दान और ह्री को साधारण धर्म बतलाया है। ये सामान्य धर्म हैं जो सभी आश्रमों में सभी वर्णों द्वारा पालनीय हैं। इनमें भी सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच और इंद्रियनिग्रह को मनु ने विशेष महत्त्व दिया है।[3]

अहिंसा—किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना 'अहिंसा' है।[4] भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया था कि अहिंसा धर्म का लक्षण है।[5] वह परमधर्म है।[6] तुलसी के काकभुशुंडि भी गरुड़ के प्रश्न[7] का उत्तर देते हुए कहते हैं—**'परमधरम श्रुतिबिदित अहिंसा'**।[8] अहिंसावाद का आधार-सिद्धांत यह है कि जो दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है उसे फलस्वरूप स्वयं भी पीड़ित होना पड़ता है। अतएव पीड़ा से बचे रहने के लिए परपीड़न से विरत रहना चाहिए। परपीड़न से बढ़कर अधमता और कोई नहीं है।[9] **'नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा ॥'**[10]

क्षमा—दूसरे के द्वारा अपकार किये जाने पर भी उसका अपकार न करना, चित्त का निर्विकार रहना, 'क्षमा' है।[11] धर्म के विविध रूपों में क्षमा का स्थान भी बहुत ऊँचा है।[12] प्रतिशोध-भावना जीव के अनेक क्लेशों का कारण होती है। वैर की शांति अवैर (क्षमा) से ही संभव है, वैरभाव से नहीं।[13] अतएव चित्तशांति के लिए क्षमा का आचरण ही श्रेयस्कर है।

धृति—बुद्धि की संतोषरूपा वृत्ति 'धृति' है[14] अथवा क्षोभकारक विघ्न के उपस्थित होने पर

---

१. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ —मनु० ६।९२

२. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥ —याज्ञ० १।१२२
सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ —याज्ञ० ३।६६

३. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ —मनु० १०।६३

४. गीता, १०।५ और १६।२ पर शा० भा० तथा रा० भा०; कू० पु० २।११।१४

५. महा०, अनु० ११४।२

६. अहिंसा परमो धर्मः— महा०, अनु० ११५।१; और भी दे०—ना०पु० २।१०।७, शि० पु० २।५।५।१८, प०पु० ३।३१।२७, कू०पु० २।११।१५

७. कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला। —रा० ७।१२१।३

८. रा० ७।१२१।११

९. रा० ७।४१।१; शि० पु०, २।५।५।२०

१०. रा० ७।४१।२

११. मनु० ६।९२ पर म०; याज्ञ० १।१२२ पर मि०; गीता, १०।४ और १६।३ पर शा० भा०

१२. दो० ४२७, ४२८; महा०, वन० २९।२५; स्कन्दपु०, ब्रह्मखण्ड, चातुर्मास्यमाहात्म्य, २।१७, ना० पु० १।६०।४९

१३. न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ —धम्मपद, १।५

१४. गीता, १८।३० पर शा० भा०, मनु० ६।९२ पर म०

भी चित्त के यथापूर्व अवस्थापन-सामर्थ्य को 'धृति' कहते हैं।[1] उसकी इसी वृत्ति के आधार पर तुलसी ने विज्ञानदीपक में उसे जमाने वाली कहा है।[2] 'धीरज' शब्द 'धृति' का ही पर्याय है। अपने महत्त्व के कारण ही वह धर्मरथ का चक्र कहा गया है।[3]

दम—विकारकारक विषयों का संनिधान होने पर भी मन का निर्विकार रहना, अंतःकरण का संयम, 'दम' है।[4] मन जीव के संसार का बलवान् कारण है[5], अतः मोक्ष-साधन के रूप में दम का आचरण आवश्यक है।[6] दम के बिना अन्य साधन व्यर्थ हैं। दुर्निग्रह चंचल मन सुख-दायक प्रतीत होनेवाले विषयों और इंद्रियों का दास है।[7] इस मन को इंद्रियों का स्वामी और अपना सेवक बनाना आवश्यक है। मन को जीत लेने से दसों इंद्रियाँ भी वशीभूत हो जाती हैं।[8] अतः इसे हेय पदार्थों से हटाकर श्रेय पदार्थों में लगाना चाहिए। धर्म की सिद्धि और पाप से बचाव के लिए आत्मजय आवश्यक है। इसीलिए महाभारतकार ने धर्म की सभी विधियों में दम को सबका आधार या समुदय बतलाकर उसे महत्तम धर्म कहा है।[9] 'दम अधार'[10] उसकी इसी श्रेष्ठता का द्योतक है। वाणी से धर्म का प्रवचन और मन से पाप की कामना करने वाला महा-पातकी है।[11]

अस्तेय—'स्तेय' का अर्थ है—दूसरे के धन को अन्यायपूर्वक (शास्त्र के विरुद्ध) स्वी-कारना। उसका प्रतिषेध, उसकी कामना न करना, दूसरे के अदत्त द्रव्य का अग्रहण, 'अस्तेय' है।[12] इसीलिए तुलसी के भरत ने परधन पर दृष्टि डालने वाले को पापी और उनके वाल्मीकि ने पराये धन को विष से भी अधिक विषधर बतलाया है।[13]

शौच—मलों के प्रक्षालन को 'शौच' कहते हैं। मलों के द्वैविध्य के अनुसार शौच भी दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा आभ्यंतर। मिट्टी, जल आदि के द्वारा कायिक मलों का प्रक्षालन बाह्य शौच है। प्रतिपक्षभावना के द्वारा अंतःकरण के राग, द्वेष आदि मलों को दूर करना आभ्यंतर शौच है।[14] आभ्यंतर शौच के बिना बाह्य शौच निष्फल है।[15] तुलसी ने बाह्य[16] एवं आभ्यंतर[17]

---

१. याज्ञ० ३।६६ पर मि०, गीता, १८।२९ पर रा० भा०
२. रा० ७।११७।७
३. रा० ६।८०।३
४. मनु० ६।९२ पर म०, याज्ञ० १।१२२ पर मि०
५. वि० २४५।१
६. रा० ७।४९।१, ७।१२६।३
७. वि० ८९।१-४, १९९।१, २, ४, ५; दे०—गीता, ६।३५
८. मनु० २।९१-९२
९. महा०, शान्ति० १६०।६, १३-१७
१०. रा० ७।११७।८
११. ना० पु० १।३३।१०७
१२. मनु० ६।९२ पर म०, यो० सू० २।३० पर व्यासभा०, याज्ञ० १।१२२ पर मि०, कू० पु० २।११।१७
१३. क्रमशः—रा० २।१६८।२; रा० २।१३०।३
१४. गीता, १३।७ और १६।३ पर शा० भा०, यो० सू० २।३२-३४ पर व्यासभा० तथा भोजवृत्ति, मनु० ६।९२ पर म०, याज्ञ० ३।६६ पर मि०
१५. स्कन्दपु०, काशीखण्ड, ६।३५
१६. रा० १।२२७।१, १।२३९।४, १।३५८, २।९४।२
१७. रा० १।२३०, २।१३०।१, २।१६७।२, २।२०६।१

दोनों ही प्रकार की शुचिता पर बल दिया है। शौच से अपने शरीर तथा दूसरे के संसर्ग के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न होती है। शौच की स्थिरता से बुद्धि की शुद्धि, उससे मन की प्रसन्नता, उससे एकाग्रता, उससे इंद्रिय-जय और उससे आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।[1] इसीलिए रामानुज ने बाह्य एवं आभ्यंतर इंद्रियों (मन, वचन और शरीर) में कर्तव्य कर्मों (आत्मज्ञान और उसके साधन) की शास्त्रसिद्ध योग्यता को 'शौच' कहा है।[2]

इंद्रियनिग्रह—रूप आदि विषयों से नेत्र आदि इंद्रियों का वारण 'इंद्रियनिग्रह' है।[3] इंद्रियाँ ज्ञान और भक्ति के मार्ग में अत्यंत बाधक हैं; अतः निःश्रेयस की सिद्धि के लिए इंद्रियनिग्रह आवश्यक है।[4] उसके बिना अन्य साधन व्यर्थ हैं।[5] इंद्रियदमन संतों का एक प्रधान लक्षण है।[6]

धी—शास्त्र आदि के अनुशीलन से उत्पन्न तत्त्वज्ञान को, हिताहित के विवेक को, 'धी' कहते हैं।[7] तुलसी ने 'धी' के लिए प्रायः 'विद्या'[8] या 'ज्ञान'[9] शब्द का व्यवहार किया है। शास्त्र धर्ममूल हैं, अतएव उनके श्रवण आदि से प्राप्त ज्ञान धर्मपालन में सहायक है। ज्ञानसहित कर्मयोग ही समाचरणीय है।[10] शास्त्रजन्य वाक्यज्ञान मात्र से अज्ञान का निरोध नहीं हो सकता। उसकी अनुभूति आवश्यक है। इसी को तुलसी ने 'विज्ञान' कहा है।[11]

सत्य—यथार्थाभिधान अथवा यथार्थ प्रियवचन को 'सत्य' कहते हैं।[12] तुलसी को दूसरा अर्थ ही अभिप्रेत है। 'मानस' के वाल्मीकि का कथन इस मान्यता का पोषक है।[13] सत्य के चार रूप हैं—वाचनिक अभिव्यक्ति, तदनुकूल मनोवृत्ति, उसी के अनुसार आचरण एवं इन सबकी समष्टि। जब तुलसी मानवधर्म के रूप में 'सत्य' का प्रयोग करते हैं[14] तब उनका अभिप्राय सत्य के वाचिक, मानसिक और कार्मिक सभी रूपों से रहता है। सत्य शाश्वतिक सनातन धर्म है।[15] श्रुति सत्य की ही विजय का प्रतिपादन करती है।[16] वह परमधर्म है; सब धर्मों का मूल है; दान, यज्ञ, होम, तप

---

१. यो० सू० २।४० और उस पर भोजवृत्ति, मा० पी० ७।११७।१०
२. गीता, १३।७ तथा १६।३ पर रा० भा०
३. मनु० ६।६२ पर म०, याज्ञ० १।१२२ और ३।६६ पर मि०
४. वि० ८८।१; २०३।६
५. दसइँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि।
साधन बृथा होइ सब मिलहिं न सारँगपानि ॥—वि० २०३।११
६. वै० सं० २६
७. मनु० ६।६२ पर म०, याज्ञ० ३।६६ पर मि०
८. रा० १।२०४।२, ७।१२६।३
९. वि० ८२।४, रा० ७।४६।१
१०. भवि० पु०, मध्यम पर्व, प्रथम भाग, १।२७
११. वि० २११।३, रा० ७।८५।४; दे०—गीता ६।१ पर शा० भा०
१२. मनु० ६।६२ पर म०, गीता, १०।४ पर शा० भा०; याज्ञ० ३।६६ पर मि०
१३. कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। —रा० २।१३०।२
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ —मनु० ४।१३८
१४. जैसे—धरमु न दूसर सत्य समाना। —रा० २।६५।३
१५. महा०, शान्ति० १६२।४, मनु० ४।१३८ और उस पर म०
१६. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानम्—मु० उ० ३।१।६

आदि सबका प्रतिष्ठान है।[1] धृति, क्षमा, दम आदि सत्य के ही रूप हैं; सत्य ईश्वर है; सत्य ही धर्म है, प्रकाश है, सुख है; असत्य ही अधर्म है, तम है, दुःख है।[2] पुराणनिगमागम का हवाला देकर तुलसी के धर्मधुरंधर राम ने धर्मसिद्धांतज्ञानी सुमंत्र से बतलाया है कि सत्य सर्वश्रेष्ठ धर्म है।[3] उनके सत्यनिष्ठ दशरथ ने, आपद्ग्रस्त होने पर भी, सत्य को समस्त पुण्यों का मूल, और असत्य को पहाड़-सा पातकपुंज माना है।[4]

अक्रोध—क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी, अपकारी के प्रति भी, क्रोध का उत्पन्न न होना 'अक्रोध' है।[5] शंकराचार्य के अनुसार 'क्षमा' और 'अक्रोध' में भेद यह है कि अंतर्विकार का उत्पन्न न होना ही 'क्षमा' है और उत्पन्न विकार का प्रशमन 'अक्रोध' है।[6] क्रोध पाप का मूल है।[7] वह धर्म को दूर कर देता है।[8] धर्मभ्रष्ट हो जाने के कारण संतत क्रोधी व्यक्ति मृतक-तुल्य है।[9] अक्रोध महान् भय से त्राण करने वाला है; क्रोधजयी व्यक्ति तेजस्वी है।[10] वह राम के समान महान् है।[11]

दया—किसी भी दुःखित प्राणी पर कृपा करना, उसके दुःख को न सह सकना, आपद्ग्रस्त की रक्षा करना, 'दया' है।[12] तुलसी के सभी अनुकरणीय पात्र दयालु हैं।[13] मोक्ष-शास्त्र-प्रतिपादक वक्ता दया को गौरव देते हैं।[14] काकभुशुंडि ने उसे सर्वोपरि धर्म कहा है—**'धर्म कि दया सरिस हरि जाना।'**[15]

दान—अपने न्यायार्जित धन को यथाशक्ति परित्यागपूर्वक दूसरे के अधिकार में दे देना

---

१. वा० रा० २।१४।३; २।१८।२४; २।१०६।१४,
 महा०, शान्ति० १६२।५
२. महा, शान्ति० १६२।८-६, १६०।१-५
३. धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥ —रा० २।६५।३,
 सत्यमेकं परो धर्मः सत्यमेकं परं तपः। —स्कन्दपु०, ब्रह्मखण्ड, चातुर्मास्यमाहात्म्य, २।१८;
 दे०—ना० पु० १।६०।४६
४. नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
 सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मुनि गाए॥ —रा० २।२८।३
 दे०—महा०, शान्ति० १६२।२४, ना० पु० २।३२।६७
५. मनु० ६।६२ पर म०; याज्ञ० ३।६६ पर मि०; गीता, १६।२ पर रा० भा०
६. गीता, १६।२-३ पर शा० भा०
७. रा० १।२७७ (वा० रा० ५।५५।५-६)
८. रा० ४।१५।२ (गीता, २।६३)
६. रा० ६।३१।२
१०. महा०, वन० २६।६, १६-१८
११. घोर क्रोध तम निसि जो जागा।...
 सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ —रा० ४।२१।२-३
१२. गीता, १६।२ पर शा० भा० और रा० भा०, याज्ञ० १।१२२ पर मि०
१३. राम (रा० १।२११), भरद्वाज (रा० १।४४।१), भरत (रा० २।१६३।४), जनक (रा० २।३१६।१),
 नारद (रा० ३।२।५), लक्ष्मण (रा० ५।५२।४) आदि
१४. रा० ७।४६।१, ७।१०२।छं० ५, ७।१२६।३
१५. रा० ७।११२।५; दे०—ना० पु० १।६०।४६

'दान' है।[1] गुण-भेद से दान तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजस तथा तामस।[2] यद्यपि सभी प्रकार के दान शुभ कर्म हैं तथापि सात्त्विक दान उनमें सर्वश्रेष्ठ है। जिसने धर्म पलायन कर गया हो ऐसे तमोगुणप्रधान कलियुग[3] में सात्त्विक दान करना बड़ा कठिन है। इसलिए तुलसी ने श्रुति[4] के आधार पर यह व्यवस्था स्वीकार की है कि कलियुग में चाहे जिस प्रकार से दान दिया जाए, वह कल्याणकारी होता ही है—

> प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
> जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥[5]

उपर्युक्त दोहे की प्रथम पंक्ति पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है। भगवान् धर्म की वृषभ-रूप में कल्पना की गयी है और इसी आधार पर धर्म को चतुष्पात् कहा गया है।[6] उसके चार पाद क्या हैं? भागवतकार ने सत्य, दया, तप तथा दान को धर्म के चार पाद माना है।[7] गौडपाद ने धर्म के चार लक्षण बतलाये हैं—दया, दान, यम और नियम।[8] मनु ने तप, ज्ञान, यज्ञ और दान को धर्म के चार पाद बतलाते हुए कलियुग में दान की विशेष महिमा प्रतिपादित की है—दानमेकं कलौ युगे।[9] इससे प्रमाणित होता है कि तुलसी को उन्हीं का मत मान्य है।

ह्री—'ह्री' का सामान्य अर्थ है लज्जा।[10] इससे दो प्रकार की लज्जा व्यंजित होती है—१. अकार्यकरण-विषयक व्रीड़ा या लोकलज्जा[11] तथा २. विनययुक्त संकोचशीलता।[12] धर्म के विविध रूपों की परिगणना करते हुए तुलसी ने 'ह्री' का नाम नहीं लिया। फिर भी इसका धर्मपरक तात्पर्य उन्हें मान्य है। सीता की लज्जा, शंकर और काकभुशुंडि की व्रीड़ा आदि के उल्लेख पहले अर्थ के द्योतक हैं।[13] राम, वाल्मीकि, संतों आदि के संकोच-निरूपण में 'ह्री' का दूसरा अर्थ व्यक्त हुआ है।[14] इस संबंध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि धर्मविधि के रूप में तुलसी-द्वारा निरूपित 'ह्री' का पहला प्रकार उसके दूसरे प्रकार से सर्वथा मुक्त नहीं है क्योंकि उनके अनु-

---

१. गीता, १०।५ और १६।१ पर रा० भा०, १६।१ पर गू० दी०
२. गीता, १७।२०-२२
३. रा० ४।१५।५, ७।१०४।३
४. श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम् (पाठान्तर—अश्रद्धयाऽदेयम्) श्रिया देयम् ह्रिया देयम् भिया देयम् संविदा देयम् यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्।
—कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक ७, अनुवादक ११, मन्त्र ३
५. रा० ७।१०३ख, दो० ५६१
६. मनु० १।८१ और उस पर म०
७. सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप।—भा० पु० १२।३।१८
८. सा० का० २३ पर गौड०
९. मनु० १।८६
१०. याज्ञ० ३।६६ पर मि०
किसी-किसी ने 'ह्री' का अर्थ 'घृणा' किया है—"इस घृणित शरीर के प्रति जो घृणा उत्पन्न होती है, उसी को 'लज्जा' समझना चाहिए।" (दे०—हिन्दी ज्ञानेश्वरी, पृ० ५२२)
११. गीता, १६।२ पर रा० भा० तथा गू० दी०
१२. यथा—कुमारसम्भव, ७।८५
१३. रा० १।२५९।१, ७।५८।२, ७।७७।५
१४. गी० २।६५।२, रा० २।१२७,३।४६।१

करणीय पात्र निषिद्ध कर्मों की ओर प्रवृत्त ही नहीं होते।

परोपकार—तुलसी ने उपर्युक्त साधारण धर्मों के अतिरिक्त, परोपकार को भी मानवोचित आवश्यक धर्म माना है।[1] मनसा-वाचा-कर्मणा परोपकार संतों का सहज स्वभाव है।[2] सनातन धर्म की आधारभूत मान्यता है कि समस्त जड़-चेतन-समुदाय एक ही परमात्मा से व्याप्त है।[3] अतएव जो एकता और सर्वप्रेम की ओर ले जाए वही करणीय है। सबमें आत्म और आत्म में सबका दर्शन मानव मात्र का कर्तव्य है। सर्वत्र परमात्मदर्शन ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।[4] परोपकार इसी दृष्टि से प्रेरित प्रवृत्ति है। निःस्वार्थभाव से दूसरों के लिए यत्न करना 'परोपकार' है। व्यासकृत अठारहों पुराणों का सारभूत निष्कर्ष दो वचनों में ही व्यक्त किया जा सकता है—परोपकार ही पुण्य है और परपीड़न ही पाप है।[5] भरत आदि के प्रति संतों की महिमा का बखान करते हुए तुलसी के राम ने भी परहित को उच्चतम धर्म और परपीड़न को अधमतम पाप कहा है।[6] परोपकार श्रुतिप्रतिपादित धर्म का सार है, सभी मनोरथों का साधक एवं दुःखनिवारक है।[7] और इसके प्रतिकूल, '**नर सरीर धरि जे परपीरा। करहिं ते सहहिं महाभव भीरा॥**'[8]

सत्संग—सर्वसाधारण के निःश्रेयस का साधक होने के कारण[9] सत्संग भी धर्म है। अतः तुलसी ने अनेक स्थलों पर संतों और असंतों के लक्षण, उनके भेद और संतों की महिमा का अभिनिवेशपूर्वक निरूपण किया है। **संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति**। सत्संगति से भलाई, गुरुता आदि गुणों एवं कुसंगति से बुराई, लघुता आदि अवगुणों की प्राप्ति होती है।[10] सुसंग कल्याणप्रद और कुसंग हानिकर है—यह बात लोक-वेद-प्रसिद्ध है।[11] मानव ही नहीं, तिर्यक् जीव भी; चेतन ही नहीं, जड़ पदार्थ भी; संगति के अनुसार गुण-दोषों का ग्रहण करते हैं।[12] भवसागर से पार जाने के लिए संतों और असंतों के गुण को समझकर सत्संगति करनी चाहिए।[13] सत्संग मोक्ष का मार्ग है।[14] उससे अनायास ही (क्योंकि संतसमागम सुखरूप ही है) संसृति का नाश हो जाता है।[15]

---

१. श्रुति कह परम धरम उपकारा। —रा० १।८४।१
२. पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥ —रा० ७।१२१।७
३. रा० ७।११०।८; श्वे० उ० ६।२, क० उ० २।२।१०, ईशा० ६-७; गीता, ६।२६, १०।२०
४. मनु० १२।११८, १२५ और उन पर म०
५. अष्टादशपुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥—गीतारहस्य, पृ० ६५ पर उद्धृत
६. परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ —रा० ७।४१।१
७. वि० २०२।१; रा० ३।३१।५, ७।११२।१
८. रा० ७।४१।२
९. सत्संगत्वे निःसंगत्वं निःसंगत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलतत्त्वं निश्चलतत्त्वे जीवन्मुक्तिः॥—सूक्ति
१०. दो० ३५८-६४, ३६६
११. रा० १।३।२-५
१२. रा० १।७।२-दोहा क
१३. रा० ७।४१।४
१४. संत संग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ। —रा० ७।३३
भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन। —वि० २०३।२०
१५. बड़े भाग पाइअ सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भव भंगा॥ —रा० ७।३३।४

संशयभंग के लिए बहुत काल तक सत्संग करने की आवश्यकता मोहजनित संशय की दुर्निवार्यता पर बल देने के लिए बतलायी गयी है।[1] वह स्वयं ही संसृति का अंत है।[2] सत्संग के बिना विवेक नहीं हो सकता, और न विवेक के बिना संसार पार। सत्संग के बिना हरिकथा नहीं हो सकती, हरिकथा के बिना मोह दूर नहीं हो सकता, उसके बिना रामभक्ति नहीं हो सकती और रामभक्ति के बिना भवक्लेश दूर नहीं हो सकते।[3] संतजन भक्ति के अन्यतम साधन हैं।[4] मोक्ष के अन्य साधन फूल हैं और सत्संग फलसिद्धि है।[5] जो अभागे हैं, जिनके मन में सत्संग के प्रति अनुराग नहीं है, वे परमार्थ के मार्ग से विमुख ही रह जाते हैं।[6] पारमार्थिक ही नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से भी सत्संग का महत्त्व है। संत-मिलन के समान संसार में कोई सुख नहीं है।[7] सत्संग-सुख का लवलेश भी स्वर्गापवर्ग के सुख से बढ़कर है।[8] संत-समाज मोदमंगलमय, सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सद्यःफलदायक, जंगम और अलौकिक तीर्थराज है; इसी जीवन में चारों फलों का दाता है; अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करने वाला है।[9] संत का अपमान समस्त कल्याणों की हानि का कारण होता है।[10] संतनिंदक को उल्लू की योनि में जन्मना पड़ता है।[11] जिसने अपने नयनों से संतों का दर्शन नहीं किया उसके लोचन मोरपंख के नेत्रों की भाँति व्यर्थ हैं।[12] सत्संग के अभाव में मानव की चित्तवृत्तियाँ कलुषित हो जाती हैं।[13] खलों की संगति में सुमति उत्पन्न ही नहीं हो सकती,[14] धर्म का निर्वाह असंभव है।[15] इसीलिए तुलसीदास का उपदेश है कि सत्संगति करो, असंतों का साथ छोड़ दो।[16] खलों के साथ प्रीति और कलह दोनों ही बुरे हैं। अतः, उदासीन रहो परंतु असंतों को श्वानवत् त्याग दो।[17] नरक में निवास करना अच्छा है, दुष्टसंग नहीं।[18]

शिष्टाचार—जीव एकाकी नहीं है। उसका जीवन सामाजिक है। अतएव व्यावहारिक जीवन में दूसरे के प्रति भी उसके कुछ नैतिक कर्तव्य हैं। शिष्टाचार भी नैतिक कर्तव्य का एक

---

१. तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥ —रा० ७।६१।२
२. सतसंगति संसृति कर अंता। —रा० ७।४५।३
३. रा० १।३।४, वि० ११५।५; दो० १३२, रा० ७।६१, ७।७६।१
४. रा० ७।१२०।६, ७।१२० क
५. रा० १।३।४
६. जे नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे॥ —रा० २।१६८।३
७. रा० ७।१२१।७
८. रा० ५।४
९. रा० १।२।६-१।३।३
१०. रा० ५।४२।१
११. रा० ७।१२१।१३
१२. रा० १।११३।२
१३. रा० २।२३१।४
१४. रा० ७।११२।२
१५. रा० ५।४६।३
१६. करु संग सुसील सुसंतन सों, तजि कूर कुपंथ कुसाथहि रे। —कवि० ७।२६
१७. उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥ —रा० ७।१०६।८
१८. बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥ —रा० ५।४६।४

अंग है। अपने समानजनों के प्रति भी उसे सौहार्दपूर्ण समानता का व्यवहार करना चाहिए। बड़ों के प्रति आदर और छोटों के प्रति स्नेह रखना चाहिए। जीव के वरिष्ठ पाँच वर्गों में रखे जा सकते हैं—ईश्वर तथा देवता, राजा, माता-पिता, गुरु एवं अन्य गुरुजन। इनमें भी गुरु, पिता और माता तरतमतया विशेष आदरास्पद हैं।[1] ज्ञान और मोक्ष का साधन[2] गुरु ईश्वर है, ईश्वर से भी बड़ा है।[3] पिता के आदेश का पालन समस्त धर्मों का टीका और स्वर्गसुखदायक है।[4] माता का स्थान पिता से भी ऊँचा है।[5] माता-पिता की सेवा महनीय धर्म है।[6] अपने से छोटों तथा निर्बलों के प्रति मृदुता, अनुक्रोश, शालीनता, कृपा, संरक्षण आदि का व्यवहार करना चाहिए। तुलसीदास के सदाचारी पात्रों में इन सभी विशेषताओं की अभिव्यक्ति हुई है। उनके राम मृदु, दयालु, शालीन, कृपालु, शरणागतपाल हैं। शिष्य तथा पुत्र राम आदि के प्रति गुरु वसिष्ठ, पिता दशरथ, माता कौशल्या आदि का स्नेहभाव आदर्श है। स्नेह की सुंदरतम अभिव्यक्ति माता-पिता में होती है। दशरथ-कौशल्या की उक्तियाँ विशेष ईक्षितव्य हैं।

धर्ममय रथ—

विभीषण के प्रति धर्ममय रथ[7] का निरूपण करते हुए भगवान् राम ने उसमें साधारण धर्म की भी व्यवस्थित और विशद निबंधना की है—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। येहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥[8]

उपर्युक्त अवतरण में सांगरूपक के माध्यम से प्रतिपादित साधारण धर्म के सिद्धांत का निष्कर्ष

---

१. मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधरु सेसू॥—रा० २।३०६।१
गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहि न खालें॥ —रा० २।३१५।३
मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। —तै० उ० १।११।२; दे०—मनु० २।२२८-३७

२. रा० १।१।सो० ५, ४।१७, ७।९३।३; भा० पु० ११।३।२१, ना० पु० १।६५।५५, शि० पु० ७।२।१५।२२

३. ब्र० वै० पु० ३।४०।८९, ३।४४।७०-७१ शि० पु० ७।२।१५।२०; रा० २।१२९।४

४. रा० २।५५।४, २।१७४

५. रा० २।५६।१; ब्र० वै० पु० ३।४४।६१, वि० ध० पु० २।७२।१३४-३५

६. स्कन्दपु०, काशीखण्ड, ११।५१, प० पु० २।६३।३-१२

७. रथ की कल्पना के लिए क० उ० (१।३।३, ९), भा० पु० (७।१०।६६) और महा० (उद्योग० ३४।५९-६०) में किये गये वर्णन द्रष्टव्य हैं।

८. रा० ६।८०।२-दोहा क

इस प्रकार है। धर्म का मूलाधार है **शौर्य**। प्रस्तुत प्रसंग में शौर्य क्षात्रोचित शूरधर्म[1] का ही द्योतक न होकर स्वभावविजय[2] का भी व्यंजक है। जीव का स्वभाव है विषयप्रवृत्ति, जिसके वशीभूत होकर वह अधर्म करता एवं विविध योनियों में भ्रमता रहता है। अतएव अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के लिए उस पर विजय पाना नितांत आवश्यक है। यह जीव का पहला धर्म (कर्तव्य कर्म) है। धर्म का दूसरा आधार **धैर्य** है। 'धीरज' से तुलसी का अभिप्राय सात्त्विक धृति[3] से है। अधीर चित्त से धर्म का पालन संभव नहीं है। आपत्काल में धीरज, धर्म आदि की परख का उल्लेख[4] इसी तथ्य का द्योतक है।

धर्म के सभी रूपों में पूर्वनिरूपित **सत्य और शील**[5] अन्यतम हैं। इसीलिए वे धर्मरथ की दृढ़ ध्वजा बतलाये गये हैं। 'शील' का अर्थ है—सदाचार। आचार परम धर्म है[6]; सकलफलदायक है।[7] विगताचार ब्राह्मण शीलसंपन्न शूद्र से हीनतर है।[8] धर्मपालन के चार आवश्यक अंग हैं—**बल, विवेक, दम और परहित**। प्रसंगानुसार यहाँ पर 'बल' का तात्पर्य आत्मबल या तपोबल है।[9] अन्नमयकोश का संचालन करने वाले प्राणमयकोश का आप्यायक आत्मबल ही है। सत् और असत्, कर्तव्य और अकर्तव्य, हित एवं अहित का विचार 'विवेक' है। विवेक के द्वारा ही अधर्म से निवृत्ति और सद्धर्म के प्रति प्रवृत्ति होती है। 'दम' और 'परहित' की व्याख्या की जा चुकी है। धर्म के उक्त चार अंगों के सम्यक् निर्वाह के लिए **क्षमा, कृपा** तथा **समता** की आवश्यकता है। 'क्षमा' का व्याख्यान किया जा चुका है। 'कृपा' करुणा का पर्याय है।[10] दुःखी प्राणी के दुःख को अपने दुःख के समान समझकर उसे दूर करने की इच्छा 'करुणा' है।[11] मैं-तैं, शत्रु-मित्र, हित-अनहित, दुःख-सुख, आदर-निरादर, निंदा-स्तुति, कंचन-काँच, वैभव-विपत्ति आदि द्वंद्वों को समान समझना 'समता' है।[12] जब तक इस प्रकार की प्रज्ञा प्रतिष्ठित नहीं होती तब तक निःश्रेयस की सिद्धि असंभव है। धर्मपालन का एक आवश्यक रूप **ईश (शंकर)-भजन** है। अहंकार-प्रेरित कर्म से जीव के पतन की संभावना बनी रहती है। किंतु जब वह कर्म ईश्वर को समर्पित करके किया जाता है, तब इस प्रकार की सभी आशंकाएँ दूर हो जाती हैं। शंकर धर्मवृक्ष के मूल हैं; अतः अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए, रामभक्ति के लिए, उनका

---

१. 'शौर्य' की व्याख्या के लिए दे०—गीता, १८।४३ पर शा० भा०, रा० भा० और गू० दी०

२. स्वभावविजयः शौर्यम् —भा० पु० ११।१६।३७

३. गीता, १८।३३

४. धीरजु धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परखिअहि चारी॥ —रा० ३।५।४

५. अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते॥ —महा०, शान्ति० १२४।६६

६. आचारः परमो धर्मः—स्कन्दपु०, काशीखण्ड, ३५।१५, भवि० पु०, ब्राह्म पर्व, १।८१

७. वि० ध० पु० ३।२३३।२८२, भवि० पु०, ब्राह्म पर्व, १।८२

८. भवि० पु०, ब्राह्म पर्व, ४४।३१

९. दे०—मा० पी० और सि० ति०, ६।७९।६

१०. करुणा कृपा। —यो० सू० १।३३ पर भोजवृत्ति

११. यो० सू० १।३३ पर त० वै०

१२. वै० सं० १३, ३०, ३१; रा० १।३ क, ७।१४ छं० ७-८, ७।३८; वि० १७२।४;
दे०—गीता० २।४८, ४।२२, १०।५ और उन पर शा० भा० तथा रा० भा०

भजन आवश्यक साधन है।[१]

धर्म के दो अन्य रूप **वैराग्य** और **संतोष** हैं। ये रामभक्ति के दो सोपान हैं।[२] ऐंद्रिय-विषयों, अनात्म-पदार्थों, में दुःखदोषानुदर्शन 'वैराग्य' है।[३] तुलसी के राम ने सिद्धियों एवं तीनों गुणों के तृणवत् त्याग को परम वैराग्य कहा है।[४] प्रस्तुत प्रसंग में वैराग्य धर्म का ही एक रूप बतलाया गया है, और अन्यत्र धर्म को वैराग्य का साधन कहा गया है।[५] इसमें कोई वदतोव्याघात नहीं है। 'धर्ममय' रथ के प्रकरण में 'धर्म' का व्यवहार व्यापक अर्थ में और लक्ष्मण-गीता में वर्णादि-धर्म के सीमित अर्थ में किया गया है। धर्म के एक रूप को धर्म के दूसरे रूप का कारण मानने में कोई विरोध नहीं है। वैराग्य एक निषेधात्मक वृत्ति है। उसी का प्रतिफल 'संतोष' है। 'संतोष' का अर्थ है—यथालाभ-संतोष[६] अर्थात् तृष्णा का सर्वथा क्षय। किसी भी मायिक पदार्थ की इच्छा न होना, जो कुछ प्राप्त हो उसी में प्रसन्न रहना, संतोष का लक्षण है। असंतोष मन के क्षोभ का कारण है संतोष काम, लोभ आदि मानसरोगों का नाश करके चित्त को नीरोग करता है।[७] उससे उत्तम सुख की उपलब्धि होती है।[८] अतएव वह, अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन होने के कारण, धर्म है। **'दान'** का विवेचन हो चुका है। **'बुद्धि'** से तुलसी का निश्चित अभिप्राय गीता-प्रतिपादित 'सात्त्विकी बुद्धि'[९] से है। प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द मनु और याज्ञवल्क्य के पूर्वोक्त 'धी' और क्षत्रिय के स्वभावज कर्म 'दाक्ष्य'[१०] का भी द्योतक है।

परमतत्त्व के विषय में असाधारण (विशेष) ज्ञान का नाम **'विज्ञान'** है।[११] जिस ज्ञान से सम्यक् यथार्थज्ञान होता है, वही ज्ञान साक्षात् अनुभूत होने पर 'विज्ञान' कहलाता है।[१२] विज्ञान की दो कोटियाँ हैं—**अवर विज्ञान** तथा **वर विज्ञान**। अवर विज्ञान काम आदि के द्वारा बाधित हो सकता है।[१३] जो विज्ञान विघ्नों से अभिभूत नहीं होता उसे तुलसी ने विशुद्ध, वर या विमल विज्ञान कहा है।[१४] मन ही मनुष्यों के बंध-मोक्ष का कारण है। अतएव धर्मपालन के लिए **अमल अचल मन** की आवश्यकता है। विषयासक्ति ही मन का मल है।[१५] रामभक्ति से यह मल दूर

---

१. रा० ३।१ श्लोक १, ७।४५
२. दे०—'रामचरितमानस' के तृतीय और चतुर्थ सोपान की पुष्पिकाएँ।
३. जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्। —गीता, १३।८
४. कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥ —रा० ३।१५।४
५. धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। —रा० ३।१६।१
६. आठवं यथालाभ संतोषा। —रा० ३।३६।२; दे०—गीता, १०।५ पर शा० भा०
७. रा० प्र० ७।४।६; रा० ४।१६।२, ७।९०।१
८. संतोषादनुत्तमः सुखलाभः। —यो० सू० २।४२
९. गीता, १८।३०
१०. गीता, १८।४३ और उस पर शा० भा०
११. गीता, १८।४२ पर रा० भा०
१२. अ० रा० ३।४।३९
१३. रा० ३।३८ क (मुनि बिग्यान धाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ।)
१४. रा० १।१। श्लोक ४, ६।८०।४, 'रामचरितमानस' के षष्ठ सोपान की पुष्पिका
१५. काई बिषय मुकुर मन लागी।—रा० १।११५।१
मन मलिन बिषय सँग लागे। —वि० ८२।२
विषयेष्वेव संरागो मनसो मल उच्यते। —स्कन्दपुराण, मा० पी० ६।७९।९ पर उद्धृत

होता है।[1] और मन निर्मल हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'अचलमन' योग (चित्तवृत्तिनिरोध) का सूचक है। विषय-वासनाओं से संबद्ध मन अपने चंचल स्वभाव को त्याग कर भगवान् में अनुरक्त होने पर अचल हो जाता है। इस दशा में उसकी निश्चलता की उपमा वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक से दी जा सकती है।[2]

अंतःकरण का उपशम, उसको अनर्थकारी विषयों से रोक कर वश में रखना, बारंबार दोष-दर्शन करने से विषयसमूह के प्रति विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना, वासनाओं का सदा सर्वथा त्याग, '**शम**' कहलाता है।[3] ईश्वरविषयक चित्तवृत्ति भक्ति है। वासना से मलिन हृदय[4] में भक्ति और ज्ञान का आविर्भाव संभव नहीं है। उनकी प्राप्ति के लिए शम आवश्यक है। परमार्थ ने **यम-नियम** को धर्म का लक्षण कहा है।[5] इससे धर्म के इन अंगों की विशेष महत्ता सिद्ध होती है। यम और नियम के अंतर्गत परिगणित धर्मानुष्ठानों की संख्या और स्वरूप के विषय में मतभेद है।[6] योगदर्शन के अनुसार यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।[7] प्रथम तीन की व्याख्या हो चुकी है। भोग्यता-बुद्धि से नारियों का दर्शन आदि न करने, गुप्त इंद्रिय उपस्थ एवं तत्संबंधी अन्य इंद्रियों के संयम, को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।[8] भोग-साधनों को अंगीकार न करना 'अपरिग्रह' है।[9] भरद्वाज के आश्रम में ऋद्धि-सिद्धियों द्वारा उपस्थित किये गये भोगसाधनों के प्रति भरत की उदासीनता इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका॥
सुख समाजु नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ग्यानी॥
आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहँग मृग नाना॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥
सुरसुरभी सुरतरु सबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें॥
रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी। सब कहँ सुलभ पदारथ चारी॥
स्रक चंदन बनितादिक भोगा। देखि हरष बिसमय बस लोगा॥
संपति चकई भरत चक मुनि आयेसु खेलवार।
तेहि निसि आस्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार॥[10]

नियम भी पाँच हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।[11] प्रथम दो का

---

१. वि० ८२।४, रा० ७।४९।३
२. रा० ३।१०।७-९, ४।१७।४; गीता, ६।१९
३. गीता, १०।४ पर शा० भा० तथा रा० भा०; वि० चू० २२-२३; अपरोक्षानुभूति, ६
४. हृदय मलिन बासना-मान-मद —वि० ८२।२
५. दे०—सुवर्णसप्ततिशास्त्र, २३
६. यो० सू० २।३०, ३२, वि० पु० ६।७।३६-३८, भा० पु० ११।१९।३३-३५, लि० पु० १।८।२८-३०, सुवर्णसप्ततिशास्त्र, २३
७. यो० सू० २।३०; वि० पु० ६।७।३६, कू० पु० २।११।१३
८. गीता, १७।१४ पर रा० भा०; यो० सू० २।३० तथा उस पर व्यासभा० और त० वै०
९. यो० सू० २।३० पर व्यासभा० तथा भोजवृत्ति
१०. रा० २।२१५।१-दोहा
११. यो० सू० २।३२, वि० पु० ६।७।३७, कू० पु० २।११।२०

विवेचन किया जा चुका है। शास्त्रानुसार इंद्रियसंयमपूर्वक भोगों के नियमनरूप शरीरपीड़न को 'तप' कहते हैं; अथवा, भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्मों की योग्यता के संपादक चांद्रायण आदि व्रतों का पालन 'तप' है।[1] व्यास ने द्वंद्वसहन को भी 'तप' कहा है।[2] तपोबल अन्य सभी प्रकार के बलों[3] से श्रेष्ठ है।[4] मोक्षशास्त्र के अध्ययन (पठन अथवा श्रवण) को 'स्वाध्याय' कहते हैं।[5] तुलसीदास के अनुसार वेद, पुराण, इतिहास आदि मोक्षशास्त्र हैं। अतएव उनके राम सब कुछ जानते हुए भी आचारपालन के लिए वसिष्ठ से अवधानपूर्वक वेदादि का श्रवण करते हैं।[6] अन्योन्याश्रित स्वाध्याय और योग परमात्मदर्शन के साधन हैं।[7] फलनिरपेक्ष होकर उस परम-गुरु ईश्वर के प्रति समस्त कर्मों का समर्पण 'ईश्वरप्रणिधान' है।[8] तुलसीदास के मतानुसार, ईश्वर को समर्पित किये बिना सारे सत्कर्म व्यर्थ हैं।[9] इस प्रसंग में यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि योग-दर्शन का 'ईश्वर' पुरुषविशेष होने के कारण जीव-कोटि में ही प्रतिष्ठित है। तुलसीदास की दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से उसे हम नित्यमुक्त जीव कह सकते हैं। तुलसी के ईश्वर राम परब्रह्म परमेश्वर हैं; संपूर्ण जड़चेतनात्मक विश्व के स्वामी हैं। ब्राह्मण और गुरु के चरणों का पूजन भी मानव-धर्म है। **विप्रपदपूजन** अन्यतम पुण्य है और **गुरुपूजन** तो रामपूजन से भी बढ़कर है।[10]

तुलसी के मर्यादापुरुषोत्तम राम धर्मधुरंधर हैं।[11] वे तुलसी की धर्म-विषयक सभी मान्यताओं के आदर्श हैं। धर्ममय रथ के प्रकरण में निरूपित धर्म के सभी रूपों को उन्होंने चरितार्थ किया है। उनमें शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, दम, परहित, क्षमा, कृपा, समता, ईशभजन, विरति, संतोष, बुद्धि, विज्ञान, अमल-अचल मन, शम, विप्रपूजा, गुरुपूजा आदि सभी गुण द्रष्टव्य हैं।[12]

उपरिवर्णित धर्ममय रथ के आलोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उसमें साधारण और विशिष्ट दोनों ही प्रकार के धर्मों का उपस्थापन किया गया है। उसमें उल्लिखित धैर्य, सत्य, क्षमा, दान आदि साधारण धर्म हैं। कहा जा चुका है कि शास्त्रों में प्रतिपादित साधारण धर्म द्विजवर्णों का ही सामान्य धर्म है। अतः यह रथ सार्ववर्णिक नहीं है। उक्त रूपक में परिगणित

---

१. गीता, १०।५ पर शा० भा० और रा० भा०, १०।४२ पर रा० भा०; १६।१ पर रा० भा०
२. यो० सू० २।३२ पर व्यासभा०
३. पाँच प्रकार के बल—बाहुबल, मंत्रिबल, धनबल, अभिजातबल और प्रज्ञाबल। —महा०, उद्योग० ३७।५२-५५
४. रा० १।७३।२-३
५. यो० सू० २।१, ३२ और उनपर व्यासभा० तथा भोजवृत्ति
६. रा० ७।२६।१
७. वि० पु० ६।६।२-३
८. यो० सू० २।१ पर भोजवृत्ति
९. हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।...नासहि बेगि नीति असि सुनी॥—रा० ३।२१।४
१०. रा० ७।४५।४; रा० २।१२९।४
११. रा० ३।६।२, वि० ४४।४
१२. क्रमशः दे०—वि० ५२।२, रा० २।२४३।१, वि० ५५।३, रा० १।२९ क, रा० ३।३१, रा० २।९७।३, वि० ५५।४, वि० ४४।३, वि० ५५।५, रा० १।२०८ सो०, वि० ५५।२, रा० २।१०३।१, वि० ४४।९, वि० ५३।५, रा० ७।२४।१, रा० ५।५६।१, वि० ६१।९, वि० ५३।२, रा० ५।१।श्लोक १, वि० ४३।२, रा० २।९।२

शम, दम, तप, शौच, क्षमा और विज्ञान ब्राह्मण जाति के स्वभावज कर्म हैं[1]; शौर्य, धैर्य और दान क्षत्रिय जाति के स्वभावज कर्म हैं[2]; दान वैश्य वर्ण का भी विशेषरूप से आवश्यक कर्तव्य है।[3] परंतु, प्रकरण, पात्र, एवं उपन्यस्त धर्मांगों की प्राथमिकता पर ध्यान देने से यही निगत होता है कि वह मुख्यतया क्षत्रिय जाति का ही धर्मरथ है। युद्ध के प्रसंग में अपने संबंध से क्षत्रिय राम ने उस धर्मरथ का वर्णन किया है और उस वर्णन में क्षत्रिय के प्रमुख स्वभावज कर्म शौर्य तथा धैर्य को सर्वप्रथम स्थान दिया है।

वर्णधर्म—

तुलसीदास वर्णाश्रमधर्म के प्रबल समर्थक हैं। यद्यपि उन्होंने वर्णविहित और आश्रमविहित धर्मों का बहुशः अलग-अलग उल्लेख भी किया है तथापि वर्णधर्म और आश्रमधर्म का प्रायः युगपत् व्यवहार[4] करके उन्होंने इन दोनों के अन्योन्याश्रयत्व एवं वर्णाश्रमधर्म के एकत्व का ही प्रतिपादन किया है। यह भी ईक्षणीय है कि उन्होंने प्रत्येक वर्ण और आश्रम का अलग-अलग व्यवस्थित धर्म-निरूपण नहीं किया। इसका कारण यह है कि कवि का मुख्य प्रतिपाद्य रामभक्ति है। अतः काव्यधर्म का ध्यान रखते हुए भक्तिप्रतिपादन के लिए उपयोगी धर्म का अपेक्षित सीमा तक ही निबंधन किया गया। आधुनिक युग में स्मृति-पुराण-प्रतिपादित आश्रमों के विधिविधान का अविकल पालन संभव नहीं है। इसलिए भी तुलसी ने कर्मकांड की जटिलताओं का परिहार करके आश्रमों की मुख्य विशेषताओं पर ही ध्यान दिया है।

वर्णधर्म मानवधर्मशास्त्रीय समाजव्यवस्था का मेरुदंड है। सनातन धर्म की यह दृढ़ मान्यता है कि प्रत्येक जीव को सभी वर्णों में होकर जीवनयात्रा करनी पड़ती है। वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। उपनयन संस्कार के आधार पर प्रथम तीन को 'द्विज' कहते हैं। ये चार वर्ण जीव के विकास के चार सोपान हैं। विभिन्न योनियों में भ्रमता हुआ विकासोन्मुख जीव पहले शूद्र-योनि में जन्म लेता है। यह जीवात्मा के विकास का शैशव और कैशोर काल है जिसमें उसके सेवाभाव का उदय एवं विकास होता है। वैश्य-योनि उसके यौवन का पूर्वार्ध है। यह ऐश्वर्य-भोग, सामाजिक उत्तरदायित्व, सार्वजनिक वैभव तथा कल्याण की शिक्षा का काल है। तदनंतर वह क्षत्रिय-योनि में जन्मता है जो उसके विकास-जीवन के यौवन का उत्तरार्ध है। यह राष्ट्र की शक्ति और उत्तरदायित्व, शासन और रक्षण, का काल है। ब्राह्मण-योनि विकास की उच्चतम अवस्था है। यह वार्द्धक्य है। इस योनि में पहुँचकर जीव भौतिक ऐश्वर्यों के प्रति विरक्त, उन्नतमना, निःस्वार्थ, सबका पथप्रदर्शक तथा सर्वहितकारी हो जाता है। इसीलिए निगमधर्मानुसारी ब्राह्मण राम को सर्वाधिक प्रिय है।[5]

तुलसीदास का कथन है कि वर्णधर्म परलोक का मार्ग है।[6] उनकी दृष्टि में दुःख का एक

---

१. गीता, १८।४२
२. गीता, १८।४३
३. याज्ञ० १।११८
४. रा० ७।९८।१, ७।१०२।४, कवि० ७।८४, ७।८५, वि० १३९।४, गी० ७।१।४
५. सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब तें अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी॥—रा० ७।८६।२-३
६. कै जूझिबो कै बूझिबो दान कि कायकलेस।
चारि चारु परलोकपथ जथाजोग उपदेस॥ —दो० ४५१

कारण वर्णधर्म की अवहेलना है। जब एक वर्ण (विशेषकर शूद्र) अन्य वर्णों के कार्य की ओर अग्रसर होता है; कर्तव्य-सीमा का अतिक्रमण करके दूसरों के धर्ममार्ग पर आरूढ़ हो जाता है; जब कोई वर्ण (विशेषकर ब्राह्मण या क्षत्रिय) अपने अधिकारों और भोगों के प्रति तो सर्वथा जागरूक रहता है, किंतु कर्तव्यों के प्रति सावधान और प्रवृत्त नहीं होता; तब धर्ममर्यादा के नष्ट हो जाने पर भय, रोग, शोक आदि नाना प्रकार के दुःखों का आपात होता है।[1] वर्णाश्रमधर्म का अवेक्षक व्यक्ति रोग (शारीरिक क्लेश) और शोक (मानसिक क्लेश) को प्राप्त नहीं होता, उसे वांछित सुख की उपलब्धि होती है।[2] अपने युग में वर्णाश्रम-व्यवस्था की अतिशय ग्लानि एवं वर्णसंकर की अभिवृद्धि देखकर तुलसी का वर्णाश्रमधर्मानुयायी मन अत्यंत क्षुब्ध हो उठा था।[3] अतएव राम-राज्य का वर्णन करते समय कवि ने 'वर्णाश्रमावेक्षणजागरूक'[4] राम के शासन में आचरित वर्णाश्रमधर्म का पर्याप्त निदर्शन किया है।[5]

सनातनधर्म में जन्मना वर्णवाद स्वीकार किया गया है। वेद, पुराण आदि में चारों वर्णों और उनके गुण-कर्म की ईश्वरीय उत्पत्ति का निरूपण है।[6] मनु ने भी ब्रह्मा के मुख, बाहु आदि से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों एवं उनके पृथक् कर्मों की सृष्टि का वर्णन करके इसी सिद्धांत का समर्थन किया है और 'भगवद्गीता' भी ईश्वर के द्वारा गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्य-सृष्टि का प्रतिपादन करती है।[7] परंतु द्विजातियों के धर्म का पतन न हो जाए इसलिए आचार को विशेष गौरव देते हुए कर्मणा वर्णप्रतिष्ठा का सिद्धांत भी शास्त्रों में स्वीकार किया गया है।[8] गणिका, मंडूकी, हरिणी, श्वपाकी, उलूकी और नाविका के गर्भ से उत्पन्न क्रमशः वसिष्ठ, मांडव्य, ऋष्यशृंग, पराशर, कणाद तथा मंदपाल अपने तपःकर्म से ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे।[9]

ब्राह्मण—धर्मशास्त्र में ब्राह्मण के छः कर्म बतलाये गये हैं—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह।[10] इनमें से अध्ययन, यजन और दान धर्म के लिए हैं तथा शेष तीन का प्रयोजन जीविका है।[11] पौरोहित्य को तुलसी ने वसिष्ठ के मुख से निंदनीय बतलाया है, क्योंकि वह ब्राह्मण के पुण्यार्जन में बाधक है।[12] ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान होता है; इसी आधार पर शम, दम, तप, शौच, क्षमा, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ये नौ ब्राह्मण के स्वभावज कर्म कहे गये हैं।[13] ब्राह्मण के कर्म कहे जाने वाले ये शम आदि गुण वस्तुतः उसके लक्षण ही

---

१. रा० ७।९८।१-७।१००क

२. रा० ७।२०

३. रा० ७।९८।१, ७।१००क, ७।१०२।४, कवि० ७।८४, ७।८५

४. रघुवंश, १४।८५

५. रा० ७।२०-७।२१।१, रा० प्र० ६।६।६, गी० ७।१।४

६. ऋ० १०।९०।१२; भा० पु० ८।५।४१, वि० ध० पु० १।२७।१७

७. मनु० १।८७; गीता, ४।१३

८. महा०, वन० १८०।२५-२६, २१३।१०८; वसिष्ठस्मृति, ६।३-४; ना० पु० १।४३।५६

९. दे०—भवि० पु०, ब्राह्मपर्व, ४२।१९-३०, ४४।३१

१०. मनु० १।८८, १०।७५, याज्ञ० १।११८, कू० पु० १।२।३८-३९, वराहपु० ११५।२४-२६, भवि० पु०, ब्राह्म पर्व २।१२१; रा० १।१६९।१, १।२९५।४, २।१७२।२, दो० ४५१

११. मनु० १०।७६, याज्ञ० १।११८ पर मि०

१२. उपरोहिती कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृति कर निंदा॥ —दे०—मा० पी० ७।४८।६

१३. गीता, ४।१३ पर शा० भा०, १८।४२; रा० ७।१०५।२, ७।१०९।२-३

हैं।[1] अपने इन गुणों के कारण ब्राह्मण श्रेष्ठ है।[2] उसका वचन प्रमाण है; उसका रोष सत्यानाशकारक है; उसका तोष मंगलमूल है।[3] उसका द्रोही राम को अच्छा नहीं लगता। भूसुर-सेवा मोहहारिणी एवं देवताओं तथा भगवान् को वश में करने वाली है। उसकी पूजा इस विश्व का अन्यतम पुण्य है; उसकी भक्ति से यह जीवन धन्य हो जाता है। उसकी निंदा से नरक-निकाय के क्लेश भोगने पड़ते हैं।[4] दूसरी ओर, जो ब्राह्मण वेदविहीन है, स्वधर्म को त्याग कर विषयरत है, जो पणपूर्वक अध्यापन करता है, वह पापकर्मा है। जो ब्राह्मण स्वधर्म को त्याग कर परधर्म स्वीकार करता है, वह तत्कर्मानुसार क्षत्रता, वैश्यता या शूद्रता को प्राप्त होता है।[5]

क्षत्रिय—ब्राह्मण के संबंध में कहे गये अध्ययन, यजन और दान क्षत्रिय के भी धर्मार्थ कर्म हैं; प्रजापालन तथा जीविका के लिए उसे शस्त्रास्त्र धारण करना चाहिए।[6] प्रजा की रक्षा[7] और उसका परिपालन ही क्षत्रिय का प्रधान कर्म है, जो धर्म और वृत्ति दोनों की सिद्धि का हेतु है।[8] मनु ने चित्तशुद्धि पर बल देने के लिए विषयों के प्रति अनासक्ति को भी क्षत्रिय का धर्म कहा है।[9] क्षत्रिय में सत्त्वगुण गौण तथा रजोगुण प्रधान होता है; तदनुसार शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में शत्रु से पराङ्मुख न होना, दान और प्रभुशक्तिज्ञापन क्षत्रिय के स्वभावज कर्म कहे गये हैं।[10] 'रामचरितमानस' के षष्ठ सोपान में वर्णित धर्ममय रथ (उस प्रसंग में) मुख्यतः क्षत्रिय का ही धर्मरथ है। नीतिहीनता और कायरता क्षत्रिय के मुख्य दोष हैं। जो क्षत्रिय नीतिमान् नहीं है, जो प्रजा को प्राण के समान प्रिय समझकर उसका सम्यक् परिपालन नहीं करता, वह शोचनीय है।[11] जो क्षत्रिय का शरीर धारण करके समर करने से हिचकिचाता है वह पामर है, कुलकलंक है।[12]

वैश्य—ब्राह्मण और क्षत्रिय के संबंध में कहे गये अध्ययन, यजन और विशेष करके दान वैश्य के भी धर्मार्थ कर्म हैं।[13] कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य वैश्य जाति के जीविकोपयोगी एवं स्वभावज कर्म कहे गये हैं।[14] यद्यपि अतिथि-सेवा सार्ववर्णिक गृहस्थों का पुनीत कर्तव्य है,

---

१. दे०—भा० पु० ७।११।२१; भवि० पु०, ब्राह्म पर्व, ४४।२८
२. मनु० १।९३, ९६, भा० पु० १०।६४।३२-३९, १०।८६।५३, प० पु० ३।६१।४७-५४, ब्र० वै० पु० १।११।१२-३२
३. रा० १।१२३।१, २।१२६।२
४. रा० ३।३३।४; ३।३३; ७।४५।४; ७।१२१।१२
५. रा० २।१७२।२, ७।९८।१; ना० पु० १।४३।५७-५९
६. मनु० १०।७९; रा० ७।२४।१, ७।२६।१, दो० ४५१
७. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। —रघुवंश २।५३
८. याज्ञ० १।११९ और उस पर मि०, रा० २।१७२।२; दे०—भा० पु० ७।११।२२, कू० पु० १।२।३९-४०, वराहपु० ११५।२७-२९, भवि० पु०, ब्राह्म पर्व, २।१२२
९. मनु० १।८९, रा० ६।८०।४
१०. गीता, ४।१३, १८।४३; रा० १।२३१।४, १।२८४।१, ३।१७, ३।१९।५, ६।८०।३-४
११. रा० २।१७२।२ (यहाँ पर 'नृपति' का तात्पर्य क्षत्रिय भी है।)
१२. छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहि पावँर आना॥ —रा० १।२८४।२
१३. मनु० १०।७७-७८, याज्ञ० १।११८; दो० ४५१
१४. मनु० १०।७९, याज्ञ० १।११९; वैश्य-धर्म के लिए दे०—भा० पु० ७।११।१५, २३, कू० पु० १।२।३९-४०, वराहपु० ११५।३२-३५, भवि० पु०, ब्राह्म पर्व, २।१२३

तथापि जो वैश्य धनवान् होकर भी कंजूसी करता है और अतिथिपूजा नहीं करता वह अत्यंत अधम है।[1]

शूद्र—धर्म और जीविका दोनों की ही दृष्टि से शूद्र का एकमात्र कर्म द्विजातियों की सेवा है।[2] उसमें भी ब्राह्मण की सेवा विशिष्ट बतलायी गयी है। अतः ज्ञानगुमानी, संमानप्रेमी तथा ब्राह्मण की अवमानना करने वाला एवं अपना स्वाभाविक धर्म त्याग कर ज्ञानोपदेश, जप-तप-व्रत और संन्यास-मार्ग का आग्रही शूद्र आचारहीन माना गया है।[3]

जातिविहित कर्मों के सम्यक् अनुष्ठान से प्रसन्नता और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[4] अपने जाति-कर्म में तत्पर मानव परम गति का अधिकारी होता है।[5] भली भाँति अनुष्ठित परधर्म की तुलना में अपना गुणरहित भी धर्म प्रशस्यतर है। अन्य कर्मों की भाँति परधर्म भी सदोष और बंधनरूप है। अज्ञानी द्वारा संपूर्ण कर्मों का पूर्णतया त्याग संभव नहीं है। स्वभावनियत कर्म करने वाला व्यक्ति विषजात कीड़े की भाँति पाप को नहीं प्राप्त होता।[6] परधर्म नरकभयदायक होता है। परधर्म का अवलंबन करने वाला जातिभ्रष्ट हो जाता है। अतएव स्वधर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। दूसरे के धर्म में स्थित होकर जीवित रहने की अपेक्षा अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना अधिक श्रेयस्कर है।[7] भरत का यह निवेदन कि '**मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू।**'[8] आदर्श भक्त के दैन्य का प्रतिपादक है, उनकी धर्म-भ्रष्टता का सूचक नहीं है।

आश्रमधर्म—

जीव के मोक्ष के लिए उसका संतुलित विकास आवश्यक है। जड़-बद्ध चेतन जीव कामाभिभूत मन के द्वारा चालित होकर विभिन्न दिशाओं में अस्तव्यस्त रूप से भटकता फिरता है। रहता एक स्थान पर है, सोचता है दूसरे स्थान की—न इधर का, न उधर का। यौवन में बचपन या बुढ़ापे की बात सोचता है और बुढ़ापे में यौवन आदि की। अतएव दुःखी होता है। इस प्रकार की भ्रामक उत्सुकता और संकुलता के निरोध के लिए ऋषियों ने जीवन के चार निश्चित आश्रमों की व्यवस्था की है, जिससे जीव प्रत्येक आश्रम के कर्तव्य कर्मों का एकाग्र मन से निर्वाह करता हुआ आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सके।[9] शास्त्र की विधि के अनुसार इन आश्रमों का अनुष्ठान परमगति का साधक है। यदि कोई द्विजन्मा वेदाध्ययन (ब्रह्मचर्य), संतानोत्पत्ति (गृहस्थ) और यज्ञानुष्ठान (वानप्रस्थ) किये बिना ही मोक्ष की कामना करता है तो वह नरक-

---

१. सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥ —रा० २।१७२।३
२. मनु० १।९१, गीता, १८।४४, याज्ञ० १।१२०, भा० पु० ७।११।२४; दो० ४५१
३. मनु० १०।१२३; रा० २।१७२।३, ७।९९।१, ७।९९ ख, ७।१००।३, ५
४. भा० पु० ४।२०।९; गीता, १८।४४ पर शा० भा०
५. गीता, १८।४५-४६, भा० पु० १।२।१३, रा० ७।२१।१-२
६. गीता, १८।४७ और उस पर शा० भा०
७. मनु० १०।९७, ब्र० वै० पु० १।९।६१, गीता, ३।३५ और उस पर शा० भा०
८. रा० २।२०४।४
९. आश्रमधर्म के विस्तृत निरूपण के लिए दे०—मनु० २-६, याज्ञ० १।२-६, भा० पु० ७।१२-१३, ११।१७, कू० पु० २।१४-१६, २७-२८, ना० पु० १।२७, ४३, वि० पु० ३।९, अ० पु० १६०-६१, ग० पु० ४९

गामी होता है।[1] आश्रमधर्म का पालन ऋणशोध में भी सहायक है। ब्रह्मचर्य में विद्याध्ययन तथा गुरुसेवा द्वारा जीव ऋषिऋण से मुक्त होता है। गृहस्थाश्रम में कुटुंबपालन तथा दान करके पितृऋण चुकाता है। वानप्रस्थ आश्रम में यज्ञ और ध्यान के द्वारा देवऋण से मुक्ति पाता है। आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। तुलसी ने इन आश्रमों के धर्मों का सैद्धांतिक उपस्थापन नहीं किया। उनके पात्र ही आश्रम-धर्म-पालन के प्रमाण हैं।

ब्रह्मचर्य—शास्त्रानुसार उपनयन संस्कार के उपरांत राम आदि ने गुरु के यहाँ जाकर विद्याध्ययन किया।[2] प्रातःकाल उठना, तन और मन की शुद्धता, स्नान, संध्या, गुरुसेवा, वेदादि का श्रवण आदि ब्रह्मचारि-संबंधी गुणों की निबंधना करके तुलसी ने इस आश्रम के धर्म का संकेतात्मक निरूपण किया है।[3] जो ब्रह्मचारी गुरु के आदेश का पालन नहीं करता, किसी भी प्रकार व्रत का परिहार करता है, वह पातकी है।[4]

गृहस्थ—ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। विवाह की विचारचर्चा संस्कारों के प्रसंग में आगे की जाएगी। गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह सभी आश्रमों का आश्रय, उपकारक, पोषक तथा संस्थान है।[5] साधारण धर्मों के पालन के अतिरिक्त भार्या का समुचित समादर, कुटुंबपालन, पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान आदि गृहस्थ के विशिष्ट धर्म हैं।[6] कर्ममार्ग का पालन गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य है।[7] तुलसी के साहित्य में अंकित सभी गृहस्थ आदर्श हैं। वे मर्यादाओं का आदर करते हैं। गड़बड़ी केवल वहीं हुई है जहाँ राम का विरोध हुआ है—कैकेयी, सती, मंदोदरी आदि के प्रसंगों में यह तथ्य प्रेक्षितव्य है। 'रामचरितमानस' में सीता-वनवास के प्रसंग का त्याग करके और 'गीतावली' में उसके आदर्श समाधान की कल्पना करके[8] तुलसी ने राम को भार्याप्रेमी आदर्शपति के रूप में चित्रित किया है। वे माता, पिता आदि कुटुंबियों के ही संवर्द्धन के प्रति जागरूक नहीं हैं अपितु दास-दासियों के पालन-पोषण का भी उन्हें पूरा ध्यान है।[9] गृहस्थ को भोग करने की अनुमति है किंतु वह भोग त्यागपूर्वक होना चाहिए।[10] जनक, दशरथ, (रामराज्य के) अयोध्यावासी आदि इसी प्रकार के गृहस्थ है।

गृहस्थ का महनीय धर्म है पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान। तुलसी ने यज्ञ के द्वारा प्रभु के प्रति कर्मसमर्पण को यद्यपि त्रेता युग के प्रकरण में ही भवसंतरण का साधन बतलाया है[11] तथापि यज्ञ का सर्वयुगीन महत्त्व उन्हें मान्य है। इसीलिए स्थान-स्थान पर उन्होंने यज्ञ के साधन से अभ्युदय

---

१. [मनु]० ६।८८; मनु० ६।९७
२. रा० १।२०४।२-३
३. रा० १।२०५।३-४, १।१२६।३-१।२२७।१, १।२३७।३
४. सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर आयेसु अनुसरई॥ —रा० २।१७२।४
५. मनु० ३।२, ३।७७-७८, ६।८९-९०
६. मनु० ३।५५, ६७, ७२
७. सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करमपथ त्याग। —रा० २।१७२
८. गी० ७।२७, २८
९. रा० २।८०।३
१०. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। —ईशा० १
११. रा० ७।१०३।१

एवं निःश्रेयस की सिद्धि का उल्लेख किया है।[1] यह सृष्टि यज्ञ है। अतः यज्ञ का सिद्धांत जीवन का सिद्धांत है। यज्ञ जीव का आत्मबलिदान है, उसकी दिव्यता और ऐश्वर्य का प्रमापक है। यह और बात है कि यज्ञ के दान की फलप्राप्ति भी हो जाती है, उसका पुरस्कार भी मिल जाता है। जीव के चतुर्दिश अन्य प्राणी भी हैं। वे अन्योन्याश्रित हैं। दूसरों की सत्ता और परस्पर सहायता के अभिज्ञान से ही जीव का उत्क्रमण संभव है। अपने ऐश्वर्य का बोध होने पर इस बलिदान में जीव को तोष और आनंद मिलता है। आदान की अपेक्षा दान में ही अधिक सुख की अनुभूति होती है।

'यज्ञ' शब्द फलाभिसंधिरहित ईश्वराराधन के रूप में किये जाने वाले महायज्ञ आदि के अनुष्ठान का वाचक है। यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—श्रौत और स्मार्त। अग्निहोत्र आदि श्रौत यज्ञ है; देवयज्ञ आदि स्मार्त यज्ञ है।[2] तुलसी ने कहीं पर भी यज्ञों का वर्गीकरण नहीं प्रस्तुत किया। उनके काव्य में वर्णित यज्ञ दो प्रकार के हैं—नैत्यिक और नैमित्तिक। नित्ययज्ञ अर्थात् कर्तव्यकरण के दैनिक जीवनक्रम में संपादित यज्ञ पाँच हैं—ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ और भूतयज्ञ। 'ब्रह्मयज्ञ' का अर्थ है अध्ययन और अध्यापन।[3] अध्ययन अपने में साध्य न होकर साधन है। अर्जित ज्ञान का एक महान् प्रयोजन है दूसरों को ज्ञान-दान। रामराज्य में पुराण आदि धर्मग्रंथों के श्रवण-श्रावण का क्रम[4] ब्रह्मयज्ञ का ही विशिष्ट रूप है। 'देवयज्ञ' का अर्थ है होम।[5] अपने संरक्षक देवों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन, उनके उपकारों का प्रत्युपकार, (यथाशक्ति प्रतिदान) जीव का कर्तव्य है। यह यज्ञ जीव को अतिभौतिक जगत् के संबंध और परस्पर-निर्भरता की अनुभूति कराता है। होम के द्वारा देवता सहज ही वशीभूत हो जाते है।[6] तर्पण को 'पितृयज्ञ' कहते हैं।[7] पितरों को जलदान आदि देना 'तर्पण' है।[8] इस यज्ञ का प्रयोजन है पूर्वजों के ऋण का शोधन। वाल्मीकि ने तर्पण और होम को रामप्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन बतलाया है।[9] इन तीन यज्ञों का एक मुख्य प्रयोजन जीव को ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण से मुक्त करना भी है। 'नृयज्ञ' का अर्थ है अतिथि का पूजन और सत्कार।[10] अतिथिसत्कार संपूर्ण मानवता की सेवा का प्रतीक है। इसीलिए श्रुति कहती है—**'अतिथिदेवो भव'**।[11] भोजन आदि की व्यवस्था करने में असमर्थ सद्गृहस्थ के घर में भी शयनीय विश्रामभूमि, जल और मधुरवाणी का अभाव नहीं होता।[12] 'रामचरितमानस' में अतिथिपूजन का गौरव एवं अतिथिसत्कार का

---

१. रा० ३।८।४, ७।१२६।३, वि० १६४।३, २११।३
२. गीता, १६।१ पर रा० भा० और शा० भा०
३. मनु० ३।७०
४. रा० ७।२६।४
५. मनु० ३।७०
६. रा० १।१६६।१
७. मनु० ३।७०
८. मनु० ३।८२
९. रा० २।१२६।४
१०. मनु० ३।७०
११. तै० उ० १।११।२
१२. मनु० ३।१०१

आचरण अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है ।[1] 'भूतयज्ञ' का अर्थ है भूतबलि[2] अर्थात् अपने से निम्नतर प्राणियों के लिए भोजन से पूर्व और भोजन के अवशिष्ट अन्न की बलि; इस बलि के द्वारा लघुतर प्राणियों के प्रति कर्तव्यपालन, उनकी सेवाओं का प्रतिदान एवं उनके प्रति दया-दाक्षिण्य की भावना। ईश्वर सर्वभूतमय है। अतएव ये यज्ञ जीव को सर्वात्मभाव की दशा तक पहुँचाने में बहुत कुछ साधक है। तुलसीदास ने भूत-यज्ञ का संकेत मात्र किया है।[3] उन्होंने यथावसर प्रयोजनविशेष की सिद्धि के लिए किये गये नैमित्तिक यज्ञों का भी वर्णन किया है। दक्ष प्रजापति का महायज्ञ, दशरथ का पुत्रकाम यज्ञ, मेघनाद का अजयमख, रावण का मृत्युंजय यज्ञ, राम का अश्वमेध यज्ञ आदि इसी प्रकार के यज्ञ है।[4]

वानप्रस्थ—पुत्र के समर्थ होने पर, केशश्वेतता आदि वार्धक्य-चिह्नों के दृष्टिगत होने पर, नागरिक जीवन त्याग कर वनवास करना चाहिए। स्वाध्याय, दान, तप, होम, यज्ञ आदि वानप्रस्थ के विशिष्ट धर्म हैं।[5] तुलसी ने योग, जप आदि को भी वानप्रस्थ का कर्तव्य माना है।[6] यह आश्रम संन्यास की तैयारी है। भोग और कर्म से सहसा संन्यास ले लेना सरल नहीं है। अतः वानप्रस्थ आश्रम में अभ्यास द्वारा विषयवासना के त्याग का प्रयत्न करना चाहिए। तप का त्याग करके भोग में रुचि रखना वानप्रस्थ का पतन है।[7]

संन्यास—संन्यासी (यती या परिव्राजक) को गृह, यज्ञ आदि का त्याग तथा मौनभाव धारण करके उदासीनतापूर्वक एकाकी विचरण करना चाहिए।[8] वैराग्य और विवेक से हीन होकर माया के प्रपंच में लीन हो जाना संन्यासी का पतन है।[9] 'मानस' के विश्वामित्र, वाल्मीकि आदि आदर्श यती हैं। चौथे पन में यतिधर्म का पालन करना चाहिए—संतों का यह सिद्धांत तुलसी को स्वीकार्य है।[10] लेकिन चौथा पन आ जाने पर भी प्रायः विराग नहीं होता। इस कारण वे संन्यास की आवश्यकता पर बल नहीं देते। उनकी मान्यता है कि गृहस्थी में भी रहकर अनासक्त भाव से कर्म करते हुए रामभजन हो सकता है। यही 'गीता' का कर्म-संन्यास है।[11]

संस्कार—द्विज वर्णों के लिए आवश्यक संस्कार-विधान वर्णाश्रमधर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। कर्ममार्ग के चित्तशुद्धिकारक अनुष्ठानों में इसका स्थान अन्यतम है। संस्कार-संस्था का आधार हिंदू-समाज की आस्तिकता, देवभावना, अतिमानुष तत्त्वों में विश्वास और वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्था है। यद्यपि तुलसीदास ने 'संस्कार' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया तथापि उन्होंने अपने

१. रा० १।३२।४, २।१२५।२, २।१७२।३, २।२१२; दे० —भा० पु० ८।१६।७, ब्र० वै० पु०, ३।६।४-५, ३।४४।४४, ३।४४।४७
२. मनु० ३।७०
३. रा० १।२६७।१
४. क्रमशः—रा० १।६०, १।१८६।३, ६।७५।२-३, ६।८५।१, ७।२४।१
५. मनु० ६।२-३७
६. रा० २।१३२।४
७. बैखानस सोइ सोचइ जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू।। —रा० २।१७३।१
८. मनु० ६।४१-४३
९. सोचिअ जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग। —रा० २।१७२
१० संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन।। —रा० ६।७।२
११. रा० १।१४२; दो० २५६; गीता, ६।१

साहित्य में प्रमुख हिंदू-संस्कारों का आदरपूर्वक निरूपण किया है। संस्कृत-वाङ्मय में 'संस्कार' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है—"मीमांसक यज्ञांगभूत पुरोडाश आदि की विधिवत् शुद्धि से इसका आशय समझते हैं। अद्वैतवेदांती जीव पर शारीरिक क्रियाओं के मिथ्या आरोप को संस्कार मानते हैं। नैयायिक भावों को व्यक्त करने की आत्म-व्यंजक शक्ति को संस्कार समझते हैं, जिनका परिगणन वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुणों के अंतर्गत किया गया है। संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण-संबंधी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, छाप, स्मरणशक्ति, स्मरणशक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव, शुद्धि-क्रिया, धार्मिक विधि-विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, क्रिया की विशेषता आदि अर्थों में हुआ है।"[1] इस शब्द के सुदीर्घ इतिहास-क्रम में इसका अर्थ भी कुछ-न-कुछ परिवर्तित होता रहा है। उदाहरण के लिए, धर्मसूत्रों में इसका प्रयोग समस्त धार्मिक कृत्यों के अर्थ में किया गया है और अधिकांश स्मृतियों में केवल उन्हीं धार्मिक कृत्यों के अर्थ में जिनका अनुष्ठान व्यक्ति के व्यक्तित्व की शुद्धि के लिए अपेक्षित था। हिंदूधर्म की सामान्य मान्यता के अनुसार व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए, उसके संपूर्ण व्यक्तित्व के परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता के लिए, किये जाने वाले धार्मिक विधि-विधान, नियम तथा अनुष्ठान 'संस्कार' कहलाते हैं।[2]

संस्कार-संस्था के उद्‌भव और विकास को प्रेरणा देने वाले प्रयोजन अनेक हैं—१. अशुभ प्रभावों का प्रतीकार, २. अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण, ३. दीर्घजीवन, समृद्धि, शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति, ४. आत्माभिव्यक्ति (जैसे विवाह के अवसर पर), ५. पवित्रीकरण और धर्मभावना का समावेश, ६. वैयक्तिक हित की अपेक्षा उच्चतर नैतिक प्रगति, ७. व्यक्तित्व का निर्माण और विकास, ८. समाज का एकरूप विकास तथा उसका समान आदर्श से अनुप्राणन, ९. स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति।[3] ये संस्कार मनुष्य के ऐहिक एवं पारलौकिक जीवन के पवित्रीकरण के साधन हैं।[4] जीव की आध्यात्मिक शिक्षा के क्रमिक सोपान हैं। उसकी उच्चतर बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृति के प्रशिक्षक हैं। उसके मार्गदर्शक और व्यवस्थित जीवन के अनुशासक हैं। उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के प्रति यथार्थ हैं, इसीलिए इनकी व्यवस्था देशकालानुसार की गयी है। ये जटिल एवं ग्रंथिल मानवजीवन को सुविधामय बनाने के सुचिंतित प्रयत्न हैं। ये जीव के वातावरण के सुधारक हैं जिससे वह अपने चित्त को शांत और समाहित कर सके। ये जीवन के चरम आत्मवादी एवं घोर भौतिकवादी धारणाओं के समन्वयकारक मध्यम मार्ग हैं। पंचकोशों की शुद्धि और विजय में जीव के सहायक हैं। गर्भप्रवेश से लेकर परलोकयात्रा तक मानवीय तथा अतिमानवीय शक्तियों से संबद्ध उसके संपूर्ण जीवन को व्याप्त किये हुए हैं। इन संस्कारों के द्वारा जीव देवों तथा ऋषियों की सहायता से मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है।

अपने-अपने युगधर्म के अनुसार गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, स्मृतियों और निबंधों में संस्कारों की भिन्न-भिन्न संख्या निर्धारित की गयी है। परवर्ती स्मृतिकारों और आधुनिक धर्मनिरूपकों ने

---

१. हिन्दू संस्कार, पृ० १८

२. दे०—हिन्दू संस्कार, पृ० १९

३. विस्तार के लिए दे०—हिन्दू संस्कार, तृतीय अध्याय

४. मनु० २।२६

षोडश-संस्कार-विधि का विधान करके उनकी लोकप्रियता बढ़ायी। सामान्यत: स्वीकृत सोलह संस्कार[1] निम्नलिखित हैं—

संस्कार	वर्ग
१. गर्भाधान	प्राग्जन्म संस्कार
२. पुंसवन	
३. सीमंतोन्नयन	
४. जातकर्म	बाल्यावस्था के संस्कार
५. नामकरण	
६. निष्क्रमण	
७. अन्नप्राशन	
८. चूडाकरण	
९. कर्णवेध	
१०. विद्यारंभ	शैक्षणिक संस्कार
११. उपनयन	
१२. वेदारंभ	
१३. केशांत अथवा गोदान	
१४. समावर्तन अथवा स्नान	
१५. विवाह	
१६. अंत्येष्टि	

तुलसीदास ने प्राग्जन्म संस्कारों का वर्णन नहीं किया, यद्यपि कौशल्या आदि रानियों एवं आगे चलकर सीता के गर्भवती होने पर उन संस्कारों के निरूपण के लिए पर्याप्त अवसर था। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि पुत्रेष्टि यज्ञ की हवि से रानियाँ गर्भवती हुईं।[2] इस संस्कार-विधि के अवर्णन के तीन कारण प्रतीत होते हैं—१. तुलसीदास के समय में उन संस्कारों के अनुष्ठान का गौरव समाप्त हो चुका था, वे लोक में प्रचलित नहीं थे; २. काव्यधर्म की दृष्टि से सभी संस्कारों का वर्णन अनुचित प्रतीत हुआ, ३. यद्यपि पुत्रेष्टि-यज्ञ वैदिक रीति से ही हुआ था, तथापि धर्मशास्त्रियों ने जिस प्रकार के गर्भ के आधार पर गर्भाधान आदि संस्कारों की व्यवस्था की है, वह हुआ ही नहीं।

जातकर्म पहला संस्कार है, जिसके संपादन और महोत्सव का विधिवत् निरूपण तुलसी ने किया है।[3] यह संस्कार शिशु की मेधा, आयुष्य और बल के लिए किया गया धार्मिक अनुष्ठान है।[4] स्मार्त और पौराणिक प्रथा के अनुसार ही राजा दशरथ ने गुरु और ब्राह्मणों को बुलवाया, नांदी श्राद्ध करके जातकर्म संपन्न किया और तदनंतर विप्रों को स्वर्ण, रत्न, धेनु तथा वस्त्र दान दिये।[5] 'गीतावली' और 'रामचरितमानस' में **नामकरण** संस्कार को भी तुलसी ने महत्त्व

---

१. दे०—हिन्दू संस्कार, पंचम से नवम अध्याय
२. रा० १।१८९।३-१।१९०।३
३. रा० १।१९३।२-१।१९६, गी० १।२।७, १।३।३
४. दे०—हिन्दू संस्कार, पृ० ९४-९७
५. नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह।

दिया है।[१] नाम अखिल व्यवहार का हेतु है, शुभावह है, कर्मों में भाग्य का हेतु है, नाम से ही मनुष्य कीर्तिलाभ करता है, अतएव नाम-कर्म अत्यंत प्रशस्त है। शास्त्रों में चार प्रकार के नाम बतलाये गये है—नक्षत्रनाम, मासदेवतासंबद्ध, कुलदेवता-संबद्ध और लौकिक नाम।[२] लौकिक नाम का व्यावहारिक, कुलसंस्कृति के अनुकूल, मंगलसूचक और अर्थपूर्ण होना वांछनीय था। वसिष्ठ ने इन विशेषताओं, विशेषकर अर्थपूर्णता, का सम्यक् ध्यान रखकर दशरथ के चारों पुत्रों का नामकरण किया—

जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
जाकें सुमिरन तें रिपुनासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥
लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥[३]

राम आदि को वेदतत्त्व[४] मानते हुए भी उनके लौकिक नाम क्यों रखे गये? क्योंकि उनका जन्म ही लोकसंग्रह के लिए हुआ था—'**राम जनमु जग मंगल हेतू**।'[५] 'गीतावली' में लव-कुश के भी नामकरण संस्कार का उल्लेख किया गया है।[६] **निष्क्रमण** संस्कार का वर्णन तुलसी ने नहीं किया। 'कविता-वली' के पहले पद्य से 'निष्क्रमण' संस्कार का कुछ संकेत अवश्य मिल जाता है।[७] ऐसा प्रतीत होता है कि निष्क्रमण संस्कार के अवसर पर गोद में पुत्र लेकर राजा दशरथ निकले थे और संस्कार-समारोह में संमिलित होने वाली किसी नारी ने इस शोभा का वर्णन अपनी उस सहेली से जाकर किया जो किसी कारणवश वहाँ उपस्थित नहीं हो सकी थी। 'गीतावली' में लव-कुश के **अन्नप्राशन** संस्कार का उल्लेख करके कवि ने उसके अनुष्ठान के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है।[८] राम आदि के **चूडाकरण** संस्कार का तुलसी ने स्पष्ट उल्लेख किया है।[९] इस संस्कार का प्रयोजन था बालक के स्वास्थ्य, सौंदर्य और कल्याण की वृद्धि। यद्यपि कवि ने **कर्णवेध** संस्कार का स्वयं निरूपण नहीं किया, तथापि राम के मुख से उसका उल्लेख कराकर उसकी मान्यता स्वीकार की है।[१०]

शैक्षणिक संस्कारों में केवल **उपनयन** की ही तुलसी ने स्पष्ट चर्चा की है।[११] द्विजातियों के

हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥ —रा० १।१९३
१. गी० १।६।१-२६, रा० १।१९७।१-१।१९८।१
२. दें०—हिन्दू संस्कार, पृ० १०३-१०७
३. रा० १।१९७
४. रा० १९८।१
५. रा० २।२५४।२
६. गी० १।४।१२, ७।३५।२
७. अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे। —कवि० १।१
८. गी० ७।३५।२
९. रा० १।२०३।२
१०. रा० २।१०।३
११. रा० १।२०४।२, २।१०।३

लिए इस संस्कार का विशेष महत्त्व है। ऐसा कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मना शूद्र होता है, संस्कारों के द्वारा ही उसे द्विजता प्राप्त होती है।[1] उपनयन संस्कार ही उसे द्विजत्व प्रदान करता है। इसीलिए द्विजत्व के अनधिकारी एकजाति शूद्र का उपनयन संस्कार नहीं होता। इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य था विद्याप्राप्ति या वेदाध्ययन।[2] उन्होंने 'विद्यारंभ' या 'वेदारंभ' संस्कारों का नामनिर्देशपूर्वक कोई उपस्थापन नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि कवि के युग में 'विद्यारंभ' अथवा 'वेदारंभ' जैसे संस्कारों का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो चुका था और 'उपनयन' में ही उनका समावेश करके अनुष्ठान की रस्म पूरी की जाने लगी थी। राम आदि की शिक्षा असाधारण परिस्थिति में हुई थी। अतएव उपनयन के बाद उन्होंने केवल लोक-व्यवहार के लिए गुरु के यहाँ जाकर विद्या पढ़ी। तुलसी ने 'केशांत' और 'समावर्तन' संस्कारों का भी वर्णन नहीं किया। यह भी युग और राम आदि की असाधारणता का प्रभाव था।

विवाह का वर्णन तुलसी ने बहुत विस्तारपूर्वक किया है। 'रामचरितमानस', 'गीतावली', 'जानकीमंगल', 'कवितावली' आदि में राम-सीता-विवाह का वर्णन तो बहुत विशद रूप से हुआ ही है, शिव-पार्वती-विवाह के वर्णन[3] में भी कवि ने पर्याप्त रुचि दिखलायी है। राम-सीता-विवाह-वर्णन के तीन भाग हैं—वाटिकाप्रसंग, धनुष-यज्ञ और विवाह-संस्कार। प्रथम दो में, रामलीलागान के साथ ही, काव्यदृष्टि की प्रधानता है और तीसरे में संस्कारदृष्टि की। तीनों का ही वर्णन महाकवि ने जमकर किया है और यह विवाहवर्णन उसके साहित्य के सुंदरतम अंशों में से एक है। बात यह है कि मानव-जीवन की लोकयात्रा के तीन महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं—जन्म, विवाह तथा मृत्यु। अतएव हिन्दू-समाज में इन तीनों से संबद्ध संस्कारों का विशेष स्थान रहा है और आज भी है। उक्त तीनों में भी विवाह की वैयक्तिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उपयोगिता एवं महत्ता अद्वितीय है। वह जीवन की सर्वाधिक क्रांतिकारी घटना है, लोकयात्रा के एक नवीन अध्याय का आरंभ है। वह समस्त गृहयज्ञों एवं संस्कारों का उद्गम है। विवाहित जीवन—गृहस्थाश्रम—संपूर्ण समाज-व्यवस्था का केंद्र है। उसके बिना जीवन का विकास असंभव है। उसके बिना पितृऋण से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतएव वह एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य समझा गया। हिंदू-विवाह पाश्चिमात्यों का सामाजिक अनुबंधमात्र नहीं है। वह दैवी शक्तियों द्वारा संचालित और विधिविधानों द्वारा संपन्न धार्मिक अनुष्ठान है। इसीलिए तुलसी ने जनक की फुलवारी में इतनी पावन परिस्थिति का चित्रण किया है। एक ओर राम गुरु विश्वामित्र के आदेश से, लक्ष्मण के साथ, पूजा के लिए फूल लेने आये हैं[4] और दूसरी ओर सीता माता की आज्ञा से, सखियों के साथ, गिरिजा-पूजन के लिए आयी हैं।[5] विवाह के विषय में राम का सहजपुनीत मन सीता की ओर आकृष्ट हुआ विधाता की प्रेरणा से;[6] उनके मनोरथ सुफल हुए विश्वामित्र के

---

१. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। —हिन्दू संस्कार, पृ० ३४ पर उद्धृत
२. याज्ञ० १।१५
३. दे०—रा० (१।६१।२-१।१०२) और पार्वतीमंगल
४. रा० १।२२७।१
५. रा० १।२२८।१-२
६. रा० १।२३१।२

आशीर्वचन से।[1] सीता को प्रेरणा मिली नारद के पवित्र वचन से;[2] उनकी मनःकामना पूरी हुई भवानी के वरदान से।[3] इससे अधिक धार्मिकता और क्या हो सकती है !

विवाह योग्यतम स्त्री-पुरुष का ग्रंथिबंधन है। जिस सुंदरी सीता के लिए **'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रन धीरा।'**[4] उसकी योग्यता असंदिग्ध है। धनुर्भंग और परशुरामप्रसंग राम की योग्यतमता के प्रमाण हैं। तुलसी ने अभिधा के द्वारा भी दोनों की अद्वितीयता का निर्देश कर दिया है—**'रामु से न बर दुलही न सिय-सारिखी।'**, **'सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो।'**[5] वस्तुतः राम और सीता के साथ प्रयुक्त होकर 'दूलह' और 'दुलही' शब्द सार्थक हो गये।[6] विवाह क्षणिक आवश्यकता की पूर्ति का उपायमात्र नहीं है। वह नर-नारी के संपूर्ण जीवन, परिवर्तनों तथा आपत्कालों में दृढ़ रहने वाला स्थायी संबंध है। संतति-कामना से युक्त होने पर भी वह विषय-भोग का अनुमतिपत्र नहीं है। वह ऐकांतिक या व्यक्तिगत संबंध मात्र न होकर उत्तरदायित्वपूर्ण सामाजिक संक्रमण है। वह एक यज्ञ है; अपने सहयोगी व्यक्ति, परिवार, समाज तथा लोक के कल्याण के लिए स्वेच्छापूर्ण त्याग एवं आत्मसमर्पण का संस्थान है।

धर्मशास्त्र में विवाह के जो आठ प्रकार[7] बतलाये गये हैं उनमें 'ब्राह्म' सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[8] भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के विवाह इसी प्रकार के हैं। राम-सीता का विवाह, पारिभाषिक दृष्टि से, पूर्णतः किसी विशिष्ट प्रकार के अंतर्गत न होने पर भी ब्राह्मविवाह का ही उत्कृष्टतर क्षत्रियोचित रूप है। उसमें विद्याशीलवान् वर को परंपरानुसार अर्चनपूर्वक वस्त्रालंकार-सहित कन्यादान किया गया है, साथ ही वरवधू के परस्पर प्रेम एवं क्षत्रिय के लिए प्रशस्त कहे गये[9] आसुर विवाह की शक्तिमत्ता का परमोदात्त रूप भी है। राम-सीता के विवाह में वैदिक (धर्मशास्त्रविहित) और लौकिक (कुलक्रमागत) रीतियों का पालन किया गया।[10] तिलक[11], लग्न-दिन का निश्चय,[12] गणेशपूजन,[13] वरयात्रा,[14] परिछन,[15] वरपूजन[16] (मधुपर्क), वधूसत्कार,[17]

---

१. रा० १।२३७।२
२. रा० १।२२९, १।२३६।४
३. गी० १।७२।३, रा० १।२३६।४
४. रा० १।२५१।४
५. कवि० १।१५; कवि० १।१६
६. कवि० १।१७, गी० १।१०६।१; दुर्लभ— दुल्लभ— दुल्लह— दूलह
७. ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच
दे०—मनु० ३।२१, ३।२७-३४, याज्ञ० १।५८-६१, शंखस्मृति, ४।२
८. मनु० ३।२७, याज्ञ० १।५८
९. दे०—मनु० ३।२४
१०. जा० मं० १४२, १५०, १५६, रा० १।३१९।१, १।३२४।छं० ३; तु० दे०—पा० मं० १४४, रा० १।१०१।१
११. जा० मं० १२६
१२. रा० १।३१२।३-४, जा० मं० १२६, तु० दे०—रा० १।९१।२-३
१३. जा० मं० १२८, १३३, १४३, १६०, रा० १।३२३।छं० १, तु० दे०—रा० १।१००
१४. रा० १।३१३।४-१।३१७
१५. जा० मं० १४८, रा० १।३१७।छं०-१।३१८।छं०; तु० दे०—पा० मं० १३२
१६. जा० मं० १५७, तु० दे०—पा० मं० १३५
१७. रा० १।३२३।छं० २

शाखोच्चार,[1] रक्षासूत्र (कंकणबंधन),[2] पाणिग्रहण,[3] कन्यादान,[4] लावा,[5] होम,[6] ग्रंथि-बंधन,[7] भावँर,[8] सिंदूरदान,[9] सिलपोहनी,[10] कोहबर,[11] लहकौरि,[12] जुआ[13] आदि की विधियाँ संपन्न की गयी थीं। शिवविवाह के प्रसंग में तुलसी ने दाम्पत्य जीवन की दृढ़ता के सूचक ध्रुव-दर्शन के अनुष्ठान का भी वर्णन किया है।[14] विवाह की उपर्युक्त विधियाँ प्रतीकात्मक हैं जो दाम्पत्य-जीवन के आकर्षण, उत्तरदायित्व, स्थायित्व, पावनत्व, एवं मानव की शासिका तथा मोक्षदायिनी दैवी शक्ति के प्रति निष्ठा की अभिव्यंजना करती हैं।

परलोकवादी तुलसी ने **अंत्येष्टि-संस्कार** को भी महत्त्व दिया है। भरत ने वैदिक, पौराणिक तथा स्मार्त विधिविधान[15] के अनुसार दाहक्रिया, तिलांजलि, दशगात्र आदि का अनुष्ठान संपन्न किया।[16] दशरथ की मृत्यु का समाचार मिलने पर राम भी वशिष्ठ जी के आदेशानुसार वैदिक (अर्थात् धार्मिक) रीति से पिता की क्रिया करके पवित्र हुए।[17] "शव की समुचित व्यवस्था तथा उससे संबद्ध क्रियाओं तथा विधिविधानो के प्रमुख प्रयोजन हैं जीवित संबंधियों की मरणाशौच से मुक्ति तथा मृतात्मा को शांति प्रदान करना। जब तक ये क्रियाएँ और विधिविधान समुचित रूप से संपन्न नहीं किये जाते, मृतक का आत्मा परलोक में अपने स्थान को नहीं जाता, वह पितृलोक में स्थान भी नहीं प्राप्त कर पाता, पितृपूजा का सम्मानित स्थान भी उसे नहीं मिल पाता और वह प्रेत के रूप में अनभिमत रूप से संबंधियों के ही आस-पास चक्कर काटा करता है।"[18] मृत्यूपरांत अनुष्ठित होने पर भी इस संस्कार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि हिंदू की दृष्टि में इस लोक की अपेक्षा परलोक का मूल्य उच्चतर है। जन्मोत्तर संस्कारों के द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कार द्वारा परलोक को।[19] अतएव हिंदू कर्मकांडी इस संस्कार के अवधानपूर्वक संपादन पर विशेष बल देता है।

१. रा० १।३२४।छं० ३, तु० दे०—पा० मं० १४३
२. कवि० १।१७
३. रा० १।३२४।छं० ३, तु० दे०—रा० १।१०१।२
४. जा० मं० १६१, रा० १।३२४।छं० ३-४; तु० दे०—पा० मं० १४४, रा० १।१०१।१
५. जा० मं० १६२; तु० दे०—पा० मं० १४५
६. जा० म० १६२, रा० १।३२४।छं० ४; तु० दे०—पा० मं० १४५
७. रा० १।३२४।छं० ४; तु० दे०—पा० मं० १४६
८. जा० मं० १६२, रा० १।३२४।छं० ४-१।३२५।४
९. जा० मं० १६२, रा० १।३२५।४; तु० दे०—पा० मं० १४६
१०. जा० मं० १६२
११. जा० मं० १६४
१२. जा० मं० १६७; तु० दे०—पा० मं० १४६
१३. जा० मं० १६८; तु० दे०—पा० मं० १५०
१४. पा० मं० १४६
१५. दे०—मनु० ५।५८-१०५, याज्ञ० ३।१-१८
१६. रा० २।१६९-२।१७१।१
१७. रा० २।२४७-२।२४८।१
१८. हिन्दू संस्कार, पृ० २९९
१९. जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्।
—बौधायन-पितृमेधसूत्र, ३।१।४; हिन्दू संस्कार, पृ० २९९ पर उद्धत

राजधर्म—

वर्णाश्रमधर्म के ही अंगभूत गुणधर्म के अंतर्गत तुलसी ने राजधर्म और स्त्रीधर्म को भी विशेष महत्त्व दिया है। राजधर्म समस्त धर्माचारों का आधार तथा संचालक है और स्त्रीधर्म संपूर्ण समाजव्यवस्था के आधार गार्हस्थ का केंद्रबिंदु है। स्मृति,[1] पुराण[2] और इतिहास[3] ग्रंथों में राजधर्म का विस्तृत निरूपण किया गया है। उसी आदर्श के आधार पर तुलसी ने भी राजा के गुण-दोषों का निरूपण किया है।[4] सनातनधर्म में राजधर्म की श्रेष्ठता अप्रतिम है। उसका आश्रय भी महान् है और उसके फल भी बहुसंख्यक एवं परमकल्याणरूप हैं। उसके लोप से सभी धर्म लुप्त हो जाएँगे। जिस प्रकार हाथी के पदचिह्नों में सभी प्राणियों के पदचिह्न समा जाते हैं उसी प्रकार राजधर्म में सभी धर्म समाविष्ट हैं। अन्य सभी धर्म उसी में प्रतिष्ठित तथा उसी पर अवलंबित हैं।[5] धर्मशील राजा के राज्य में रहकर ही व्यक्ति अपने धर्म का विधिवत् पालन करके अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि कर सकता है। अतएव राजधर्म को इतना महत्त्व देना उचित ही है। तुलसीदास प्राचीन परंपरागत राजतंत्र के समर्थक हैं। उनके राम साम्राज्य-संस्थापक हैं।[6] एकातपत्र दशरथ और राम (के शासन में प्रजातंत्र का स्थान नहीं है फिर भी वे) प्रजातंत्र को गौरव देते हैं—

क. प्रमुदित मोहि कहेउ गुर आजू। रामहि राय देहु जुबराजू॥
जौं पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहि टीका॥[7]

ख. सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहौं न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सुहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥[8]

राजा के द्वारा उत्तराधिकार-निर्णय को आप्त मानते हुए भी[9] तुलसी ने राम के मुख से अत्यंत विनीत शब्दों में उसके अनौचित्य की अभिव्यंजना की है।[10] मनु की मान्यता है कि ईश्वर ने इंद्र आदि देवों के सारभूत अंश से राजा की सृष्टि की। वह नररूप में देवता है।[11] इसी विशिष्ट अर्थ में तुलसी ने भी उसे ईश्वर का अंश कहा है।[12] वह प्रजा का हृदय, गति, प्रतिष्ठा और सुख है।[13]

---

१. दे०—मनु०, अ० ७; याज्ञ०, आचाराध्याय, राजधर्मप्रकरण
२. अ० पु०, २२०-४२, मत्स्यपु० २१६-२७, २४०, मा० पु० २४
३. महा०, शान्ति०, राजधर्मानुशासन पर्व (विशेष कर अ० ५६-५८), सभा० ५, आश्रम० ५-७; वा० रा० १।७, २।१००, ३।३३, ६।६३
४. रा० ७।२०।४-७।३१, वि० ४४।६-८, १३६।१०-१२, १६५।४-५, दो० १८२-८६, गी० ७।१, २४
५. महा०, शान्ति० ६३।२५-२६, २८, ६४।१-२
६. रा० ७।२४।१ (कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे।)
७. रा० २।५।२
८. रा० ७।४३।२-३
९. रा० १।१५३।४, २।१७४।२
१०. रा० २।१०।४ (बिमल बंस येहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।)
११. मनु० ७।३-८
१२. रा० १।२८।४ (साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला।)
१३. महा०, शान्ति० ६८।५९

यह भी ध्यान देने योग्य है कि राजमद बड़ा कठिन होता है। उसने किसे कलंकित नहीं किया![1] इसीलिए तुलसी के राम का उपदेश है कि सुसेवित राजा को भी अपने वश में नहीं समझना चाहिए।[2]

राजा को विवेक, विराग, यम, नियम, शांति और सुमति से शासन करते हुए प्रजा की सुख-संपत्ति की अभिवृद्धि करनी चाहिए। उसे धर्मधुरंधर (श्रुतिपथ-पालक), सत्यवादी, श्रद्धावान्, अजेय, समर्थ, न्यायनिष्ठ, सुजान, आर्तरक्षक, दीनबंधु, दयालु, अशरणशरण, कष्टनिवारक, समदर्शी, पुण्यात्मा, सावधान, महोत्साह और नीतिनिपुण होना चाहिए।[3] राजा के नीतिधर्म के चार चरण हैं—साम, दान, दंड और भेद। ये भूप-गुण हैं। यद्यपि तुलसी ने राजा के द्वारा उपर्युक्त चतुर्विधराजनीति-पालन की श्रेयस्करता स्वीकार की है तथापि उनकी दृष्टि में वही राजा श्लाघ्य है जिसे दंडप्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।[4] राम के आदर्श राज्य में दंड केवल यतियों के करों में ही दृष्टिगोचर होता था, दूसरी ओर कलियुग के गवाँर, गोंड और यवन राजा केवल कराल दंड के बल पर ही शासन करते हैं।[5] राजा का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है नीतिपूर्वक प्रजापालन। भरत के प्रति राम ने साररूप में यही संदेश भेजा था।[6] प्राण देकर भी प्रजा की रक्षा करना राजा का महान् धर्म है।[7] जिसकी प्रजा सभी प्रकार के तापों से मुक्त, दोषरहित, सुखी और सर्वथा संतुष्ट हो; जिसके राज्य में धर्म के चारों चरणों का, वर्णाश्रमधर्म आदि सभी विधाओं का, धर्मशास्त्रानुसार पालन किया जाए; जिसके शासन में वैर, अन्याय, अत्याचार, पाप, अविद्या आदि का उन्मूलन एवं प्रीति, न्याय, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान आदि की प्रतिष्ठा हो; जिसके राज्य में चारों ही पदार्थ सुलभ हों; वह राजा महान् है।[8] रामराज्य इन सभी विशेषताओं से संपन्न था। जिसके शासन में प्रजा दुःखी हो, वह नृप निश्चय ही नरक का अधिकारी होता है। जिसके कारण ऋषि-मुनियों को कष्ट हो, वह राजा बिना आग के ही भस्म हो जाता है। जिस राजा को उसकी प्रजा प्राणसमान प्रिय नहीं है, वह शोक का विषय है। जो राजा धर्महीन, नीतिरहित और अन्यायी हो जाता है, जिसे योग्य मंत्रियों की मंत्रणा प्राप्त नहीं होती, उसका नाश अवश्यंभावी है।[9] सीता को वनवास देकर[10] राजा रामचंद्र ने धर्म का उल्लंघन

---

१. केहि न राजपद दीन्ह कलंकू। —रा० २।२२९।१
सबतें कठिन राजमदु भाई। —रा० २।२३१।३

२. भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ। —रा० ३।३७।४

३. रा० १।१३०।१-२, १।१५३।२, १।१५३, २।१०५।२-३, २।२३५।२-४, ७।२४।१, वि० ४४।८, १३९।१०-१२, १६५।४-५, गी० ७।२४।१-२, दो० ५२२-२३, ५२७; दे०—याज्ञ० १।३०९-११, महा०, शान्ति० ५७।११-१४

४. रा० २।१७२।२, ३।२१।४, ४।१९।१, ६।३८।४-५

५. दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज। —रा० ७।२२
साम न दान न भेद कलि केवल दंड कराल। —दो० ५५९

६. कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ।।
पालेहु प्रजहिं करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी।। —रा० २।१५२।२

७. महा०, शान्ति० ५८।२३

८. दो० १८२, रा० ७।२०-७।२१।२, वि० ४४।८, गी० ७।२४।१-२

९. रा० २।७१।३, २।१२६।२, २।१७२।२, ३।२१।४, ५।३७, ६।३८ क, दो० ५१४

१०. गी० ७।२५-२९

किया था। तुलसी ने उनकी चरित्ररक्षा के लिए कारणविशेष की निबंधना करके उनके इस आचरण को निर्दोष ठहराया है—

क. संकट सुकृत को सोचत जानि जिय रघुराउ।
सहस द्वादस पँचसत में कछुक है अब आउ॥
भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किए बनै बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहि और अनघ उपाउ॥
पालिबे असिधार-ब्रत, प्रिय प्रेम-पाल सुभाउ।
होइ हित केहि भाँति, नित सुबिचारु नहिं चित चाउ॥
निपट असमंजसहु बिलसति मुख-मनोहरताउ।
परम धीर-धुरीन हृदय कि हरष-बिसमय काउ॥[1]

ख. चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ।
दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ॥
प्रिया निज अभिलाष-रुचि कहि कहति सिय सकुचाइ।
तीय-तनय-समेत तापस पूजिहौं बन जाइ॥
जानि करुनासिंधु भावी-बिबस सकल सहाइ।
धीर धरि रघुबीर भोरहि लिए लषन बोलाइ॥
तात तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढ़ाइ।
बालमीकि मुनीस आस्रम आइयहु पहुँचाइ॥[2]

राजा का अस्तित्व प्रजा के लिए है। राम ने भरत को समासरूप में बतलाया है कि गुरुजनों के मंत्रानुसार पृथ्वी, प्रजा और राजधानी का विवेकपूर्वक पालन-पोषण ही राजधर्म का सर्वस्व है—

देसु कोसु पुरजन परिवारू। गुर पद रजहि लाग छरुभारू॥
तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥
मुखिआ मुखु सों चाहिअइ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक॥
राजधरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥[3]

स्त्रीधर्म—

यह पहले कहा जा चुका है कि अधिकारि-भेद से मोक्षोपाय भी भिन्न हैं। नारी[4] के लिए परमगति का केवल एक उपाय पतिभक्ति है।[5] पातिव्रत धर्म[6] ही उसका एकमात्र धर्म है। उसके

१. गी० ७।२५।१-४
२. गी० ७।२७।१-४
३. रा० २।३१५।४-२।३१६।१
४. स्त्रीधर्म के लिए द्रष्टव्य—मनु० ५।१४६-१६६, याज्ञ० १।७७-८७, प० पु०, २।४१, ब्र० वै० पु० ४।८३, भा० पु० ७।११
५. एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥ —रा० ३।५।५
सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ। —रा० ३।५क
दे०—वा० रा० २।११७।२४, प० पु० २।४१।११, भा० पु० ७।११।२५-२९, शि० पु० २।३।५४
६. पतिव्रतधर्म को तुलसी ने श्रमरहित बतलाया है (रा० ३।५।९)। उनका आशय यह है कि नारी योग आदि

समान दूसरा धर्म नहीं ।[1] राम ने जो सास-ससुर को सादर पूजा को नारी का अन्यतम धर्म बतलाया है,[2] वह सिद्धांत-वाक्य न होकर परिस्थिति एवं शालीनता के आग्रह का परिणाम है। वस्तुतः पति ही नारी के लिए सब कुछ है ।[3] जो नारी मनसा-वाचा-कर्मणा पति के चरणों में प्रेम करती है, उसी को अपना व्रत, नियम और धर्म समझती है, वह पतिव्रता है। दृष्टांतरूप में सीता का आदर्श ईक्षणीय है। पतिव्रताएँ चार प्रकार की होती हैं—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम—

> **जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं ॥**
> **उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥**
> **मध्यम पर पति देखै कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें ॥**
> **धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय स्रुति अस कहई॥**
> **बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई ॥[4]**

तुलसी ने 'अधम' नारी को मनसा व्यभिचारिणी होने पर भी पतिव्रता माना है। इसका कारण युगवैशिष्ट्य है—'**कलिकर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहि पापा।**'[5] नारी का घोरतम पाप पतिवंचना है। दोषाकर पति का भी अपमान करने वाली नारी नरक की अधिकारिणी होती है। कवि ने यह धर्म-देशना अनसूया-जैसी नारी के मुख से ही करायी है—

> **बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अतिदीना ॥**
> **ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥[6]**
> **पतिबंचक परपति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई ॥**
> **पति प्रतिकूल जन्म जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥[7]**

तुलसी ने नारी के धर्माधर्म और उसकी पुरुष-परतंत्रता का जो चित्रण किया है, वह आधुनिक युग के समतावादी आलोचक को खल जाता है। उसे लगता है कि कवि ने नारीजाति के प्रति घोर अन्याय किया है। रावण और समुद्र जैसे असज्जन पात्रों[8] ने ही नहीं, सामान्य नर-नारियों ने,[9] काकभुशुंडि[10] तथा भरत[11] जैसे संतों ने और स्वयं तुलसीदास[12] ने नारी-निंदा की है।

साधनाओं की साँसत से मुक्त रहकर पतिव्रतधर्म के पालन द्वारा मुक्ति प्रा त कर सकती है। वस्तुतः इस धर्म का पालन बड़ा कठिन कार्य है।

१. रा० १।१०२।२, ३।५।५; दे०—शि० पु० ७।२।११।१९-२०, ब्र० वै० पु० १।९।६७
२. येहि तें अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा ॥ —रा० २।६१।३
३. प० पु० २।४१।१५, ब्र० वै० पु० १।६।३८, १।९।६३-६४, २।४२।२१-२६
४. रा० ३।५।६-८; दे०—शि० पु०, २।३।५४।७२-७७
५. रा० ७।१०३।४
६. रा० ३।५।४-५; दे०—भा० पु० १०।२९।२५, शि० पु० २।३।५४।१९, ३१
७. रा० ३।५।८, १०
८. नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया ॥ —रा० ६।१६।१-२
ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥ —रा० ५।५९।३
९. रा० २।४७।४-दोहा
१०. भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं बिलोकी ॥ —रा० ३।१७।३
११. बिधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥ —रा० २।१६२।२
१२. जनम पत्रिका बरति कै देखहु मनहिं बिचारि।

उनके मर्यादापुरुषोत्तम राम ने भी नारी के विषय में निंदापरक वचन कहे हैं—

क. संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहु मोहिं सिखावन देहीं॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ॥
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं॥[1]

ख. काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥
सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोखै सब नारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहिं हरषप्रद बर्षा एका॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि देति दुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥
बुधि बलु सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥
अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
तातें कीन्ह निवारन मुनि मैं येह जिय जानि॥[2]

पार्वती, अनुसूया और शबरी जैसी आदर्श नारियों से भी नारी निंदा करायी गयी है।[3] तुलसीदास के उत्तमर्ण ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि उनमें नारी के विषय में प्रायः आदरभाव व्यक्त किया गया है।[4] तुलसी ने भी कौशल्या, सुमित्रा, सीता आदि नारियों का स्तवन किया है।[5] नारी के प्रति उनकी सहानुभूति है।[6] उनके काव्य में निबद्ध नायक-पक्ष के ही नहीं, प्रतिनायक-पक्ष के भी अधिकांश नारीपात्र समाज के श्लाघ्य आदर्श हैं। 'रामचरितमानस' पुरुष संतों की ही नहीं, चरित्रवती नारियों की भी विराट् प्रदर्शनी है। तो फिर तुलसी ने नारी के अवगुणों का इतना अधिक चित्रण क्यों किया? कारण स्पष्ट है। तुलसी की काव्यरचना का मुख्य प्रयोजन है रामभक्ति का निरूपण। भक्ति का प्रमुख साधन वैराग्य है। 'वैराग्य' का अर्थ होता है चित्तवृत्तियों की विषय-वितृष्णा। जीव की चित्तवृत्तियों में काम प्रबलतम है। पुरुष की कामरति का एकमात्र और विवशीकारक आलंबन नारी है।[7] कहा जा चुका है कि वैराग्य की उत्पत्ति तथा धारणा के लिए राग के विषय का बारंबार दोषदर्शन आवश्यक है। नारी के प्रति वैराग्य तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसके प्रति जुगुप्साभाव जागृत न हो जाए। यह

दारुन बैरी मीचु के बीच बिराजति नारि॥ —दो० २६८
(और भी दे०—रा० १।५३।३, २।१३।३, २।१४, २।१६, २।२७।१४)

१. रा० ३।३७।४-५
२. रा० ३।४३-३।४४
३. क्रमशः—रा० १।११०।१, १।१२०।२; ३।५क; ३।३५।१-२
४. मनु० ३।५८-५९, ९।४५, ९।१०१-२, प० पु० २।५९।९-३२, मा० पु० ६८।९-१०
५. दो० २१२, २१३, २१४, रा० १।१६।१-२, ५।३८।३
६. कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥ —रा० १।१०२।३
७. रा० ३।३८।६, ३।३८ख, ७।११५

तथ्य भी याद रखना चाहिए कि कवि ने जिस नारी की निंदा की है वह काम की आलंबनरूपा नारी है। तुलसी और उनके राम के **तरुणी, युवती** तथा **प्रमदा** शब्द इस निष्कर्ष की स्पष्टतया पुष्टि कर देते हैं।[1] मृगनयनी प्रमदा विद्वान् पुरुष को भी पथभ्रष्ट कर देती है।[2]

यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है कि नारी के काम का आलंबन पुरुष भी तो है। तो फिर पुरुष का दोषदर्शन कराकर, नारी के मन में उसके प्रति वैराग्य जगाकर, नारी के मोक्षमार्ग की व्यवस्था क्यों नहीं की गयी ? इसका उत्तर सनातन धर्म के संस्थापक, प्रसारक और पोषक देंगे। तुलसी ने तो हिंदूधर्म की विचार-परंपरा का पालन मात्र किया है। उनके राम ने अपने नारी-विषयक सिद्धांत-प्रतिपादन के उपक्रम में हा स्पष्ट कर दिया था '**सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता**।'[3] 'महाभारत' और पुराणों में भी नारी को पापयोनि, दुष्टस्वभावा, अविश्वसनीय, स्वैरिणी, धर्मघातिनी, अज्ञानवृक्ष, पापमूल, नरक की खानि, ज्वाला आदि कहा गया है।[4] 'योगवासिष्ठ' में नारी को मदिरा, आलान, दुःस्पर्शा, नरकाग्नि, दीर्घयामिनी, विषलता, शृंखला, चिंतामोह-शोक-कारिणी आदि कहकर 'वैराग्य-प्रकरण' के एक संपूर्ण सर्ग में स्त्रीजुगुप्सा का निरूपण किया गया है।[5] भर्तृहरि आदि ने भी नारी के निंद्यरूप का वर्णन किया है।[6] संत भक्तों की परंपरा में भी नारी के जुगुप्सित रूप का वैराग्यप्रेरक उद्घाटन किया जाता रहा है।[7] तुलसी ने उसी मार्ग का अनुसरण किया है।

राम और काकभुशुंडि ने नारी को 'माया' कहा है।[8] यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि माया दो प्रकार की है—विद्यारूपा और अविद्यारूपा। मायारूपा होने के कारण नारी के भी दो रूप हैं—विद्यारूप और अविद्यारूप। पुरुष को काम-विह्वल कर देने वाली युवती अविद्या-रूपा है। वही निंदा या जुगुप्सा का विषय है। कैकेयी और शूर्पणखा इसी प्रकार की कामिनियाँ हैं। मंथरा तो निरपराध है। अनसूया, कौशल्या आदि विद्यारूपा नारियाँ हैं। वे आदरणीय हैं। सीता का स्थान विशिष्ट है। वे संपूर्ण माया हैं; अतएव विद्यारूपा भी हैं और अविद्या-रूपा भी। वे रावण आदि के लिए अविद्यारूपा हैं। जब तक रावण इस अविद्यारूपा माया से दूर था, तब तक उसने सुख से दिन बिताये। अविद्यामाया के संबंध से ही उसका सर्वनाश हुआ। हनुमान्, तुलसी आदि के लिए सीता विद्यामाया हैं। उनके लिए पुरुषकाररूपा हैं। इसी प्रकार एक ही नारी किसी पुरुष के लिए मोह तथा कष्ट का कारण हो सकती है और किसी अन्य के लिए आह्लाद तथा कल्याण का। पहले के लिए वह अविद्यामाया है, दूसरे के लिए विद्या-माया। उसका पहला रूप निंद्य है और दूसरा श्लाघ्य।

धर्म-साधन—धर्म के साधन दो प्रकार के हैं—आध्यात्मिक और आर्थिक। आध्यात्मिक

---

१. दो० ४३८, २६६, रा० ३।४६ख, रा० ३।३७।५, ३।४४

२. मनु० २।२१३-१४; रा० ७।७०

३. रा० ३।४४।१

४. गीता, ९।३२; भा० पु० ७।१२।९, ९।१४।३६-३९; शि० पु० ५।२४।१५-१६

५. विशेष द्रष्टव्य —यो० वा० १।२१।९-१२, १४, १६, १८-२१, ३२-३४

६. वैराग्यशतक, २०; प्रश्नोत्तरी, ३

७. कबीर-वचनावली, प्रथम खंड, दो० ५५४-६०; संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ५८, ९१, १०३, ११५ १२४, २२३

८, रा० ३।४३, ७।११५ सो०

साधन धर्मसाधना के लिए अनिवार्य हैं। उनके भी दो रूप हैं—शारीरिक तथा मानसिक। दुर्लभ मानवशरीर साधन-धाम है।[1] वह धर्म का प्रथम साधन है।[2] सदारोगी व्यक्ति शव के समान असमर्थ है।[3] वह धर्म का आचरण कैसे कर सकता है? मानसिक साधन के भी दो रूप हैं—विधिरूप एवं निषेधरूप। विधिरूप साधन श्रद्धा है। उसके विना धर्म नहीं हो सकता।[4] धर्म की भूमिका के रूप में बतलायी गयी विप्रपदप्रीति[5] भी श्रद्धा का ही प्रकारांतर है। निषेधरूप साधन मानसरोगों का नाश है। धर्म के मानसिक साधन भी धर्म ही हैं। बाह्य आचरण की अपेक्षा आभ्यंतर साधन अधिक महत्त्वपूर्ण है।[6] साधन का दूसरा प्रकार आर्थिक है। आर्थिक साधन धर्म के लिए अनिवार्य नहीं हैं। इनका विशेष प्रयोजन अभ्युदयहेतुक धर्म के लिए है। धन के बिना धर्म नहीं हो सकता—तुलसी की यह मान्यता केवल द्रव्यसाध्य धर्मानुष्ठानों यज्ञ, दान, दया आदि के विषय में ही है।[7] धर्म के विघ्न भी दो प्रकार के हैं—आभ्यंतर और बाह्य। काम, क्रोध आदि चित्तवृत्तियाँ जीव को नरक के मार्ग पर ले जाती हैं।[8] अतएव वे आभ्यंतर विघ्न हैं। बाह्य विघ्न खल हैं। असुरों (खलों) से ही धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है। वे धर्मनिर्मूलक हैं।[9] धर्म को ग्रसनेवाले **कलियुग** का लक्ष्यार्थ भी **दुष्ट** ही है।[10]

अधर्म—उपरिविवेचित कर्तव्य कर्मों का अकरण एवं अकर्तव्य कर्मों का आचरण 'अधर्म' या 'पाप' कहलाता है। असंतों के लक्षण,[11] भरत की ग्लानि,[12] वसिष्ठ के उपदेश,[13] कलियुग-वर्णन,[14] नारियों के अवगुण आदि के प्रसंगों में तुलसी ने विविध पापों का निरूपण किया है। विविध कर्मों की भाँति पाप भी तीन प्रकार के हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। मनु और याज्ञवल्क्य ने पापकर्मों के क्रमशः सात और तीन वर्ग किये हैं।[15] तुलसीदास को भी, तारतम्य की दृष्टि से, पाप की तीन कोटियाँ मान्य हैं—महापातक, पातक और उपपातक।[16] 'पातक' का

---

१. रा० ७।४३।४; भा० पु० ६।१६।५८, ७।६।१, ११।७।४८, ११।६।२६
२. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। —कुमारसम्भव, ५।३३
३. रा० ६।३१।२
४. स्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। —रा० ७।६०।२
५. प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत स्रुति रीती ॥—रा० ३।१६।३
६. वामनपु० ४३।२५
७. रा० ३।२१।४; दम दुर्गम, दान दया मख कर्म सुधर्म अधीन सबै धन को। —कवि० ७।८७
८. काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। —रा० ५।३८
९. रा० १।१२१।३, १।१८३।३, ५।४६।३
१०. रा० ७।६७ क, वि० १३६।६
११. रा० ७।३६।१-७।४०, ७।१२१।६-१०
१२. रा० २।१६७।३-२।१६८।४
१३. रा० २।१७२।२-२।१७३।२
१४. दो० ५४५-५६०, कवि० ७।८३-८६, वि० १३६, रा० ७।६७।४-७।१०२।५
१५. महापातक, महापातकसमान, उपपातक, जातिभ्रंशकर, सङ्करीकरण, अपात्रीकरण और मलिनीकरण —मनु० ११।५४-७०
महापातक, पातक और उपपातक—याज्ञ० ३।२२५-४२ और उन पर मि०
और भी दे०—शि० पु० ५।६, अ० पु० १६८, मा० पु० १२-१४, ना० पु० १।१५
१६. कवि० ७।६६, रा० २।१६७।४

व्युत्पत्त्यर्थ है गिरानेवाला।[१] वे पाप जो जीव का अत्यंत पतन कर देते है उन्हें 'महापातक' कहा गया है। तुलसीदास ने मानवतावादी दृष्टि से परपीड़न[२] एवं शरणागत-त्याग[३] को; नैतिक दृष्टि से असत्य,[४] परनिंदा[५] तथा पिशुनता[६] को; और सामाजिक दृष्टि से अनुजवधू, भगिनी, पुत्रवधू एवं कन्या के साथ किये गये व्यभिचार,[७] तथा परपतिरति[८] को महापातक माना है। हरिनिंदा, ब्राह्मण, गुरु, माता, पिता, पुत्र, गाय, स्त्री और बालक की हत्या, तथा मित्र और राजा को विप देना भी[९] इसी वर्ग के अंतर्गत रखे जा सकते है। वेदनिंदा, पराये धन का अपहरण, कपट-कुटिलता, निषिद्ध भक्षण आदि पातक हैं।[१०] परस्त्रीगमन,[११] भृतकाध्यापन,[१२] नास्तिकता,[१३] द्रोह आदि व्यसन,[१४] आश्रमधर्म का त्याग,[१५] अपत्यविक्रय,[१६] वेदपुराण-विरोधी शास्त्रों का उपदेश[१७] आदि उपपातक हैं। उपर्युक्तवर्गीकरण से उपपातक आदि के विषय में उन्हें निर्बल समझने की भ्रांति न हो जाए इसलिए तुलसी ने धर्मशीलों को सावधान रहने के लिए समीचीन चेतावनी दे दी है—

'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।'[१८]

●

---

१. पातयन्तीति पातकानि। —याज्ञ० ३।२२७ पर मि०
२. परपीड़ा सम नहिं अधमाई। —रा० ७।४१।१
३. सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥ —रा० ५।४३
४. नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहि कि कोटिक गुंजा॥ —रा० २।२८।३
५. परनिंदा सम अघ न गिरीसा। —रा० ७।१२१।११, १२-१४
६. अघ कि पिसुनता सम कछु आना। —रा० (गीता प्रेस) ७।११२।५
७. अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकै जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥ —रा० ४।९।४
यहाँ पर लोचनीय है कि मर्यादावादी तुलसी ने याज्ञवल्क्य के 'लिङ्गं छित्त्वा' और नारद के 'शिश्नस्योत्कर्तनात्' (दे०—याज्ञ० ३।२३३ और उस पर मि०) का शब्दार्थग्रहण न करके केवल वध की बात कही है।
८. रा० ३।५।८
९. रा० २।१४७।२, २।१६७।३, ६।३२।१
१०. रा० २।१६८।१-२, ७।९८ क, दो० ५५०; मनु० ११।५६-५७, याज्ञ० ३।२२८-३०
११. रा० २।१६८।२, ७।१००।१; मनु० ११।५९, याज्ञ० ३।२३५
१२. रा० २।१६८।१, ७।९८।१; मनु० ११।६२, याज्ञ० ३।२३५
१३. वि० १३९।३, रा० ६।३१।२; याज्ञ० ३।२३६
१४. रा० १।१८४।३, ६।९२।२; याज्ञ० ३।२४० पर मि०
१५. कवि० ७।८५, रा० ७।९८।१; याज्ञ० ३।२४१
१६. कवि० ७।९६; याज्ञ० ३।२३६
१७. दो० ५५४-५६; मनु० ११।६५, याज्ञ० ३।२४२
१८. रा० ३।२१

सप्तम अध्याय

ज्ञान-पंथ

तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई ॥[1]
ज्ञानपंथ कृपान कै धारा।[2]

ज्ञान-लक्षण—'ज्ञान' का शाब्दिक अर्थ है—प्रकाश, भान, अवगम आदि।[3] पारिभाषिक दृष्टि से उसके दो अर्थ हैं। करणव्युत्पत्ति से उसका अर्थ है—वह साधन जिसके द्वारा विषय की प्रतीति हो।[4] यह ज्ञानवृत्ति (वृत्तिरूप ज्ञान) है। जब मोक्ष-साधन के रूप में ज्ञान की विचार-चर्चा की जाती है तब उसका अभिप्राय इसी वृत्तिरूप ज्ञान से ही होता है। भावव्युत्पत्ति से 'ज्ञान' का अर्थ है—आत्मा आदि तत्त्वों का अवबोध।[5] यह ज्ञानस्वरूप है। ब्रह्म को इसी अर्थ में ज्ञानस्वरूप कहा गया है। इस प्रकार 'ज्ञान' शब्द भाववृत्ति से तत्त्वज्ञान का भी व्यंजक है और करणवृत्ति से उसके साधन का भी।[6] ज्ञान के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वरवादियों के मतानुसार ज्ञानस्वरूप की प्राप्ति भगवान् की कृपा से किसी विरले को ही होती है, सभी को स्वाभाविक रूप से नहीं।[7]

जीव का निरूपण करते हुए तुलसी ने व्यक्त किया है कि ईश्वर, माया और अपने को न जानना ही जीव का 'अज्ञान' है।[8] अतएव व्यतिरेक से यह अर्थ निकलता है कि इन तीन तत्त्वों के स्वरूप का अवबोध 'ज्ञान' है। राम ब्रह्म हैं, परमतत्त्व या परमार्थ हैं, वेदांतवेद्य हैं।[9] अतएव उनका ज्ञान ही जिज्ञासु का चरम लक्ष्य है। अज्ञान को जाने बिना ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती,[10] अतः अज्ञान (अविद्यारूपा माया) का ज्ञान होना भी आवश्यक है। आत्मस्वरूप को भूल जाने के कारण ही जीव जड़बद्ध होकर क्लेशग्रस्त है अतः स्वरूपज्ञान भी अपेक्षित है। तुलसी की दृष्टि में उक्त तीनों अन्योन्याश्रित हैं। उनमें से किसी एक या दो का ज्ञान हो जाए और

---

१. वि० ११५।५
२. रा० ७।११६।१
३. दे०—सा० का० २३ पर गौड०
४. ज्ञानं ज्ञायते अनेन इति—गीता, १८।१८ पर शा० भा०
५. गीता, ३।४१ और ६।८ पर शा० भा०
६. ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या वृत्तिज्ञानम्,
ज्ञप्तिज्ञानमिति भावव्युत्पत्त्या संविज्ज्ञानम्।—सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह, पृ०८६
७. ब्र० सू० ३।२।५ पर शा० भा०; रा० २।१२७।१-२
८. रा० ३।१५
९. रा० ५।१।श्लोक १
१०. दो० २५१

शेष एक या दो का न हो—ऐसा नहीं हो सकता। राम का ज्ञान होने के साथ ही आत्मस्वरूप और संसार की मायिकता का, आत्मज्ञान के साथ ही संसार की व्यावहारिकता और राम की परमार्थता का, तथा संसार के मिथ्यात्व के साथ ही अपने दासत्व और राम के स्वामित्व का ज्ञान हो ही जाता है।[1]

'गीता' में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को 'ज्ञान' कहा गया है।[2] 'क्षेत्र' का अर्थ है शरीर और 'क्षेत्रज्ञ' का अर्थ है आत्मा (जीवात्मा तथा परमात्मा)।[3] बालि की मृत्यु पर तुलसी के राम ने तारा को इसी प्रकार का ज्ञान कराया था।[4] 'विनयपत्रिका' में स्वयं कवि ने और 'रामचरितमानस' में काकभुशुंडि ने भी क्षेत्र-शरीर एवं क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा के ज्ञान की प्रज्ञप्ति की है।[5] सापेक्ष दृष्टि से उक्त दोनों तत्त्वों की तुलना में परमात्मा ही मुख्य रूप से ज्ञेय है।[6] तुलसी की मान्यता है कि जिसको राम का ज्ञान नहीं हुआ उसका सारा ज्ञान व्यर्थ है।[7] तत्त्वतः परमात्मा ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप है; व्यावहारिक दृष्टि से ही उसे ज्ञेय कहा जाता है।

स्वरूप की दृष्टि से ज्ञान के दो प्रकार हैं—शास्त्राध्ययन की साधना से उत्पन्न **वाक्यज्ञान** और योगसाधना आदि से उत्पन्न **अनुभवरूप ज्ञान**।[8] पुराण आदि के श्रवण से लब्ध बोधमात्र तोता-रटंत ज्ञान है।[9] जिस प्रकार दीप की चर्चामात्र से अँधेरे घर का अंधकार दूर नहीं हो सकता, चित्रगत कल्पवृक्ष या कामधेनु से विपत्ति का नाश संभव नहीं है, षड्रस व्यंजन के बखानमात्र से क्षुधा-निवृत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार अनुभव के बिना वाक्यज्ञान मात्र से अज्ञान नहीं मिट सकता।[10]

ज्ञेय पदार्थ की दृष्टि से ज्ञान के दो रूप हैं—**व्यावहारिक और पारमार्थिक**।[11] इन्हीं को तुलसी ने नामांतर से **स्वार्थ-ज्ञान** और **परमार्थ-ज्ञान** भी कहा है।[12] देश-काल आदि का विचार तथा लोकव्यवहार का बोध व्यावहारिक ज्ञान है।[13] पूर्वोक्त वाक्यज्ञान, व्यवहारज्ञान तथा स्वार्थ-

१. दे०—वि० १८८
२. गीता, १३।२; दे०—अ० रा० ३।४।३८-३९
३. गीता १३।१, ५-६, अ० १३ पर शा० भा० की अवतरणिका, १३।२ पर शा० भा०
४. तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्हीं माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥ —रा० ४।११।२-३
५. वि० १३६।१, ७, ११; रा० ७।११७।१-२
६. गीता, १३।१२-१७
७. जानकीजीवनु जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है। —कवि० ७।३९
८. बाक्य-ग्यान अत्यंत निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृहमध्य दीपकी बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई॥ —वि० १२३।२
जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मन माहीं।
तुलसिदास तब लगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं॥ —वि० १२३।५
९. वि० १९७।२
१०. वि० १२३, १९७
११. वि० १२१।४, रा० ७।१०५।२
१२. रा० २।२५४।३
१३. दो० ४१४, रा० १।२८६

ज्ञान बाह्य ज्ञान हैं जो केवल लौकिक लाभ की सिद्धि करते हैं और जो मोक्ष के प्रत्यक्ष साधन नहीं है। वेदादि त्रिगुण्यविषय हैं; उनका क्षेत्र दुःखरूप संसार है।[1] उनका ज्ञान केवल शब्दज्ञान (वाक्यज्ञान) है।[2] इसी आधार पर उनके ज्ञान को उपनिषद्कार ने अपरा विद्या कहा है।[3] इसी दृष्टि से तुलसी ने मुनियों के बहुमत और पुराणों के बहुपंथ, षड्दर्शनों के वमत्य एवं तीन भ्रमों के परिहार की बात कही है।[4] अनुभवरूप ज्ञान आभ्यंतर ज्ञान है जो मोक्ष का साधक है। इस आभ्यंतर ज्ञान के दो सोपान हैं—ज्ञान और विज्ञान। मोक्षसाधकों तथा भगवान् के प्रेम-पात्रों के तारतम्य-निरूपण[5] और 'रामचरितमानस' के पंचम तथा षष्ठ सोपान की पुष्पिकाओं से यह सिद्ध है कि ज्ञान की उच्चतर अवस्था का नाम 'विज्ञान' है। अध्यात्मरामायणकार और शंकराचार्य ने दोनों का भेद-निरूपण करते हुए बतलाया है कि ज्ञान के साक्षात् अनुभव को 'विज्ञान' कहते हैं।[6]

भागवतकार ने आभ्यंतर ज्ञान के दो सोपान बतलाये हैं—परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान। भूतों में प्रकृति, पुरुष आदि अट्ठाईस तत्त्वों का और उनमें एक परमात्मतत्त्व का दर्शन ज्ञान अथवा परोक्षज्ञान है।[7] (उक्त प्रकार से भूतों की अनेकता न देख कर) जो त्रिगुणात्मक भावों की उत्पत्ति, स्थिति एवं अप्यय का कारण है; जो आदि, मध्य तथा अंत में स्रष्टा एवं शरण है; जो प्रतिसंक्राम के बाद भी शेष रह जाता है; और जो एकमात्र सत्य है; केवल उस परमतत्त्व का दर्शन अपरोक्षज्ञान या विज्ञान है।[8]

ज्ञान चित्त की दीप्ति है। वह प्रकाशस्वरूप है; उसके प्रभाव से मोहांधकार मिट जाता है।[9] उसके इस स्वरूप और कार्य के आधार पर ही उसे दीपक का उपमेय कहा गया है।[10] स्वप्नकारिणी मोहनिशा का नाशक होने के कारण वह सूर्य है।[11] ज्ञान चेतन जीव का स्वाभाविक धर्म है; किंतु साथ ही अज्ञान भी उसका धर्म है क्योंकि माया के कारण उसका स्वस्वरूपज्ञान विस्मृत

---

१. गीता, २।४५ और उस पर शा० भा०

२. छा० उ० ६।७।२, ७।१।२-३, बृ० उ० ४।४।२१

३. मु० उ० १।१।५

४. क्रमशः—वि० १७३।५, २५१।४, १११।४

५. रा० ७।५४।१-४, ७।८६।२-४

६. बुद्धिप्राणमनोदेहाहङ्कृतिभ्यो विलक्षणः।
चिदात्माहं नित्यशुद्धो बुद्ध एवेति निश्चयम्॥
येन ज्ञानेन संवित्ते तज्ज्ञानं निश्चितं च मे।
विज्ञानं च तदैवैतत्साक्षादनुभवेद्यदा॥ —अ० रा० ३।४।३८-३९
ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्च आत्मादीनामवबोधः विज्ञानं विशेषतस्तदनुभवः। —गीता, ३।४१ पर शा० भा०
ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणम्।
—गीता, ६।८ पर शा० भा०

७. भा० पु० ११।१९।१४, वि० ५४।२-३

८. भा० पु० ११।१९।१५-१६, वि० ५४।४

९. वि० १२३।५, रा० ७।११८।२

१०. वि० ४७।२, ४; रा० ७।११७ सो०
चित्तं निवातदीपवदचलम् —वे० सा०, पृ० १४

११. ज्ञान-भानु के प्रकास बासना सराग मोह-द्वेष निबिड़ तम टरे। —वि० ७४।२

हो जाता है। यही ज्ञान का नाश है। माया का आवरण हट जाने पर वह पुनः अपने स्वरूप को पहचान लेता है।[1] यही ज्ञान की उत्पत्ति है। तुलसी के 'बिनसइ उपजइ ज्ञान'[2] का यही तात्पर्य है। यह ज्ञान की संकोचविकासावस्था है।[3] वस्तुतः ज्ञान के नाश और उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

ज्ञान मोक्षप्रद है,[4] भवसंभव खेद को दूर करने वाला है,[5] परमपद कैवल्य का साधक है।[6] पाप[7] कर्म एवं पुनर्जन्म के आत्यंतिक नाश;[8] भवबंधन से मुक्ति;[9] तथा अमरत्व,[10] ईश्वरत्व,[11] और ब्रह्मत्व[12] की प्राप्ति के लिए ज्ञान की साधनता असंदिग्ध है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि 'बोधो मोक्षैकसाधनम्' और 'ज्ञानं विना मोक्षो न सिद्ध्यति' का सिद्धांत[13] तुलसी को मान्य नहीं है।[14]

ज्ञान-साधन—

प्रमाकारक ज्ञान-साधन—ज्ञान के प्रसंग में उसके साधनों का निरूपण भी आवश्यक है। ज्ञान के साधन द्विविध हैं—प्रमाकारक साधन और अनुभवकारक साधन। प्रमापक साधनों का ही नाम 'प्रमाण' है।[15] वे अज्ञात अर्थ के ज्ञापक हैं। उनके इसी धर्म के कारण शांडिल्य और नारायण तीर्थ ने उन्हें जीव के नेत्र कहा है।[16] विभिन्न तत्त्वचिंतक संप्रदायों में प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या स्वीकार की गयी है।[17] तुलसीदास ने प्रमाणों के स्वरूप, संख्या आदि का सैद्धांतिक निरूपण नहीं किया। आगमनात्मक विधि से अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते

---

१. रा० १।११६।४, ७।११७।१-२, वि० १३६।१, ११
२. रा० ४।१५ ख
३. ज्ञानस्य नित्यत्वे 'ज्ञानमुत्पन्नं ज्ञानं नष्टम्' इति व्यवहारः कथम्? इति चेत्, न। ज्ञानस्य संकोचविकासावस्थायामादाय तत्सम्भवात्। —यतीन्द्र०, पृ० ८७
४. रा० ३।१६।१; ग० पु० २।४९।८८, ना० पु० १।४।३२, वायुपु० २।४२।६६
५. रा० ७।११५।७; वि० पु० ६।७।२०
६. रा० ७।११९।१; ग० पु० २।४९।८७
७. छा० उ० ४।१३।२, ५।२४।३; गीता, ४।३६, १०।३
८. श्वे० उ० १।७, ११; गीता, ४।९
९. श्वे० उ० १।८, २।१५, वि० चू० ३७६
१०. यजु० ३१।१८, बृ० उ० ४।४।१४
११. गीता, ४।१०, उस पर शा० भा०
१२. मु० उ० ३।२।९
१३. आत्मबोध, २
१४. रा० ७।११५।१
१५. विभिन्न प्रमाणमीमांसक आचार्यों द्वारा बतलाये गये प्रमाण के विभिन्न लक्षणों के लिए देखिए—न्यायकुमदचन्द्र, पृ० २३, पा० टि० १
१६. ज्ञानसाधनानि च कति, तत्राऽऽह—त्रीण्येषां नेत्राणि शब्दलिङ्गाक्षभेदाद्रुद्रवत्। एषां जीवानां त्रीण्येव नेत्राणि अर्थप्रमापकानि प्रमाणानि···। —शा० भ० सू० ३।२।७ और उस पर भ० च०
१७. दे०—प्रमाणमीमांसा, १।१।९ पर वृत्ति; सां० का०, ४ पर डा० हरदत्त शर्मा के नोट्स; दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ श्रीवल्लभाचार्य, पृ० ३८

हैं कि कपिल,[१] पतंजलि,[२] मनु,[३] शांडिल्य,[४] रामानुज,[५] मध्व,[६] वल्लभ[७] आदि की भाँति उन्हें भी तीन प्रमाण मान्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।[८]

प्रत्यक्ष—इंद्रियजन्य ज्ञान के उत्कृष्ट कारण को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।[९] 'अक्ष' का अर्थ है इंद्रिय। प्रत्येक इंद्रिय की उसके विषय के प्रति वृत्ति 'प्रत्यक्ष' है। 'वृत्ति के दो अर्थ हैं—संनिकर्ष और ज्ञान। इस प्रकार इंद्रिय और विषय के संनिकर्ष को भी 'प्रत्यक्ष' कहा गया है एवं इंद्रियार्थसंनिकर्षजन्य ज्ञान को भी।[१०] व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष प्रमाण बलवत्तम और सर्वाधिक उपयोगी है। इसीलिए दूसरों की सुनी-सुनायी और स्वानुमित बात को भी अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए तुलसी ने प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसकी संपुष्टि का कथन किया है।[११] कलियुग के गुरुशिष्य का अंधवधिरवत् आचरण प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव का ही सूचक है—

गुरु सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥[१२]

प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही 'अनुभव' पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। तुलसीदास ने अनुभवजन्य ज्ञान की भी चर्चा की है।[१३] उन्होंने भगवान् राम को अनेक बार 'अनुभवगम्य' कहा है।[१४] 'अनुभव' शब्द के प्रयोगों से सिद्ध है कि उन्होंने दो प्रकार के अनुभवों की चर्चा की है। उन्हे हम ऐंद्रिय[१५] और अतींद्रिय[१६] अनुभव कह सकते हैं। ऐंद्रिय अनुभव व्यावहारिक ज्ञान है। इंद्रियार्थसंनिकर्षजन्य ज्ञान होने के कारण यह तर्कशास्त्रियों के 'प्रत्यक्ष' के ही अंतर्गत है। अतींद्रिय अनुभव पारमार्थिक ज्ञान है। परमार्थरूप राम अथवा स्वस्वरूप के जिस अनुभव का उल्लेख तुलसी

---

१. सा० सू० १।८७; सा० का० ४
२. यो० सू० १।७
३. मनु० १२।१०५
४. शा० भ० सू० ३।२।७
५. दे०—भा० द० (उ० मि०), पृ० ४१६
६. रामानुजसिद्धान्तसार, पृ० ४
७. दे०—दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ श्रीवल्लभाचार्य, पृ० ४४
८. लोक बिलोकि पुरान बेद सुनि समुझि बूझि गुरु ज्ञानी। —वि० १६४।४
९. प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षणों के लिए दे०—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २४-२५
१०. न्यायसूत्र, १।१।३-४ और उन पर वा० भा०; तर्कभाषा, पृ० २७; कारिकावली, ५२ पर मुक्तावली
११. रा० २।१४।२, ४।२२।१, ६।२२।३, ७।६१।१; वि० ३४।२; कवि० ७।७४, ९७; वै० सं० ४०
१२. रा० ७।९९।३
१३. उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥ —रा० ३।३९।३
निज अनुभव अब कहौं खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥ —रा० ७।८९।३
१४. जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ —रा० ३।१३।६
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं। —रा० ७।१३। छं० ६
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥ —रा० ७।१११।२
१५. तुलसी तू अनुभवहि अब राम बिमुख की रीति। —दो० ७३
बंचक बिषय बिबिध तनु धरि अनुभवे सुने अरु डीठे। —वि० १६९।२
१६. निज सहज अनुभव रूप तव खल! भूलि अब आयो तहाँ। —वि० १३६।२
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा। —रा० ७।११८।१
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी। —वि० १६७।४

ने किया है वह इंद्रियों से परे की वस्तु है; देशकाल की परिधि के बाहर है।[1] वह प्रमाण का फल न होकर साधना का फल है। अतएव उस अनुभव को 'प्रमाण' के अंतर्गत न रखना ही समीचीन है। जिस अनुभव के द्वारा व्यावहारिक ज्ञान होता है, वह लोक-सामान्य प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। पारमार्थिक ज्ञान (राम की अनुभवगम्यता) प्रमाण की सीमा के परे है।

राम प्रमातीत और प्रमाणातीत हैं। तुलसी ने उन्हें 'अप्रमेय'[2] कहकर इस विषय में संदेह के लिए अवकाश ही नहीं रहने दिया है। प्रमा प्रमाणजन्य बौद्धिक अनुभव है।[3] और राम बौद्धिक एवं मानसिक तर्कशक्ति के सर्वथा परे हैं।[4] 'नेति नेति', 'अमाना', 'मनगुनपार', 'ज्ञानगिरागोतीत' आदि पद राम की अप्रमेयता का ही बारंबार ज्ञापन करते हैं।[5] अतएव अप्रमेय राम के ज्ञान के लिए प्रमाण का प्रश्न ही नहीं उठता। परंतु तुलसी ने राम को 'ज्ञानगम्य' भी कहा है।[6] जो ज्ञेय है वह किसी-न-किसी प्रमाण के द्वारा ही तो ज्ञेय होगा। लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस राम को तुलसी ने ज्ञानगम्य कहा है, उसी को 'चेतनघन', 'ज्ञानातीत', 'विशुद्धबोधविग्रह', 'ज्ञानघन' और 'बोधमय' आदि भी कहा है।[7] यह पहले कहा जा चुका है कि राम के इन विरोधी गुणों का कथन उनकी अनिर्वचनीयता और अज्ञेयता का प्रतिपादन करने के लिए ही किया गया है। तुलसी के राम 'अनुभवगम्य' भी हैं—इससे यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि वे 'अनुभव' को प्रमाण मानते हैं और राम को प्रमेय। उन प्रसंगों में 'अनुभवगम्य' का अर्थ है—अनन्यबोधात्मतया स्वानुभवगम्य।[8]

'ज्ञान' और 'अनुभव' दोनों समानार्थी हैं, दोनों में साध्यसाधनसंबंध नहीं है। अतएव अनुभव को ज्ञान (तथाकथित प्रमा) का साधन या प्रमाण मानना उचित नहीं। योगियों के परमसुख के अनुभव, आत्मानुभव आदि के स्थल[9] भी अनुभव की ज्ञानस्वरूपता की पुष्टि करते हैं। और इस अनुभव की सिद्धि प्रमाणों द्वारा असंभव है। राम को जानने की जो बात तुलसी ने कही है[10] उसका तात्पर्य है राम की अतींद्रिय अनुभूति, उनका अलौकिक साक्षात्कार। चार्वाकों के इंद्रियप्रत्यक्ष तथा नैयायायिकों के बाह्यांतरप्रत्यक्ष से भिन्न वेदनरूप प्रत्यक्ष को ही परमात्मज्ञान के विषय में एकमात्र प्रमाण मानने वाले योगवासिष्ठकार ने भी अनुभूति के द्वारा (परमात्मा या आत्मा की) अनुभूति का निरूपण करके इसी सिद्धांत की प्रस्थापना की है।[11] प्रमाणकृत प्रमा में चार वस्तुओं का अस्तित्व है—प्रमेय, प्रमाता, प्रमाण और प्रमा। राम का ज्ञान होते ही ये सारे

---

१. के० उ० १।३; रा० ७।१११।३, वि० १६७।५
२. रा० ३।३२। छं० २, ५।१। श्लोक १
३. दे०—कारिकावली, ५१ और उस पर मुक्तावली
४. रा० १।१२१।२, ६।७४।१
५. रा० १।१२, १।१६२। छं० २, १।१९९, २।१२६ सो०, ६।११७क, ७।२५
६. अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई। —रा० १।२११। छं० २
७. रा० १।२३।३, १।१९२। छं० २, ३।४। छं० ५, ६।१११। छं० ३
८. तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोधात्मतया न चान्यथा॥ —भा० पु० १०।१४।६
९. वि० १६७।४, रा० ७।११८।१
१०. रा० १।४९, २।१२७।१-२, ७।७३क
११. यो० वा० २।१९।१६-१९; ५।६४।५३

भेद मिट जाते है—'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'[1] इस पर दो आपत्तियाँ की जा सकती हैं—

१. ज्ञानोदय के बाद प्रमाण की उपयोगिता न सही, उसके पहले तो है और प्रमाण की सार्थकता इसी बात में है कि वह प्रमा करा दे। इसका उत्तर यह है कि पारमार्थिक ज्ञान प्रमा है ही नहीं। जहाँ सब प्रमाणों का अंत हो जाता है, वहाँ से ईश्वर का प्रारंभ होता है। पारमार्थिक ज्ञान से प्रमाता ही बदल जाता है। मानसिक दृष्टि से उसका कायाकल्प हो जाता है। उसकी अहंता का अंत, मनोनाश, हो जाता है। अतएव प्रमाता के अभाव में प्रमा का अस्तित्व ही संभव नहीं है। यदि यह कहा जाए कि प्रमा के दो भेद हैं—व्यावहारिक और पारमार्थिक, तो फिर यही क्यों न माना जाए कि प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—व्यावहारिक अथवा ऐंद्रिय (इंद्रियार्थसंनिकर्षजन्य) और पारमार्थिक अथवा अतींद्रिय (आत्मानुभवरूप) प्रत्यक्ष। प्राचीनों ने भी प्रत्यक्ष के दो रूप अपरप्रत्यक्ष एवं परप्रत्यक्ष अथवा सांव्यवहारिक एवं पारमार्थिक प्रत्यक्ष[2] मानकर इस प्रकार की मान्यता का आदर किया है। यदि इस प्रकार का वर्गीकरण किया जाए तो तुलसीदास का पूर्वोक्त 'आतम अनुभव', 'सहज अनुभव' या 'हरिपद अनुभव' नैयायिक भासर्वज्ञ के योगिप्रत्यक्ष[3] के अंतर्गत औचित्यपूर्वक रखा जा सकता है।

२. दूसरी आपत्ति यह की जा सकती है कि अद्वैतवेदांत की ज्ञानदशा में तो प्रमाता आदि का भेद अवश्य तिरोहित हो जाता है परंतु तुलसी की वैष्णव भेदभक्ति में भक्त (प्रमाता), भगवान् (प्रमेय), भक्ति (प्रमा) और अनुभव (प्रमाण) की सत्ता बनी रहती है। अतएव राम को प्रमेय मानने में कोई बाधा नहीं है। इसका समाधान यह है कि भक्ति प्रमा नहीं है, ज्ञानस्वरूपा भी नहीं है। वह द्रुतचित्त की भगवदाकारता है और ज्ञान दीप्तचित्त की विषयाकारता। पूछा जा सकता है—जब राम प्रमेय नहीं हैं, इंद्रियों और बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं हैं, तब फिर राम का इतना वर्णन कैसे हुआ? राम के अस्तित्व का पता ही कैसे लगा? दोनों ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण और समीचीन हैं। तुलसी ने दोनों का स्पष्ट उत्तर दिया है। राम का जो कुछ वर्णन हुआ है वह मुनिजनों का स्वमतिविलास है।[4] राम वाणी, मन और बौद्धिक तर्क के परे हैं। जिस मुनि को राम की जितनी अनुभूति हो गयी उसने उनका उतना निरूपण कर दिया। उनकी अप्रमेयता के कारण ही मंत्रद्रष्टा ऋषियों को भी उनका स्वरूप-निरूपण करते हुए 'नेति नेति' कह कर संतोष करना पड़ा।[5] ईश्वर के अस्तित्व के विषय में शब्द ही एकमात्र प्रमाण है। और उसकी भी उपयोगिता एक सीमा तक होने के कारण व्यावहारिक है। इसी अर्थ में भक्ति भी शब्द प्रमाण के द्वारा ही

---

१. रा० २।१२७।२

२. न्यायकुमुदचन्द्र, प्रस्तावना, पृ० ६७—
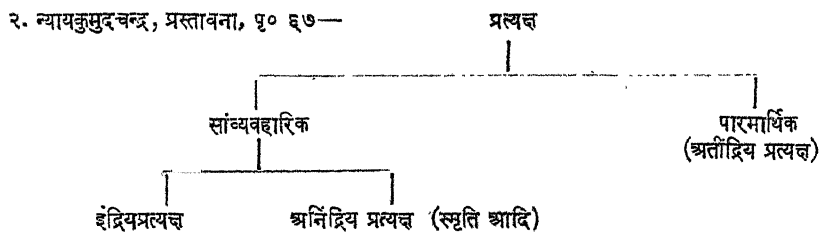
३. योगिप्रत्यक्षम् देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। —इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द २, पृ० ७८३

४. रा० १।१२१।२, ७।९२।छं०

५. नेति नेति जेहि बेद निरूपा। —रा० १।१४४।३

प्रमेय है।[1]

प्रत्यक्ष प्रमाण की अपनी सीमाएँ और कमजोरियाँ हैं। अतिदूरता, समीपता, इंद्रियघात, चित्तव्यग्रता, सूक्ष्मता, व्यवधान और समानाभिहार के कारण वह कुंठित हो सकता है।[2] दिक् और काल का साक्षात् प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। बीस नेत्रों के होते हुए भी रावण काल को नहीं देख सका।[3] जहाँ पर तुलसी काल को बिलोकने की बात करते हैं[4] वहाँ कार्यकारणभाव से काल का लक्ष्यार्थ है काल का कार्य। आत्मा और परमात्मा तो लौकिक प्रत्यक्ष के सर्वथा परे हैं। राम का प्रत्यक्ष हो जाने पर भी सती, सीता-स्वयंवर में आगत अभिमानी राजाओं, रावण, गरुड़ आदि को उनका ज्ञान नहीं हुआ।

अनुमान—दूसरा प्रमाण 'अनुमान' है। लिंग-परामर्श का नाम 'अनुमान' है।[5] अर्थात् अनुमान वह प्रमाण है जो लिंग से लिंगी अथवा लिंगी से लिंग का ज्ञान कराता है।[6] सामान्य प्रचलित भाषा में, जब हम पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर तर्कना के द्वारा यथार्थ की प्रतीति करते हैं तब उस तर्कना को 'अनुमान' कहते हैं। इस प्रकार लोकव्यवहार में धूम को देखकर अग्नि का, बादल को देखकर वर्षा का, दंड को देखकर यति का, ज्ञान हमें अनुमान प्रमाण से प्राप्त होता है।

तुलसी के साहित्य में व्यक्त अनुमान भी दो प्रकार का है—व्यावहारिकज्ञानसंबंधी और आध्यात्मिक। लोक-व्यवहार की दृष्टि से एक उदाहरण लीजिए—

कहहिं सपेम एक एक पाहीं। रामु लखनु सखि होहिं कि नाहीं।।
बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली।।
बेषु न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा।।
नहिं प्रसन्नमुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ येहि भेदा।।
तासु तरक तियगन मन मानी। कहहिं सकल तेहि सम न सयानी।।[7]

उपर्युक्त उद्धरण में 'तरक' शब्द अनुमान प्रमाण का ही पर्याय है। यहाँ पर वनपथ की नारियों ने दृष्ट ज्ञान के आधार पर परामर्श के द्वारा ही भरत-शत्रुघ्न के यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि की अभिव्यंजना की है। अतएव यहाँ अनुमान प्रमाण है। तुलसीदास ने अनुमान प्रमाण का उल्लेख अनेक अन्य स्थलों पर भी किया है। सती,[8] भरत[9] आदि और स्वयं कवि ने[10] भी अनुमान के

१. शा० भ० सू० १।२।६-११
२. सा० का० ७
३. काल न देखत कालबस, बीस-बिलोचन-अंधु ।। —रा० प्र० ५।३।६
४. काल कराल बिलोकहु होइ सचेत। —ब० रा० ४६
५. तर्कभाषा, पृ० ३१; कारिकावली, ५२ पर मुक्तावली
६. सा० का० ५ और उस पर गौड०
७. रा० २।२२२।१-३
८. सती हृदय अनुमान किअ सबु जानेउ सर्बग्य। —रा० १।५७ क
९. देखा भरत बिसाल अति निसिचर मन अनुमानि। —रा० ६।५८
१०. अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरौं ।। —वि० १४१।१
आगिली-पाछिलो, अबहूँ की अनुमान ही तें
बूझियत गति, कछु कीन्हों तो न काउ मैं। —वि० २६१।४

सहारे यथार्थज्ञान की प्रतीति की है। पारमार्थिक सत्य के निरूपण और उसके अनुभव में सहायकरूप अनुमान को भी उन्होंने यथास्थान स्थान दिया है। उदाहरणार्थ—

बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ज्ञान ।।
मैं अपने मन बैठ तब करौं बिबिध अनुमान ।।
क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान ।।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ।।[1]

अथवा—

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ।।[2]

यहाँ भी यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुमान की यह उपयोगिता आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित प्रमाण की व्यावहारिकता के स्तर तक ही है। अनुमान ब्रह्मानुभूति का साधकतम कारण नहीं है। अतः उसे परमार्थज्ञान का प्रमाण नहीं माना जा सकता। 'उपमान' भी अनुमान के ही अंतर्गत है।[3] आलंकारिक सौंदर्यवर्धन के उद्देश्य से तुलसी ने पग-पग पर रमणीय उपमानों की योजना की है। किंतु वे उपमान यथार्थज्ञान के कारणरूप बौद्धिक व्यवसाय न होने के कारण प्रमाणकोटि में नहीं आते।

अनुमान की भी अपनी सीमाएँ हैं। अनेक प्रकार के हेत्वाभासों के कारण उसकी प्रमापकता नष्ट हो सकती है। कैकेयी ने वरयाचना द्वारा भरत के ऐश्वर्यभोग का, पंचवटी-स्थित लक्ष्मण ने ससैन्य भरत के आगमन के हेतु का,[4] विभीषण की शरणागति पर बानरों ने उनकी निशाचरी माया का,[5] जो अनुमान किया था वह यथार्थ न होकर भ्रामक सिद्ध हुआ। यह तो व्यावहारिक बात हुई। पारमार्थिक दृष्टि से, राम का ज्ञान अनुमान और तर्क के परे है—

मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।।[6]
चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी ।।
अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी ।।[7]

राम ही नहीं राम और भरत की प्रीति भी अनुमान के द्वारा प्रमेय नहीं है—

देबि परन्तु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ।।[8]

'मति अनुमानि निगम अस गावा।'[9] जैसी पदावली शब्दप्रमाण का समर्थन करती है, न कि अनुमान का। दूसरे, यहाँ पर अनुमान के द्वारा राम का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उक्त संदर्भ की परवर्ती पंक्तियों में जो कुछ प्रतिपादित किया गया है[10] वह स्वयं ही राम के विषय में अनुमान की

---

१. रा० ७।१११
२. रा० १।११८।२
३. यथा—सीतल बानी संत की, ससि हू ते अनुमान।
 तुलसी कोटि तपनि हरै जो कोउ धारै कान ।। —वै० सं० २१
४. रा० २।२२८।१-२।२२६।२
५. रा० ५।४३।१-४
६. रा० १।३४१।४
७. रा० ६।७४।१
८. रा० २।२८६।३
९. रा० १।११८।२
१०. 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना ।।' आदि—रा० १।११८।३

अप्रमाकता का प्रमाण है।

शब्द—तीसरा प्रमाण शब्द प्रमाण है। आप्तवचन या आप्तोपदेश को 'शब्द' प्रमाण कहा गया है।[1] यहाँ पर 'आप्त' शब्द विशेष्य और विशेषण दोनों रूपों में लिया जा सकता है। जिसने धर्म का साक्षात्कार कर लिया है, जो यथादृष्ट अथवा यथाभूत अर्थ का उपदेष्टा है, उसे 'आप्त' कहते हैं।[2] विशेषण रूप में, 'आप्त' का अर्थ है युक्त। इस प्रकार प्रमाण की दृष्टि से, आप्त जनों के युक्तवचन का नाम 'शब्द' है।[3] तुलसीदास की दृष्टि में आप्तवचन की गरिमा कितनी अधिक है यह बात इसी एक तथ्य से प्रमाणित हो जाती है कि नानापुराण-निगमागमादि-संमत रामकथा को श्रद्धालु बोद्धव्य जनों के लिए और भी अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने 'रामचरितमानस' के तीन घाटों पर शंकर, याज्ञवल्क्य और काकभुशुंडि जैसे आप्त वक्ताओं की योजना की।

यथार्थज्ञान कराने में असमर्थ प्रत्यक्ष और अनुमान से उत्पन्न भ्रांति का निराकरण आप्त-वचन से हो जाता है। पार्वती और गरुड़ के तत्प्रकारक अज्ञान के निवारक शंकर और काक-भुशुंडि के प्रामाणिक वचन इस बात के प्रमाण हैं।[4] व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के ज्ञान के लिए तुलसी ने शब्द प्रमाण की मान्यता पर बल दिया है। लौकिक अर्थप्रतीति प्रायः प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा भी हुआ करती है। अतएव लोकजीवन में इन प्रमाणों की सार्थकता शब्द की अपेक्षा कम नहीं है। परंतु आध्यात्मिक क्षेत्र में शब्द का स्थान निस्संदेह उच्चतर है। तुलसी के प्रतिपाद्य भगवान् राम हैं जो अन्य प्रमाणों के द्वारा अग्राह्य हैं। उनके ज्ञान के लिए शब्द ही एकमात्र सहायक प्रमाण है। इसीलिए तुलसी, उसे सर्वाधिक गौरव देते हुए, कहते हैं—

बेद कह्यो, बुध कहत हैं, अरु हौंहुँ कहत हौं टेरि।
तुलसी प्रभ साँचो हितू, तू हियकी आँखिन हेरि॥[5]

उपर्युक्त उद्धरण में 'बेद' शब्द श्रुति के साथ ही वेदमूल स्मृतियों एवं इतिहास-पुराणों का भी द्योतक है।

शब्द प्रमाण के रूप में शंकर और रामानुज ने प्रस्थानत्रयी—**वेद** (**उपनिषद्**-समेत), **'गीता'** और **ब्रह्मसूत्र**—को विशेष आप्त माना है।[6] निंबार्क और मध्व ने 'भागवत' का भी आदरपूर्वक उल्लेख किया है किंतु उसे उपर्युक्त त्रयी के समकक्ष रखने में उन्हें संकोच है। वल्लभ ने प्रस्थानचतुष्टय स्वीकार करते हुए 'भागवत' को भी प्रथम तीन के समकक्ष स्थान दिया है।[7] श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण तुलसीदास की प्रस्थानचतुष्टयी हैं। सभी शब्द प्रमाण नहीं हैं।

---

१. सा० का० ४-५; न्यायसूत्र, १।१।७

२. न्यायसूत्र, १।१।७ पर वा० भा०; तर्कभाषा, पृ० ४६

३. सा० का० ५ पर वाच०

४. सुनि सिव के भ्रमभंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना॥ —रा० १।११६।४
तव प्रसाद मम मोह नसाना। राम रहस्य अनूपम जाना॥ —रा० ७।९३।४

५. वि० १६०।७

६. दे०—दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ श्रीवल्लभाचार्य, पृ० ७६

७. वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥ —तत्त्वदीप, १।७

तुलसी की दृष्टि में वेद, वेद के उपवृंहक शास्त्र और वेदज्ञ तथा वैदिक धर्मानुसारी साधुओं के वचन ही आप्त हैं। गौतमबुद्ध आदि के वचन 'युक्त' नहीं हैं।[1] अवतार होने पर भी वेदनिंदक होने के कारण गौतमबुद्ध लोकनिंदित हुए।[2] वेद-प्रतिकूल वचन आप्त न होकर घोर पातक, अज्ञता-अंधता आदि का सूचक है।[3]

बादरायण ने ब्रह्म को 'शास्त्रयोनि' कहकर शास्त्र के द्वारा ही उसकी ज्ञेयता प्रतिपादित की है।[4] सभी वेदांताचार्यों ने एकमत से इसका विशद व्याख्यान किया है। अनुभव और तर्क भी श्रुति द्वारा समर्थित होने पर ही प्रामाणिकता प्राप्त करते हैं। वल्लभ[5] आदि ने अनेक स्थलों पर अचिंत्य ब्रह्म को तर्क-युक्ति से अग्राह्य बतलाकर उसके ज्ञान के लिए शब्द को ही एकमात्र प्रमाण माना है। भगवान् की भक्ति भी श्रुतियों द्वारा प्रमेय है।[6] शब्द-प्रमाण के क्षेत्र में वेद अन्यतम हैं। सनातन धर्म की दृष्टि में वे अपौरुषेय हैं।[7] श्रुति और स्मृति उन्हें परमात्मा का निःश्वास बतलाती हैं।[8] शंकराचार्य का अनुसरण करते हुए तुलसी ने भी उन्हें परमात्मा का सहज श्वास माना है।[9] अतएव वे मूल प्रमाण या परम प्रमाण हैं।[10]

वेद की महिमा अपार है। तुलसी ने वेद, निगम और श्रुति आदि शब्दों के पौनःपुनिक प्रयोग द्वारा उनकी परमप्रामाणिकता का बखान किया है। उनके प्रयोग में कवि ने बड़ी उदारता दिखलायी है। कहीं-कहीं तो उनका प्रयोग वेद[11] अथवा वैदिक साहित्य[12] के अर्थ में किया गया है, परंतु सामान्यतः वे आप्त ग्रंथों के ही व्यंजक हैं[13]—यहाँ तक कि जहाँ पर कवि ने वेदों या श्रुतियों की संख्या (चार) का उल्लेख कर दिया है वहाँ भी वेद या श्रुति शब्द से पुराण आदि ग्रंथों की ही प्रतीति होती है।[14] इन शब्दों के इतने अधिक अर्थ-विस्तार को शास्त्रीय दृष्टि से संगत नहीं कहा जा सकता। परंतु यह तथ्य भी अनुपेक्षणीय है कि तुलसी शास्त्रकार नहीं हैं, कवि हैं। उन्होंने उक्त शब्दों का लोकव्यवहारानुसार सामान्य प्रचलित अर्थ में प्रयोग किया है। भाषा-

---

१. आप्तग्रहणेनाऽयुक्ता शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति।
—सा० का० ५ पर वाच०

२. अतुलित महिमा बेद की तुलसी किए बिचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥ —दो० ४६४

३. अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्हकें सूझ लाभु नहिं हानी॥ —रा० १।११५।१-२

४. शास्त्रयोनित्वात्। —ब्र० सू० १।१।३

५. वेदादेव ब्रह्मस्वरूपज्ञानम्। —ब्र० सू० ३।२।२७ पर अणुभा०

६. दे०—शा० भ० सू० १।२।९ (भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः) और उस पर भ० च०

७. मनु० १।२३; सा० का० ५ पर वाच०

८. बृ० उ० २।४।१० और उस पर शा० भा०, शा० भ० सू० ३।१।५ पर भ० च०

९. जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥ —रा० १।२०४।३

१०. मनु० २।६, २।१३, याज्ञ० १।७

११. मनहुँ सकल श्रुति ऋचा मधुप ह्वै बिसद सुजस बरनत बर बानी। —गी० १।२३।५

१२. रा० १।११८, १।१४४।३; रा० १।२०३।४, वि० २५१।४; रा० ७।११७।३

१३. रा० १।१०८।३, वि० ९९।१; गी० १।१०८।१०, ७।७।७; रा० ४।७।३, ७।१२ क

१४. रा० १।१४। सो० २; रा० १।२२।४, ३।५क

कवि की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है। पूर्वोक्त शब्द उपनिषद् के भी ज्ञापक हैं। तुलसी ने नाम-निर्देशपूर्वक भी उपनिषद् के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है।[१]

वेदमूल स्मृतियाँ, इतिहास और पुराण भी श्रुतियों की ही भाँति आप्तवचन हैं।[२] 'स्मृति' शब्द का प्रयोग पाणिनीय व्याकरण, श्रौत-गृह्य-धर्म-सूत्रों, महाभारत, मनुस्मृति आदि श्रुतीतर शास्त्रग्रंथों के लिए हुआ है।[३] शंकर के अनुसार ब्रह्मसूत्रों में इस शब्द का व्यवहार 'महाभारत', 'गीता' और 'मनुस्मृति' आदि के लिए हुआ है।[४] सामान्य हिन्दू-समाज और मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों के अनुसार यह शब्द 'धर्मशास्त्र' का पर्याय है। श्रुतियों के अर्थ की अनुगामिनी[५] होने से स्मृतियाँ प्रमाण हैं। तुलसीदास को 'स्मृति' शब्द का शंकर-प्रतिपादित अर्थ भी मान्य है[६]; किंतु 'रामचरितमानस' में उसका स्मार्त अर्थ ही मुख्यतः ग्राह्य है।[७] वे स्मार्त वैष्णव थे। स्मृतियाँ उनके धर्म-दर्शन की आधारशिला हैं। फिर भी उन्होंने इस शब्द का बहुत कम व्यवहार किया है। इसका कारण यह है कि उनके द्वारा व्यवहृत 'वेद' और उसके पर्यायवाची शब्दों में स्मृति आदि सभी आप्तग्रंथों का अर्थ संनिहित है।

भारतीय चिंतन की परंपरा में आप्त वचन की दृष्टि से वेद के बाद दूसरा स्थान इतिहास-पुराण का ही है। इसके अनेक कारण हैं। भारतवर्ष आस्तिकताप्रधान देश है जो वेद को प्रमाण-मूल मानता है। इतिहास-पुराण वेदों के ही उपबृंहण हैं।[८] यहाँ तक कि उन्हें पंचम वेद कहा गया है।[९] यही नहीं श्रुति उन्हें भी, वेदों की भाँति ही, परमात्मा का निःश्वास बतलाती है।[१०] 'महाभारत' और पुराणों की रचना वेदश्रवण के अधिकार से वंचित स्त्रियों, शूद्रों एवं पतित द्विजातियों के श्रेय के लिए हुई थी। सर्वोपयोगी होने से उनकी लोकप्रियता और महिमा बढ़ती गयी।[११] भक्तिधारा भारतीय वाङ्मय को प्राचीन काल से आप्लावित करती आयी है। इतिहास-पुराण भक्तिपरक ग्रंथ हैं। अतः भक्ति-शास्त्रियों ने भक्ति-ज्ञान के लिए उनकी प्रमापकता का

---

१. राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा ॥—रा० १।४६।१
२. वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति। —सा० का० ५ पर वाच०
३. दे०—हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृ० १३१
४. दे०—ब्र० सू० २।३।४५, ३।१।१४ तथा ४।२।१४ और उन पर शा० भा०
५. श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। —रघुवंश, २।२
६. वि० १२०।४
७. रा० २।१७०।३, ७।४८।३
८. कू० पु० २।२४।१६, ब्रह्माण्डपु० १।१।१७१, शि० पु० ७।१।१।४० वायुपु० १।१।१८१; शा० भ० सू० १।२।१०, २।२।२३ और उन पर भ० च०
९. इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते। —भा० पु० १।४।२०
१०. इतिहासः पुराणं...अस्यैवैतानि निश्वसितानि। —बृ० उ० २।४।१०
उपर्युक्त इतिहास-पुराण वर्तमान इतिहास-पुराणों से भिन्न किंतु इनके बीजमूल थे।
—दे०—हिन्दुत्व, पृ० १६१-६२; हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृ० १६१
११. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥ —भा०पु० १।४।२५
स्त्रीशूद्रादीनामर्थं भारतनिर्माणाद्भारतस्य च पुराणमात्रोपलक्षणत्वात्संकीर्तनस्य च पौराणत्वात्स्त्रीशूद्राधिकारत्वं निर्णीयते। —भ० नि०, पृ० ९

बहुशः निर्देश किया है। वे ऋषिप्रणीत हैं। सामान्य शास्त्राचार्यों के सामर्थ्य से उन मंत्रब्राह्मण-दर्शी ऋषियों के सामर्थ्य की कोई तुलना नहीं। उनकी काव्यमयी कथात्मक शैली ने जनता का बुद्धि और हृदय दोनों को ही समानरूप से प्रभावित किया।

शास्त्रों में इतिहास को आप्त मानकर उसके श्रवण-श्रावण का उपदेश दिया गया है। 'इतिहास' से उनका अभिप्राय 'महाभारत' आदि से है।[2] तुलसी ने 'इतिहास' का व्यवहार दो अर्थों में किया है—१. प्रवादपरंपरागत उपदेशात्मक कथाएँ और २. 'महाभारत' आदि कथात्मक शास्त्र-ग्रंथ। जहाँ उन्होंने 'इतिहास' के वर्णन, कथन आदि का उल्लेख किया है वहाँ उसका प्रयोग पहले अर्थ में हुआ है।[3] जिन संदर्भों में 'इतिहास' का प्रयोग 'पुराण' के साथ हुआ है[4] वहाँ मनु, याज्ञवल्क्य, शांडिल्य आदि की भाँति तुलसी का तात्पर्य 'महाभारत' आदि से ही है। 'रामचरितमानस' के आरंभ में उन्होंने व्यास की जो वंदना की है[5] वह 'महाभारत' की आप्तता का भी निर्देश करती है। 'गीता' का वैशिष्ट्य असाधारण है। भगवद्वचन होने के कारण वह श्रुति की भाँति ही आप्त है। 'महाभारत' का अंग है,[6] इसलिए इतिहास भी है। उसे 'स्मृति'[7] और 'उपनिषद्'[8] भी माना गया है। वेदांत की प्रस्थानत्रयी और हिंदूधर्म के जीवनदर्शन में 'गीता' की महती प्रतिष्ठा है। उसकी आप्तता की ओर संकेत[9] और उससे शब्दार्थग्रहण करके तुलसी ने उसका प्रामाण्य स्वीकार किया है।

भागवतकार ने जिसे 'ऐतिह्य' प्रमाण कहा है[10] वह तुलसीदास को सर्वथा मान्य है, यद्यपि उन्होंने 'ऐतिह्य' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया। उनका 'इतिहास' शब्द अनेक स्थलों पर 'ऐतिह्य' के अर्थ का ही द्योतक है।[11] 'इतिह' का अर्थ है प्रवाद-परंपरा। अतएव 'ऐतिह्य' का अर्थ हुआ—प्रवाद-पारंपर्य। इसी आधार पर, कुछ अर्थविस्तार करते हुए, उपदेशात्मक कथायुक्त पूर्ववृत्त को 'इतिहास' कहा गया है।[12] किंतु 'ऐतिह्य' या (इस अर्थ में) 'इतिहास' को स्वतंत्र प्रमाण मानना तर्कसंगत नहीं है। वाचस्पति मिश्र की यह स्थापना सर्वथा न्यायोचित है कि यदि 'ऐतिह्य' अनिर्दिष्टप्रवक्तृक है तो संशयास्पद होने के कारण उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता और यदि वह आप्तवक्तृक है तो फिर वह 'आगम' (आप्तवचन) के ही अंतर्गत ग्राह्य है।[13]

स्मृतिकारों, वैष्णव वेदांताचार्यों, भक्तिशास्त्रियों आदि ने पुराणों की आप्तता का बहुधा

---

१. दे०—शा० भ० सू० १।२।१० और उस पर भ० च०
२. दे०—मनु० ३।२३२ और उस पर म०; याज्ञ० १।४५, १०१ और उन पर मि०
३. उदाहरणार्थ—रा० १।५८।३, १।३५६।३
४. रा० १।६।२, ७।११४।१
५. रा० १।१४।१
६. 'भीष्मपर्व' के पचीसवें से बयालीसवें अध्याय तक के अंश का ही नाम 'भगवद्गीता' या 'गीता' है।
७. दे०—ब्र० सू० १।२।६ और २।३।४५ पर शा० भा०
८. दे०—महा०, भीष्म०, अ० २५-४२ की पुष्पिकाएँ
९. मानत भलहि भलो भगतनि तें कछुक रीति पारथहि जनाई। —वि० २४०।४
१०. भा० पु० ११।१६।१७ (श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।)
११. रा० १।५८।३, १।३५६।३, ५।२८।३, ७।५५।४, ७।१२६।१
१२. धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥ —संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (वा० शि० आप्टे)
१३. सा० का० ५ पर वाच०

सादर उल्लेख करके उनकी प्रामाणिकता को अन्य पौरुषेय ग्रंथों की तुलना में काफी गौरव दिया है।[1] स्मृति-साहित्य में पुराणों का स्थान सर्वप्रथम है।[2] वेद-वेदांग और उपनिषदों का ज्ञाता होने पर भी यदि कोई द्विज पुराण का जानकार नहीं है तो उसे विचक्षण नहीं कहा जा सकता।[3] आप्तवचन की दृष्टि से तुलसी ने वेद के बाद दूसरा स्थान पुराण को ही दिया है। यही कारण है कि उनके ग्रंथों में **वेद, निगम** या **श्रुति** के साथ-साथ **पुराण** शब्द के प्रयोग का इतना अधिक आग्रह है। यद्यपि सिद्धांत-निरूपण करते समय उन्होंने पुराणों की अपेक्षा वेद का नाम ही अधिक लिया है तथापि यथार्थ यह है कि उनके मुख्य उत्तमर्ण पुराण ही हैं। उनका 'रामचरितमानस' तो प्रतिपाद्य विषय ही नहीं प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से भी पुराण का ही अनुहारी है।

शब्दप्रमाण-विवेचन के इस प्रसंग में एक आपत्ति का निराकरण अपेक्षित है। पुराणनिगमागमवादी तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में पुराणों के मत-पंथ-बाहुल्य, शास्त्रों के वैमत्य और निगम की असमर्थता का भी उल्लेख किया है—

> **बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।**
> **गुरु कह्यो राम-भजन मोहिं नीको लगत राज-डगरो-सो॥**[4]
> **छमत बिमत, न पुरान मत एक मत, नेति नेति नेति नित निगम करत।**
> **औरनि की कहा चली एक बात भलै भली राम नाम लिए तुलसी हू से तरत॥**[5]

क्या ये कथन कवि की अनास्था के सूचक हैं? वस्तुतः ऐसा नहीं है। इन स्थलों पर भी कवि का प्रयोजन यह निरूपित करना है कि अद्वितीय-अनिर्वचनीय राम ही समस्त शास्त्रों के एकमात्र प्रतिपाद्य हैं और उन्हीं की भक्ति श्रेयस्कर है। अवतरणों की अंतिम पंक्तियाँ इस निष्कर्ष की पुष्टि करती हैं। पुष्पदंत ने विभिन्न शास्त्रप्रस्थानों का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार विभिन्न जलधाराओं का गंतव्यस्थान समुद्र है, उसी प्रकार विभिन्न साधनानुष्ठानों का प्राप्य ईश्वर है।[6] 'हनुमन्नाटक' में कहा गया है कि शैव, वेदांती, बौद्ध, नैयायिक, जैन और मीमांसक क्रमशः शिव, ब्रह्म, बुद्ध, कर्ता, अर्हत् और कर्म नाम से भगवान् विष्णु की ही उपासना करते हैं।[7] तुलसीदास का मन्तव्य भी यही है कि विभिन्न मुनियों, पुराणों, शास्त्रों और संप्रदायों ने जिन नाना ऋजु-कुटिल मार्गों एवं उपास्य देवों की चर्चा की है, उन सबका गंतव्यस्थान राम और रामभक्ति

---

१. याज्ञ० १।३; तत्त्वदीप, २।४७; भ० नि०, पृ० ६
२. पुराणं सर्वशास्त्राणां ब्रह्मणा प्रथमं स्मृतम्। —मत्स्यपु० ३।३
३. स्कन्दपु०, प्रभासखण्ड, २।९२
४. वि० १७३।५
५. वि० २५१।४
६. त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ —महिम्नस्तोत्र, ७
७. यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥ —हनुमन्नाटक, १।३

ही है। दूसरा समाधान यह है कि सभी वेदशास्त्र और ऋषि-मुनि प्रमाण हैं। किसी को भी अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में यह निर्णय करना अत्यंत कठिन हो जाता है कि कौन-सा मार्ग या मत श्रेष्ठ अतः आश्रयणीय है। तुलसी ने गुरूपदिष्ट रामभक्ति-मार्ग को राजडगर बतलाकर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया। 'महाभारत' में भी यक्ष के प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने कुछ इसी प्रकार की बात कही है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥[1]

उपर्युक्त 'नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्' का व्याख्यान करते हुए लोकमान्य तिलक ने कहा है—"ऐसा एक भी ऋषि नहीं है, जिसका वचन अन्य ऋषियों की अपेक्षा अधिक प्रमाणभूत समझा जाए।"[2] तुलसी का तात्पर्य भी ऐसा ही है। प्रसंग और प्रयोजन के अनुसार युधिष्ठिर ने सदाचारशील महापुरुषों द्वारा अपनाये गये मार्ग को आप्त माना है और तुलसीदास ने गुरु-निर्दिष्ट रामभजन के मार्ग को।

पुराणों में वैमत्य दिखायी पड़ता है। 'लिङ्गपुराण' आदि में रुद्र का जगदीश्वर-रूप में निरूपण किया गया है, 'विष्णुपुराण' आदि में विष्णु का और 'देवीभागवतपुराण' आदि में देवी का। 'रुद्र', 'विष्णु' आदि शब्दों से एक ही वस्तु का निरूपण नहीं हो सकता। प्रत्येक दूसरों से बढ़ाकर निरूपित किया गया है। किसको आप्त माना जाए? शास्त्रज्ञों ने इस शंका का समाधान प्रस्तुत किया है। सभी पुराण समान रूप से प्रामाणिक हैं। कोई भी अप्रामाणिक नहीं है। पुराणकर्ता सर्वज्ञ बादरायण को भ्रांत और प्रतारक नहीं माना जा सकता। विष्णु, रुद्र आदि में वास्तविक भेद नहीं है, यह लीलाविग्रह मात्र का भेद है। रुद्र-जगदीश्वर के लीलाविग्रह की आराधना के संदर्भ में विष्णु का अपकर्ष-कथन उसी भगवान् के विशिष्ट विग्रह को गौरव प्रदान करने के लिए किया गया है, विष्णु की निंदा के लिए नहीं। यही अन्यत्र भी समझना चाहिए। वेदांत की दृष्टि में मायोपहित अखंड अद्वितीय चैतन्य ही ईश्वर है। वही सत्त्वगुण से उपहित होने पर विष्णु, रजोगुण से उपहित होने पर ब्रह्मा, और तमोगुण से उपहित होने पर रुद्र कहलाता है। वही विभिन्न पुराणों में हरि, हर आदि विभिन्न नामों से अभिहित होता है। अतएव कोई विरोध नहीं है।[3]

शांडिल्य ने भक्ति के ज्ञान के तीन प्रमाण बतलाये हैं—श्रुति,[4] पुराणेतिहास[5] और भक्तों के भजनाचार।[6] वे तुलसी को मान्य हैं। इनमें से प्रथम दो तो उनके शब्द प्रमाण के ही अंतर्गत हैं। तीसरे के जो उदाहरण नारायणतीर्थ ने ('भागवतपुराण' से) दिये हैं उनका भी अंतर्भाव

---

१. महा०, वन० ३१३।११७
२. गीतारहस्य, पृ० ७४
३. दे०—भ० नि०, पृ० २-३
४. शा० भ० सू० १।२।९ (भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः।) और उस पर भ० च०
५. शा० भ० सू० १।२।१० (पुराणेतिहासाभ्याञ्चेति।) और उस पर भ० च०
६. शा० भ० सू० १।२।११ (पृथुध्रुवप्रह्लादाऽम्बरीषशुकनारदभजनाचाराच्च।) और उस पर भ० च०

'शब्द' में ही है। इसी प्रकार प्रह्लाद[1] आदि भक्तों के भजनाचार का जो भक्तिज्ञापक वर्णन तुलसी ने किया है वह इतिहासपुराणाश्रित होने के कारण आप्तवचन के वर्ग में ही परिगणित होगा, स्वतंत्र रूप से नहीं। यदि किसी भक्त के भजनाचार को देखकर कोई व्यक्ति भक्ति के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है तो वह 'प्रत्यक्ष' की कोटि में आएगा।

प्रतीत अर्थ की दृष्टि से शब्दप्रमाण के दो भेद हैं—दृष्टार्थ एवं अदृष्टार्थ।[2] जिस आप्त-वचन का अर्थ इसी लोक में दृष्टिगोचर हो वह 'दृष्टार्थ' है; जैसे—

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोहबिपिन कहुँ नारि बसंता।[3]

अथवा

इहाँ न पक्षपात कछु राखौं। बेद पुरान संत मत भाखौं।।
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।।[4]

उपर्युक्त अवतरणों में कही गयी वेद-पुराण और संतों की नारी-विषयक वाणी इस लोक में ही चरितार्थ होती हुई दिखायी देती है। अतएव यहाँ पर उल्लिखित प्रमाण 'दृष्टार्थ शब्द' है। जिस आप्तवचन का अर्थ परलोक में प्रतीत होता है, वह 'अदृष्टार्थ' शब्दप्रमाण है; यथा—

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।[5]

उपदेष्टा के आधार पर आप्त शब्दों की दो विधाएँ हैं—अपौरुषेय और पौरुषेय। जो शब्द किसी पुरुष के न होकर स्वयं भगवान् के हैं वे अपौरुषेय हैं; जैसे वेद, 'गीता' आदि। पुरुषविशेष द्वारा किया गया उपदेश पौरुषेय शब्द है; जैसे 'मनुस्मृति', 'रामायण' आदि। महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन करते समय तुलसी ने स्वयं,[6] तथा शंकर,[7] काकभुशुंडि[8] आदि वक्ताओं के मुख से भी प्रायः समन्वित रूप से उक्त दोनों ही प्रकार के आप्तवचनों की दुहाई दी है।

आप्तवचन के रूप के आधार पर शब्द दो प्रकार के हैं—ग्रंथवचन[9] और मौखिकवचन।[10] ग्रंथवचन वे आप्त शब्द हैं जो वाङ्मय का रूप प्राप्त करके अध्ययन-अध्यापन की वस्तु हो गये हे। जब तुलसी 'पुराणनिगमागम', 'रामायण', व्यास, कलियुग के रामकवियों आदि का उल्लेख करते हैं[11] तब उनका अभिप्राय शास्त्रवचन से ही रहता है। मौखिक वचन वे हैं, जो शास्त्रनिबद्ध तो नहीं हुए, किंतु आप्त उपदेष्टा के मुख से निःसृत होने के कारण श्रोता के लिए प्रमाण हैं, जैसे गुरु[12] आदि के वचन। ग्रंथों के दो वर्ग हैं—अपौरुषेय और पौरुषेय। आस्तिक प्रमाणमीमांसकों

---

१. कवि० ७।१२७-३०; 'रामचरितमानस' तो भक्तों के भजनाचार की प्रदर्शनी ही है।
२. न्यायसूत्र, १।१।८ और उस पर वा० भा०
३. रा० ३।४४।१
४. रा० ७।११६।१
५. रा० ६।३।१
६. क्रमशः दे०—वि० १२०।४, २०३।१८
७. रा० १।११६।१, १।१२१।२
८. रा० ७।११६।१, ७।१२२।७
९. रा० ५।५६।२, ७।१२२।७
१०. रा० १।३०क, वि० १७३।५
११. रा० १।१। श्लोक ७, १।१४।१-३
१२. रा० १।३०क, वि० १७३।५

ने वेद को अपौरुषेय कहा है। तुलसीदास की दृष्टि में वेद तो अपौरुषेय हैं ही, साथ ही 'गीता' भी ईश्वर-वचन होने के कारण एक प्रकार से अपौरुषेयशास्त्र ही है। यद्यपि सांख्यशास्त्रप्रणेता कपिल तथा 'महाभारत' एवं पुराणों के रचयिता व्यास भी सामान्य सनातन विश्वास के अनुसार भगवान् के ही अवतार हैं[1] तथापि हिंदूधर्म में उनकी कृतियाँ अपौरुषेय रूप में नहीं प्रतिष्ठित हुई। अतएव उन्हें पौरुषेय मानना ही अधिक समीचीन है। पौरुषेय ग्रंथों में तुलसी ने छः को मुख्यता दी है—उपनिषद्, रामायण, महाभारत (इन दोनों को 'इतिहास' कहा है), पुराण, स्मृति और आगम।[2] इनमें भी पुराणों का विशेष महत्त्व है। पुराणों में भी 'भागवत' अन्यतम है।

मौखिक शब्दों को भी हम दो वर्गोंमें रख सकते है—१. स्वयं भगवान् के श्रीमुख से निःसृत और २. लौकिक पुरुषों गुरु, संत आदि के द्वारा उपदिष्ट। भगवान् के वचन की प्रामाणिकता गुरुतम है, इसीलिए तुलसी ने अपने भक्तिदर्शन के मान्य सिद्धांतों का राम के श्रीमुख से ही लक्ष्मण, नारद, पुरजन और भरतादि के प्रति उपदेश कराया है।[3] लौकिक पुरुषों में गुरु एवं संतों की वाणी विशेष आदरणीय है।[4] गुरु भी संत ही हैं किंतु उनका अपना वैशिष्ट्य है। उनके वचन की आप्तता अप्रतिम है।[5] उन्हीं के वचन महामोह का नाश करने में समर्थ हैं।[6] विभिन्न शास्त्रों के परस्परव्याघातक वचनों से पीड़ितबुद्धि तुलसीदास को रामभक्ति की राजडगर तक पहुँचाने का श्रेय गुरु के उपदेश को ही है।[7] गुरु के साथ ही माता, पिता, प्रभु और शुभचिंतक की वाणी भी आप्त है।[8] पिता का वचन विशेष प्रमाण है[9] और उससे भी बढ़कर माता का।[10]

ज्ञान के दो प्रकार हैं—अनित्यज्ञान और नित्यज्ञान या शुद्धज्ञान। पहला ज्ञान अंतःकरणावच्छिन्न वृत्ति है—विषयसंनिकर्ष से उत्पन्न, और विषयाभाव से अविद्यमान। दूसरा (नित्यज्ञान) सर्वथा सर्वदा विद्यमान रहता है। दृष्टि दो प्रकार की होती है—नेत्रदृष्टि (अनित्य) एवं आत्मदृष्टि (नित्य)। नेत्रदृष्टि से अनित्यज्ञान और आत्मदृष्टि से नित्यज्ञान की अनुभूति होती है।[11] ज्ञान के इन दो प्रकारों को क्रमशः ऐंद्रिय और अतींद्रिय, लौकिक तथा अलौकिक अथवा व्यावहारिक एवं पारमार्थिक भी कहा जा सकता है। व्यावहारिक ज्ञान का ही नाम 'बुद्धि' है। उसके दो भेद हैं—अनुभूति और स्मृति। इसी अनुभूति को 'प्रमा' कहते हैं; यही यथार्थानुभव है; यही यथावस्थित और व्यवहारानुगुण ज्ञान है।[12] प्रमा और प्रमाण के विषय में कुछ बातें

---

१. रा० १।१४२।३-४, भा० पु० १।३।१०, २।७।३; तत्त्वदीप, २।५८-६०
२. रा० १।१। श्लोक ७, १।६।२, १।१२, १।४६।१, २।१७०।३
३. क्रमशः दे०—रा० ३।१५।१-३।१६, ३।४३।२-३।४६।४, ७।४३।२-७।४६, ७।३७।३-७।४१
४. वि० १२०।४, कवि० ७।३६
५. मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वा विडम्बिकाः।
शास्त्रभारसहस्रेषु ह्येकं संजीवनं परम्॥ —ग० पु० २।४६।८६
६. रा० १।१।१-४
७. वि० १७३।५
८. मातु पिता प्रभु गुर कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥ —रा० १।७७।२
९. अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बयन।
ते भाजन सुख सुजसु के बसहिं अमरपति अयन॥ —रा० २।१७४
१०. जौं केवल पितु आयेसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥ —रा० २।५६।१
११. दे०—ऐ० उ० २।१ पर शा० भा० की अवतरणिका
१२. क्रमशः—दे०—कारिकावली, ५१ और उस पर मुक्तावली; तर्कभाषा, पृ० ८-९; यतीन्द्र०, पृ० ५

ध्यान में रखने योग्य हैं। प्रमा का आश्रय अंतःकरण है, आत्मा नहीं।[1] सभी प्रमाण लौकिक अथवा व्यावहारिक हैं।[2] योगियों का आर्ष विज्ञान इनके बाहर की वस्तु है। शंकर ने तो यहाँ तक कहा है कि सभी विषय तथा उनके प्रमापक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र भी अविद्यावत् हैं।[3]

आध्यात्मिक या पारमार्थिक दृष्टि से भी इन प्रमाणों की उपयोगिता असंदिग्ध है। प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा जीव को जग की त्रितापकारिता, विषयों की वंचकता, अपनी तुच्छता आदि का ज्ञान होता है।[4] राम की भक्ति और कृपा कल्याणकारिणी है—तुलसी को इस प्रकार के सत्य की यथार्थ प्रतीति लोक के अवेक्षण से भी हुई थी।[5] दृष्ट प्रमाण पर बल देने के लिए ही उन्होंने शंकर एवं काकभुशुंडि के द्वारा स्वानुभव की साधिकार प्रौढ़ोक्ति करायी है।[6] प्रत्यक्ष प्रमाण सबसे प्रबल प्रमाण है। इसीलिए काकभुशुंडि ने गरुड़ से राम की महिमा का वर्णन करते हुए अपने वचन की आप्तता के प्रतिष्ठापनार्थ अंत में स्पष्टीकरण किया है कि जो कुछ मैंने कहा है वह अनुमान या शब्द पर आश्रित यौक्तिक प्रतिपादन मात्र नहीं है, वह सब कुछ मैंने अपनी आँखों से देखा है—

'कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेषी। येह सब मै निज नयनन्हि देखी॥'[7]

इस संबंध में यह बात सदैव ध्यान में रखने योग्य है कि यह प्रत्यक्ष अथवा अनुभव केवल व्यावहारिक है। यह ईश्वर की अपरोक्षानुभूति का साधकतम कारण नहीं है। उसके लिए भक्त की साधना और भगवान् की कृपा की आवश्यकता है। जैसा कि प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकरण में कहा जा चुका है, राम अप्रमेय हैं, सभी प्रमाणों से परे हैं, अतएव तुलसीदास के मत से वेद आदि के वचन भगवान् के स्वरूप-ज्ञान में केवल इसी सीमा तक सहायक हैं कि वे जीव को रामभक्ति की ओर प्रेरित करते हैं। वेदाध्ययन मात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार संभव नहीं है। इसीलिए श्रुति ने अध्ययनजन्य ज्ञान को 'अपरा विद्या' कहा है।[8] शब्दश्रवण से परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है जो मनन निदिध्यासन आदि योगांगों के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिवर्तित होता है।

निष्कर्ष यह है कि तुलसीदास ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों की उपयोगिता स्वीकार की है परंतु ये प्रमाण तुलसीदास के मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् राम की अनुभूति कराने में समर्थ नहीं हैं। इन प्रमाणों की उपयोगिता यह है कि ये असत्त्वापादक आवरण को नष्ट कर देते हैं किंतु अभानापादक आवरण[9] का नाश आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार से ही संभव है। प्रश्न उठता है—ब्रह्मसाक्षात्कार का अमोघ उपाय क्या है? तुलसीदास का उत्तर है—भक्तिसाधना

---

१. दे०—सि० बि०, पृ० ३४-३५
२. एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायम्...। —सा० का० ४ पर वाच०
३. अविद्यावद् विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। —ब्र० सू० पर शा० भा० का उपोद्घात
४. वि० १२१।२-३, १६९।२, दो० ७३
५. बेद हूँ पुरान कही, लोक हूँ बिलोकिअत, रामनाम ही सों रीझें सकल भलाई है। —कवि० ७।७४
बेद हूँ पुरान कही, लोक हूँ बिलोकिअत, साँकरे सबै पै राम रावरें कृपा करी। —कवि० ७।६७
६. उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥ —रा० ३।३९।३
निज अनुभव अब कहौं खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहि कलेसा॥ —रा० ७।८९।३
७. रा० ७।९१।१
८. मु० उ० १।१।४ और उस पर शा० भा०
९. दे०—सि० बि०, पृ० १०९

और रामकृपा। पुरुषोत्तम ने स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि ईश्वर-ज्ञान इन तथाकथित प्रमाणों से असंभव है। भगवान् का ज्ञान दो ही प्रकार से हो सकता है—१. भक्त की भक्ति से और भगवान् की सामान्येच्छा से।[1] 'गीता' में भी कहा गया है कि भगवान् भक्ति से ही लभ्य तथा ज्ञेय हैं।[2] **'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।...प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी', 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।...तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन।'** आदि उक्तियाँ[3] इसी तथ्य का अनुमोदन करती हैं। अवतार-दशा में मुझे सभी देखें—इस प्रकार की सामान्येच्छा भी भगवान् के दर्शन का हेतु है।[4] यह और बात है कि द्रष्टा की भावना के अनुसार एक ही भगवान् विभिन्न जनों को विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है।[5] रामकृपा के अभाव में, प्रत्यक्ष होते हुए भी, परामर्श करते हुए भी, आप्त वचन सुनते हुए भी, जीव को यथार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।[6]

अनुभवकारक ज्ञान-साधन—विज्ञानदीपक के प्रकरण में तुलसीदास ने काकभुशुंडि के मुख से ज्ञान के अनुभवकारक विभिन्न साधनों का व्यवस्थित उपस्थापन कराया है—

जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी॥
अस संजोग ईस जब करई। तबहु कदाचित सो निरुअरई॥
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरइ जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटइ अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै॥
मुदिता मथइ बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥
जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावइ ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ॥

---

१. भक्त्या सामान्येच्छया चेति द्वेधा दर्शनम्। —प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १३७
२. पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। —गीता, ८।२२
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ —गीता, ११।५४
३. क्रमशः—रा० १।१८५।३-४, २।१२७।२
४. अवतारदशायां तु मां सर्वे पश्यन्त्वित्याकारिकया सामान्येच्छयापि दर्शनम्। —प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १३७
५. रा० १।२४१।२-१।२४२।४
६. बेद-पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जग ब्यापी।
बेधत नहिं श्रीखंड बेनु इव, सारहीन मन पापी॥ —वि० ११७।४
देखत सुनत विचारत यह मन निज सुभाउ नहिं त्यागै॥ —वि० ११९।१
देखत सुनत कहत समुझत संसय-संदेह न जाई॥ —वि० १२१।१
तुलसी देखत अनुभवत सुनत न समुझत नीच। —दो० २४८
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। —वि० ११६।२

तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ ॥
चित्त दिआ भरि धरइ दृढ़ समता दिअटि बनाइ ॥
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि ॥
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करइ सुगाढ़ि ॥
येहि बिधि लेसइ दीप तेजरासि बिज्ञानमय ॥
जातहिं तासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब ॥
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा । दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा । तब भव मूल भेद भ्रम नासा ॥
प्रबल अबिद्या कर परिवारा । मोह आदि तम मिटइ अपारा ॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा । उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई । तौ यह जीव कृतारथ होई ॥[1]

प्रस्तुत प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त साधन परस्पर स्वतंत्र नहीं हैं । उनमें एक प्रकार का कार्यकारणभाव है । वे संमिलित रूप से ज्ञान के साधन हैं ।

भगवत्कृपा––**'अस संजोग ईस जब करई'** तथा **'जौं हरि कृपा हृदयँ बस आई'** इसी साधन के व्यंजक है । पूर्वपुण्यों का फल होने के कारण रामकृपा को साधन कहना युक्ति-विरुद्ध नहीं है । भक्त कवि तुलसी ने अन्वयव्यतिरेकी ढंग से भक्ति-साधन रामकृपा की आवश्यकता पर बल दिया है । राम को वही जान पाता है जिसे वे स्वयं कृपापूर्वक जना देते हैं; उनकी कृपा के बिना विवेक असंभव है ।[2] ज्ञान-साधन मानवशरीर भी रामकृपा के अंतर्गत ही परिगणनीय है क्योंकि वह जीव की साधना (अर्थात् दृष्टकर्मों) का फल न होकर रामकी अहैतुकी करुणा का ही फल है।[3] साधन का अन्यतम माध्यम होने के कारण ही तुलसी ने उसे 'ज्ञानभवन' कहा है ।[4] राम को मनुज अधिक प्रिय है[5]—इसका एक कारण मानव की ज्ञानवत्ता भी है ।

सत्संग-गुरूपसत्ति—सत्संग से ज्ञान का उदय होता है ।[6] गुरु के बिना विवेक-ज्ञान की कोई संभावना नहीं ।[7] गुरु के वचन से विवेक-लोचन निर्मल हो जाते हैं ।[8] ज्ञानोपलब्धि की विधि यह है कि जिज्ञासु व्यक्ति तत्त्वदर्शी ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी आचार्य की शरण में जाकर प्रणिपात, सेवा और परिप्रश्न द्वारा उनसे उपदेश ग्रहण करे ।[9] जिज्ञासु पार्वती, भरद्वाज, गरुड़ आदि ने इसी निष्ठा के साथ शंकर, याज्ञवल्क्य, काकभुशुंडि आदि से ज्ञान प्राप्त किया है ।

---

१. रा० ७।११७।४-७।११८।३; दे० —अ० रा० ३।४।३१-३७, यो० सू० ३।५० पर व्यासभा०
२. रा० २।१२७।२, वि० ११५।५
३. कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥ —रा० ७।४४।३
४. नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो । —रा० ७।४४।४
ज्ञान-भवन तनु दियेहु नाथ —वि० ११४।३
५. सब मम प्रिय सब मम उपजाए । सब तें अधिक मनुज मोहि भाए ॥ —रा० ७।८६।२
६. बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग। —रा० ४।१५ ख
७. बिनु गुर होइ कि ज्ञान—रा० ७।८९ सो० क, दो० १३७
८. महा मोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर। —रा० १।१।सो० ५
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।···उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। —रा० १।१।३,४
९. मु० उ० १।२।१२-१३ और उस पर शा० भा०; गीता, ४।३४ और उस पर शा० भा; चूबि० ० ८

श्रद्धा—आस्तिक्यबुद्धि तथा वेद आदि आप्तग्रंथों और आचार्य के वचनों में की गयी भक्ति और विश्वास को 'श्रद्धा' कहते हैं।[1] विवेक एवं ईश्वरानुभूति के लिए श्रद्धा आवश्यक है।[2] इसीलिए उसे ज्ञान और मोक्ष भी कहा गया है।[3] श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। यह संसारी जीव श्रद्धामय है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह उसी प्रकार के फल का भागी होता है।[4] अतएव श्रद्धा के अंतिम दो प्रकार हेय हैं।[5] सात्त्विक-राजस-तामस-भेद से ज्ञान भी तीन प्रकार का होता है।[6] सात्त्विक ज्ञान की उपलब्धि के लिए सात्त्विक श्रद्धा ही श्रेयस्कर है। इसीलिए तुलसी ने 'सात्त्विक स्रद्धा' की साधनता का उल्लेख किया है। 'गीता' में भगवान् का आप्त वचन है कि तत्पर श्रद्धावान् को ज्ञान की उपलब्धि होती है।[7] श्रद्धालु होने पर भी कोई जिज्ञासु मंदप्रयत्न हो सकता है, अतएव उन्होंने 'तत्पर' विशेषण की योजना की। **'भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई'** में तुलसी का 'भाव' शब्द साधक की इसी तत्परता का द्योतक है।

धर्म—'धर्म' की विस्तृत मीमांसा पूर्ववर्ती अध्याय में की जा चुकी है। 'धर्म' से तुलसी का तात्पर्य संपूर्ण सनातनधर्म से है। धर्म ज्ञान का प्रत्यक्ष साधन न होकर परोक्ष साधन है। विशुद्धि-कारक यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का प्रयोजन पापक्षय और चित्तशुद्धि है।[8] धर्म या कर्म से वैराग्य की प्राप्ति होती है, जो ज्ञान का साधन है।[9] धर्म के साथ ही तुलसी ने भाव, निवृत्ति, विश्वास, मन की निर्मलता एवं परमधर्म की गणना की है। 'निवृत्ति' का अर्थ है—इंद्रियनिग्रह। प्रस्तुत प्रसंग में 'परम धर्म' उपकार या अहिंसा[10] का ही व्यंजक न होकर व्यापक रूप से भागवत-धर्म[11] का ज्ञापक है।

वैराग्य—वेदमर्यादा के अनुसार धर्मपालन से विषय-वैराग्य होता है। वैराग्य से ज्ञान की सिद्धि होती है।[12] यहाँ प्रश्न उठ सकता है—ज्ञान वैराग्य का साधन है या वैराग्य ज्ञान का? कहा भी गया है 'ज्ञानादेव च वैराग्यं ज्ञानं वैराग्यपूर्वकम्।'[13] उत्तर है—इसमें कोई विरोध नहीं

---

१. गीता, ६।३७ और १७।१७ पर शा० भा०; अपरोक्षानुभूति, ८; वे० सा०, २।६
२. रा० १।१। श्लोक २
३. लि० पु० १।१०।५२-५३
४. गीता, १७।२-३
५. दो० ६५, ४६६, रा० २।१६७
६. गीता, १८।२०-२२
७. श्रद्धवाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। —गीता ४।३६
८. गीता, १८।५; वि० चू० ११; वे० प०, पृ० २१९; वे० सा०, पृ० १
९. धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। —रा० ३।१६।१
   बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू। —रा० २।१७८।२
   स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
   साधनं प्रभवे पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥—अपरोक्षानुभूति, ३
१०. श्रुति कह परम धरम उपकारा। —रा० १।८४।१
   परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा॥ —रा० ७।१२१।११
११. रा० ३।१६।४; भागवतधर्म के लिए दे०—भा० पु० ६।२, ११।२६
१२. रा० ३।१६।१, ३-४, ७।८६क; वि० चू० ३७६
१३. भा० पु० ३६।४

है। इस उद्धरण में पहले 'ज्ञान' का अर्थ वृत्तिरूप ज्ञान है और दूसरा 'ज्ञान' स्वरूपज्ञान का बोधक है। भोग्य विषयों की हेयता का ज्ञान वैराग्य का साधन है, और वैराग्य परमात्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान का साधन है। 'वैराग्य' के लिए तुलसीदास ने प्राय: 'विराग' तथा 'विरति' शब्दों का व्यवहार किया है, जिनका अर्थ है राग या रति का अभाव।[1] विषयभोगों के प्रति जुगुप्साभाव को 'वैराग्य' कहते हैं।[2] भोगभूमि की दृष्टि से भोग्य विषय दो प्रकार के है—लौकिक तथा स्वर्गिक। स्रक्, चंदन आदि लौकिक विषय हैं, अमृत आदि स्वर्गिक।[3] साधक के लिए उन सभी के प्रति जुगुप्साभाव रखना आवश्यक है। उन्हें विष्ठा तथा वमन की भाँति त्याग देना चाहिए।[4]

तुलसी-दर्शन के विशेषज्ञ विद्वान् डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'रामचरितमानस' के प्रथम चार सोपानों की पुष्पिकाओं[5] के आधार पर वैराग्य के चार रूपों का विवेचन किया है। वैराग्य का पहला रूप है—तृष्णा के प्रति वैराग्य। इसको तुलसी ने '**विमल संतोष**' कहा है। प्रबल तृष्णाएँ तीन हैं—आहार, विहार और समाज-प्रियता अथवा कंचन (वित्तैषणा), कामिनी (पुत्रैषणा) और कीर्ति (लोकैषणा)। 'रामचरितमानस'के प्रथम सोपान की कथा में तुलसी ने विश्वामित्र, अहल्या, तपोवन-वासियों, जनक, परशुराम, नागरिकों, दशरथ, सीता और राम की संतोष-सिद्धि का उपस्थापन करके तृष्णा के प्रति वैराग्य की निदर्शना की है।[6] असंतोष जीव के संसार का कारण है, अतएव संतोष मुक्ति का साधन माना गया है।[7]

वैराग्य का दूसरा रूप है—सूझ-बूझ के साथ वसुंधरा के समग्र ऐश्वर्य के प्रति वैराग्य। द्वितीय सोपान की कथा में धर्मादि-विषयक अनेक समस्याएँ उठी हैं और अनासक्तिमय त्याग में ही उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। भगवान् राम और उनके भक्त दशरथ, लक्ष्मण, भरत आदि ने संपूर्ण वैभव के प्रति विज्ञानपूर्वक अनासक्ति दिखलायी है। इसीलिए इस सोपान को **'विमलविज्ञानवैराग्यसंपादनो नाम'** कहा गया है।[8]

वैराग्य का तीसरा रूप है—विभवभोगों के प्रति वैराग्य। तृतीय सोपान की कथा बताती

---

१. विरागः रागाभावः। —सा० का० २३ पर वाच०
सुखानुशयी रागः। —यो० सू० २।७

२. वि० चू० २१-२२

३. रा० २।२१५।४, ७।४४।१-२

४. ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम्।। —अपरोक्षानुभूति, ४
रमाबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी।। —रा० २।३२४।४

५. डा० माताप्रसाद गुप्त, पं० शम्भुनारायण चौबे, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि के द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' के विविध संस्करणों में प्रथम दो सोपानों की पुष्पिका नहीं है। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का कथन है कि "जब कि पाँच सोपानों के नाम दिये हुए मिलते हैं, तब यह विश्वास नहीं होता कि गोस्वामीजी ने पहले दो सोपानों के नाम ही न दिये हों। 'रामचरितमानस' की एक पोथी और है, जिसे बाबू रामदास गौड़ ने पुरानी प्रमाणित प्रतियों के आधार पर सम्पादित किया है, उस पोथी में प्रथम सोपान है 'विमल-सन्तोषसम्पादनो नाम' और द्वितीय सोपान है 'विमलविज्ञानवैराग्यसम्पादनो नाम।' "
—मानस में रामकथा, पृ० १४७

६. मानस में रामकथा, पृ० १४८-४९

७. भा० पु० ८।१९।२५

८. मानस में रामकथा, पृ० १५०

है कि भगवान् राम ने विभव के प्रति अनासक्ति ही नहीं दिखायी, किंतु कुछ दिनों तक उसे दूर भी हटा दिया। वैराग्य की यही तो अग्निपरीक्षा थी। विश्वलक्ष्मी को वैराग्य की अग्नि में तपाकर शुद्ध कर लेने का यही अभिप्राय है। जगदंबा जगत्-लक्ष्मी, परंतु साथ ही राम की अर्द्धांगिनी गृहलक्ष्मी, के कुछ दिनों तक अग्नि में निवास करने का यही तो संकेत था। इसी (सोपान) में लक्ष्मण के प्रति कही गयी गीता है। इसी में शबरी के प्रति कही गयी नवधाभक्ति है। इसी में नारद के प्रति कहे गये संतों के लक्षण हैं। विमलवैराग्य-संपादन के लिए ये सभी सहायक हैं।[1]

वैराग्य का चौथा रूप है--अकर्मण्यता के प्रति वैराग्य। चतुर्थ सोपान की कथा बताती है कि वैराग्य विभव से हो, भोगों से हो, किंतु कर्तव्य कर्मों से न हो। राम ने राज्य छोड़ा, सीता को भी पावक में रख दिया, किंतु सर्वत्यागी बनकर कर्मत्यागी नहीं बन गये। कर्तव्य-कर्मों के प्रति उदासीन हो जाना वैराग्य नहीं, किंतु एक प्रकार का मोह है। यदि अकर्मण्यता के प्रति वैराग्य न होगा तो पूर्वकथित तीनों प्रकार के वैराग्य निष्फल समझिए। लौकिक आसक्ति और अकर्मण्यता के त्याग, अनासक्तियोग, का नाम विशुद्ध संतोष है, जिसमें मनुष्य तृष्णाहीन, आसक्तिहीन, भोगभावनाहीन होता हुआ भी कर्तव्यशील बना रहे, निष्कामकर्मी बना रहे।[2]

पतंजलि ने वैराग्य के दो रूप माने हैं—वैराग्य और परवैराग्य।[3] गौडपाद और परमार्थ ने भी वैराग्य की दो विधाएँ मानी हैं--बाह्य एवं आभ्यंतर।[4] तुलसीदास के अनुसार वैराग्य की तीन कोटियाँ हैं—वैराग्य, विमलवैराग्य और परमवैराग्य। धर्माचरण के फलस्वरूप विषयों से इंद्रियों का निवृत्त हो जाना 'वैराग्य'[5] है। यह वस्तुतः वैराग्य का प्रथम सोपान है। नित्यानित्यवस्तुविवेक, मन के दमन आदि के फलस्वरूप शुद्ध चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता को 'विमलवैराग्य'[6] कहते हैं। अंतःकरण के समाधि-परिशुद्ध हो जाने पर त्रैगुण्य से ऊपर उठे हुए[7] जीव का समताभाव 'परमवैराग्य' है।[8] यह वैराग्य का उच्चतम सोपान है।

ज्ञान के लिए वैराग्य आवश्यक है।[9] मोक्ष के स्वतंत्र साधनों (ज्ञान और भक्ति) के साथ विराग का भी अनेकशः उल्लेख करके तुलसी ने उसकी महत्ता द्योतित की है।[10] वैराग्य की आवश्यकता का कारण विषयासक्ति है। विषय ज्ञान को हर लेता है।[11] सुर, नर, मुनि सभी इसके

१. मानस में रामकथा, पृ० १५०-५१
२. मानस में रामकथा, पृ० १५१-५२
३. यो० सू० १।१५-१६ और उन पर व्यासभा०
४. सा० का० २३ पर गौड०; सुवर्णसप्ततिशास्त्र, २३
५. प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती।
येहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ —रा० ३।१६।३-४
६. 'रामचरितमानस' के तृतीय सोपान की पुष्पिका
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥ —रा० ७।११७।८
७. गीता, ६।२०; रा० ७।११७
८. ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।
कहिअ तात सो परम बिरागी। त्रिन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥ —रा० ३।१५।४
९. बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू। —रा० २।१७८।२
१०. रा० १।४४, ३।१०।३, ७।१२१।५; वि० १४१।३, १८७।१, २२१।२; दे०—वि० चू० ३७५
११. बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना। —रा० ४।१९।२; दे०—वि० २४४।१-४

वशीभूत हैं।[1] जीव का मन स्वभावतः विषयप्रवृत्तिक होता है।[2] ये विषय अनेक प्रकार के असाध्य मानस-रोगों को जन्म देते हैं।[3] जीव के स्वरूपज्ञान को आच्छादित करने वाली माया और इंद्रियाधिष्ठाता देवता विषयों के द्वारा ही ज्ञानरूपिणी बुद्धि को प्रनिहत कर देते हैं।[4] वैराग्य होने पर ज्ञान-भूमियों का अवश्यमेव उदय हो जाता है।[5]

भोग-विषयों के प्रति जुगुप्सा-भाव जागृत करने के लिए तत्संबंधी समस्त पदार्थों में निरंतर दोषदर्शन-बुद्धि रखना आवश्यक है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। अतएव तुलसी ने भोग्य वस्तुओं की अनित्यता एवं उनकी दुःखदायकता, व्यावहारिक जगत् की मायिकता तथा अतीत एवं भावी जीवन की नारकीय विभीषिका का चित्र खींचकर विषयी जीवों का (वैराग्य के प्रति) उद्बोधन किया है।[6] पुरुष की कामासक्ति की आलंबनरूपा नारी का अनेकशः दोषनिरूपण इसी वैराग्य के दृष्टिकोण से किया गया है। नारीधर्म के प्रसंग में इसकी विवेचना की जा चुकी है। विज्ञानदीपक के पूर्वोक्त रूपक में परिगणित अकामता, तोष, क्षमा, धृति, मुदिता, विचार, दम और सत्य ये सब वैराग्य की भूमिका हैं। पुण्यवान् जनों के प्रति ईर्ष्या का भाव न रखकर उनके विषय में हर्ष का अनुभव करना 'मुदिता' है।[7] 'विचार' का अभिप्राय है भगवान् की परमार्थता एवं जगत् की सारहीनता का निरंतर चिंतन। अध्यात्मविद्याप्राप्ति और साधक के उत्थान के लिए यह विवेक आवश्यक है।[8]

योग—चित्तवृत्तियों के निरोध को 'योग' कहते हैं।[9] योग के विषय में यह स्मर्तव्य है कि सांख्य-योग-दर्शन में पुरुष-प्रकृति के वियोग को ही 'योग' (युज् समाधौ) कहा गया है।[10] वेदांत में 'योग' का अभिप्राय जीवात्मा और परमात्मा का योग (युज् योजने) है। सांख्ययोग के संदर्भ में तुलसीदास के भक्तिदर्शन की निर्भ्रांत प्रतीति के लिए यह समझ रखना आवश्यक है कि जहाँ पर योग-प्रतिपादित योग-समाधि का अंत है वहाँ से भक्ति का आरंभ होता है। योग-साधना के मुख्य सिद्धांत तुलसी को मान्य हैं। जड़-चेतन-ग्रंथि की हेतुभूता अविद्या का नाश ही जीव का कैवल्य है।[11] उसके नाश का उपाय विवेक-ज्ञान है।[12] ज्ञान का साधन योग है।[13] योग की सिद्धि

---

१. विषय वस्य सुर नर मुनि स्वामी। —रा० ४।२१।२
२. वि० ८८।१-२, ८६।१-३
३. रा० ७।१२१।१६, ७।१२२।२
४. छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया॥ —रा० ७।११८।३
इंद्री द्वार झरोखा नाना। जहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥ —रा० ७।११८।६
५. यो० वा० ६/१।१२६।४६
६. कवि० ७।३१-३२; वि० ८३, ८८-६२, १३३-१३६ आदि
७. यो० सू० १।३३ पर भोजवृत्ति
८. रा० ३।२१।४-५, वि० १११।५
६. यो० सू० १।२
१०. पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया। —यो० सू० पर भोजवृत्ति, मङ्गलश्लोक ३
११. यो० सू० २।२३-२५, रा० ७।११७।२, ७।११८।२-३, ७।११६।१-२, वि० १३६।१, २०६।४
१२. यो० सू० २।२६, रा० ७।११८।२-३
१३. यो० सू० २।२८, रा० ३।१६।१, ७।११७

अभ्यास और वैराग्य से होती है।[1] ये दोनों साधन प्रकारांतर से वेदांतप्रतिपादित साधनचतुष्टय के नित्यानित्यवस्तुविवेक एवं इहामुत्रार्थभोगविराग के पर्यायनाम हैं।[2] अष्टांगयोग के अनुष्ठान से चित्तमल का नाश हो जाने पर कैवल्यदायक सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।[3] योग-साधना का यही प्रयोजन है।

योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[4] ये अंग चित्तवृत्तिनिरोध के आठ सोपान हैं। इनमें से प्रथम पाँच बहिरंग साधन हैं एवं अंतिम तीन अंतरंग।[5] **यम** और **नियम** का विस्तृत निरूपण किया जा चुका है। हिंसा, असत्य आदि यमनियमों के विरोधी वितर्क हैं। उनका नाश करने के लिए उनके दोषों का बारंबार चिंतन करना चाहिए।[6] **आसन** और **प्राणायाम**[7] का निरूपण तुलसी ने नहीं किया क्योंकि हठयोग आदि की साधना के कष्टकारक जगड्वाल में उनकी कोई आस्था नहीं है।[8] फिर भी योग के इन अंगों की उपयोगिता उन्हें मान्य है। योग-समाधि के उल्लेखों[9] से यह तथ्य स्पष्टतया व्यंजित होता है। आसन का फल यह है कि उसकी सिद्धि हो जाने पर योगी शीत-उष्ण, क्षुधा-तृषा आदि द्वंद्वों से अभिहत नहीं होता।[10] प्राणायाम के अभ्यास से योगी के विवेकज्ञान के आवरण-रूप क्लेश और अपुण्य क्षीण हो जाते हैं[11]; मन विक्षेप-रहित, स्थिर, हो जाता है।[12] **'प्रत्याहार'** का अर्थ है इंद्रियों का विषयों से विपरीत दिशा में लाया जाना। अपने-अपने विषयों की अभिमुखता का त्याग करके इंद्रियों का स्वरूप में अवस्थान 'प्रत्याहार' है जिसकी साधना से इंद्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं।[13] विषयांतर का परिहार करके (नाभिचक्र आदि) देशविशेष में चित्त का स्थिरीकरण **'धारणा'** है।[14] ध्येयालंबन के ही ज्ञान के एकतान प्रवाह को **'ध्यान'** कहते हैं।[15] जिसमें विक्षेपों का परिहार करके मन को भलीभाँति एकाग्र किया जाए उसे **'समाधि'** कहा गया है। ध्यान में जब ध्येय मात्र की प्रतीति के कारण चित्त स्वस्वरूपशून्य-सा होकर

---

१. यो० सू० १।१२
२. मि० दे०—यो० सू० १।१३-१५ पर व्यासभा० और वे० सा० १।२२-२।३
३. यो० सू० २।२८ पर व्यासभा०
४. यो० सू० २।२९
५. यो० सू० ३।१ पर व्यास की अवतरणिका, यो० सू० ३।७
६. यो० सू० २।३३-३४
७. स्वाभाविक प्रयत्न को शिथिल करके, निश्चल होकर, सुखपूर्वक बैठने का नाम 'आसन' है। (यो० सू० २।४६-४७)।
आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास-प्रश्वास के प्रवाह को रोक रखना 'प्राणायाम' है (यो० सू० २।४९)।
८. कवि० ७।८४ (गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु)
९. वि० १६७।४, रा० ७।११७क
१०. यो० सू० २।४८ और उस पर व्यासभा०
११. यो० सू० २।५२ और उस पर व्यासभा० तथा तत्त्ववैशारदी
१२. यो० सू० २।५३ पर भोजवृत्ति
१३. यो० सू० २।५४ और उस पर भोजवृत्ति, यो० सू० २।५५
१४. यो० सू० ३।१ और उस पर भोजवृत्ति
१५. यो० सू० ३।२ और उस पर व्यासभा०

ध्येयाकारता धारण कर लेता है तब वह 'ध्यान' ही 'समाधि' कहलाता है।[1]

योगाग्नि में समस्त शुभाशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं।[2] साधक त्रिगुणात्मक अवस्थात्रय को पारकर तुरीयदशा में पहुँच जाता है।[3] उसे विज्ञानदीप्ति का अनुभूति होने लगती है।[4] 'सोऽहमस्मि' की अखंडवृत्ति के अनंतर आत्मानुभव का सुख प्राप्त कर लेता है। सारा द्वैतभाव, संपूर्ण अविद्या-परिवार, नष्ट हो जाता है।[5] उसकी ग्रंथि खुल जाती है और वह कैवल्य-परमपद का अधिकारी हो जाता है।[6]

'योगवासिष्ठ' में ज्ञानयोग की जो सात भूमिकाएँ बतलायी गयी हैं[7] वे 'रामचरितमानस' के विज्ञानदीपक में भी द्रष्टव्य हैं। सप्तपदा अज्ञानभूमि का वर्णन करके वसिष्ठ ने राम से बतलाया है कि उसे पार करने का उपाय आत्मज्ञान है।[8] वह ज्ञान सप्तभूमिक है।

पहली ज्ञानभूमि का नाम 'शुभेच्छा' है। जब जीव अपने को मूढ़ समझकर शास्त्राध्ययन एवं शास्त्रज्ञ सज्जनों तथा गुरु की संगति से वैराग्यपूर्वक ज्ञानप्राप्ति की इच्छा करता है तब उस अवस्था को 'शुभेच्छा' कहते हैं।[9] 'सात्विक स्रद्धा' इसी भूमिका की द्योतक है।[10] इस दशा में अपने को मूढ़ समझनेवाला जिज्ञासुजन तत्त्वदर्शी-ज्ञानी से परमार्थ के स्वरूप को जानने की अभिलाषा करता है।[11]

दूसरी भूमिका का नाम 'विचारणा' है। शास्त्रश्रवण एवं सज्जनों के संपर्क से वैराग्य और अभ्यासपूर्वक सदाचार में जो प्रवृत्ति होती है उसे 'विचारणा' कहते हैं।[12] 'जप तप' से 'परम धर्म' तक इसी भूमिका का चित्रण है। 'श्रुति', 'निवृत्ति', 'भाव'-'बिस्वास' और 'परमधर्म' क्रमशः शास्त्र, वैराग्य, अभ्यास तथा सदाचार-प्रवृत्ति के व्यंजक हैं।

तीसरी भूमिका का नाम 'तनुमानसा' है। शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से ऐंद्रिय विषयों में असक्त मन की (सविकल्पकसमाधिरूपा) सूक्ष्मता की अवस्था को 'तनुमानसा' कहते हैं।[13] 'अकाम' से 'सम' तक इसी भूमिका का निरूपण है। 'अकाम' और 'तोष' से मन की असक्तता एवं 'छमा' तथा 'धृति' से उसकी तनुता की प्रतीति होती है। व्यावहारिक सत्ता के रूप में जगत् का भान बने रहने के कारण इन तीन भूमियों में योगी की स्थिति जाग्रदवस्था है।[14]

---

१. यो० सू० ३।३ और उस पर भोजवृत्ति
२. यो० सू० ४।३०-३१, रा० ७।११७ क
३. यो० सू० ३।४६-५०, ४।३२-३४; रा० ७।११७
४. यो० सू० ३।५, रा० ७।११७ घ
५. रा० ७।११८।१-२
६. पञ्चदशी, ११।७; रा० ७।११८।३, ७।११६।२
७. यो० वा० ३।११८।२-१५, ६।१२०।१-६
८. यो० वा० ३।११७।१२-२४, २६
६. यो० वा० ३।११८।८
१०. कुछ विद्वानों ने (दे०—मा० पी० ७।११८।३) 'सात्विक स्रद्धा' से 'निर्मलमन' तक पहली भूमिका मानी है।
११. रा० १।४७।२, १।११०।१, १।१११।१
१२. यो० वा० ३।११८।६
१३. यो० वा० ३।११८।१०
१४. यो० वा० ६।१२६।६१ और उस पर तात्पर्यप्रकाश

चौथी भूमिका 'सत्त्वापत्ति' है। उक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास के द्वारा जब बाह्य विषयों के प्रति पूर्णतया विरक्त चित्त परमात्मसत्त्वात्मक होकर शुद्ध सत्य आत्मा में स्थित हो जाता है, उस अवस्था का नाम 'सत्त्वापत्ति' है। यह दशा निर्विकल्पकसमाधिरूपा है।[१] बाह्य विषयों से पूर्ण विरति को ही तुलसी ने 'विमल विराग' कहा है। विचार और दम उसके साधक हैं। 'मुदिता' से परमात्मसत्त्वात्मकता सूचित होती है। 'सत्य' की रज्जु सत्यात्मनिष्ठता की दृढ़ता व्यक्त करती है। यह अवस्था अज्ञानादि प्रपंच एवं अविद्या की बाधकारिणी है।[२] इस भूमिका में स्थित होकर योगी जगत् को स्वप्नवत् देखता है, अतएव इसको 'स्वप्न' कहते हैं।[३]

पाँचवीं भूमिका 'असंसक्ति' है। जब प्रथम चार भूमिकाओं के अभ्यास से पूर्णतया असक्त चित्त अविद्याजन्य संस्कारों के स्पर्श से रहित हो जाता है, शुद्धसंविन्मय निरतिशय आनंद से युक्त आत्मतत्त्व में दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाती है, उस अवस्था को 'असंसक्ति' कहते हैं।[४] योगाग्नि में शुभाशुभ कर्मों तथा ममता का जल जाना ही अविद्याजन्य संस्कारों का नाश है। 'बिसद घृत' शुद्धसवित् एवं आत्मनिष्ठता का ज्ञापक है। इस भूमिका में द्वैताभास गल जाता है; वृत्तियाँ अंतर्मुखी हो जाती हैं; सदैव परिशांत होने से योगी निद्रालु-सा दिखायी पड़ता है। अतएव इसे 'सुपुप्तावस्था' कहा गया है।[५]

छठी भूमिका 'पदार्थाभावनी' है। पूर्वोक्त पाँचों भूमियों में परमात्मा की सत्ता एवं पदार्थों की असत्ता का बहुत समय तक भावन (अभ्यास) करते रहने से आत्मा में निश्चल स्थिति हो जाने पर जब आंतर एवं बाह्य पदार्थों के अभाव की दृढ़ भावना हो जाती है उस अवस्था को 'पदार्थाभावनी' कहते हैं।[६] यह साधक की तुरीयावस्था है।[७] 'बिज्ञानरूपिनी बुद्धि' तथा 'समता' से परमात्मा की सत्ता और पदार्थों की असत्ता की दृढ़ भावना व्यंजित होती है।

सातवीं भूमिका 'तुर्यगा' है। प्रथम छः भूमिकाओं के द्वारा भेद का अनुपलंभ होने से आत्माराम महात्मा की अपने स्वाभाविक स्वरूप में एकनिष्ठता 'तुर्यगा' कहलाती है। इस भूमिका में पहुँचकर जीव जीवितावस्था में ही बंधनमुक्त हो जाता है। 'भेदभ्रम' का नाश, 'सोहमस्मि' की अखंड वृत्ति, 'आतम अनुभव' तथा **ग्रंथिमोक्ष** इसी दशा के लक्षण हैं।[८] यह अवेक्षणीय है कि सातवीं भूमिका भी छठी की ही भाँति तुरीया एवं जीवन्मुक्ति-दशा है। भेद यह है कि उसमें पदार्थों के अभाव की भावना पर अधिक बल दिया गया था और इसमें स्वस्वरूपावबोध या आत्मानुभव पर।

'योगवासिष्ठ' में अनेक स्थानों पर ज्ञान-योग की सात भूमियों का विशद वर्णन किया गया

---

१. यो० वा० ३।११८।११ और उस पर तात्पर्यप्रकाश

२. यो० वा० ६/१।१२०।२ पर तात्पर्यप्रकाश

३. यो० वा० ६/१।१२०।७

४. यो० वा० ३।११८।१२ और उस पर तात्पर्यप्रकाश, ६/१।१२०।३

५. सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी॥ —वि० १६७।४
दे०—यो० वा० ६/१।१२६।६२-६५

६. बि० १२२।५, १११।४; यो० वा० ३।११८।१३-१४

७. रा० ७।११७ ग; यो० वा० ६/१।१२६।६६

८. यो० वा० ३।११८।१५, १७; रा० ७।११८।१-२

है।[1] प्रथम पाँच भूमियों के वर्णनों में विशेष भेद नहीं है। छठी और सातवीं भूमिकाओं का भेद विचारणीय है। एक स्थल पर सातवीं भूमिका को तुर्यगा बतलाकर विदेहमुक्ति को तुर्यातीत कहा गया है और अन्यत्र यह प्रतिपादित किया गया है कि छठी भूमिका स्वसंवेदनरूपा एवं सातवीं भूमिका तुरीयातीता अथवा विदेहमुक्तता है।[2] 'योगवासिष्ठ' के अनुसार बंधन और मुक्ति दोनों ही मिथ्या कल्पनाएँ हैं।[3] अतः मुक्ति को सातवीं भूमिका मानना ही संगत है। योगवासिष्ठकार ने जिसे 'विदेहमुक्ति' कहा है उसकी व्यंजना तुलसी के 'कैवल्य परमपद' में हुई है। वह कैवल्यपरमपद अत्यंत दुर्लभ है। इस सप्तभूमिक ज्ञान-योग का निर्वाह हो जाने पर ही उसकी प्राप्ति संभव है।[4]

ज्ञानदृष्टि से निरीक्षण करने पर 'रामचरितमानस' के सात सोपान[5] भी 'योगवासिष्ठ' की सात ज्ञान-भूमियों के (किसी सीमा तक) समशील प्रतीत होते हैं। प्रथम सोपान 'शुभेच्छा' का प्रतिपादक है। पार्वती तथा भरद्वाज की शुभेच्छा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। द्वितीय सोपान में 'विचारणा' (सदाचारपरक प्रवृत्ति) का निरूपण किया गया है। इस सोपान में निबद्ध सभी आदर्श पात्र धर्मपरायण हैं और सदाचार की रक्षा के लिए ही नाना प्रकार के कष्ट सहते हैं। इस सोपान को पढ़कर पाठक भी अपने को इस उच्चतर भूमिका में स्थित पाता है। तृतीय सोपान में 'तनुमानसा' का उपस्थापन है। नायक राम विषयों में असक्त हैं। लक्ष्मण, शबरी और नारद को दिये गये उपदेशों में भी वैराग्य की विशेषता है। इसीलिए कवि ने इस सोपान को 'विमलवैराग्यसंपादनो नाम' कहा है। 'विमलसंतोषसंपादनो नाम' चतुर्थ सोपान 'सत्त्वापत्ति' का व्यंजक है। तृतीय सोपान में 'वैराग्य' चित्त की विषयविमुखता, उसकी निषेधात्मक वृत्ति, का द्योतक था; 'विमल संतोष' मन की क्षोभरहित अवस्था,[6] आत्मानुभव की ओर अग्रसर चित्त की भावात्मक वृत्ति, का ज्ञापक है। तारा और सुग्रीव के अज्ञानबाध के प्रसंग 'मानस' के पाठक की विषयविरक्ति को और दृढ़ कर देते हैं।[7] 'विमलज्ञानसंपादनो नाम' पंचम सोपान में महा-मोह के प्रतीक रावण की लंका का दहन अविद्याजन्य संस्कारों के नाश का प्रतीक है। विभीषण का लंका-त्याग कर राम की शरण में जाना आनंदघन परमात्मतत्त्व में साधक की दृढ़ स्थिति का निदर्शक है। 'विमलविज्ञानसंपादनो नाम' षष्ठ सोपान में 'रामायण' की मूल कथा की समाप्ति पर पाठक के मन में राम की सत्यता एवं जागतिक पदार्थों के मिथ्यात्व की भावना दृढ़ हो जाती है। इस प्रकार इन दोनों सोपानों में क्रमशः 'असंसक्ति' और 'पदार्थाभावनी' भूमिकाओं की व्यंजना हुई है। सप्तम सोपान के विभिन्न स्थलों पर, विशेषकर विज्ञानदीपक के प्रकरण में, ज्ञान का निरूपण सातवीं ज्ञानभूमि 'तुर्यगा' का प्रत्यायक है। तुलसी भक्तिवादी हैं, अतएव उन्होंने भक्ति को ज्ञान से उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। यह भक्ति की विशेषता है कि वह तुरीया भी है और सप्तपदा ज्ञानभूमि से बहुत ऊपर तुरीयातीत भी है।

१. यो० वा० ३।११८।२-१७, ६/१।१२०।१-९, ६/१।१२६।५-७३
२. यो० वा० ३।११८।१५-१६; ६/१।१२०।९ तथा ६/१।१२६।७०
३. यो० वा० ३।१००।३९
४. रा० ७।११९।१-२
५. सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना॥ —रा० १।३७।१
६. नहिं सपनेहुँ संतोष सुख, जहाँ तहाँ मन छोभ॥ —रा०प्र० ७।४।६
७. रा० ४।११।२-४; ४।२१।१-३

'विनयपत्रिका' के निम्नांकित पद्य में भी पूर्वविवेचित सप्तपदा ज्ञानभूमिका की सांकेतिक किंतु सारगर्भित निबंधना प्रेक्षितव्य है—

सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्रीरघुबीर-चरन लय लागै।।
देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै।।
अनुराग सो निज रूप जो जगतें बिलच्छन देखिये।
संतोष, सम, सीतल सदा दम, देहवंत न लेखिये।
निरमल, निरामय, एकरस, तेहि हरष-सोक न ब्यापई।
त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में निरूपित साधना-क्रम का 'योगवासिष्ठ' की सात ज्ञानभूमियों से जो सादृश्य है उसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. साधुसेवा	शुभेच्छा
२. द्वैतभावत्याग और रामप्रीति	विचारणा
३. देहजन्यविकार-त्याग	तनुमानसा
४. स्वस्वरूपानुराग	सत्त्वापत्ति
५. जग मे विलक्षणता	असंसक्ति
६. संतोषादियुक्त विदेहता	पदार्थाभावनी
७. मल आदि से रहित एकरस स्थिति	तुर्यगा।

तुलसीदास के 'ज्ञानपंथ' के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि उन्होंने 'योगवासिष्ठ' और सांख्य-योग में प्रतिपादित ज्ञान को गौरव दिया है तथापि वह उनका आदर्श नहीं है। आत्मवादी 'योगवासिष्ठ' के ज्ञानप्रधान दर्शन में ज्ञान को ही मोक्ष का आवश्यक साधन माना गया है। तुलसी ने ज्ञान को मोक्षप्रद मानते हुए भी उसकी घुणाक्षरन्याय से कादाचित्क सफलता ही स्वीकार की है। पुरुषप्रकृतिद्वैतवादी सांख्य-योग में केवलज्ञान द्वारा कैवल्य-प्राप्ति ही साधक का लक्ष्य है। ईश्वरवादी तुलसी के भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों का ही लक्ष्य भगवत्तत्त्वानुभूति और भगवत्प्राप्ति है। अंतर केवल इतना ही है कि ज्ञानमार्गी भगवान् में लीन हो जाता है और भक्तिमार्गी दासभाव से अपनी अलग स्थिति बनाए रखता है। यह भी स्मर्तव्य है कि जिस प्रकार तुलसी का आदर्श भक्ति-मार्ग ज्ञान-संयुत है उसी प्रकार उनका आदर्श ज्ञान-मार्ग भी भक्ति-संयुत है।

१. वि० १३६।११

अष्टम अध्याय

भक्ति-निरूपण

साधन सिद्धि राम पग नेहू ।[1]

जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरि भगति भवानी ।।[2]

संत सभा चहुँ दिसि अँवराई । श्रद्धा रितु बसंत सम गाई ।।

भगति निरूपन बिबिध बिधाना । छमा दया दम लता बिताना ।।

सम जम नियम फूल फल ग्याना । हरि पद रति रस बेद बखाना ।।[3]

भक्ति का स्वरूप—

व्युत्पत्ति और अभिधान की दृष्टि से कोशकारों ने 'भक्ति' के अनेक अर्थ किये हैं—सेवा, आराधना, श्रद्धा, अनुरागविशेष, विभाग आदि ।[4] शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से पुराणों,'महाभारत,'भक्तिसूत्रों, दार्शनिक रचनाओं और सांप्रदायिक भक्ति-सिद्धांत-ग्रंथों में 'भक्ति' की सांगोपांग मीमांसा की गयी है। जिस प्रकार 'भक्ति' का आरंभिक व्युत्पत्त्यर्थ 'सेवा' आगे चलकर 'प्रेमपूर्वक देवसेवा' के अर्थ में सीमित हो गया, उसी प्रकार 'उपासना' का मूल अर्थ 'समीप बैठना' भी कालांतर में देवता के समीप बैठने और भजन करने के अर्थ में सीमित एवं परिवर्तित हो गया। संहिता-युग में ही 'भज्' और 'उप + आस्' पूजन करने के अर्थ में पर्याय हो चले थे ।[5] आधुनिक युग में भी दोनों शब्द समशील माने जाते हैं ।[6] देवेतर जनों के प्रति 'भक्ति' और 'उपासना' का प्रयोग औपचारिक है। 'भक्ति' शब्द में 'भज्' धातु का अधिक समीचीन अर्थ है—शरण में जाना या भाग लेना। भक्त भगवान् के कार्य को आगे बढ़ाना चाहता है; उसके रस,ज्ञान और कृति में भाग लेना चाहता है; इसीलिए वह भगवान् की शरण में जाकर सेवक-रूप में अपनी स्थिति बनाए रखना चाहता है और मुक्ति की कामना नहीं करता।

भारतवर्ष की चिंतनधारा के मूलस्रोत आदिग्रंथ वेद हैं। अनुसंधान-विशारदों ने भक्ति के बीज का प्रादुर्भाव भी वेदों में बतलाया है ।[7] परंतु तात्त्विक दृष्टि से, वैदिक देव-भक्ति और भक्तिशास्त्रीय भगवद्भक्ति में मौलिक भेद है। वैदिक भक्ति कर्मकांड के अंतर्गत है। वह साधनरूपा है, साध्यरूपा नहीं। उस भक्ति का साध्य स्वर्ग है। भक्तिपूर्वक संपन्न यज्ञ आदि

---

१. रा० २।२८९।४

२. रा० ७।१२६।४

३. रा० १।३६।६-७

४. दे०—वाचस्पत्य बृहत् संस्कृताभिधान, शब्दार्थचिन्तामणि आदि

५. महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे—ऋ० १।१५६।३;
यस्य विश्व उपासते—यजु० २५।१३

६. दे०—हिन्दी-शब्दसागर, हिन्दी-विश्वकोश आदि

७. वैदिक भक्ति के विस्तृत निरूपण के लिए दे०—'भक्ति का विकास'

द्वारा देवतृप्ति स्वर्गप्राप्ति का उपाय है। उसके लिए भक्त्याचार्यों वाला परमप्रेम आवश्यक नहीं है। वह पुरोहित-प्रतिपाद्य भी है। उसका द्वार सबके लिए उन्मुक्त नहीं है—शूद्र या नारी को उसका अधिकार नहीं। किंतु परवर्ती भक्ति-मार्ग की भक्ति कर्म और ज्ञान से भिन्न है। वह साध्य और साधन दोनों ही है। भक्त को स्वर्ग या अपवर्गकी तनिक भी कामना नहीं। उसकी भक्ति परमप्रेमरूपा (द्रुतचित्त की भगवदाकारता) और आत्मनिवेदनात्मक है। धर्मशील या पापी, ब्राह्मण या शूद्र, नर, नारी या नपुंसक सभी उसकी प्राप्ति के सदैव और समान रूप से अधिकारी हैं।

'विष्णुपुराण' के भक्ति-निरूपण में चित्तवृत्ति पर ही विशेष बल दिया गया है। जिस प्रकार अविवेकी जनों की प्रीति विषयों में होती है, उसी प्रकार की आसक्तिपूर्ण किंतु अनपायिनी प्रीति जब भगवान् का अनुस्मरण करने वाले जन के हृदय में भगवान् के प्रति होती है तब वह 'भक्ति' कहलाती है।[1] 'यमगीता' में विष्णु-भक्त के लक्षणों के अंतर्गत सभी सामान्य और विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया गया है, सभी आदर्श गुणों की गणना की गयी है।[2] ये विशेषताएँ भक्तिमार्गी ही नहीं, कर्ममार्गी और ज्ञानमार्गी के लिए भी अपेक्षित हैं।

भक्तिसिद्धांत के प्रतिपादक ग्रंथों में 'भागवतपुराण' का मान बहुत ऊँचा है। उसकी आप्तता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि मध्व, वल्लभ, चैतन्य आदि के भक्ति-संप्रदायों में प्रमाणरूप से 'भागवत' का बारंबार उल्लेख किया गया है। उस पर अनेक टीकाएँ और उन टीकाओं पर भी टीकाएँ लिखी गयी हैं। उसके भक्ति-सिद्धांतों का निरूपण करने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी रचे गये हैं। 'भागवत' में व्यास ने कपिल के मुख से देवहूति के प्रति भक्ति की सारगर्भित व्याख्या करायी है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि वेदविहित कर्म में लगे हुए जनों की भगवान् के प्रति अनन्यभावपूर्वक स्वभाविकी सात्त्विक प्रवृत्ति का नाम 'भक्ति' है।[3] आगे चलकर उन्हीं पात्रों के माध्यम से यह बात और भी स्पष्ट कर दी गयी है। जिस प्रकार गंगा की धारा अखंड रूप से समुद्र की ओर बहती रहती है उसी प्रकार सर्वांतर्यामी भगवान् के गुणश्रवणमात्र से ही प्रादुर्भूत उनके प्रति अविच्छिन्न मनोगति को 'भक्ति' कहते हैं।[4] इसी को उन्होंने 'अहैतुकी' भक्ति कहा है। भक्त का प्राप्य भगवान् है। भगवान् के बिना उसे कुछ भी वांछनीय नहीं है।[5] भागवतकार का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि भक्ति की वास्तविक सत्ता मानसिक स्थिति में है, बाह्य-विधान तो साधन या लिंग मात्र हैं। 'भागवत' के भक्ति-सिद्धांत के प्रतिपादक 'मुक्ताफल' में भी भक्ति का लक्षण-निरूपण करते हुए कहा गया है कि किसी भी उपाय से भगवान् में मन का स्थिरीकरण 'भक्ति' है।[6]

---

१. या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥ —वि० पु० १।२०।१९
युवतीनां यथा यूनि यूनाञ्च युवतौ यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥ —विष्णुपुराण
—अे हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द ४, पृ० ४२३ पर उद्धृत

२. यमगीता, वि० पु० ३।७।१९-३४

३. भा० पु० ३।२५।३२

४. भा० पु० ३।२९।११-१२

५. भा० पु० ११।१४।१४

६. मुक्ता० ५।१ और उस पर कैवल्यदीपिका

शांडिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में भक्ति का शास्त्रीय, तथा सर्वांगीण किंतु संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। इन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या नारायण तीर्थ ने अपनी 'भक्तिचन्द्रिका' नामक टीका में की। शांडिल्य ईश्वर-विषयक परानुरक्ति को 'भक्ति' कहते हैं।[1] 'विष्णुपुराण' का साक्ष्य देकर नारायण तीर्थ ने यह बतलाया है कि प्रीति और भक्ति में अभेद है। पराकाष्ठा पर पहुँची हुई भगवत्प्रीति ही 'भक्ति' है।[2] शांडिल्य की अनुरागरूपा भक्ति, उत्तमास्पद होने के कारण, पतंजलि के योगशास्त्र[3] में पंचक्लेशों के अंतर्गत परिगणित 'राग' से सर्वथा भिन्न है। जैसे उत्तमास्पद सत्संग करणीय होता है और कुसंग हेय, वैसे ही लौकिकसुखानुशयी राग हेय होता है एवं ईश्वरविषयक राग श्रेय।[4] भक्त का भगवद्विषयक राग द्वेष आदि से मुक्त होने के कारण उत्तमास्पद होता है। यह राग भगवान् के प्रति भक्त का एकांत भाव है।[5] लौकिक प्रीति की भाँति भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति भी अश्रु, पुलक आदि अनेक प्रकार के बाह्य चिह्नों द्वारा होती है।[6]

शांडिल्य द्वारा उपस्थापित भक्ति के स्वरूप की व्यतिरेकमूलक व्याख्या भी अवेक्षणीय है। भक्ति यज्ञ आदि की भाँति क्रियारूपा नहीं है। कारण, क्रिया में कर्ता के प्रयत्न की अपेक्षा होती है किंतु भक्ति में ऐसा नहीं है।[7] हाँ, गौणी भक्ति क्रियारूपा अवश्य होती है और वह समस्त क्रियाओं में श्रेयस्कर है।[8] 'भागवत' में कहा गया है कि कर्म का प्रयोजन तभी तक है जब तक निर्वेद या भक्ति का उदय न हो जाए।[9] परंतु भक्ति को निष्क्रियता नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका स्वरूप भावरूप है, अभावरूप नहीं; विधिरूप है, निषेधरूप नहीं। भक्ति ज्ञानरूपा भी नहीं है। इसके प्रमापक अनेक कारण है। १. भक्ति निष्ठामूलक है और ज्ञान ऐसा नहीं है। ज्ञान शत्रु को भी होता है किंतु वह उसकी निष्ठा का बोधक नहीं है। २. भक्ति रागरूपा है किंतु ज्ञान रागधर्मा नहीं है। ३. भक्ति के उदय से ज्ञान का क्षय हो जाता है।[10] इससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति ज्ञान से भिन्न है। ४. ज्ञान भक्ति का साधन है।[11] भक्ति साधन भी है और साध्य भी। ५. 'गीता' आदि में ज्ञानवान् का प्रपन्न होना कहा गया है।[12] इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान और प्रपत्ति (भक्ति) एक नहीं हैं। भक्ति श्रद्धारूपा भी नहीं है। श्रद्धा सभी कर्मों का

---

१. सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे। —शा० भ० सू० १।१।२

२. प्रीतिभक्त्योरभेद एवावगम्यते प्रीतिरेव च रतिः परां काष्ठां गता प्रेमेत्युच्यते।
—शा० भ० सू० १।१।२ पर भ० च०, पृ० ६

३. दे०—यो० सू० २।३ (अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।)

४. शा० भ० सू० १।२।१४ (हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमाऽऽस्पदत्वात् सङ्गवत्।) पर भ० च०

५. शा० भ० सू० २।२।२८ और उस पर भ० च०; दे०—गीता, ९।२२, ३४, १०।९, ११।५५, १२।६

६. शा० भ० सू० २।१।१७-१८ और उन पर भ० च०

७. शा० भ० सू० १।१।७ (न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्।) और उस पर भ० च०

८. सुकृतजत्वात्परहेतुभावाच्च क्रियासु ताः श्रेयस्यः। —शा० भ० सू० २।२।१६

९. तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते। —भा०पु० ११।२०।९

१०. क्रमशः—शा० भ० सू० १।१।४, १।१।६ और १।१।५ तथा उन पर भ० च०

११. शा० भ० सू० १।१।२ और उस पर स्वप्नेश्वर की टीका; —दे०—भक्तियोग, पृ० १०

१२. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। —गीता, ७।१९

अंग मानी गयी है। भक्ति अंगी है, स्वतंत्र है। श्रद्धा को भक्ति मानने से अनवस्था दोष भी आ जाएगा। अतः श्रद्धा और भक्ति दोनों अभिन्न न होकर अंगांगी हैं।[१] इस विषय में 'गीता' का प्रमाण भी है।[२]

नारद के **भक्तिसूत्र** में कुमार, वेदव्यास, शुकदेव, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु, कौडिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनूमान्, विभीषण आदि भक्त्याचार्यों के भक्तिसिद्धांतों का सार उपस्थापित किया गया है।[३] नारद के अनुसार भी ईश्वर के प्रति परमप्रेम 'भक्ति' है।[४] उनका यह 'परमप्रेम' शांडिल्य की 'परानुरक्ति' का ही पर्याय है। कंठावरोध, रोमांच, अश्रु आदि इस परमभाव के अनुभाव हैं। इस प्रेमाभक्ति की ग्यारह आसक्तियाँ हैं।[५] किसी निश्चित आधारभूत वैज्ञानिक विभाजन-सिद्धांत के अभाव के कारण वे ग्यारह आसक्तियाँ भक्ति-संबंधी ग्यारह दशाओं की गणनामात्र हैं।

पांचरात्र आगम में भी भक्तिगत अनन्यता एवं तत्परता पर विशेष बल दिया गया है। नारद, भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव आदि ने विष्णु के प्रति अव्यभिचारी प्रेमभाव को 'भक्ति' कहा है।[६] 'नारदपञ्चरात्र' में ही अन्यत्र कहा गया है कि तत्परता के साथ हृषीक (इंद्रिय) के द्वारा हृषीकेश की निर्मल एवं सभी उपाधियों से विनिर्मुक्त सेवा 'भक्ति' कहलाती है।[७]

योगसूत्र के भाष्यकार व्यास और वृत्तिकार भोज ने 'प्रणिधान' को भक्तिविशेष के रूप में स्वीकार किया है। 'प्रणिधान' का अर्थ है—ईश्वर के प्रति सभी कर्मों का समर्पण।[८] अनुष्ठान या नियमविशेष होने के कारण[९] इस प्रणिधान या समर्पण का भक्ति के साथ तादात्म्य नहीं है। अधिक-से-अधिक इसे भक्ति का एक अंग, सोपान या अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। परंतु मौलिक विप्रतिपत्ति तो इस बात में है कि योग-दर्शन का वह 'ईश्वर' 'पुरुषविशेष' ही है[१०]; वह भक्त्याचार्यों का भजनीय परब्रह्म परमेश्वर नहीं है।

शांकर अद्वैतवाद के विरोधी वैष्णवाचार्यों ने अपने-अपने सांप्रदायिक सिद्धांतों के अनुसार भक्ति की विस्तृत मीमांसा की है। उन्होंने भक्ति को ज्ञान से उच्चतर कोटि में प्रतिष्ठित किया है। सभी ने भक्ति की प्रेमस्वरूपता और आत्मनिवेदन (शरणागति या प्रपत्ति) की सर्वोत्कृष्ट-साधनता स्वीकार की है। उन सभी की कृतियों में सगुण भगवान् की लीला एवं अनुग्रह का

१. शा० भ० सू० १।२।१७-१८ और उन पर भ० च०
२. श्रद्धावान् भजते यो माम् —गीता, ६।४७
३ ना० भ० सू० ८३
४. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। —ना० भ० सू० २
५. क्रमशः दे०—ना० भ० सू० ६८, ८२
६. पञ्चरात्रे—
अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंश्रिता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥
अनन्यमनमताऽव्यभिचारिममता यस्यां न कदाचिदपि कथमप्यलंबुद्धिः। —भ० च०, पृ० ६
७. सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥ —नारदपञ्चरात्र; दे०—ह० र० सि०, पृ० १२
८. दे०—यो० सू० २।१, २।३२, २।४५ और उन पर व्यासभा० तथा भोजवृत्ति
९. ब्र० सू० ३।२।२४ पर शा० भा०; यो० सू० २।३२, वै० सा० १३।१८-१९
१०. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। —यो० सू० १।२४

सिद्धांत प्रतिपादित हुआ है। उपनिषदों और 'महाभारत' का प्रमाण देते हुए रामानुज ने भक्ति के स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा है कि 'ध्यान' और 'उपासना' शब्दों का व्यवहार स्मृति (चिंतन) के प्रवाहरूप ज्ञान के लिए किया जाता है जो दर्शन के समान आकार वाला हो जाता है। 'उपासना' वह चिंतनप्रवाह है जिसके कारण आत्मा परमात्मा के द्वारा वरणीय हो जाता है। स्मर्यमाण विषय की अत्यंत प्रियता के कारण यह स्मृति-प्रवाह भी अत्यत प्रियरूप है। स्नेहपूर्वक किये गये अनवरत ध्यान को 'भक्ति' कहते हैं।[1] भगवान् में तैल-धारासदृश अविच्छिन्न मनोनिवेश ही भक्ति का स्वरूप है।[2] 'श्रीभाष्य' में उन्होंने स्थापित किया है कि ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति है; भक्ति और उपासना पर्यायवाची हैं।[3] वेदांतदेशिक का भक्ति-स्वरूप-निरूपण भी रामानुज की परिभाषा से मिलता-जुलता है। उन्होंने भक्ति को **प्रीतिरूपा धी** कहा है।[4] यहाँ पर 'धी' शब्द का प्रयोग ब्रह्मविद्या से विरोध प्रतिपादित करने के लिए किया गया है। सामान्यतः प्रीति आदि भाव ज्ञानविशेष ही हैं किंतु महनीय-विषयक प्रीति (भगवद-नुरक्ति) भक्ति है। भक्ति के फल में ज्योतिष्टोम, अग्निहोत्र आदि कर्मों के फलों की भाँति कोई तारतम्य नहीं है। उपनिषद्, 'गीता' आदि में जिस भक्ति को ज्ञान का हेतु कहा गया है वह सामान्या (साधनरूपा) भक्ति है, प्रेमरूपा नहीं।[5] रामानुज-दर्शन के अनुयायी रामानंद ने अपनी भक्ति-परिभाषा में भक्ति की जाति और व्यावर्तक धर्मों का ही नहीं अपितु उसके साधनों, अवयवों और उपलक्षणों का भी समावेश किया। श्रेष्ठ महर्षियों के वचनों के आधार पर उन्होंने बतलाया है कि मानस का नियमन करके अनन्य भाव से भगवत्परायण होकर की गयी उपाधि-निर्मुक्त परमात्मसेवा 'भक्ति' है। वह ईश्वर के प्रति परानुरक्ति है, स्मृति-संतान-रूपा है, तैलधारा की भाँति अविच्छिन्न है। विवेक आदि उसकी सात भूमियाँ और यम आदि आठ अवयव हैं।[6]

मध्व ने भगवान् के माहात्म्यज्ञान से उद्भूत परमानुरक्ति को 'भक्ति' कहा है।[7] वल्लभ की भी मान्यता है कि भगवान् के माहात्म्यज्ञानपूर्वक उनके प्रति जो सुदृढ़ सर्वाधिक स्नेह होता है उसी को 'भक्ति' कहा गया है। भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥[8]

प्रस्तुत लक्षण में प्रयुक्त 'माहात्म्यज्ञान' आराध्य की स्वामिता, भगवत्ता एवं अनुग्रह का, और 'स्नेह' शब्द आराधक की चित्तवृत्ति का व्यंजक है। उन्होंने भगवद्विषयक स्नेह की तीन

१. 'गीता' पर रा० भा०, अध्याय ७ की अवतरणिका (स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः)
२. गीता, ६।३४ पर रा० भा०
३. ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते। उपासनापर्यायत्वाद् भक्तिशब्दस्य।—ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०
४. तत्त्वमुक्ताकलाप, जीवसर, कारिका २९
५. दे०—तत्त्वमुक्ताकलाप, जीवसर, कारिका २९ पर टीका
६. उपाधिनिर्मुक्तमनेकभेदकं भक्तिः समुक्ता परमात्मसेवनम्।
अनन्यभावेन नियम्य मानसं महर्षिमुख्यैर्भगवत्परत्वतः॥
सा तैलधारावदनप्वसंस्मृतिप्रत नरूपेशपरानुरक्तिका।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तभूमिजा यमादिकाष्टावयवा मता बुधैः॥ —वै० म० भा० गु० ६५-६६
७. दे० —दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रामानुज, पृ० १७०
८. तत्त्वदीप, १।४५

अवस्थाएँ मानी है—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। स्नेह (प्रेम) की अवस्था में लौकिक राग का नाश हो जाता है। आसक्ति-दशा में गृह के प्रति अरुचि हो जाती है, घरबार मिथ्या एवं बाधक प्रतीत होने लगता है। व्यसनावस्था में भक्त पूर्णतः कृतार्थ हो जाता है।[1] प्रेम के उत्कर्ष के लिए ईश्वर से बिछुड़ने का ज्ञान एवं उससे मिलने की अभिलाषा तथा विकलता का होना आवश्यक है। इसीलिए भक्त अतिशय विरह-दुःख की कामना करता है।[2] अनन्यता और शरणागति का स्थान वल्लभ के मत में भी बहुत ऊँचा है।[3] चातक भक्त का आदर्श है।[4]

भक्ति का सर्वाधिक शास्त्रीय, सांगोपांग तथा सूक्ष्म अध्ययन बंगाली वैष्णवों ने प्रस्तुत किया। रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी आदि ने भारतीय काव्य-शास्त्रियों द्वारा उपेक्षित भक्तिरस की स्थापना और अन्य रसों के मूर्धन्य पर उसके प्रतिष्ठापन का असाधारण प्रयास किया। रूपगोस्वामी की भक्ति-परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लक्षणों का समन्वय है। उन्होंने कहा है कि उत्तमा भक्ति कृष्ण का वह अनुशीलन है जो अनुकूलता से युक्त तथा अन्याभिलाष और ज्ञानकर्म आदि से मुक्त हो—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥[5]

'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' के इस लक्षण में संनिविष्ट 'अन्याभिलाषिताशून्यम्' 'भागवत', 'नारद-पञ्चरात्र', वल्लभ आदि के द्वारा स्वीकृत अनन्यता ही है। 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' में 'भागवत', शांडिल्य आदि का अनुसरण किया गया है। 'आनुकूल्य' सभी आचार्यों द्वारा उपस्थापित प्रेम का व्यंजक है। 'अनुशीलन' रामानुज के 'स्मृतिसंतान' या रामानंद के 'संस्मृतिप्रतान' का पर्याय है। 'उत्तमा' शब्द का व्यवहार साधनरूपा गौणी भक्ति की व्यावृत्ति के लिए किया गया है जो वास्तव में भक्ति न होकर भक्ति-साधन ही है।

केवलाद्वैती वेदांतियों की दृष्टि में भक्ति का स्थान गौण था। वह उन्हें ज्ञान के साधन-रूप में मान्य थी। इसी दृष्टि से शंकर आदि ने भक्ति के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है। 'विवेक-चूडामणि' में उन्होंने भक्ति का ज्ञानात्मक लक्षण दिया है—स्वस्वरूपानुसंधान को 'भक्ति' कहते हैं।[6] इस लक्षण में भक्तित्व को ज्ञानत्व में समेटने की चेष्टा की गयी है। केवलाद्वैतवादी सिद्धांत के विरुद्ध यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आत्मस्वरूपानुसंधान में भक्ति कैसे हो सकती है, भक्ति के लिए तो भक्त और भजनीय का द्वैत अपेक्षित है। डा० दासगुप्त ने इस शंका का समाधान इस प्रकार किया है कि भक्ति के स्वरूप को दृढ़ता प्रदान करने के लिए ही भक्त और भगवान् के दार्शनिक अभेद का निरूपण किया गया है, इससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि

---

१. भक्तिवर्द्धिनी (वल्लभाचार्य), ३-४ और उस पर पुरुषोत्तम की विवृति;
दे०—अष्ट० पृ० ५२५, ए हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द ४, पृ० ३५५
२. यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥—निरोधलक्षण,१; दे०—अष्ट०, पृ० ५२४
३. सिद्धान्तमुक्तावली, १५-१६; नवरत्न, ६; दे०—अष्ट०, पृ० ५२५-२६
४. विवेकधैर्याश्रम, १४-१५; दे०—अष्ट०, पृ० ५२५
५. ह० र० सि० १।१।११
६. स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते। —वि० चू० ३२

अनुरक्ति के द्वारा अनुभूत एकत्व दर्शन द्वारा समर्थित है।[1]

ईसा की पंद्रहवीं और सोलहवीं शतियों में भक्ति की धारा इतनी शक्तिमती और व्यापक हो गयी कि अद्वैतवादी वेदांत भी उससे परिप्लावित हो गया। तुलसीदास के समकालीन (काशी-निवासी) मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन' नामक भक्तिशास्त्रीय ग्रंथ लिखा। सांप्रदायिक आग्रह से रहित इस अद्वैतपरक ग्रंथ में भक्ति की शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक एवं तर्कयुक्त मीमांसा प्रस्तुत की गयी। उनका भक्ति-विवेचन भक्ति-सिद्धांत तक पहुँचने के लिए एक निश्चित सोपान है। उन्होंने 'भक्ति' की परिभाषा की है कि भगवद्धर्म के कारण द्रुत चित्त की सर्वेश के प्रति धारावाहिक वृत्ति को 'भक्ति' कहते हैं—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकताङ्गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥[2]

'भक्तिरसायन' के भक्तिलक्षण का कोई भी शब्द नया नहीं है, फिर भी उसमें विशेषता है। उसका गौरव शब्दों की अर्थव्यंजक निबंधना में है। उसमें चित्त की द्रुति पर विशेष बल दिया गया है। काव्य में वर्णित माधुर्य आदि गुण जिस प्रकार रसानुभूति की चैत्तिक भूमिका हैं, उसी प्रकार चित्त की द्रुतदशा भक्ति की मनोवैज्ञानिक भूमिका है। द्रुत चित्त पर भाव्यवस्तु की आकारता छा जाती है। इसी को 'संस्कार', 'वासना', 'भाव' या 'भावना' जैसे शब्दों से अभिहित किया जाता है।[3] तात्पर्य यह है कि द्रुत होने पर चित्त भगवान् की आकारता धारण कर लेता है अर्थात् भगवन्मय हो जाता है। यही भाव भक्ति है। उन्होंने अपने अन्वयव्यतिरेकी कथन के द्वारा उक्त द्रुति की अनिवार्यता की पुष्टि की है।[4] यह रजोगुण एवं तमोगुण से रहित भगवद्विषयक मनोवृत्ति सुखाभिव्यंजक होने से 'रति' कहलाती है।[5]

उन्होंने तत्त्वज्ञान या ब्रह्मविद्या और भक्ति के व्यावर्तक धर्मों का भी समीचीन विश्लेषण किया है। १. दोनों में आश्रयभेद है। तत्त्वज्ञान का आश्रय अद्रुत चित्त है, परंतु भक्ति के लिए चित्त-द्रुति अनिवार्य है। २. दोनों में स्वरूपभेद है। ब्रह्मविद्या निर्विकल्पक मनोवृत्ति है और भक्ति सविकल्पक। ३. दूसरा स्वरूप-भेद यह है कि ब्रह्मविद्या में अद्वितीयता की अनुभूति होती है और भक्ति में भगवदाकारता की। ४. दोनों के साधन में भी भेद है। भक्ति का साधन है भगवान् के गुणगायक ग्रंथों का श्रवण जबकि 'तत्त्वमसि' आदि वेदांतवाक्य ब्रह्मविद्या के साधन हैं। ५. दूसरा साधन-भेद यह है कि तत्त्वज्ञान के लिए निर्वेद अनिवार्य है, लेकिन भक्ति के लिए नहीं। ६. फल की दृष्टि से भी दोनों भिन्न हैं। भक्ति का फल भगवद्विषयक प्रेमप्रकर्ष है और

---

1. The assertion of the philosophic identity of the self and the Brahman is only for the purpose of strengthening the nature of Bhakti. It merely shows that the oneness that is felt through attachment can also be philosophically supported.
—A History of Indian philosophy, Vol. IV, P. 353

२. भ० र० १।३

३. भ० र० १।६

४. द्रुतौ सत्याम्भवेद्भक्तिरद्रुतौ तु न किञ्चन।
चित्तद्रुतेरभावेन वेनस्तु कतमोऽपि न॥ —भ० र० २।५७

५. रजस्तमोविहीना तु भगवद्विषया मतिः।
सुखाभिव्यञ्जकत्वेन रतिरित्यभिधीयते॥ —भ० र० २।५८

ब्रह्मविद्या का फल अनर्थमूल अज्ञान की निवृत्ति है। ७. दोनों में अधिकारि-भेद भी है। ब्रह्मविद्या का अधिकारी साधनचतुष्टयसंपन्न परमहंस परिव्राजक ही हो सकता है, किंतु भक्ति का अधिकार प्राणिमात्र को है। इस प्रकार आश्रय, स्वरूप, साधन, फल तथा अधिकारी की भिन्नता के कारण ब्रह्मविद्या एवं भक्ति में तात्त्विक भेद है।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि भक्ति परमप्रेम-स्वरूपा है। भगवान् उसके आलंबन हैं। उनके माहात्म्य-ज्ञान से प्रभावित भावक का द्रुतचित्त उसका आश्रय है। भक्ति से संबद्ध कर्म या ज्ञान उसके आवश्यक धर्म नहीं है। भक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह एक साथ ही साधन और साध्य दोनों है। आचार्यों ने उसके इस वैशिष्ट्य पर ध्यान दिया है।[2] मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्ति' शब्द के दुहरे विवेचन द्वारा भावव्युत्पत्ति से उसके फलरूपत्व एवं करणव्युत्पत्ति से उसके साधनरूपत्व दोनों ही अर्थों की अत्यंत सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत की है।[3]

पश्चिमीय तर्कशास्त्र में किसी वस्तु के सामान्य और व्यावर्तक धर्मों के कथन को उसकी 'परिभाषा' कहा गया है। यह 'परिभाषा' का सैद्धांतिक पक्ष है। भारतीय विचारकों ने पदार्थों का लक्षण-निरूपण करते समय उसे बौद्धिक नट-विद्या के रूप में न लेकर उसके व्यावहारिक पक्ष पर ही विशेष ध्यान दिया है। तुलसीदास का भक्ति-लक्षण दोनों ही दृष्टियों से समीचीन है। उन्होंने संतों के अनुसार भक्ति का लक्षण-निरूपण इस प्रकार किया है—रागरिस को जीतकर नीतिपथ पर चलने वाले जन की राम के प्रति की गयी प्रीति 'भक्ति' है—

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय रागरिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥[4]

उपर्युक्त निरूपण में राग-विजय और नीति-पालन भक्ति के उपलक्षणमात्र है। रागादिमुक्त चित्त में ही भक्ति का उदय हो सकता है। यह भक्तिभाव की भूमिका है। 'राग' से तुलसी का अभिप्राय पतंजलि के 'सुखानुशयी राग' से है। लौकिक पदार्थों के प्रति चित्त की आसक्ति 'राग' है। अतएव तुलसी ने उनके निरोध पर बल दिया है। नीतिपालन भक्ति के उदय का साधक और उदित भक्ति का पोषक होता है। भक्ति के लिए उपयोगी होने के कारण इस विशेषण का यहाँ प्रयोग किया गया। अनीतिपथ पर ले जाने वाले कल्पित भक्तिपंथों का परिहार भी इसका प्रयोजन है। रामविषयक प्रीति को ही तुलसी ने भक्ति का स्वरूप-लक्षण माना है। 'प्रीति' भक्ति की जाति या सामान्य है। लुब्ध द्रुतचित्त की विषयाकारता 'प्रीति' है। यह प्रीति कामिनी आदि के संबंध से लोकविषयक सुखानुशयी राग के रूप में भी हो सकती है। उसकी व्यावृत्ति करने के लिए तुलसी ने 'राम' और 'रागरिस जीति' का उल्लेख किया। इस प्रकार, रागरिसरहित द्रुतचित्त की रामाकारता 'भक्ति' है। दीप्त चित्त की रामाकारता मोक्ष का कारण तो हो सकती

१. दे०—भ० र० (टीका), पृ० १०,२६-२७
२. स्वयं फलरूपतेति। —ना० भ० सू० ३०
भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधा —ह० र० सि० १।२।१
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्। —भा० पु० ११।३।३१
३. भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते।...
भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति करणव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन श्रवणकीर्तनादि साधनमभिधीयते। —भ० र० (टीका), पृ० २१-२२
४. दो० ८६

है, परंतु उसे 'प्रीति' या 'भक्ति' नहीं कह सकते। इस लक्षण में 'प्रीति' से तुलसी का वही तात्पर्य है, जो शांडिल्य का 'परानुरक्ति' से या नारद का 'परमप्रेम' से। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि **विश्वनाथ के चरणों में निश्छल स्नेह ही रामभक्त का लक्षण है।**[1] इसमें से यदि समन्वय-भावना को छानकर भक्ति के स्वरूप का निरूपण किया जाए तो स्पष्ट निष्कर्ष यही निकलता है कि ईश्वर-विषयक स्नेह 'भक्ति' है।

इस प्रेम में वह शक्ति है कि वह पाहन से भी परमेश्वर को काढ़ लेता है।[2] इस प्रेम का आनंद—भक्ति का रस—काव्य के नौ रसों एवं रसना के छः रसों से कहीं अधिक मधुर है।[3] भक्तिभाव भी लौकिक प्रेम की भाँति विरहावस्था में अधिक उत्कर्ष को प्राप्त होता है। आदर्श भक्त भरत का निम्नांकित चित्रण उनकी भक्ति की विरहासक्ति के उत्कर्ष का द्योतक है—

पेमु अमिअ मंदरु बिरहु भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥[4]

नारद के **भक्तिसूत्र** में भक्तिलक्षण-विषयक जिन चार भिन्न मतों की चर्चा की गयी है वे भक्ति की परिभाषा के रूप में तो नहीं, किंतु भक्ति की विशेषताओं के रूप में तुलसी को मान्य हैं। पहला मत व्यास का है। उनके अनुसार, भगवान् की पूजा आदि में अनुराग 'भक्ति' है।[5] इसकी सोदाहरण विवेचना नवधा भक्ति की पाँचवीं विधा 'अर्चन' के अंतर्गत की जाएगी। दूसरा मत आचार्य गर्ग का है। उनके अनुसार, भगवान् की कथा आदि में अनुराग 'भक्ति' है।[6] राम के द्वारा शबरी को बतलायी गयी नवधा भक्ति की दूसरी विधा इसी प्रकार की भक्ति है। इसकी मीमांसा आगे चलकर यथास्थान की जाएगी। तीसरा मत शांडिल्य का है। नारद का कथन है कि शांडिल्य के मतानुसार आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना 'भक्ति' है।[7] तुलसी के काव्य में अंकित अद्वैतवादी योगी की भक्ति का यही स्वरूप है।[8] चौथा मत स्वयं नारद का है। उनके मत में भगवान् के प्रति अपने समस्त कर्मों को अर्पित करना एवं उनका विस्मरण होने पर परम व्याकुल होना ही 'भक्ति' है।[9] तुलसी के भरत की भक्ति में 'भक्ति' के इसी स्वरूप की विशिष्ट निदर्शना है।

---

१. बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥—रा० १।१०४।३
उपर्युक्त अर्धाली से तुलसीदास के तीन सिद्धांत अभिव्यक्त होते हैं—
क. रामभक्ति के लिए शिवभक्ति अनिवार्य है।
ख. भगवान् के चरणों में निश्छल स्नेह ही भक्ति है।
ग. माहात्म्यज्ञानपूर्वक की गयी दास्यभक्ति ही श्रेष्ठ है।
२. प्रेम बदौं प्रह्लादहि को जिन पाहन तें परमेस्वरु काढ़े। —कवि० ७।१२७
३. जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे। —वि० १६९।१
४. रा० २।२३८
५. पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। —ना० भ० सू० १६
६. कथादिष्विति गर्गः। —ना० भ० सू० १७
७. आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः। —ना० भ० सू० १८
शा० भ० सू० (१।१।२) में प्रतिपादित भक्ति-लक्षण नारद के इस कथन से भिन्न है।
८. उदाहरणार्थ, दे०—वि० १६७
९. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। —ना० भ० सू० १९

'भक्ति' एक मानसिक स्थिति है। फिर भी 'भक्ति' शब्द का प्रयोग भक्ति के साधनरूप व्यापार एवं भक्तिभाव की अभिव्यक्तिरूप क्रिया (श्रवण आदि) के लिए भी किया जाता है। भक्ति के इस क्रियात्मक पक्ष को व्यक्त करने के लिए तुलसी ने 'भजन' संज्ञा तथा 'भजना' क्रिया का भी अनेकशः प्रयोग किया है।[1] उन्होंने श्रद्धा के अर्थ में भी 'भगति' शब्द का व्यवहार किया है।[2] इसका कारण है 'भक्ति' शब्द की नानार्थकता। शास्त्रीय दृष्टि से वे दोनों को तत्त्वतः भिन्न मानते हैं। दोनों में साध्य-साधन-संबंध है। भक्ति साध्य है और श्रद्धा उसका साधन। यही कारण है कि भक्ति-प्राप्ति के सहायक भवानी-शंकर श्रद्धाविश्वासरूपी हैं।[3]

'भक्ति' के अर्थ की व्यंजना करने के लिए तुलसी ने अनेक शब्दों का व्यवहार किया है—**अनुराग,**[4] **प्रीति,**[5] **प्रेम,**[6] **रति,**[7] **स्नेह**[8] आदि। **अनुराग,**[9] **राग,**[10] **प्रीति,**[11] **प्रेम**[12] आदि शब्दों का प्रयोग सामान्य लौकिक प्रीति के अर्थ में भी हुआ है। भगवद्विषयक होने पर यही भाव 'भक्ति' कहलाता है। यह प्रेम राम के प्रति भी हो सकता है और नाम के प्रति भी। दोनों ही समान हैं—'**समुझत सरिस नाम अरु नामी**।'[13] अतएव तुलसी ने नाम-प्रेम को भी गौरव दिया है।[14] इस प्रकार उनकी भक्ति प्रेमरूपा है। 'प्रेम भगति', 'भगति प्रेम' या 'भाव भगति' आदि दुहरे शब्दों का व्यवहार उन्होंने साधनभक्ति की तुलना में साध्यभक्ति के प्रेमस्वरूप को अधिक महत्त्व देने के लिए ही किया है।[15]

इस प्रेम की अन्य विशेषताएँ भी द्रष्टव्य हैं। जिस प्रकार प्राचीन भक्तिशास्त्रियों ने भक्ति को 'परमप्रेम', 'परानुरक्ति' आदि कहा था, उसी प्रकार तुलसी ने भी इस प्रेम की अतिशयता पर बल दिया है।[16] भरत की अतर्क्य प्रीति के कारण ही उन्हें स्नेह की अवधि और मूर्तिमान् स्नेह तथा तापस को प्रेमरूप कहा गया है।[17] प्रेम का अतिरेक व्यक्त करने के लिए ही तुलसी ने कहा है—

---

१. रा० २।१६७, ३।१३।३, ४।३।२, ५।३२।२, ७।३०।४, वि० ४५।१, १३५।३, गी० ६।२।३, वै० सं० ६, कृ० २२-२३
२. प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥ —रा० २।२४४।४
३. भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। —रा० १।१। श्लोक २
४. रा० २।११०।४, ३।१०।४, वि० ७४।१, १०३।२
५. रा० १।५०।४, ३।१०।७, वि० १०७।३, १६४।१
६. रा० १।१९९।३, ७।११०।४, दो० ५७, ८२, १०३, गी० १।२२।१६, ब० रा० ६४
७. रा० १।३ख, १।९।३, वि० ३।४, ७।४
८. रा० १।१०४।३, २।२१८।४, वि० २४०।४, दो० ६३
९. रा० १।६६।१, वि० ६५।३, जा० मं० ४६, पा० मं० २६
१०. रा० २।७५।३, वि० ५८।३, दो० २८४, गी० १।८७।३
११. रा० १।५७ सो०, वि० १५८।२, कवि० ७।१३५, वै० सं० १०
१२. रा० २।८।१, कवि० २।२३, गी० १।३४।६, दो० २४२
१३. रा० १।२१।१
१४. वि० ६५।४, ७०।१, १५१।५, दो० ४-३९
१५. रा० १।३६।३, ७।३४, ७।४९।३, वि० २०३।१६, दो० १२५; रा० १।३१।७; कवि० ७।३९
१६. रा० ३।१०।७, ६।११०, वि० १६।३, १०२।४
१७. क्रमशः दे०—रा० २।२८९।३, २।२०८।४, २।१११।१

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥[1]

अधोलिखित अर्धाली में 'लय' शब्द भी इसी तल्लीनता का ज्ञापक है—

मन तें सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥[2]

राम-विषयक यह प्रेम **केवल**,[3] **दृढ़**,[4] **सहज**[5] और **अविरल**[6] होना चाहिए। **अविनाशी**, **अनपायनी**, **अविचल**, **निरुपधि** आदि प्रयोग भी तुलसी के इसी आशय के पोषक हैं।[7] भक्ति के लिए **सात्त्विकता** की अनिवार्य अपेक्षा है। रावण तक ने इस बात का अनुभव किया था कि तामस देह से भगवान् का भजन नहीं हो सकता—

होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ येहा॥[8]

इस प्रेम के लिए **अमायिकता** और **सच्चाई** भी अत्यंत आवश्यक हैं।[9] इसीलिए तुलसी ने मनसा-वाचा-कर्मणा अर्थात् सर्वात्मना की गयी भक्ति पर विशेष ध्यान दिया है।[10] प्रेम या भक्ति का 'निर्भर' विशेषण भी इसी पूर्णता का द्योतक है।[11]इस भक्ति की एक स्वाभाविक विशेषता प्रतीति है। प्रतीति के इस अनुपेक्षणीय वैशिष्ट्य का महत्त्व दर्शाने के लिए, प्रीति के लिए प्रतीति की अनिवार्यता के कारण, तुलसी ने दोनों का बारंबार साथ-साथ व्यवहार किया है।[12] भगवान् एवं उसकी भक्ति ही भक्त का एकमात्र साध्य और प्रयोजन है।[13]भक्ति के लिए अनन्यभाव आवश्यक है।[14]राम-विषयक परमप्रेम को व्यक्त करने के लिए तुलसी ने अनेक उपमानों का सहारा लिया

---

१. रा० ७।१३०ख
२. रा० ७।११०।३
३. रा० २।१३७।१, ६।११७ख
४. रा० ३।१०।४, ३।३६।४
५. वि० २४०।४, दो० ६३
६. रा० ३।१०।७, गी० १।१।१२
७. क्रमशः दे—वि० ६।५, रा० ५।३४।१, वि० १७२।४, गी० २।८१।२
८. रा० ३।२३।३
९. मन बच क्रम मम भगति अमाया।···
   भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥ —रा० ७।३८।२
   निगम अगम साहेब सुगम राम साँचिली चाह। —दो० ८०
१०. रा० २।१३१।४।, २।२५१।१, ३।१६।५, वि० ४२।३, ११२।४, कवि० ७।७६, ७।८४, गी० ७।६।६
११. निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। —रा० ३।१०।५
    निर्भर प्रेम मगन हनुमाना। —रा० ५।१७।२
१२. वि० ७३।४, १३०।५, १५१।६, १५६।२, १७३।६, १८४।५, १६४।४, २५०।४, २६०।३, २६१।४, २७५।४, २७६।१
१३. बार बार मागौं कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥ —रा० १।३४२।३
    सबु करि माँगहिं एकु फलु राम चरन रति होउ। —रा० २।१२६
    जनम जनम रति राम पद येह बरदानु न आन। —रा० २।२०४
१४. जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे। —वि० १०१।१
    तिहूँ काल तिहुँ लोक में एक टेक रावरी —वि० २७४।३
    जानकीनाथ बिना तुलसी जग दूसरे सों करिहौं न हहा है। —कवि० ७।१०१

है[१]—मृग, सर्प, कमल, मीन, लोभी, कामी आदि। उनकी दृष्टि में अनुरक्ति की अनन्यता का महत्तम आदर्श चातक में है।[२] इन उपमानों की एकांगी आसक्ति का निरूपण तुलसी ने भक्ति की निष्कामता और अनन्यशरणागति पर बल देने एवं उनका महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए किया है। यथार्थ यह है कि राम अपने भक्त के प्रेम को एकांगी रहने ही नहीं देते। वे प्रीति की रीति को समझते हैं—**जानत प्रीति रीति रघुराई**।[३] उसका उचित संमान करते हैं।[४] प्रीति ही उन्हें प्रिय है।[५] वे भक्त के प्रेम के वशीभूत हैं।[६]

भक्ति की परिपाकरूपा शुद्धि, उसकी निर्मल पुष्टि, लौकिक प्रीति के बाह्य चिह्नों द्वारा व्यक्त होती है। शास्त्र-ग्रंथों में संमान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतरविचिकित्सा, महिमख्याति, तदर्थप्राणस्थान, तदीयता, सर्वतद्भाव, अप्रातिकूल्य आदि लिंगों (भक्ति-सूचक चिह्नों) की बहुधा चर्चा की गयी है।[७] भगवान् और गुरु आदि के प्रति निर्हेतुक आदर[८] को 'सम्मान' कहते हैं। भगवान् के नाम तथा उनके सदृश वर्ण आदि वाले पदार्थों के प्रति पक्षपातयुक्त अतिशय आदर[९] 'बहुमान' है। 'प्रीति' का तात्पर्य है भगवान् या भगवद्भक्त का दर्शन होने पर भक्ति-भाव की बलवती अभिव्यक्ति।[१०] भगवान् या भगवद्भक्त के वियोग में व्याकुलता का अनुभव करना[११] 'विरह' है। भगवद्भिन्न वस्तुओं से स्वभावतः अरुचि होना[१२] 'इतरविचिकित्सा' है। 'महिमकथन' का अर्थ है भगवान् की महिमा का गान।[१३] भगवान् के लिए जीवन धारण करना[१४] 'तदर्थप्राणस्थान' है। मैं भगवान् का हूँ और मेरा सर्वस्व भगवान् का है[१५]—इस प्रकार की दृष्टि

१. दो० ५७, ३१४-२०, वि० २६१।१-२, रा० ७।१३०
२. जन कहाइ नाम लेत हौं किये पन चातक ज्यों प्यास प्रेम-पान की। —वि० ४२।१
और भी दे०—दो० २७७-३१२, रा० २।१२८।३-४, २।२०५।२, वि० १५।५, १७८।२, गी० २।७१।२, कवि० ७।३२
३. नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई। —वि० १६४।१
जानहिं सिय-रघुनाथ भरत को सील सनेह महा है। —गी० २।६४।५
४. भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥ —रा० २।२१८।४
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं। —रा० ७।९२।छं०
कहत नसाइ होइ हिअ नीकी। रीझत राम जानि जन जी की॥ —रा० १।२९।२
५. बलिपूजा चाहत नहीं, चाहत एक प्रीति। —वि० १०७।३
रामहि केवल पेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥ —रा० २।१३७।१
६. भाववस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन। —रा० ७।९२ सो०
तुलसी सहज सनेह राम बस, और सबै जल की चिकनाई। —वि० २४०।४
तुलसी रामहि प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह-सगाई। —गी० ३।११।४
७. दे०—शा० भ० सू० २।१।१८ और उस पर भ० च०
८. रा० २।१२९।४
९. रा० १।१०।३
१०. रा० ३।१०।१०-११
११. वि० २१८।५
१२. रा० २।३२४।४
१३. कवि० ७।१२६
१४. वि० ११३।१
१५. वि० ७५।१

'तदीयता' है। ईश्वर को सर्वभूतमय अथवा समस्त जीवसमुदाय को ईश्वरमय समझकर सबके प्रति भक्तिभाव रखना[1] 'सर्वतद्भाव' है। भगवान् के प्रतिकूल आचरण न करना[2] 'अप्राति-कूल्य' है। तुलसीदास ने दूसरे रूपों में भी भक्तिमान् भक्त की मानसिक और शारीरिक दशा की अभिव्यक्ति की है। भक्त के हृदय में भक्ति परमप्रकाशवती चिंतामणि की भाँति वास करती है। उसका अविद्यांधकार दूर हो जाता है। काम, लोभ आदि सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। उसे मानसरोग नहीं व्यापते।[3] भगवान् और भक्त का दर्शन होने पर, उनकी कथा के श्रवण, स्मरण आदि से वह प्रेमविवश हो जाता है; उसके नेत्र सजल हो जाते हैं; शरीर पुलकित हो जाता है; हृदय उल्लसित हो उठता है।[4] वह आत्मविभोर होकर नृत्य तक करने लगता है।[5]

तुलसीदास ने अपने अभिमत भक्तिमार्ग को श्रुतिसंमत एवं विरतिविवेकसंयुत हरिभक्ति-पथ कहा है—

श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक।।[6]

वह श्रुतिसंमत है—प्राचीन आप्त ग्रंथों पर आश्रित है। तुलसी ने उन विशेषज्ञ मनीषियों के ज्ञान और अनुभव का अपने भक्ति-निरूपण में समुचित उपयोग किया है। "दूसरी बात यह है कि भारतवासियों के लिए वही भक्तिपथ वांछित है जिसका संबंध भारतीय संस्कृति और भार-तीय भाषा से हो। यह संबंध तभी स्थापित हो सकता है जब श्रुतिसम्मत हरिभक्तपथ ही की चर्चा की जाए, क्योंकि श्रुतिग्रंथ ही आर्यभाव और भारतीय संस्कृति तथा भारतीय भाषा के सच्चे कोष हैं।"[7] बौद्धों, जैनों, शाक्तों, सूफियों, निर्गुण-संतों आदि के वेद-पुराण-विरोधी मार्गों के निराकरण के लिए भी तुलसी ने 'श्रुतिसंमत' पर जोर दिया है। विरति-विवेक को भक्ति से दो रूपों में संयुक्त माना जा सकता है। साधनजन्या भक्ति में वे सहायकरूप हैं। कृपाजन्या भक्ति में उनका रूप सहचर का-सा है क्योंकि उसमें भगवद्रति, विषय-विरति एवं भजनीय का माहात्म्यज्ञान इन तीनों का उदय साथ-साथ होता है।

तुलसी ने अपने रामभक्तिमार्ग को हरिभक्तिपथ भी कहा है। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'हरि' शब्द के ग्रहण के अनेक कारण बतलाये हैं—१. तुलसीदास को बाल्यकाल से हरिभक्ति की ही शिक्षा मिली थी; २. लोक-रक्षा का भाव हरि के साथ ही विशेष रूप से संबद्ध है; ३. पुराण आदि ग्रंथों में हरिभक्ति (हरि के नाम, रूप, गुण, लीला आदि) का ही सर्वाधिक विस्तृत एवं आकर्षक वर्णन हुआ है; ४. आराध्य की त्रिविधता (निराकारता, सुराकारता, और नराकारता) का महत्तम रूप हरि में ही है; ५. अपनी विविधता, लोकरंजकता एवं लोक-रक्षकता के कारण हरि के अवतारों का ऐतिहासिक महत्त्व है; ६. 'हरि' का व्युत्पत्त्यर्थ (पापं हरतीति हरिद्वर्णाद्वा हरिः।) भी आराध्य की मंगलकारिता और व्यापकता का ज्ञापक है;

१. रा० १।८।१, ७।११०।८
२. वि० १७४।१
३. रा० ७।१२०।१-५
४. रा० १।१०४।१-२, १।१११।४, २।११०, ३।१२।५, ५।१४।१, ७।८८।१, ७।६३।१
५. रा० ३।१०।६-७
६. रा० ७।१०० ख, दो० ५५५
७. तुलसी-दर्शन, पृ० २५४

७. 'हरि' के अंतर्गत राम और कृष्ण दोनों श्रेष्ठ अवतारों का समावेश हो जाता है।[1] मिश्रजी का यह विवेचन सर्वथा युक्तियुक्त है। परंतु, यह ध्यान रखने की बात है कि 'हरिभगति' में 'हरि' का व्यवहार परमविष्णु राम के लिए हुआ है। राम ही 'हरि' हैं।[2] तुलसी की दृष्टि में रामभक्ति का मार्ग ही राजमार्ग है—

गुरु कह्यो राम-भजन मोहि नीको लगत राज-डगरो सो।[3]

सगुण राम ही उनके भजनीय हैं। यह तुलसी की परमोदारता है कि उन्होंने निर्गुण राम, हरि, राम के कृष्ण आदि अन्य अवतारों एवं शिव आदि अन्य देवों को राम का ही रूप मानकर उनके प्रति भी विभिन्न स्थलों पर अपनी भक्ति का निवेदन किया है। उन्होंने अन्यदेवोपासना की तुलना में रामभक्ति की वरणीयता के अनेक कारण बतलाये हैं—१. इंद्र, ब्रह्मा आदि देवता स्वार्थी हैं। वे व्यवहारकुशल हैं। वणिग्बुद्धि से हानि-लाभ का हिसाब लगाते हैं। वे पूजा में हाथी लेकर बदले में श्वान का वरदान देते हैं। वे इतने चतुर हैं कि जितना देते हैं उसका करोड़गुना ले लेते हैं। वे आदान किये बिना प्रदान नहीं कर सकते।[4] २. केवल राम ही ऐसे कृपालु हैं जो एक बार नमस्कार करने से ही द्रवीभूत होकर शरणागत की कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं। उन्होंने अपने अन्य अवतारों में भी इस गौरव का निर्वाह किया है।[5] ३. रामभक्त होने के पहले तुलसीदास ने दूसरों की शरण में जाकर, उनकी वंदना करके, देख लिया कि दुःख-ही-दुःख है। दूसरा कोई भी आराध्य भव-क्लेश को दूर नहीं कर सकता। तुलसी के पास इस बात के प्रमाण भी हैं। शिव, ब्रह्मा, इंद्र, लोकपाल आदि सभी विद्यमान थे, परंतु शोकमग्न गजराज को कोई बचा न सका।[6] ४. राम का स्वभाव यह है कि भक्ति का उद्रेक होते ही वे भक्त पर अविलंब कृपा करते हैं।[7] ५. अपने सुयश की अवहेलना करके भी भक्तों के लिए (देह धारणा करके) अवधानपूर्वक सब-कुछ करते हैं। पाषाणी अहल्या, निषाद, गृद्ध, शबरी, कपियों आदि के प्रति किया गया उनका अनुग्रहपूर्ण व्यवहार उनकी दयालुता और सुशीलता का दृष्टांत है।[8] ६. राम ही ऐसे स्वामी हैं जो सेवक (भक्त) के प्रति आभार का अनुभव करते हैं।[9] यह उनकी धन्यता है। ७. उनकी अहैतुकी कृपा किस पर नहीं हुई? संपन्न और विपन्न, ज्ञानी और मूढ़, बलशाली

---

१. दे०—तुलसी-दर्शन, पृ० २३९-४२
२. रामाख्यमीशं हरिं —रा० १।१।श्लोक ६
हरि अवतार हेतु जेहि होई। —रा० १।१२१।१
३. वि० १७३।५; और भी दे०—गी० ५।४२।२ (राम-राजमारग चलो)
४. स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वान लेवा देई काहू तो न पीर रघुबीर दीन जन की। —वि० ७५।२
सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाये। —वि० १६३।२
तन-साथी सब स्वारथी सुर ब्यवहार-सुजान। —वि० १९१।२
पूजा लेत देत पलटे सुख हानि-लाभ अनुमाने। —वि० २३६।२
बिबुध सयाने··· देत एक गुन, लेत कोटि गुन भरि सो। —वि० २६४।३
५. वि० १६३।२-३, रा० २।२६६।२
६. क्रमशः—वि० २७६।१; रा० १।२००।२, हनु० ४२; वि० २१७।३
७. किये छोहु छाया कमल कर की भगत पर भजतहि भजै। —वि० १३५।३
८. गी० ५।४३।१, ५।४६
९. प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई। —वि० १६४।६

और निर्बल सभी राम की शरण में पहुँचकर कल्याणभाजन हो गये।[१] ८. राम की सर्वोपरि दानशीलता भी उनकी उत्तमता का प्रमाण है—

जो संपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं॥[२]

९. निराकाररूप में ही सही, राम और उनके नाम का भजनीयत्व निर्गुणसंतों को भी मान्य है। अतएव तुलसी की मान्यता है—

को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइये संकर जेहि सेव॥[३]
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥[४]

यद्यपि तुलसीदास के भक्तिमत में वात्सल्य, शम, सख्य आदि भावों का पद भी गौरवान्वित है तथापि उनका अभीष्ट भक्तिमार्ग दास्यभक्ति का ही मार्ग है। उनका 'दास' शब्द 'भक्त' का ही पर्याय है।[५] उन्होंने अपनी एवं अपने काव्य में चित्रित भक्तजनों की प्रीति भगवान् राम के चरणों में ही निवेदित की है। दूसरों से भी उन्होंने राम के प्रति इसी प्रकार की भक्ति के वरदान की ही याचना की है।[६] उन निवेदनों में 'चरण', 'पद' आदि शब्दों का व्यवहार दास्यभक्ति का ही प्रत्यायक है।

तुलसीदास को निर्गुणमत की अभेदभक्ति अमान्य नहीं है[७] तथापि उनकी दृष्टि में भेदभक्ति ही श्रेष्ठ और विशेष मान्य है।[८] जहाँ वे भेदकारिणी मति के परिहार की बात करते हैं[९] वहाँ भी उनका साध्य भेदभक्ति ही है। उन स्थलों पर 'भेद' का तात्पर्य है जीवों का परस्पर भेद, जीव तथा ब्रह्म का स्वरूप-भेद और विश्व तथा विश्वरूप भगवान् का भेद।

भक्ति के प्रकार—

प्रेमा भक्ति ही वस्तुतः भक्ति है। श्रवण आदि भक्ति के साधन या अभिव्यक्तियाँ हैं। उनके लिए 'भक्ति' शब्द का प्रयोग उपचारमात्र है। प्रस्तुत वर्गीकरण के संदर्भ में 'भक्ति' का व्यवहार उसके व्यापक अर्थ में हुआ है। भक्ति-निरूपक ग्रंथों में विभिन्न दृष्टियों से भक्ति के विविध वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं। भागवतकार ने अनेक अवसरों पर भक्ति के स्वरूप, साधन, साध्य, साधक आदि की दृष्टियों से उसकी अनेक विधाओं की चर्चा की है—त्रिधा, चतुर्धा, पंचधा आदि। तदनुसार 'मुक्ताफल' के सप्तम अध्याय में 'भागवत' से संदर्भोल्लेखसहित

---

१. गी० ५।४२।१-४, कवि० ७।१०
२. वि० १६२।३; मि० दे०—
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥ —रा० ५।४९ ख, दो० १६३
३. वि० १०७।६
४. रा० ६।३
५. रा० १।१३२।४, ३।११।१३, वि० ४६।६, ६०।८, दो० ६४, वै० सं० ४०
६. रा० १।३, वि० ३।४, ७।५, १६।३, ३६।४
७. दो० ७, वि० १६७।४-५, रा० ३।१३।६-७
८. रा० ३।६।१, ६।११२।४, ७।७६।२
९. वि० ७।५, १०।६, रा० ६।१११।१०

उद्धरण देकर भक्ति के अंगों का उन्नीस प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। ये वर्गीकरण वैज्ञानिक न होने पर भी भक्ति-संबंधी अवश्यज्ञातव्य बातों की प्रज्ञप्ति करते हैं। उसी ग्रंथ के पंचम अध्याय में वोपदेव ने विष्णुभक्ति के अठारह भेद बतलाये हैं।[1] रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' के 'पूर्वविभाग' की अंतिम तीन लहरियों में भक्ति के बारह भेदों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।[2] शांडिल्यकृत **भक्तिसूत्र** की टीका 'भक्तिचन्द्रिका' में नारायणतीर्थ ने भक्ति के

१. दे०—मुक्ता०, पृ० ८३-९०—
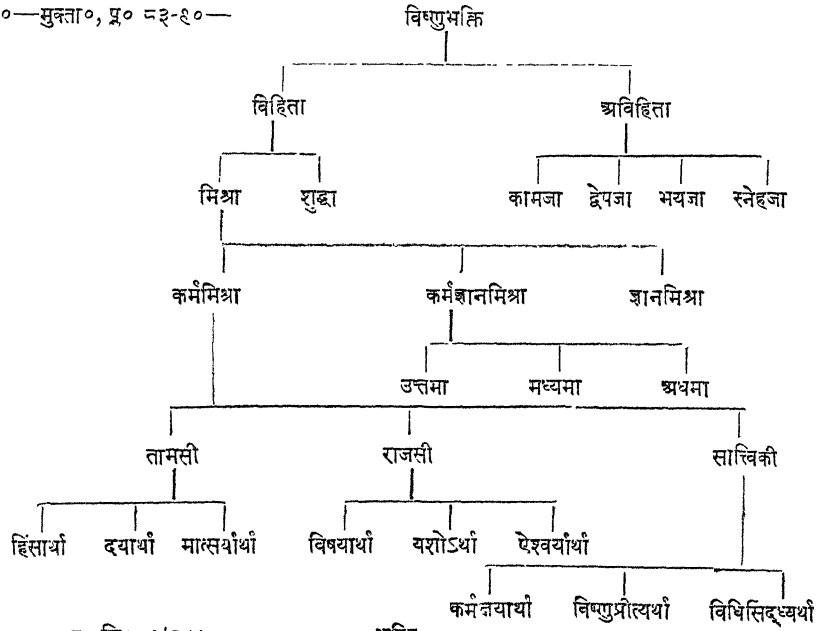
२. दे०—ह० र० सि० १।२-४ —
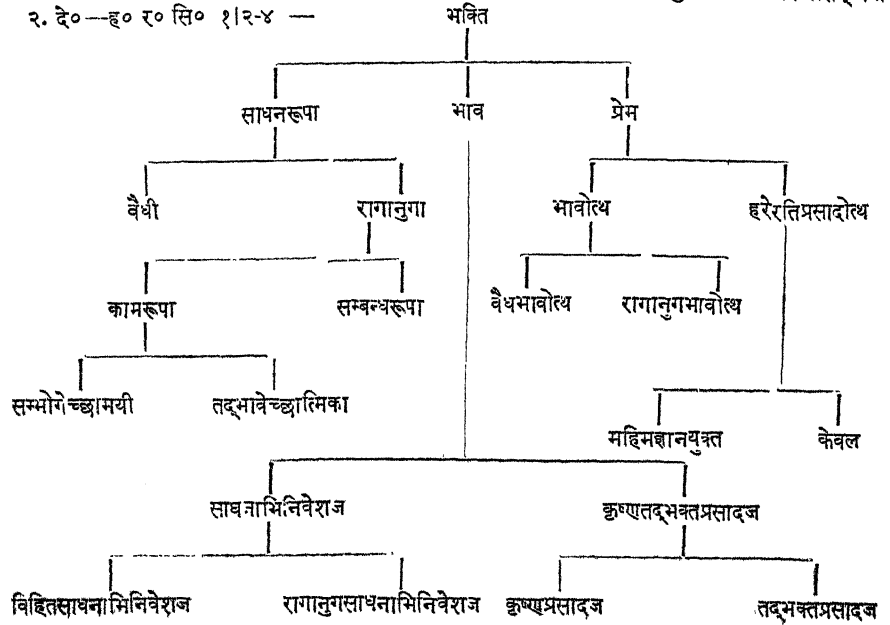
सत्रह भेदों की चर्चा की है।[1]

नवधा भक्ति—भक्ति के विभिन्न वर्गीकरणों में 'नवधा' की ख्याति सर्वाधिक है। भक्ति-विचारकों ने अनेक प्रकार की अवेक्षणीय नवधा भक्तियों का निरूपण किया है। उनमें भी 'अध्यात्मरामायण' और (उससे भी अधिक) 'भागवत' का नवविध-विधान[2] विशेष समादृत हुआ है। उनका विस्तृत विवेचन 'भक्ति के साधन'-शीर्षक आगामी प्रकरण में किया जाएगा। रामानंद की भक्तभगवत्संबंध-विषयक नवधाभक्ति[3] की विचारचर्चा भी भक्ति-साधन के प्रसंग में की जाएगी। वोपदेव की नवरसात्मक नवधाभक्ति[4] वस्तुतः भक्तिरस का विषय है।

द्विधा भक्ति—भजनीय के स्वरूपभेद से भक्ति दो प्रकार की होती है—निर्गुणभक्ति और

---

१. दे०—भ० च०, पृ० १४८-५३—
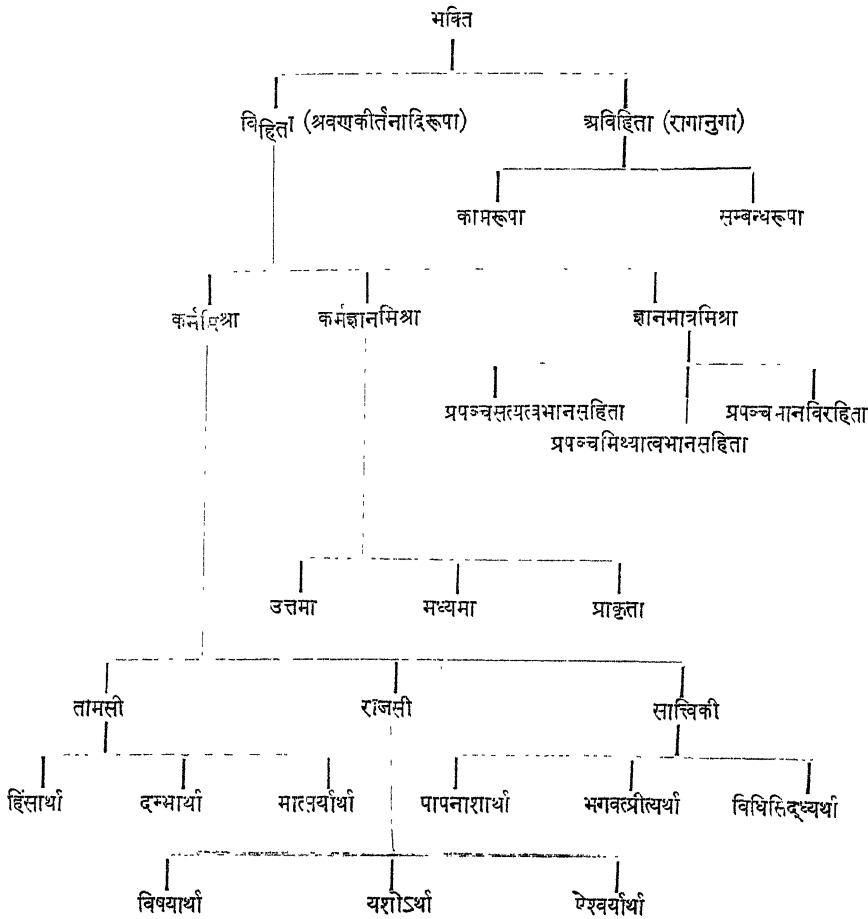
२. अ० रा० ३।१०।२२-३१; भा० पु० ७।५।२३-२४

३. वै० म० भा० गु० १४-१८

४. मुक्ता०, पृ० १६४

सगुणभक्ति। इसलिए भक्तिविशारदों ने सगुणशरणता और निर्गुणशरणता की चर्चा की है।[१] निर्गुणभक्ति केवलाद्वैतवादी आत्मज्ञानी की निराकारब्रह्मविषयक भक्ति है। सगुणभक्ति का संबंध साकार भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम से है। शांडिल्य-कृत भक्तिसूत्रों का व्याख्यान करते हुए नारायणतीर्थ ने बतलाया है कि आचार्य बादरायण के मतानुसार निर्गुण-भक्ति का पर्यवसान 'सोऽहम्'-बुद्धि में होता है और आचार्य काश्यप के मतानुसार सगुणभक्ति का पर्यवसान 'दासोऽहम्'-बुद्धि में। आचार्य शांडिल्य समन्वयवादी हैं। उन्हें भक्ति के भेदविषयक (सगुण) और अभेदविषयक (निर्गुण) दोनों ही रूप मान्य हैं, क्योंकि दोनों ही मत श्रुति-संमत हैं।[२]

शांडिल्य की भाँति तुलसीदास भी समन्वयवादी हैं। उनका निर्गुणसगुणभक्तिसमन्वयसंबंधी सिद्धांतवाक्य है—**हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।**[३] द्वितीय अध्याय में इसका व्यापक विवेचन किया जा चुका है कि उनके राम निर्गुण और सगुण दोनों ही हैं। इसीलिए उन्होंने राम की प्रायः सभी स्तुतियों में उनके निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों का समन्वित चित्रण किया है। 'रामचरितमानस' के सप्तम सोपान में वर्णित काकभुशुंडि की जीवन-गाथा उसका व्यतिरेकी दृष्टांत है। अनेक स्थलों पर उन्होंने शुद्ध निर्गुणभक्ति का संकेत भी किया है, यथा—

> **रघुपति-भगति करत कठिनाई।**
> **कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई॥**
> **सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी॥**
> **सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी॥**
> **सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं॥**
> **तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं॥**[४]

सगुणभक्तिनिरूपण तो उनके साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य ही है। भगवान् के दोनों ही रूपों को मान्यता देते हुए भी वैष्णव भक्तों ने उपासना की सुसाध्यता[५] आदि के कारण निर्गुणभक्ति की अपेक्षा सगुण-भक्ति को श्रेष्ठ माना है। भक्तिशास्त्र में कारणनिर्देशपूर्वक इसका ज्ञापन किया गया है।[६] 'विनयपत्रिका', 'कवितावली' और 'रामचरितमानस' में तुलसी ने सगुणभक्ति की

---

१. दे०—भ० च०, पृ० २२६
२. आत्मैकपदां बादरायणः। —शा० भ० सू० २।१।४
तामैश्वर्यपदां काश्यपः परत्वात्। —शा० भ० सू० २।१।३
उभयपदां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम्। —शा० भ० सू० २।१।५
काश्यपमतस्य दासोऽहमिति बुद्धौ पर्यवसानाद्बादरायणमतस्य सोऽहमितिबुद्धौ पर्यवसानात्
—शा० भ० सू० २।१।४ पर भ० च०
शाण्डिल्य आचार्य उभयपदां भेदविषयामभेदविषयां च मन्यते। कुतः'''उदाहृतभेदाभेदश्रुतिभिः।
—शा० भ० सू० २।१।५ पर भ० च०
३. दो० ७
४. वि० १६७।१, ४-५
५. रा० पू० ता० उ० १।७
६. दे०—शा० भ० सू० १।२।१६ पर भ० च०

श्रेष्ठता का पुनः-पुनः प्रतिपादन किया है। निम्नलिखित सवैया विशेष द्रष्टव्य है—

अंतरजामिहु तें बड़े बाहेरजामि हैं रामु, जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाई ज्यों बालक बोलनि कान किये तें।
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
पैज परें प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिये तें॥[1]

उन्होंने सुतीक्ष्ण,[2] अगस्त्य[3] तथा मानवीकृत वेदों[4] आदि के द्वारा भी निर्गुण की अपेक्षा सगुण भक्ति की वरणीयता पर अधिक बल दिया है। यहाँ तक कि उनके भजनीय राम ने स्वयं कहा है कि मुझे सगुणोपासक अत्यधिक प्रिय है।[5] निर्गुण से सगुण राम की श्रेष्ठता के विविध कारणों का सम्यक् उपस्थापन पहले किया जा चुका है। तुलसी के काव्य में उपर्युक्त दोनों भक्तियाँ अभेद-भक्ति और भेद-भक्ति के रूप में मानी गयी हैं। सगुणोपासक भक्तों की भक्ति को उन्होंने नामांतर से **भेदभक्ति** भी कहा है। तुलसी का आदर्श दास्य भक्ति है। उसमें दास और स्वामी का भेद अनिवार्य है। अतएव उनके शरभंग और दशरथ ने भेदभक्ति का ही वरण किया है।[6] यद्यपि तुलसी ने 'अभेद-भक्ति' शब्द का व्यवहार नहीं किया है तथापि भेदभक्ति के विलोम के रूप में निर्गुणोपासक ज्ञानी भक्त की अभेद-भक्ति का भी अध्याहार किया जा सकता है।

पुनः द्विधा भक्ति—भक्त के साध्य और साधन की दृष्टि से भक्ति के दो प्रकार हैं—साध्यरूपा और साधनरूपा।[7] दोनों क्रमशः **मुख्या** और **गौणी** हैं। वस्तुतः हार्दरूपा साध्या भक्ति (अंतःकरण की भगवदाकारता) ही भक्ति है। भक्त का एकमात्र प्राप्य (साध्य) होने के कारण ही इसे साध्यरूपा कहा गया है। यही नारद की भगवत्परमप्रेमरूपा, शांडिल्य की ईश्वरपरानुरक्ति और वल्लभ की प्रेमरूपा भक्ति है। साधनों का फल होने के कारण ही मधुसूदन सरस्वती आदि ने इसे 'फलभक्ति' नाम दिया है।[8] भक्त के लिए सबसे उच्च वस्तु होने से यह परा भक्ति या परमभक्ति भी कही गयी है।[9]

साध्यरूपा भक्ति—प्रापक कारणों के अनुसार यह भक्ति दो प्रकार की होती है—साधनजन्या और कृपाजन्या। इस भक्ति की सिद्धि जब विहित या अविहित साधनों के द्वारा होती है

१. कवि० ७।१२९; और भी दे०—कवि० ७।१२७-२८
२. रा० ३।११।९
३. रा० ३।१३।६-७
४. रा० ७।१३।छं०६
५. सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्हकें द्विज पद प्रेम॥ —रा० ५।४८
६. प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ। —रा० ३।९।१
दसरथ भेद भगति मन लावा। —रा० ६।११२।३
७. भक्तिस्तावद्द्विविधा—साधनरूपा साध्यरूपा च। —ह० र० सि० १।२।१ पर दुर्गमसङ्गमनी
रूप गोस्वामी ने भक्ति के जो तीन विभाग (साधन, भाव और प्रेमा) किये हैं (ह० र० सि० १।२।१) उनका अंतर्भाव उपर्युक्त दो में ही कर लेना चाहिए, क्योंकि प्रेमाभक्ति की प्रथमावस्था ही भावभक्ति है—
प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते (ह० र० सि०, पृ० १०२)
८. फलसाधनभेदेन भक्तिद्वैविध्योपपत्तेः —भ० र० (टीका), पृ० २१
सा च भक्तिर्द्विधा—साधनभक्तिः फलभक्तिश्चेति—भ० नि०, पृ० ३
९. शा० भ० सू० २।२।१ (भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या परायै तद्धेतुत्वात्); यतीन्द्र०, पृ० ९७

तब यह 'साधनजन्या' कहलाती है। विहित साधनों द्वारा निष्पन्न भक्ति विहिता और अविहित (रागानुग) साधनों द्वारा निष्पन्न भक्ति अविहिता है। जब बिना किसी संलक्ष्य साधन के ही भगवान् के प्रसादमात्र से परमभक्ति की प्राप्ति हो जाती है तब इसे 'कृपाजन्या' कहते हैं। इस दूसरी को श्रीनिवासदास ने 'फलभक्ति' नाम दिया है।[1] इस भगवत्कृपाजन्या भक्ति और वल्लभ की अनुग्रहभक्ति या निस्साधन भक्ति में थोड़ा अर्थभेद है। वल्लभमतानुसार प्रेमभक्ति अथवा पराभक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेने पर भक्त को किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं रह जाती। प्रभु का अनुग्रह ही उसका सहारा है। अतएव उसे अनुग्रहभक्ति या निस्साधन भक्ति कहते हैं।[2] यह भी ध्यान देने की बात है कि यद्यपि भगवान् का अनुग्रह प्रत्येक दशा में आवश्यक है तथापि निस्साधन भक्ति के आरंभिक क्रम में साधन की आवश्यकता हो सकती है। किंतु पूर्वोक्त कृपाजन्या भक्तिमें साधन का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ साधना का सर्वथा अभाव है। अकस्मात् ही भगवान् के प्रसाद से भक्ति मिल जाती है। भगवान् कृपा क्यों करते है? भक्त का उत्तर पेटेन्ट है—यह उनकी लीला है। संभव है कि भक्त ने पूर्व जन्म में साधना की हो, संभव है कि ऐसा कुछ भी न हो।

कहा जा चुका है कि भक्ति के लिए चित्तद्रुति अनिवार्य है। रजोभिभूत या तमोभिभूत चित्त से रजस् या तमस् का समुच्छेद साधनाभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे होता है। उनके समुच्छेद के तारतम्य के अनुसार भक्तिरूपा रति में भी तारतम्य होता है।[3] इस प्रकार उसकी दो कोटियाँ है—सामान्या और तीव्रा। संयोग-दशा में यह रति सामान्या रहती है और वियोग-दशा में तीव्रा। उदाहरणार्थ, राम का लालन करती हुई कौशल्या की वत्सलरति पहली कोटि की है[4], और राम की वनवास-दशा में भरत की भक्ति दूसरी कोटि की।[4] विरह-दुःख के तारतम्यानुसार तीव्ररति की भी तीन कोटियाँ हैं—मृदुतीव्रा, मध्यतीव्रा और तीव्रतीव्रा।[5] दशरथ की राम-विषयक वत्सलरति इन तीनों ही प्रकारों का समीचीन दृष्टांत है। विश्वामित्र के हेतु रामवियोग के अवसर पर उनकी रति मृदुतीव्रा है (यद्यपि कवि ने उसकी बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति की है); रामवनगमन के समय मध्यतीव्रा है और सुमंत्र के वापस आ जाने पर तीव्रतीव्रा है।[6]

ग्यारह आसक्तियाँ—नारद ने साध्यरूपा प्रेमाभक्ति की जो ग्यारह आसक्तियाँ बतलायी हैं[7] वे तुलसी के काव्य में भी न्यूनाधिक रूप में देखी जा सकती हैं। नारद के एकादशधा निरूपण में वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार न होने पर भी भगवद्रति की महत्त्वपूर्ण स्थितियों का निर्मल चित्रांकन है। उन आसक्तियों के ग्यारह रूप इस प्रकार हैं—गुणमाहात्म्यासक्ति[8], रूपासक्ति,[9]

१. फलभक्तिस्तु ईश्वरकृपाजन्या। —यतीन्द्र०, पृ० ६७
२. दे०—अष्ट०, पृ० ५३८, पादटिप्पणी
३. रजस्तमस्समुच्छेदतारतम्येन गम्यते।
   तुल्येऽपि साधनाभ्यासे तारतम्यं रतेरपि॥ —भ० र० २।५६
४. क्रमशः—गी० १।८, ३२; २।६४-६५
५. भ० र०, २।६०-६१ और उस पर किञ्चिद्व्याख्या
६. रा० १।२०८।१-५, २।७७।३-२।७८।१, २।१५५।१-४
७. ना० भ० सू० ८२
८. क.वि० ७।११-२४, रा० २।१२८।२-३, वि० २१४, २१५
९. रा० १।२१६।१-३, २।१२८।३-४

पूजासक्ति[1], स्मरणासक्ति[2], दास्यासक्ति[3], सख्यासक्ति[4], कांतासक्ति[5], वात्सल्यासक्ति[6], आत्म-निवेदनासक्ति[7], तन्मयतासक्ति[8] और परमविरहासक्ति[9]।

साधनरूपा भक्ति—साध्य-साधन-दृष्टि से भक्ति का दूसरा प्रकार साधनरूपा भक्ति है। इसमें 'भक्ति' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। वस्तुतः साध्या भक्ति के साधनों को ही साधनरूपा भक्ति कह दिया जाता है। यह मुख्या (साध्या) भक्ति की अपेक्षा गौण है अतएव 'गौणी' कहलाती है।[10] इसमें गौणी वृत्ति (लाक्षणिक प्रयोग) होने के कारण भी इसका 'गौणी' नाम सार्थक है। शास्त्रीय दृष्टि से यह साधनरूपा भक्ति दो प्रकार की है—विहिता (वैधी) तथा अविहिता (रागानुगा)।[11] भगवान् के प्रति परम भक्तिभाव की प्राप्ति के पूर्व शास्त्र के शासनानुसार जो प्रवृत्ति होती है वह 'विहिता' या 'वैधी' भक्ति है। इसी को दूसरों ने **मर्यादामार्ग** भी कहा है।[12] इस भक्ति का अधिकारी वह श्रद्धावान् साधक है जो न अतिविरक्त है और न अतिसक्त।[13] नवधा वैधी भक्ति का विवेचन भक्ति-साधन के प्रकरण में किया जाएगा। रूपगोस्वामी ने श्रद्धा-तारतम्य के आधार पर वैधी भक्ति के अधिकारियों की जो तीन कोटियाँ (उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ) बतलायी हैं[14] उनकी अभिनिष्पत्ति तुलसी-साहित्य में नहीं हैं। तुलसी के भरत, भरद्वाज, वसिष्ठ, कौशल्या, रावण आदि की इष्टदेव-विषयक श्रद्धा का तारतम्य निर्धारित करना संभव नहीं है।

दूसरी साधनरूपा भक्ति 'रागानुगा' (अविहिता) है। इष्ट-विषयक स्वाभाविक प्रेममयी तृष्णा को 'राग' कहते हैं।[15] इस राग के द्वारा निष्पन्न परमप्रेमरूपा भक्ति का साधनभूत यह राग ही रागानुगा भक्ति है। यह भक्ति भी दो प्रकार की होती है—कामरूपा तथा संबंधरूपा।[16] काम (दाम्पत्य रति) से प्रेरित भक्ति कामरूपा है। 'कृष्णगीतावली' में गोपियों की भक्ति इसी प्रकार की है। अन्य प्रकार के रागात्मक संबंधों से अनुप्राणित भक्ति संबंधरूपा है;

---

१. रा० २।१२९।१-३, २।३२५
२. गी० ७।१३, दो० ४१
३. वि० ११३।२, रा० २।१३१।४
४. रा० १।२२५।१-४
५. कवि० २।२३
६. रा० १।१५१।३
७. वि० १८७
८. रा० ३।१०।६
९. वि० २१८।१, ५
१०. भक्त्या भजनोपसंहाराद् गौण्या परायै तद्धेतुत्वात्। —शा० भ० सू० २।२।१
११. ह० र० सि० १।२।३; भ० च०, पृ० १४९
१२. यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते। शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥ —ह०र०सि०१।२।३-४
शास्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्यादयान्विता।
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते॥ —ह० र० सि० १।२।५९-६०
१३. नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्य्यसौ। —ह० र० सि० १।२।६
'भागवतपुराण' में इस प्रकार के पुरुष को सामान्य रूप से भक्तियोग का अधिकारी माना गया है (भा० पु० ११।२०।८)।
१४. ह० र० सि० १।२।६-८ और उन पर दुर्गमसङ्गमनी
१५. ह० र० सि० १।२।६२ पर दुर्गमसङ्गमनी
१६. ह० र० सि० १।२।६३

जैसे—दशरथ, कौशल्या आदि की भक्ति। यद्यपि कामरूपा भक्ति भी संबंधरूपा ही है तथापि अन्य संबंधों की अपेक्षा कामभाव की प्रधानता एवं बलवत्ता के कारण उसका अलग वर्गीकरण किया गया है।[1]

पुनः द्विधा भक्ति—मधुसूदन सरस्वती ने उपाधि-भेद से भगवद्रति के दो भेद बतलाये हैं—शुद्धा और मिश्रिता।[2] परमानंदरूप भगवान् की महिमा के श्रवणादिमात्र में निबद्ध अनुपाधि भक्ति शुद्धा है। सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, वाल्मीकि, तुलसी आदि की भक्ति ऐसी ही है। भजनीय भगवान् के गुणों की अनंतता के आधार पर इस भक्ति के भी अनंत रूप हो सकते हैं। आनंत्य-दोष के परिहार के लिए इसे एकरूपा ही माना गया है।[3] मिश्रिता भक्ति के तीन भेद हैं—कामजा, संबंधजा, और भयजा।[4] ये तीनों सोपाधि है। शृंगारमिश्रित भक्ति कामजा है[5]; जैसे, 'कृष्ण-गीतावली' की गोपियों की। पाल्यपालक-भाव वाली वत्सलरति और सेव्यसेवक-भाव वाली प्रेयोरति संबंधजा हैं।[6] पहली के उदाहरण दशरथ आदि हैं, दूसरी के भरत आदि। स्वापराध की भावना से उत्पन्न चित्तवैक्लव्य के कारण प्रादुर्भूत भक्ति भयजा होती है[7]—जैसे मारीच की।

त्रिधा भक्ति—निमित्त (कामना)-भेद से भक्ति के कर्म तीन प्रकार के बताये गये हैं—कामनानिमित्त, नैष्कर्म्यनिमित्त और भक्तिनिमित्त। तदनुसार भक्ति के भी तीन भेद हैं—सकाम, कैवल्यकाम और भक्तिमात्रकाम। जो भक्ति ऐश्वर्य की सामान्य कामना से प्रेरित है वह 'सकाम' भक्ति है। कर्मसंन्यासपूर्वक भगवत्प्रसाद के लिए की गयी योगी की भक्ति 'कैवल्य-काम' भक्ति है। फलसंन्यासपूर्वक केवल भक्ति के लिए की गयी शुद्धभक्ति 'भक्तिमात्रकाम' भक्ति है।[8] उपर्युक्त प्रथम दो भक्तियाँ सकामभक्ति के ही अंतर्गत हैं; क्योंकि मोक्ष की कामना भी काम है। तीसरी भक्ति तत्त्वतः निष्काम भक्ति है। यही तुलसी का आदर्श है।

पुनः त्रिधा भक्ति—मधुसूदन सरस्वती ने फल-दृष्टि से भक्ति के तीन भेद बतलाये हैं—दृष्टमात्रफला, अदृष्टमात्रफला और मिश्रिता।[9] वर्तमान देह के द्वारा प्राप्य फल को 'दृष्ट' और भावी शरीर के द्वारा उपभोग्य फल को 'अदृष्ट' कहते हैं।[10] तुलसी-साहित्य में अंकित भरद्वाज, वाल्मीकि, सनक आदि की सात्त्विकी भक्ति 'दृष्टमात्रफला' है। राजसी और तामसी भक्ति 'अदृष्टमात्रफला' होती है।[11] तीव्र वायु से विनिक्षिप्त दीप-ज्वाला की भाँति रजस्तमोभिभूत पुरुष की सुखाभिव्यक्ति असत्-सी प्रतीत होती है। अतएव भगवद्विषया धारावाहिकी चिद्रूपा

---

१. ह० र० सि० १।२।६३ पर दुर्गमसङ्गमनी
२. शुद्धा व्यामिश्रिता चेति पुनरेषा द्विधा भवेत्। —भ० र० २।६३
३. भजनीयगुणानन्त्यादेकरूपैव सोच्यते। —भ० र० २।६४
४. कामसम्बन्धभयतस्सोपाधिस्त्रिविधा मता। —भ० र० २।६५
५. शृङ्गारमिश्रिता भक्तिः कामजा भक्तिरिष्यते। —भ० र० २।६६
६. भ० र० २।११, ६६-६७ और उन पर किञ्चिद्व्याख्या
७. भ० र० २।८, ६७ और उन पर किञ्चिद्व्याख्या
८. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिअन फिलॉसफी, जिल्द ४, पृ० ४२४
९. भ० र० २।४४
१०. भ० र० २।५०
११. भ० र० २।४५

और आनंदस्वरूपा मनोवृत्ति भी प्रतिबद्ध होने के कारण सुखाभिव्यक्ति के पद के योग्य नहीं हो पाती।[1] शिशुपाल और कंस की द्वेषमिश्रित मनोवृत्ति, जो क्रमशः रजःप्रबल सत्त्वांश के कारण ईर्ष्याजन्य और तमःप्रबल सत्त्वांश के कारण भयजन्य थी, आनंददायिनी नहीं हो सकी। उनका वर्तमान शरीर इस विषय में प्रतिबंधक था। उस शरीर के नष्ट हो जाने पर, प्रतिबंध के क्षय के बाद, भावी शरीर में वह चित्तद्रुति भक्तिरसता को प्राप्त हुई।[2] मारीच आदि का भक्ति इसी प्रकार की है। मिश्रिता भक्ति 'दृष्टादृष्टोभयफला' होती है। जो पुरुष वैदिक, आगमिक और पौराणिक शास्त्रविहित कर्म का पालन करते हैं उनकी सुखानुभूति (आनंदस्फूर्ति) निदाघपीड़ित व्यक्ति की गंगास्नान-क्रिया की भाँति आंशिक होती है।[3] उसका फलभोग अंशतः दृष्ट और अंशतः अदृष्ट रहता है। जनक तथा अवधवासियों की भक्ति का यही रूप है।

चतुर्धा भक्ति—प्राकृत गुणों (साधकों की स्वाभाविक वृत्तियों) के आधार पर भागवतकार ने भक्ति के चार प्रकार माने हैं—निर्गुणा, सात्त्विकी, राजसी और तामसी। तीनों गुणों से ऊपर उठे हुए साधक की सर्वांतर्यामी पुरुषोत्तम में लगी हुई, अहैतुकी एवं गंगाप्रवाह की भाँति अविच्छिन्न तथा अव्यवहित चित्तवृत्ति 'निर्गुणा' भक्ति है।[4] यह पूर्वोक्त साध्यरूपा या निष्काम भक्ति ही है। भरत, हनुमान् आदि इसी प्रकार के भक्त हैं। शेष तीनों भक्तियाँ सकाम हैं। इसीलिए नारद ने उन्हें गौणी के तीन भेद माना है।[5] पापक्षालन के लिए अथवा कर्तव्य-बुद्धि से की गयी भेदभावयुक्त भक्ति 'सात्त्विकी' है। हर्ष अथवा सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण इसको 'सात्त्विकी' कहते हैं।[6] भोगलोलुप, यशोभिलाषी, ऐश्वर्यार्थी, नित्यसकामहृदय साधक के द्वारा भेदबुद्धि से की गयी भक्ति 'राजसी' है।[7] सुग्रीव आदि इसी श्रेणी के भक्त हैं। क्रोधी, मत्सरी, हिंसक और दंभी द्वारा परपीड़न के लिए की गयी भक्ति 'तामसी' है।[8] रावण की शिव-भक्ति ऐसी ही है। वस्तुतः उक्त तीनों ही भक्तियाँ सत्त्वजा हैं। उनके वर्गीकरण का आधार अन्य दो गुणों की सापेक्ष न्यूनाधिकता है।[9] राजसी में सत्त्वजत्व रजोभिभूत रहता है और तामसी में तमोभिभूत। शुद्धसात्त्विकी में सत्त्वगुण अन्य दो गुणों की अपेक्षा अधिक उत्कट रहता है।

---

१. भ० र० २।५१-५२
२. भ० र० २।५३-५५
३. भ० र० २।४७
४. भा० पु० ३।२९।७-१४
५. गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा। —ना० भ० सू० ५६
६. देवीभागवतपु० ७।३७।८-९, भा० पु० ३।२९।१०; भ० र० २।४२
७. देवीभागवतपु० ७।३७।५-७, भा० पु० ३।२९।९
मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि यह भक्ति रजोगुण की प्रबलता के कारण ईर्ष्याजन्य द्वेष से उत्पन्न होती है (भ० र० २।४१)।
८. देवीभागवतपु० ७।३७।४-५, भा० पु० ३।२९।८
मधुसूदन सरस्वती के मत से 'तामसी' भक्ति तमोगुण की प्रबलता के कारण भयजन्य द्वेष से उत्पन्न होती है (भ० र० २।४१)। तुलनात्मक विचारणा की दृष्टि से यह ईक्षणीय है कि मधुसूदन सरस्वती के अनुसार 'राजसी' और 'तामसी' दोनों ही भक्तियाँ द्वेषजा हैं। यद्यपि प्रस्तुत संदर्भ में 'द्वेष' का अर्थ चित्तद्रावक द्वेष है (भ० र० २।४१ पर किञ्चिद्व्याख्या) तथापि सुखविरोधी होने के कारण यह द्वेष रतिभाव की कोटि में नहीं आ सकता (भ० र० २।४३)। अतएव द्वेषजा भक्ति भक्तिरस की दशा तक नहीं पहुँच सकती।
९. सत्त्वजत्वे तु सर्वासाङ् गुणान्तरकृता भिदा। —भ० र० २।४२

मधुसूदन सरस्वती ने उक्त तीनों भक्तियों के साथ ही उनके संमिश्रण से एक चौथी भक्ति भी मानी है—मिश्रिता, जिसमें सत्व के साथ रजोगुण और तमोगुण भी समान रूप से प्रधान हों। यह भक्ति कामशोकादिजन्य होती है।[1] तुलसी-साहित्य में इस भक्ति का निरूपण या उदाहरण नहीं मिलता।

षड्विधा भक्ति—भक्ति की एक परिभाषा की गयी है कि वह रजोगुण और तमोगुण से विहीन सुखाभिव्यंजक भगवद्विषयक मति है। सगुणभक्त की यह सुखानुभूति तन्मात्राओं की दृष्टि से षड्विधा है—स्पर्शजा, शब्दजा, रूपजा, रसजा, गंधजा और समुच्चितविषयजा।[2] भगवान् के स्पर्श से जहाँ भक्त को आनंदानुभूति होती है वहाँ 'स्पर्शजा' भक्ति है।[3] भगवान् के सुंदर वचन या रामकथा सुनने तथा उनसे वार्तालाप करने से भक्तिभाव की अनुभूति 'शब्दजा' है।[4] राम के दर्शन से भक्तिद्वारा प्राप्त सुखानुभूति 'रूपजा' है।[5] राम के प्रसाद, उन्हें निवेदित किये गये भोजन, उनकी जूठन आदि के आस्वाद से की गयी भक्त्यनुभूति 'रसजा' है।[6] राम को चढ़ाये गये पत्रपुष्प, व्यंजन आदि के सुवास से अनुभूत भगवद्विषयक रति 'गंधजा' है।[7] एक साथ ही अनेक तन्मात्राओं के संबंध से अनुभूत भक्ति 'समुच्चितविषयजा' है।[8]

भक्ति के साधन—

यों तो अपनी रचनाओं में तुलसीदास ने सैकड़ों स्थलों पर भक्ति के विविध साधनों की चर्चा की है, किंतु कतिपय स्थलों पर उन्होंने विशेष व्यवस्थित रूप से उनका विस्तृत निरूपण किया है। उनमें से चार स्थल 'रामचरितमानस' में हैं। जिनमें से तीन स्थानों पर भगवान् राम स्वयं प्रतिपादक हैं। कथा के क्रम में पहली सूची वाल्मीकि ने प्रस्तुत की है। राम के निवास की चौदह भूमियाँ गिनाते समय उन्होंने भक्ति के साधन विस्तारपूर्वक बतलाये हैं।[9] विद्वानों ने 'चौदह' के अनेक अर्थ किये हैं[10]—प्रेमा भक्ति के चौदह भेद, भक्ति के चौदह प्रकार, भक्त के

---

१. भ० र० २।४१-४२

२. भ० र० २।५८, ६२

३. सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी। —रा० १।२११। छं० ४
सब सिसु येहि मिसु प्रेम बस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरष हिअँ देखि देखि दोउ भ्रात॥ —रा० १।२२४

४. सुनि प्रभु बचन हरषि मुनि चारी। पुलकित तन अस्तुति अनुसारी। —रा० ७।३४।१
प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊँ। तन पुलकित मन अति हरपाऊँ॥ —रा० ७।८८।१

५. चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥ —रा० १।१४८।३
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥ —रा० ७।७५।३

६. लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ॥ —रा० ७।७५क
मनभावतो कलेऊ कीजै। तुलसिदास कहँ जूँठनि दीजै॥ —गी० १।३६।५

७. प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥ —रा० २।१२९।१

८. गी० ३।१७, रा० ४।१०।१-३

९. रा० २।१२८।२-२।१३१

१०. दे०—मा० पी०, बालकांड के आरंभ में दी गयी विषय-सूची, पृ० २४; मा० पी० २।१२८।३ और २।१३२।१; तुलसी-दर्शन, पृ० २८२; मा० पी०, अयोध्याकांड के आरंभ में लिखित निबंध 'अयोध्याकाण्ड

चौदह प्रकार, भक्त के चौदह लक्षण, भक्ति के चौदह साधन, उपासना की चौदह विधियाँ आदि। उन्हें साधनों के चौदह वर्ग मानना तर्कसंगत नहीं है; क्योंकि कहीं-कहीं एक ही स्थान में अनेक भक्तिसाधन गिनाये गये हैं; जैसे—चौथे में अर्चन, वंदन तथा पादसेवन। दूसरी ओर—अनन्यता, शरणागति आदि विशेषताओं का अनेक बार उल्लेख हुआ है। अतः भक्ति या भक्तों के वर्गीकरण की न्यायनिष्ठता का अभाव है।

भक्ति-साधनों का दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण उपस्थापन राम के द्वारा तृतीय सोपान में हुआ है—

> भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला ॥
> भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥
> प्रथमहि बिप्र चरन अतिप्रीती। निज निज कर्म निरत स्रुति रीती ॥
> येहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥
> स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं ॥
> संत चरन पंकज अतिप्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा ॥
> गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
> मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
> काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके ॥
> बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निहकाम।
> तिनके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम ॥[1]

उपर्युक्त गीता में श्रीकांतशरण जी ने कृपासाध्य, साधनसाध्य और परा भक्तियाँ मानी हैं। उनके अनुसार पहली पंक्ति में कृपासाध्य भक्ति सूचित की गयी है; दूसरी से सातवीं पंक्ति तक साधनसाध्य भक्ति का कथन किया गया है और अंतिम चार पंक्तियों में पराभक्ति का।[2] 'मानस-पीयूष' में श्री विजयानंद त्रिपाठी और स्वामी प्रज्ञानंद के मत का उल्लेख करके बतलाया गया है कि जैसे 'मानस' में रुचिर सप्तसोपान हैं, वैसे ही इस भक्ति-प्रासाद के सात सोपान हैं। सातों भक्तिमय हैं—विप्रभक्ति, स्वकर्मभक्ति, भागवतधर्मभक्ति, श्रवणादिभक्ति, भगवल्लीला-भक्ति, गुरुसंतभक्ति और रसस्वरूपा भक्ति।[3] डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि लक्ष्मण-भक्तियोग में निर्दिष्ट ये समग्र साधन भक्ति-सरोवर की तह तक पहुँचाने वाले सप्तसोपान या सप्तभूमिकाएँ भी हैं—ब्रह्मसेवा, श्रवणादिक नवधा भक्ति, संतसेवा, वासुदेवः सर्वमितिभाव, सात्त्विक प्रेमोन्माद, द्वंद्वातीत अवस्था और अनन्यासक्तचित्तता।[4] 'मानस-पीयूष' और 'तुलसी-

का मूल्याङ्कन', पृ० ३५; रामचरितमानस की भूमिका, पाँचवाँ खण्ड, पृ० १०३-४

अधिक प्रत्यायक अनुमान यह है कि चतुर्दश भुवनों के अधीश्वर भगवान् ने जब चौदह वर्ष तक वन में निवास करना अंगीकार किया तब उनके पूछने पर वाल्मीकि ने चौदह स्थान गिना दिये। भुवन चौदह हैं, धर्म के निवासस्थान चौदह माने गये हैं अथवा विद्याओं की संख्या चौदह मानी गयी है, इसलिए चौदह स्थानों की गिनती की।

—दे०—तुलसी-दर्शन, पृ० २८२; मा० पी० २।१३२।१, सि० ति० २।१३२।१

१. रा० ३।१६।२–दोहा
२. दे०—रा० ३।१६ पर सि० ति०
३. दे०—मा० पी०, अरण्यकाण्ड, पृ० १४६, १५६
४. दे०—तुलसी-दर्शन, पृ० २७८-७९

दर्शन' में यह भी उपपादित किया गया है कि यहाँ पर 'अध्यात्मरामायण' की नवधा भक्ति का पूर्ण चित्रण है और साथ ही 'भागवत' की नवधा भक्ति की भी चर्चा की गयी है। दोनों ही प्रकार की नवधा भक्तियों का आधार-स्तंभ ज्ञान-वैराग्य है और इन दोनों का मूलाधार सत्संग है।[1]

हमारी मान्यता यह है कि इसमें न तो सात सोपानों की ही व्यवस्थित योजना है और न तो 'अध्यात्मरामायण' में प्रतिपादित सभी साधनों का ही अविकल वर्णन है। यहाँ पर भक्ति का व्यापक निरूपण किया गया है। 'अध्यात्मरामायण'[2], 'भागवतपुराण'[3], 'पद्मपुराण'[4], 'शिवपुराण'[5], 'आदिपुराण'[6], 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'[7] आदि की मुख्य भक्तिविधाएँ परिगणित हैं। भक्तिसाधनों के तीन वर्ग हैं—कृपा-साधन, विहित साधन और अविहित साधन। यहाँ पर तीनों ही प्रकार के साधनों का भी निवेश है। पहली पंक्ति में कृपासाधन की व्यंजना हुई है। अगली चार पंक्तियों में विहित साधनों का उल्लेख है। छठी और आठवीं पंक्तियों में भक्तिभाव की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है। सातवीं में भक्ति के रागानुग (अविहित) साधन का कथन है। शेष पंक्तियों में भक्ति के सर्व-निष्ठ सामान्य साधन तथा भक्ति के स्वरूप का निरूपण है। यद्यपि तुलसीदास योग और ज्ञान को भी भक्ति का साधन मानते हैं तथापि इस भक्तियोग में उन्होंने उनका समावेश नहीं किया। इसका कारण यह है कि उनके अवलंबन के बिना भी स्वतंत्र रूप से ही भक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

भक्ति-साधनों की तीसरी सूची शबरी-भक्तियोग में है। इसकी अपेक्षित विवेचना 'नवधा-भक्ति' के अंतर्गत की जाएगी। चौथी अवेक्षणीय सूची राजा राम के सार्वजनिक प्रवचन में समाविष्ट है।[8] इस सूची का ध्यानाकर्पक वैशिष्ट्य इस बात में है कि इसमें अन्य उपायों के अति-रिक्त मानव-शरीर एवं शंकर-भजन की साधना पर विशेष बल दिया है। 'विनयपत्रिका' के पाँच पदों में भक्ति के साधनों का विशेष रूप से उपस्थापन किया गया है।[9] 'विनय-पत्रिका' की साधन-चर्चा की अनुपेक्षणीय विशेषता यह है कि उसमें सगुणभक्ति-साधनों के साथ-ही-साथ निर्गुणभक्ति-साधनों का स्थान भी गौरवपूर्ण है। विस्तृत भक्तिसाधन-निरूपण का एक विशिष्ट स्थल 'कवितावली' में है। वहाँ पर कलियुग-वर्णन के प्रकरण में तुलसी ने नकारात्मक रूप से भक्ति-साधनों की व्यापक चर्चा की है। उसमें विहितसाधनों की पर्याप्त गरिमा व्यक्त की गयी है।[10]

कृपा और क्रिया—यह पहले कहा जा चुका है कि साधन की दृष्टि से साध्यरूपा भक्ति दो प्रकार की है—कृपाजन्या और साधनजन्या। कृपाजन्या भक्ति में भक्त कोई साधन अर्थात्

---

१. दे०—मा० पी०, अरण्यकाण्ड, पृ० १५५; तुलसी-दर्शन, पृ० २७७-७८
२. अ० रा० ३।१०।२२-२७
३. भा० पु० २।४।१५, ७।५।२३, ७।६।५०
४. प० पु० ६।२२४।२४-२६
५. शि० पु० २।२।२३।२२-२३
६. आदिपु० १८।२४-२६
७. ब्र० वै० पु० १।६।१४-१६, २।३६।७३-७४, २।६३।१६-२०, ४।१।३३-३४
८. रा० ७।४३।३-७।४६
९. वि० १२६, १३६।१०-१२, १७२, २०३, २०५
१०. कवि० ७।८४-८८

साधना या प्रयास नहीं करता। उसमें भगवान् की कृपा ही (भक्ति-प्राप्ति का हेतु होने के कारण) साधन है। साधनजन्या भक्ति भक्त की प्रयत्नपूर्वक की गयी साधना का फल है। इसमें भक्त सक्रिय उपाय करता है। इसीलिए यह क्रियासाध्य[1] भी कही गयी है। कृपा और क्रिया की सापेक्ष साधनता के विषय में निम्नांकित मान्यताएँ ध्यान देने योग्य हैं—

१. राम-भक्ति का मुख्य साधन रामकृपा है।
२. क्रियात्मक साधनों की सिद्धि के लिए भी रामकृपा अनिवार्य है।
३. अतएव हम कह सकते हैं कि क्रियात्मक साधन रामकृपा के ही साधन हैं।
४. रामकृपा के लिए अन्य साधन अनिवार्य नहीं हैं। उनके अभाव में भी राम कृपा कर सकते हैं।
५. क्रियात्मक साधनों का अभ्यास करने पर भी रामकृपा अवश्यंभावी नहीं है।

इन मान्यताओं के कारण कुछ सहज शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं—

१. यदि रामकृपा साधनजन्य होती है तो फिर कृपा की साधनता की कल्पना व्यर्थ गौरव है। लाघव के लिए उसे त्याग देना चाहिए।
२. यदि साधन न करने पर भी कृपा प्राप्त हो जाती है और करने पर भी कभी-कभी उसकी प्राप्ति नहीं होती तो फिर ऐसी संदेहास्पद वस्तु की चिंता क्यों की जाए?
३. जब साधन के बिना भी कृपा-प्राप्ति संभव है तब फिर साधना का कष्ट क्यों उठाया जाए? जब राम की मर्जी होगी, कृपा कर देंगे।
४. जब राम साधना-विमुख व्यक्ति पर भी कृपा कर देते हैं और कठोर साधक को भी कृपा से वंचित रख सकते हैं तब फिर ऐसे भगवान् की भक्ति करने से क्या लाभ जिसमें न्याय-निष्ठा नहीं है?

इन शंकाओं का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है। भक्ति को केवल क्रियासाध्य न मानकर उसे कृपासाध्य मानने के अनेक प्रयोजन हैं—

१. अपने प्रयत्न को ही भक्ति का एकमात्र साधन मानने वाला साधक अपनी सफलता से उद्दीप्त होकर अभिमानग्रस्त हो सकता है और अभिमान पतनकारक है। कृपा की भावना साधक की अभिमान से रक्षा करती है।
२. वेदशास्त्र-प्रतिपादित उपायों की साधना के निष्फल हो जाने पर साधक नास्तिक, निराश एवं अवसन्न होकर भक्तिविमुख हो सकता है। कृपा-सिद्धांत उसके आस्तिक्य, आशा और उत्साह का रक्षक है।
३. अपने ही क्रिया-कलाप को भक्ति का साधन मानने से साधक के मन में कामना और स्वार्थ-परता की भावना का प्रबल हो जाना स्वाभाविक है। यह मनोवृत्ति शरणागति और भक्ति में बाधा पहुँचाने वाली है। कृपासाधनता की भावना साधक के मन में इन विघ्नों का जन्म नहीं होने देती।[2]
४. कृपासिद्धांत का एक प्रमुख प्रयोजन उदार भगवान् की भक्तवत्सलता का कार्यान्वयन है। परतंत्र जीव की शक्तियाँ सीमित हैं। भक्ति के साधन और भक्तिपथ की बाधाएँ असीम

१. दे०—तुलसी-दर्शन, पृ० २८४
२. दे०—तुलसी-दर्शन, पृ० २८६-८७

हैं। इस कारण जीव भगवान् तक पहुँचने में (भगवान् की अनुभूति करने में) असमर्थ है। अतएव करुणामय भगवान् भक्त की सहायता के लिए स्वयं ही उसके पास तक उतर आता है। भगवान् का यह अवतरण उसकी कृपा है। यह भक्त का विश्वास है। यह अनुभूति का विषय है, तर्क का नहीं। यह कृपासिद्धांत ही भक्तिमत की आधारशिला है।

तुलसीदास समन्वयवादी हैं। उन्होंने कृपा की अनिवार्य साधनता स्वीकारते हुए भी क्रियात्मक साधना पर बारंबार बल दिया है। "वास्तव में क्रिया के बिना कृपा नहीं हो सकती और कृपा के बिना क्रिया के फल की सिद्धि भी नहीं हो सकती। बीज और वृक्ष की भाँति कृपा और क्रिया अन्योन्याश्रित हैं।...कर्मचक्र ही भगवान् का न्याय है और निर्हेतुक कृपा ही उनकी दया।... इसलिए गोस्वामी जी ने अपने मानस में दोनों का सुंदर सामंजस्य करके बड़गल, तिंगल आदि सभी संप्रदाय वालों को समेट लिया है। भक्ति के लिए भगवान् की कृपा अनिवार्य साधन है ही। परंतु वह साधन तो ईश्वराधीन है। इसलिए भक्ति के साधनों की चर्चा में जीवाधीन साधनों अर्थात् क्रियाओं ही का विशेष उल्लेख होता है।"[1] कर्म-सिद्धांत भारतीय संस्कृति की एक महती विशेषता है। यह सिद्धांत तुलसी को पूर्णतः मान्य है। ईश्वर उच्छृंखल स्वेच्छाचारी नहीं है। वह जीवों को कर्मानुसार ही फल देता है। यदि किसी साधक को साधना करने पर भी भक्ति की सिद्धि नहीं मिलती तो यह समझना चाहिए कि साधक के पूर्वकर्म ही इसमें प्रतिबंधक हैं। जन्मांतरवाद इस मत का पोषक है। उन प्रतिबंधकरूप कर्मों का फल-भोग समाप्त हो जाने पर सिद्धि प्राप्त हो जाएगी। जहां साधना के बिना भी रामकृपा हो जाती है वहाँ यह समझना चाहिए कि जीव के पूर्वपुण्यों का उदय हुआ है। उसने इस जन्म में, पूर्वजन्म में, या उसके भी पूर्ववर्ती जन्मों में जो पुण्य-कर्म किये थे, उनका फल प्रतिबंधकों के कारण उसे मिल नहीं सका था। अब उनके नष्ट हो जाने पर उसे कृपा-प्राप्ति हो गयी। तुलसीदास इस मर्म को जानते हैं। अन्य भक्तों के दृष्टांत और स्वानुभव के आधार पर ही उन्होंने कहा है—

केहि आचरन भलो मानें प्रभु सो तौ न जानि पर्यौ।
तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जोवत पंथ खर्यौ॥[2]

स्पष्ट है कि क्रियात्मक साधना की सिद्धि में विलंब होने के कारण कवि क्षुब्ध हो उठा है। उसका आत्मविश्वास तो डिग-सा गया है परंतु राम की कृपा पर उसका विश्वास दृढ़ है, इसीलिए वह हताश नहीं हुआ और अनवसादपूर्वक भगवान् की कृपा की राह देख रहा है।

कृपासाधन—कृपाजन्या भक्ति का साधन कृपा है। साधनजन्या भक्ति के साधन द्विविध हैं—अविहित (रागानुग) और विहित। अतएव तुलसी-प्रतिपादित भक्ति-साधनों की मीमांसा इन्हीं तीन शीर्षकों—कृपासाधन, रागानुग साधन, और विहित-साधन के अंतर्गत की जाएगी। कृपासाधन के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि वह साधन है भी और नहीं भी है। वह साधन इसलिए है कि उसके द्वारा साध्यरूपा भक्ति की प्राप्ति होती है। उसे साधन न मानने का कारण यह है कि भक्त की साधना के बिना भी भगवान्, गुरु आदि की कृपा प्राप्त हो जाया करती है। रामभक्ति की प्राप्ति में सहायक कृपाकारकों के छः वर्ग हैं और तदनुसार कृपा के भी—रामकृपा, पुरुषकारकृपा, गुरुकृपा, संतकृपा, देवकृपा और द्विजकृपा।

---

१. तुलसी-दर्शन—पृ० २९०-९२
२. वि० २३९।७

रामकृपा—भक्ति की प्राप्ति किसी-किसी को होती है और वह भी रामकृपा से।[१] कृपा के बिना उसकी प्राप्ति असंभव है।[२] रामकृपा के बिना राम की प्रभुता का ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान के बिना प्रतीति, और प्रतीति के बिना प्रीति नहीं हो सकती। प्रीति के बिना भक्ति की दृढ़ता संभव नहीं है। इस प्रकार दृढ़ भक्ति के लिए रामकृपा आवश्यक है।[३] माया, संसार, काम आदि विघ्नों की हानि[४], एवं सत्संग, ज्ञान आदि के लाभ[५] के लिए रामकृपा आवश्यक है। रामकृपा का सर्वप्रथम वरदान साधक को दिया गया मानव-तन है। जीव को यह देवदुर्लभ नरशरीर बड़े भाग्य से तब मिलता है जब उस पर भगवान् का विशेष अनुग्रह होता है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमने वाले जीव पर कृपा करके करुणामय भगवान् उसे नरदेह प्रदान करते हैं।[६] तुलसी की दृष्टि में मोक्ष के सभी उपायों का और इसलिए भक्ति का भी आवश्यक साधन नरशरीर ही है। इसी कारण उन्होंने उसे साधनधाम और मोक्षद्वार माना है।[७]

'अस संयोग ईस जब करई। तबहु कदाचित सो निरुअरई।'[८] के आधार पर किसी किसी आलोचक ने कृपा-सिद्धांत की मान्यता में संदेह प्रकट किया है।[९] हमारे विचार से यह संदेह उचित नहीं है। उस प्रसंग में तुलसी का आशय यह है—भगवान् की कृपा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, परंतु ज्ञान से मोह का नाश अवश्यंभावी नहीं है। इससे कृपा की मोघता सिद्ध नहीं होती। भगवान् की कृपा का प्रयोजन ज्ञान-दीपक जलाना था और वह कार्य संपन्न हो गया। राम के लिए ज्ञानी प्रौढ़ तनय के समान है। वह अपनी साधना में कभी सफल हो जाता है और कभी असफल। राम और उनकी कृपा पर तो दासभक्त का ही उत्तरदायित्व है।[१०] उस पर की गयी कृपा कभी निष्फल नहीं जा सकती। दूसरे, वहाँ भक्ति की श्रेष्ठता का स्थापन करने के लिए ज्ञान का कादाचित्क साफल्य बतलाना ही उचित था। यह बात कृपा-सिद्धांत के पक्ष में है। तीसरे, **'राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौं इहि भाँति बनइ संजोगा।'**[११] आदि के द्वारा भी इसका समर्थन

---

१. सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपा काहूँ एक पाई॥ —रा० ७।१२६।४

२. सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥ —रा० ७।१२०।६

३. राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥ —रा० ७।८९।३-४

४. वि० ११६।१, १२०।१, १२३।१, रा० १।३९।३, ३।३९।२, ४।२१।३, ७।७१

५. रा० ५।७।२, ७।६९।४, ७।१२५, वि० ११५।५, ११६।५, १३६।१०

६. हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम बिबुध-दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥ —वि० १०२।१
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ —रा० ७।४४।३

७. बड़े भाग मानुष तनु पावा।...
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा॥ —रा० ७।४३।४

८. रा० ७।११७।४

9. "Thus the soul becomes worldly, there is no loosening the knot and it knows no happiness, it can perhaps loosen by the favour of God (Hari kripa) R. VII, 197, 2-5. But the 'perhaps' mars the whole force of the Doctrine of Grace."
—The Philosophy of Tulasidasa (Unpublished), P. 273

१०. रा० ३।४३।२-४

११. रा० ७।१२२।३

हो जाता है।

पुरुषकारकृपा—कृपा के दूसरे वर्ग में पुरुषकारकृपा है। मुख्य पुरुषकार सीता एवं राम के पार्षद हैं। सीता तो राम की शक्ति ही हैं, उनसे अभिन्न हैं। उनकी कृपासाधनता का विशेष महत्त्व है। रामकृपा की प्राप्ति के लिए तुलसी ने सीता की कृपा के लिए भी बड़ी ही दैन्यपूर्ण प्रार्थना की है।[1] पार्षदों में हनुमान् तथा लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न वरणीय हैं। उनकी कृपा भी रामभक्ति की प्राप्ति में साधन है। अतएव तुलसी ने उनकी कृपा के हेतु भी उनकी वंदना की है।[2] प्रस्तुत प्रकरण में यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि तुलसी को पुरुषकार का सिद्धांत मान्य है। 'पुरुषकार' का मूल अर्थ है पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न।[3] आगे चलकर भक्ति-संप्रदाय में इसका व्यवहार उस व्यक्ति के लिए होने लगा, जो भक्त के भक्तिभाव को भगवान् तक पहुँचा दे, भगवान् की कृपाप्राप्ति कराने के लिए मध्यस्थ साधन का कार्य करे। इसी अर्थ में लक्ष्मी को 'पुरुषकारभूता' कहा गया है।[4] भक्तों का पुरुषकार वैदिक युग के पुरोहित से भिन्न है। पुरोहित देवपरक कर्म का संपादक तो है, किंतु स्वयं आराध्य नहीं है। पुरुषकार सीता, हनुमान् आदि राम की तुलना में रामकृपा के साधन हैं और स्वयं स्वतंत्र रूप से भक्त के आराध्य भी हैं। तुलसी ने अपने पुरुषकार-सिद्धांत की अभिव्यक्ति रमणीय काव्यमयी शैली में की है। वे कवि हैं अतः अपने भक्तिभाव की शक्तिमती अभिव्यंजना के लिए काव्योचित युक्तियों का सहारा लेते हैं। उन्होंने आराध्य राम की कल्पना एक महामहिम सम्राट् के रूप में की है। सीता महारानी हैं। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और हनुमान् उनके विशेष कृपापात्र प्रिय सेवक हैं। 'विनयपत्रिका' का रूपक ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार लोक में किसी महाराजा तक अपना प्रार्थनापत्र भिजवाने के लिए सेवकों की सहायता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार सम्राटों के भी सम्राट् राम के पास अपनी प्रार्थना पहुँचवाने के लिए तुलसी हनुमान् आदि की सहायता की याचना करते हैं।

यद्यपि तुलसी ने रामभक्ति की प्राप्ति में सहायता करने के लिए अनेक देवीदेवताओं, गुरु, संत, माता-पिता आदि की वंदना की है[5] तथापि उनकी दृष्टि में सीता, हनुमान्, लक्ष्मण और भरत मुख्य पुरुषकार हैं; क्योंकि ये सब राम के अंतेवासी हैं, सुअवसर पाकर राम की सेवा में तुलसी का निवेदन प्रस्तुत कर सकते हैं। सीता का स्थान उनमें सर्वोच्च है। इसके कई कारण हैं। वे माता हैं अतः भक्तरूपी संतान पर विशेष कृपा कर सकती हैं। नारी कोमलता और करुणा की मूर्ति है, अतः सीता का अविलंब पसीज जाना अत्यंत स्वाभाविक है। सीता राम की शक्ति

---

१. कबहुँक अंब अवसर पाइ।
   मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥ —वि० ४१।१
   कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी। —वि० ४२।१

२. वि० २५-४०

३. याज्ञ० १।३४९ (दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता।); किरातार्जुनीय, ५।५२

४. नित्यं सा पुरुषकारभूता श्रीरनपायिनी।
   अनुपायान्तरैर्विज्ञैरुच्यते तदुपायता॥ —वै० म० भा० गु० ९७

५. मातु पिता गुरु गनपति सारद। सिवासमेत संभु सुक नारद॥
   चरन बंदि बिनवौं सब काहू। देहु रामपद-नेह-निबाहू॥ —वि० ३६।३-४

और उनकी प्रिया हैं। 'साहिब' राम की 'साहिबिनी' हैं।[1] इसलिए राम पर उनका विशेष प्रभाव है। वे राम के अधिक समीप हैं। जब हलचल से दूर रहकर राम एकांत में विश्राम करते हैं, तब भी सीता उनके साथ रहती हैं। वे राम के भाव (मूड) को भली भाँति पहचानती हैं। सुअवसर और कुअवसर को अच्छी तरह परख सकती हैं। इसीलिए तुलसी ने उनसे आग्रहपूर्वक प्रार्थना की—

कबहुँक अंब अवसर पाइ।

मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ॥[2]

दूसरे मुख्य पुरुषकार हनुमान् हैं। वे राम के दुलारे और सेवकों के विशेष सहायक तथा विश्वसनीय है।[3] भरत-लक्ष्मण राम के विशेष प्रिय हैं, अतः तुलसी ने उनकी कृपा की भी याचना की है और उन सबने अवसर पाकर तुलसी की वकालत भी की है।[4]

गुरुकृपा—कृपा के तीसरे वर्ग में गुरु हैं। नारायण तीर्थ ने प्राचीन आचार्यों के आधार पर भक्ति के जो तेईस अंग गिनाये हैं उनमें गुरुपादाश्रय को भक्ति का प्रथम अंग माना गया है।[5] तुलसी की दृष्टि में गुरु शंकररूपी है, हरि का नररूप है, यही नहीं भगवान् राम से भी बढ़कर है।[6] विधाता के भी रुष्ट हो जाने पर गुरु रक्षा कर लेता है, किंतु गुरु के रुष्ट हो जाने पर कोई त्राण नहीं कर सकता। गुरु की इस गरिमा का कारण यह है कि वही जीव के मोहांधकार को दूर करता है। उसके बिना विमल विवेक नहीं हो सकता, और विवेक के बिना संसार-सागर को पार करना असंभव है।[7] अतएव रामभक्तिकांक्षी का पहला कर्तव्य यही है कि वह गुरु की शरण में जाकर उससे भागवत धर्म की शिक्षा ले और विश्वासपूर्वक उसकी सेवा करे; सद्धर्मपृच्छा को बनाये रखे।[8] गुरु की कृपा से उसे भक्ति प्राप्त हो जाएगी। गुरु के चरणकमलों का पराग मंगलमूल है।[9] उसके स्मरणमात्र से ही हृदय की आँखें खुल जाती हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है।[10] गुरु की कृपा से ही तुलसी को रामकथा की उपलब्धि हुई; उन्हें विमल विवेक मिला,

---

१. कवि० ७।१२६, १३६

२. वि० ४१।२

३. सीय-सुख-दायक दुलारो रघुनायक को, सेवक सहायक है साहसी समीर को ।।—हनु० १०
जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैज पूजि आई यह रेखा कुलिस पषान की ।। —वि० ३०।१

४. पवनसुवन रिपुदवन भरतलाल लखन दीन की।
निज निज अवसर सुधि किये, बलि जाउँ, दास-आस पूजि है खासखीन की ।। —वि० २७८।१
मारुति-मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहु नाथ नाम सों परतीति प्रीति एक किंकर की निबही है ।। —वि० २७९।१

५. भ० च०, पृ० २२२-२७; दे०—भा० पु० ११।३।२१

६. रा० १।१। श्लोक ३, १।१। सो० ५, २।१२९।४

७. क्रमशः—रा० १।१६६।३, वै० सं० २२, रा० ७।८९, वि० ११५।५

८. भ० च०, पृ० २२३-२२४

९. सकल सुमंगल मूल जग गुरु पद पंकज रेनु। —दो० २७

१०. श्री गुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।। —रा० १।१।३
प्राकृत चक्षुओं द्वारा विश्वरूपधर भगवान् कृष्ण के ऐश्वर्य को देखने में असमर्थ अर्जुन को इसी प्रकार की दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी। —गीता, ११।८

जिससे वे भवमोचन 'रामचरितमानस' की रचना में कृतकृत्य हो सके।[१] तुलसी के राम ने शबरी को भक्तिसाधनों का उपदेश करते हुए गुरुसेवा को रामकृपा का स्वतंत्र और अमोघ साधन माना है। वाल्मीकि ने भी वैधी भक्ति के प्रसंग में उसकी अपेक्षित साधनता की चर्चा की है।[२]

संतकृपा—कृपा करने वालों का चौथा वर्ग संतों का है। यद्यपि गुरु और द्विज भी संत ही हैं तथापि उनके वैशिष्ट्य के कारण उनका वर्गीकरण अलग हुआ है। यद्यपि संतों का मिलन जीव के पुण्यों का फल है; तथापि उसके लिए भी रामकृपा अनिवार्य है।[३] सज्जनों की कृपालुता के उत्कर्ष-प्रकाशन के लिए यह भी कहा गया है कि संतों की कृपा का कारण जीव की दुरवस्था-मात्र है, उसकी उपासना आदि नहीं।[४] संतों और भगवान् में कोई अंतर नहीं है।[५] वे राम के विशेष प्रीतिपात्र हैं।[६] राम उन्हें अपने से भी अधिक मानते हैं।[७] इसलिए संतों की अनुकूलता (कृपा) भक्ति-प्राप्ति का साधन है। सत्संग के बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।[८] संत-समागम जीव के संसार, संशय और समस्त पापों के नाश का हेतु है।[९] सत्संग के समान दूसरा कोई सुख नहीं है; अपवर्ग सुख भी उसकी तुलना में तुच्छ है।[१०] कुसंगति और साधु की अवज्ञा से कल्याण की आत्यंतिक हानि है।[११] अतएव साधुवर्त्मानुवर्तन को भक्ति का एक अंग समझा गया है।[१२] भक्ति के साधनों का मूल प्रयोजन चित्तशुद्धि है जिससे वह द्रुत होकर भगवदाकारता प्राप्त कर सके। सत्संग से चित्त के विकार दूर हो जाते हैं। उनकी सतत संगति से संतों के गुण साधक में भी आ जाते हैं और धीरे-धीरे वह रामभक्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। इसीलिए राम ने सत्संगति को भक्ति का प्रथम साधन माना है।[१३] इसीलिए तुलसी सतभाव की प्राप्ति के लिए आकुल हैं और श्रीरंग से सत्संग का ही वरदान माँगते हैं।[१४]

---

१. मै पुनि निज गुर सन सुनो कथा सो सूकर खेत। —रा० १।३०क
गुर पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअँ दृग दोष बिभंजन॥
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भव मोचन॥ —रा० १।२।१

२. क्रमशः—रा० ३।३५; २।१२९।४

३. रा० ७।४५।३, ७।६९।४, ७।१२५ख

४. सतां कृपा च दुरवस्थादर्शनमात्रोद्भवा न स्वोपासनाद्यपेक्षा, यथा श्रीनारदस्य नलकूबरमणिग्रीवयोः।
—षट्सन्दर्भ, पृ० ५५८

५. संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी। —वि० ५७।९

६. तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरौं देह नहिं आन निहोरें॥ —रा० ५।४८।४

७. सानव सम मोहि मय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा॥ —रा० ३।३६।२

८. सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥ —रा० ७।१२०।९

९. रा० ७।३३।४, ७।४५।३, ७।:१।२, ७।६९।४, वि० १३६।१०

१०. रा० ५।४, ७।१२१।७

११. रा० २।२४।४, ५।२६।३, ५।४२।१, वि० १३७।५; ना० भ० सू० ४३-४४

१२. दे०—भ० च०, पृ० २२३

१३. अ० रा० ३।१०।२२; रा० ३।३५।४

१४. कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।—वि० १७२।१
देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग! भवभंग कारन सरन सोकहारी। —वि० ५७।१

देवकृपा—पाँचवाँ वर्ग देवताओं का है। सांप्रदायिक हठधर्मिता के कारण विभिन्न देवताओं के उपासकों में अनेक बार अवांछनीय संग्राम हुए हैं। विचारशील भक्तों ने जहाँ देवविशेष की भक्ति का प्रचार किया वहाँ अन्य देवों के संमान पर भी बल दिया। उदाहरण के लिए, विष्णु-भक्तों ने विष्णु को देवदेवेश्वर मानकर उन्हें सदा ध्येय बतलाया किंतु ब्रह्मा, रुद्र आदि देवताओं की अनवज्ञा का भी उपदेश किया।[1] तुलसीदास स्मार्तवैष्णव थे, अतः राम को परब्रह्म परमेश्वर मानते हुए भी उन्होंने गणेश, सूर्य, शिव और भवानी की भी स्तुति की है तथा उनसे रामभक्ति की याचना की है।[2] सभी देवताओं में शिव का स्थान अन्यतम है। वे राम के स्वामी, सेवक और सखा हैं; रामभक्ति-दाता हैं। राम ने स्वयं कहा है कि शंकर के भजन के बिना कोई मेरी भक्ति नहीं पा सकता। रामभक्त का लक्षण ही यह है कि वह निश्छल भाव से शिव का दासभक्त हो।[3] रामभक्ति के साधनों में शिवभक्ति को अमोघ मानकर ही तुलसी उनसे रामभक्ति का वरदान माँगते हैं।[4]

द्विजकृपा—कृपा करने वालों के छठे वर्ग में ब्राह्मण हैं। व्यास ने 'महाभारत' में ब्राह्मण का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, ऋजुता, तप और दया का गुण पाया जाए वह **ब्राह्मण** है।[5] तुलसी का कथन है कि आस्तिकता, साधुता, परमार्थज्ञता, क्षमा-शीलता और परोपकारिता ब्राह्मण के महनीय गुण हैं।[6] ऐसे ब्राह्मण का अनुग्रह श्रुतिसंमत भक्तिसाधना के लिए परमावश्यक है और विशेषकर उस युग में जब वेदपुराणनिंदक शूद्र भक्ति का झंडा हाथ में लेकर ब्राह्मणों का प्रतिवाद कर रहे हों। ब्राह्मण-द्वेषियों को सावधान करने के लिए वर्णधर्म के समर्थक तुलसी को बार-बार चेतावनी देनी पड़ी कि विप्रद्रोह अत्यंत घातक है।[7] अनतिक्रम्य विप्रशाप से पीड़ित जय-विजय, प्रतापभानु आदि के दृष्टांतों द्वारा उन्होंने इस मान्यता की पुष्टि भी की है।[8] ब्राह्मण की चरणवंदना मोहजन्य संशय को दूर करती है।[9] द्विज-सेवा धर्म की जनयित्री है।[10] उससे देवता आदि वशीभूत हो जाते हैं।[11] वह हरितोषण का सुंदर उपाय है।[12] द्विजपदप्रेमी जन राम को प्राण के समान प्रिय है।[13] इसीलिए उन्होंने लक्ष्मण को

---

१. दे०—भ० च०, पृ० २२५

२. क्रमशः दे०—वि० १।४, २।५, ३।४, १५।५

३. रा० १।१५।२, ६।३।२; रा० ६।२।४, ७।४५; रा० १।१०४।३

४. दो० ८६, वि० ७।५, ६।५, १०।६

५. सत्यादिगुणवत्वलक्षणेनैव ब्राह्मणत्वम् ।
वनपर्वणि सर्पयुधिष्ठिरसंवादेन तथावगमात् । तमाह युधिष्ठिरः—
सत्यं दानं क्षमा शीलमार्जवञ्च तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र राजेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ —भ० च०, पृ० १८३

६. रा० ७।१०५।२, ७।१०६।३

७. रा० १।१७५।४, २।१२६।२, ३।३३।४, ७।१०६।७

८. रा० १।१२३।१, १।१७४

९. रा० १।२।२

१०. रा० ७।३८।३

११. रा० ३।३३

१२. रा० ७।१०६।६

१३. रा० ५।४८

भक्तियोग का उपदेश देते समय विप्रचरण-प्रीति को अपनी भक्ति का प्रथम साधन कहकर उसे बहुत ही गौरवपूर्ण पद दिया है।[१] विप्रपदपूजा ही संसार में एकमात्र पुण्य है।[२] वह जीवन धन्य है जिसमें निरंतर द्विजभक्ति हो।[३] आधुनिक युग का बुद्धिवादी कह सकता है कि ब्राह्मण-महिमा की इतनी अधिक अतिरंजना हास्यास्पद है। यह ब्राह्मणवादी तुलसी का अनुचित पक्षपात है। आदर्श ब्राह्मण के विषय में की गयी अतिशयोक्ति सापत्तिस्वीकार्य हो सकती है; किंतु आज के समाजवादी-साम्यवादी युग में **'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।। पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना।।'**[४] का सिद्धांत कथमपि ग्राह्य नहीं है। चार सौ वर्ष पहले यह उपदेश मान्य हो सकता था परंतु वर्तमान समय में यह सर्वथा तिरस्करणीय है। उनका यह कथन ठीक है कि भक्तिकालीन तुलसी के ब्राह्मणवादी उपदेश को विज्ञानकालीन जनवादी युग के जीवन में उतारा नहीं जा सकता और उतारने का प्रयत्न भी अवांछनीय है। लेकिन समतावादी समाजशास्त्री को यह भूलना नहीं चाहिए कि जातिस्वभाव बड़ी मुश्किल से छूटते-छूटते छूटता है और वर्णविशेष को सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सुसभ्य तथा संमाननीय बनाने के लिए बहुत समय तक साधना करनी पड़ती है।

अविहित साधन—भक्तिसाधन के दूसरे वर्ग में रागानुग या अविहित साधन हैं। भगवान् के साथ जिन रागात्मक संबंधों की स्थापना द्वारा साधक उनकी भक्ति या कृपा प्राप्त करता है वे **रागानुग साधन** हैं। मानव-मन का यह सहज स्वभाव है कि वह अपने संबंधियों में विशेष अनुरक्त रहता है। रागात्मक वृत्तियों के उदात्तीकरण के लिए यह उपाय विशेष श्रेयस्कर है। इसलिए भक्तों ने भगवान् को अपने पिता, माता, गुरु, प्रिय, सखा, इष्टदेव, कुलपति, रक्षक, स्वामी आदि अनेक रूपों में अंकित किया है। वैदिक साहित्य[५], इतिहास-पुराण आदि[६] में आराधक एवं आराध्य के बहुविध संबंधों की कल्पना की गयी है। तुलसीदास ने भी राम को पिता, माता, प्रभु, पति, गुरु, हित-मित्र, बंधु, सुहृद्-सखा आदि रूपों में चित्रित किया है।[७] उन्होंने राम के प्रति उन सभी संबंधों की कल्पना की जो उन्हें वांछनीय जँचे। राम को ही नहीं, उनके नाम को भी तुलसी अपना इष्टदेव, स्वामी, गुरु, सखा और माँ-बाप मानते हैं।[८] रामभक्त भवानी-शंकर और हनुमान् भी तुलसी के लिए माता-पिता हैं।[९] लक्ष्मण को सखा, सुबंधु, हित आदि कहने में भी तुलसी का यही अभिप्राय है।[१०] शंकर और राम के बीच भी इस प्रकार के संबंध की स्थापना की गयी है।[११] इस प्रकार की भक्तिसाधना का कारण यह है कि भगवान् के साथ भक्त के इस

---

१. रा० ३।१६।३
२. रा० ७।४५।४
३. रा० ७।१२७।४
४. रा० ३।३४।१
५. ऋ० १।१।६, २।३३।१२, ४।५०।६, ८।६८।११
६. गीता, ६।१७, ११।४३; भा० पु० ३।२५।३८, ५।६।१८; वै० म० भा० गु० १४-१७
७. वि० ७७।२, ११३।४, २५२।१, २५६।३, २७०।३; कवि० ७।३६, ११०
८. वि० २२०।२, २२६।५, २५४।१
९. रा० १।१५।२, वि० २८।६
१०. रा० प्र० ६।४।६
११. मा० पी० १।१५।४

रागात्मक संबंधभाव में उन्हें प्रसन्न करने की अनुपम शक्ति है। 'सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।'[1] कहकर भगवान् राम ने वैधी भक्ति की तुलना में रागानुगा भक्ति को अधिक गौरवान्वित किया है। इसीलिए भक्त जन्मजन्मांतर तक इन रागानुग संबंधों को अक्षुण्ण रखने की अभिलाषा करता है।[2] लोक के समस्त संबंधों का तिरस्कार करके एकमात्र राम से ही नाता मानने वाला भक्त जिस प्रकार राम से निवेदन करता है—

क. गुर पितु मातु न जानौं काहू। कहौं सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥[3]

ख. कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥[4]

उसी प्रकार भक्ति का नाता मानने वाले तथा संबंध का निर्वाह करने वाले राम भी दृढ़ वाणी में अपने सिद्धांत-वचन की घोषणा करते हैं—

क. गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥
बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निहकाम।
तिनके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम।[5]

ख. जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसै धनु जैसें॥[6]

जिस प्रकार निश्छल भाव से भक्त राम की शरण में आकर उनसे आत्मनिवेदन करता है—

बाप! बलि जाउँ, आप करिये उपाउ सो। तेरे ही निहारे परै हारेहू सुदाउ-सो॥[7]
सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु आप, माय-बाप तुही साँचो तुलसी कहत।[8]

---

१. रा० ७।८७; मि० दे०—गीता, १५।१६, १८।६२
'सर्बभाव' का व्याख्यान अनेक प्रकार से किया जा सकता है—भगवान् को ही समस्त भावों का विषया-लंबन बनाकर, अभेदभाव और भेदभाव (वैर, माधुर्य, सख्य, वात्सल्य तथा दास्य) के सहित, षड्विधा शरणा-गति की अखिल भावनाओं से युक्त होकर।

२. तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्रीदास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्। —षट्सन्दर्भ, पृ० ६४५
जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ येह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात येहु ओर निबाहू॥ —रा० २।२४।३

३. रा० २।७२।२-३

४. रा० ७।१३० ख

५. रा० ३।१६।५-दोहा

६. रा० ५।४८।२-४

७. वि० १८२।४

८. वि० २५६।३

उसी निश्छल भाव से राम भी अनन्यशरण भक्त के क्षेम का उत्तरदायित्व सँभालते हुए स्नेह-सिक्त शब्दों में आश्वासन देते हैं—

सुनि मुनि तोहि कहौं सह रोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी॥[1]

और तुलसीदास भगवान् राम की इस गोप्तृत्व-प्रतिज्ञा पर अटल विश्वास रखते हैं—

खेलत बालक ब्याल सँग मेलत पावक हाथ।
तुलसी सिसु पितु मातु ज्यों राखत सिय रघुनाथ॥[2]

शीलवान् राम भक्तों को अपना प्रभु और अपने को भक्त का कृपापात्र सेवक तक मानते हैं।[3]

विभिन्न प्रकार के रागात्मक संबंधों के द्वारा भक्त और भगवान् का सांनिध्य भक्तिभाव को दृढ़ एवं पुष्ट बनाता है। राधावल्लभसंप्रदायी कृष्णभक्तों की माधुर्यभक्ति की भावना इसी सिद्धांत की पराकाष्ठा है। परंतु तुलसीदास को भगवान् के प्रति दाम्पत्यभाव मान्य नहीं है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट शब्दों में भगवान् राम से निवेदन किया है—'**तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानिये जो भावै। ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै।**'[4] तथापि उनकी दृष्टि में सेव्य-सेवक संबंध ही सर्वोपरि है। वस्तुतः दास-भाव ही उनके सारे भक्तिमार्ग की आधार-भूमि है। जहाँ वात्सल्य, शांत आदि भक्तियों का निरूपण किया गया है वहाँ भी दास्य को गौरव दिया गया है। इसका व्याख्यान आगे किया जाएगा।

मोक्ष-प्राप्ति के रागानुग साधन के रूप में पाये जाने वाले भावों को हम तीन वर्गों में रख सकते हैं—रति, भय, और वैर (द्वेष)। रतिभाव के चार मुख्य प्रकार हैं—काम, सख्य, वात्सल्य और दास्य। गोपियों ने काम-भाव से, बालसहचरों ने सख्य-भाव से, दशरथ-कौशल्या ने वात्सल्य-भाव से तथा हनुमान्, तुलसी आदि ने दास्य-भाव से रामभक्ति प्राप्त की। इनकी यथेष्ट मीमांसा नवधाभक्ति और भक्तिरस के प्रकरणों में की जाएगी। 'भय' कहने का तात्पर्य भय-रति है। भय दीप्तिकारक भाव है और भक्ति के लिए चित्तद्रुति अनिवार्य है। जहाँ द्रुति नहीं है, वहाँ भक्ति नहीं हो सकती। अतएव तुलसी के राम-विरोधी पात्र जिनके मन में राम के प्रति भक्ति-भाव तो है परंतु वे राम के विरुद्ध पदन्यास करने के कारण उनसे भयभीत भी हैं इसी श्रेणी में रखे जाएंगे। उदाहरण के लिए, राम के प्रतिकूल आचरण करनेवाले मारीच और बालि के मन में राम के प्रति रागात्मक भाव भी है।[5] उनका यह भाव भक्ति का आदर्श साधन न होने पर भी भक्ति-पद की प्राप्ति में सहायक है। अंतिम समय में उनका चित्त रजस्तमोगुण से मुक्त होकर पूर्णतः द्रुत हो गया है।[6] इस प्रकार की भगवद्विषयक सुखात्मक मति भक्ति के अंतर्गत

---

१. रा० ३।४३।२-३
२. दो० १४७
३. रा० २।१२५, ३।१३।१-२; रा० ३।६।२
४. वि० ७६।४
५. रा० ३।२६, ४।६।२
६. प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥
अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनिदुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥ —रा० ३।२७।८-६
रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग। —रा० ४।१०

मानी जा सकती है। भगवान् राम में द्वेषभाव से किया गया रावण आदि का मनोनिवेश 'वैर' है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, 'भागवत' के नारद जी का यह निश्चित मत है कि जितनी तन्मयता वैरानुबंध के द्वारा हो सकती है उतनी भक्तियोग के द्वारा नहीं।[1] यही कारण है कि **'अधम अभिमानी'** बालि एवं **'द्विजामिषभोगी'** राक्षसों को वह परमगति प्राप्त हुई जो योगियों और मुनियों के लिए भी दुर्लभ है।[2] राम का अनुग्रह तो संसारनाशक है ही, उनका क्रोध भी निर्वाण-दायक है।[3] मोक्षसाधन के इस मर्म को तामसदेही रावण भी भली भाँति समझता था इसीलिए उसने राम के शर से मरकर मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय किया था।[4] राम ने राक्षसों द्वारा वैरभाव से किये गये स्मरण को भी भक्तिपरक स्मरण के समान मानकर उन्हें परमगति देने की कृपा की।[5] भगवान् को इतने ऊपर उठाने का श्रेय उनके भक्तों को ही है।

भागवतकार ने जिन विविध प्रकार के भावों द्वारा भगवान् में मनोनिवेश किया जाता है उनके मुख्य पाँच वर्ग किये हैं—वैरानुबंध, निर्वैर, भय, स्नेह और काम।[6] इन पाँच वर्गों का अंतर्भाव हमारे उपर्युक्त तीन वर्गों में ही हो जाता है। 'निर्वैर' कोई स्वतंत्र भाव या संबंध न होकर 'भक्ति' का ही व्यंजक है।[7] स्नेह और काम रतिभाव के ही दो रूप हैं। वोपदेव ने अवि-हिता भक्ति की जो चार विधाएँ (कामजा, द्वेषजा, भयजा और स्नेहजा) मानी हैं[8] वे भी उपर्युक्त प्रकार से वैर (द्वेष), भय और रति में समाविष्ट हैं। 'भागवत' के अनुसार ही रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी ने रागानुगा के जो कामरूपा आदि भेद किये हैं[9] वे भी इन्हीं तीन के अंतर्गत हैं।

यद्यपि काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, सौहार्द या अन्य किसी भी भाव से भगवान् में किया गया मनोनिवेश तन्मयताकारक होने के कारण मोक्षप्रद है; तथापि द्वेषात्मक क्रोध, मात्सर्य आदि भावों को भक्ति के अंतर्गत रखना तर्कसंगत नहीं है। भक्त में भगवान् के प्रति इन भावों की कल्पना असंभव है।[10] भक्ति और द्वेषादि स्वरूपतः एवं लिंगतः भिन्न हैं। 'भक्ति' तो द्रुत-

---

राम बालि निज धाम पठावा। नगर लोग सब ब्याकुल धावा॥ —रा० ४।११।१

१. यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥ —भा० पु० ७।१।२६

२. रा० ४।९।५-४।११।१, ६।४५।२

३. निर्बान दायक क्रोध जाकर भगति अवसहि बसकरी। —रा० ३।२६। छं०

४. सुर रंजन भंजन महिभारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बयरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ येहा॥ —रा० ३।२३।२-३

५. खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाँचत जोगी॥
उमा राम मृदु चित करुनाकर। बयरभाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परम गति सो जिअँ जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥ —रा० ६।४५।२-३

६. भा० पु० ७।१।२५-३१

७. दे०—मुक्ता० पर कैवल्यदीपिका, पृ० ९१

८. भा० पु० ७।१।२९, मुक्ता०, पृ० ८९-९०

९. ह० र० सि० १।२।६३ और उस पर दुर्गमसङ्गमनी

१०. द्वेषादयस्तु नैवम्। —शा० भ० सू० २।१।१९

चित्त की भगवदाकारता का नाम है। 'भय' और 'क्रोध' में दीप्ति होती है, वहाँ द्रुति असंभव है। अतएव इस प्रकार का तात्त्विक विरोध होने से उन्हें भक्ति-कोटि में नहीं रखा जा सकता। दोनों की मुक्ति-दशा में भी भेद है। भक्त का प्राप्य भक्ति है और भगवान् उसे अपनी अनपायिनी भक्ति देते हैं; किंतु भगवद्द्वेषी का प्राप्य भक्ति नहीं है। इसलिए उसे मुक्ति मिलती है। इसीलिए रावण आदि को मुक्ति की और दशरथ आदि को भक्ति की प्राप्ति हुई।[1] द्वेषी व्यक्ति किस प्रकार भक्त में परिवर्तित होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है—इसका समाधान भक्तिशास्त्री इस प्रकार करते हैं। द्वेष के कारण भगवान् का अनवरत अनुसंधान करने से निखिल पापों का क्षय हो जाने पर भगवान् का दर्शन हो जाता है, उसका चित्त भगवदाकारता धारण कर लेता है और तब भक्ति से मुक्ति मिल जाती है—ऐसा समझना चाहिए।[2] '**रामाकार भए तिन्हके मन। गए ब्रह्मपद तजि सरीर रन।**'[3] में इसी मान्यता की अभिव्यक्ति हुई है।

भक्त्याचार्यों के दृष्टिकोण को समझ लेने पर भी तटस्थ आलोचक यह कह सकता है कि भक्तिवादी भक्ति का अर्थ-विस्तार चाहे जितना करें किंतु रावण आदि को रामभक्तों की पाँत में बिठाना कुछ जंचता नहीं है। यह भक्तों के भाव की अतिशयता है। उन्होंने भगवान् के गौरव का प्रदर्शन करने के लिए ही इतनी उदारता दिखलायी है। इस मान्यता का मनोवैज्ञानिक पक्ष अवश्य अनुपेक्षणीय है। स्थितप्रज्ञत्व के लिए राग, भय, क्रोध आदि से रहित होना आवश्यक है। इन दुर्निवार्य चित्तवृत्तियों के निरोध का एक उपाय यह भी है कि भगवान् को ही इनका विषय बना दिया जाए। रावण आदि ने ऐसा ही किया भी। परंतु राम में उनकी अनुरक्ति नहीं थी। वे भक्त नहीं थे। अतएव भक्तिग्रंथों में की गयी द्वेषजा भक्ति की स्थापना चिंत्य है।

विहित साधन—कृपा और रागानुग संबंधों के अतिरिक्त जितने भी भक्तिसाधन हैं वे सब भक्तिग्रंथों में विहित साधनों के अंतर्गत कहीं-न-कहीं रख दिये गये हैं। तुलसीदास का भक्तिपथ विरतिविवेकसंयुत है। अतएव उन्होंने रूपक के माध्यम से ज्ञानविरागरूपी नयनों को भक्तिरूपी मणि की प्राप्ति का निमित्त बतलाया है।[4] 'रामचरितमानस' के सात सोपान रामभक्ति के ही सोपान हैं। वे ज्ञाननेत्रों द्वारा द्रष्टव्य हैं।[5] इस प्रकार वैराग्य और ज्ञान भक्ति के साधन हैं। विरति का साधन धर्म है और ज्ञान का साधन योग। अतः साधन के साधन होने के कारण

तुकारोऽसंभवज्ञापकः यस्माद्भक्तानां द्वेषादयोऽसंभाविताः। अतो द्वेषभयच्छलादयस्तु नैवम्। न भक्तिलिङ्गानीत्यर्थः। भक्तानां द्वेषाद्यभाव उक्तो महाभारते। —(उक्त पर भ० च०)

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥ —महा०, अनु० १४९।१३३

१. रा० ६।१०३।५, ६।११२।३-४

२. द्वेषानुबन्धादनवरतानुसन्धानादिना निखिलपापक्षये तत्प्रत्यक्षं ततो भक्त्या मुक्तिरिति मन्तव्यम्।
—शा० भ० सू० २।१।१९ पर भ० च०
रावण के विषय में दे०—अ० रा० ६।११।८३-८७

३. रा० ६।११४।४

४. पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥ —रा० ७।१२०।७-८

५. येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥ —रा० ७।१२९।२
सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥ —रा० १।३७।१

धर्म और योग भी भक्ति के साधन हैं। पूर्वोल्लिखित लक्ष्मण-भक्तियोग में बतलाया गया है कि वेदशास्त्रानुसार वर्णाश्रमधर्मपालन का फल है विषय-वैराग्य। उससे भागवतधर्म में अनुराग उत्पन्न होता है। उससे श्रवणादिक नवधा भक्तियाँ दृढ़ होती हैं। उससे राम की लीला के प्रति परम प्रेम का उदय होता है।[१] 'विनयपत्रिका' में कहा गया है कि योगसाधना के द्वारा समाधिस्थ योगी परमभक्तिसुख का अनुभव करता है।[२] धर्म-ज्ञान-संबंधी साधनों का विस्तृत विवेचन षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में किया जा चुका है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण में, मुख्य रूप से, 'भागवतपुराण' और 'अध्यात्मरामायण' की नवधा भक्तियों के रूप में निरूपित साधनों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा। गौण रूप से, विशिष्टाद्वैतवाद में प्रतिपादित साधनसप्तक की भी चर्चा की जाएगी।

'भागवत' की नवधा भक्ति—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥[३]

'भागवत'-प्रतिपादित नवधा भक्ति अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय है। 'शिवपुराण'[४], 'ब्रह्मवैवर्तपुराण',[५] 'आदिपुराण'[६] आदि में उसका प्रायः अविकल उल्लेख किया गया है। रामानंद[७], वल्लभाचार्य[८], रूप गोस्वामी[९] आदि भक्तों एवं भक्तिशास्त्रियों ने भी 'भागवतपुराण' को ही विशेष आप्त मानकर श्रवण आदि नव-विधाओं को अधिक गौरव दिया है। अतएव पहले इसी पर विचार करना उपयुक्त है। इस नवधा भक्ति की कुछ विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं—

१. श्रवण आदि के लिए 'भक्ति' शब्द का प्रयोग औपचारिक है। भक्ति तो भगवद्विषयक रतिरूपा चित्तवृत्ति है और श्रवण आदि उससे संबद्ध कृत्यविशेष हैं। वे भक्ति के साधन हैं। लोक में साध्य की सिद्धि हो जाने पर साधन की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। परंतु भक्ति के आविर्भाव के बाद भी हम भक्तों को श्रवण आदि का पालन करते हुए पाते हैं। इस विचित्रता का कारण श्रवण आदि का दुहरा वैशिष्ट्य है। जिस साधक में भक्तिभाव का उदय नहीं हुआ है उसके लिए ये श्रवण आदि साधन हैं; किंतु जो भगवान् में अनुरक्त हो गया है उसके भक्तिभाव की अभिव्यक्तियाँ हैं—काव्यशास्त्र की भाषा में, भक्ति के अनुभाव हैं। भागवतकार ने

---

१. रा० ३।१६।३-४

२. सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी॥ —वि० १६७।४
रामानंद ने योग को भक्ति का आवश्यक साधन मानते हुए उसे 'यमादिकाष्टावयवा'(वै० म० भा० गु०६६) कहा है।

३. भा० पु० ७।५।२३

४. शि० पु० २।२।२३।२२-२३

५. ब्र० वै० पु० २।६३।१९-२० तथा १।६।१४-१६, २।३६।७३-७४, ४।१।३३-३४

६. आदिपु० १८।२४-२६

७. वै० म० भा० ६६

८. तत्त्वदीप, १।१०२; अष्ट०, पृ० ५२१-२३

९. ह० र० सि० १।२।२६-३९ (वैधीभक्ति के ६४ अंगों में नवधा का भी परिगणन)

स्वयं भी इस नवधा भक्ति को 'नवलक्षणा' कहा है।[1] तदनुसार डा० दासगुप्त ने भी इन्हें भक्ति के नवलिंग (नाइन कैरेक्टरिस्टिक्स) कहा है।[2] इस प्रकार भक्ति कहे जाने वाले श्रवण आदि एक दशा में तो भक्ति के कारण हैं और दूसरी में भक्ति के कार्य। अतएव उनके लिए व्यवहृत 'भक्ति' शब्द में कार्य-कारण-संबंध से लक्षणा है। 'रामचरितमानस' में वाल्मीकि ने राम से और राम ने लक्ष्मण से श्रवण आदि के साधनरूपत्व का; एवं पार्वती, भरद्वाज, गरुड़ आदि की श्रवणाभिलाषा द्वारा कवि ने उनके कार्यरूपत्व का उपस्थापन किया है।

२. उक्त श्रवण, कीर्तन आदि नवविधाओं में आद्योपांत वैज्ञानिक क्रम नहीं है। स्मरण के लिए आवश्यक नहीं है कि साधक पहले कीर्तन कर चुका हो। उसी प्रकार आत्मनिवेदन के लिए पादसेवन, अर्चन, वंदन आदि अनिवार्य नहीं हैं।

३. भगवान् के प्रसाद के लिए इन सभी का समुच्चय आवश्यक नहीं है। भक्तविशेष में ये सभी हो सकती हैं, कुछ ही हो सकती हैं, या एक ही हो सकती है। केवल एक भी ईश्वर को तुष्ट करने में समर्थ है।[3]

४. साधक को केंद्र मानकर इन नौ प्रकारों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—कायिक, वाचिक और मानसिक। यद्यपि इन सभी के लिए तन और मन दोनों ही आवश्यक हैं, तथापि प्राधान्य के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है। उनमें से श्रवण, पादसेवन, अर्चन और वंदन कायिक हैं। कीर्तन वाचिक है। स्मरण, सख्य, दास्य और आत्मनिवेदन मानसिक हैं।

५. भक्तभगवत्संबंध और पंचधा भक्तिरस के दास्य तथा सख्य भावों को तो इनमें स्थान दिया गया है किंतु वात्सल्य और माधुर्य की उपेक्षा की गयी है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वात्सल्य तथा माधुर्य भक्तियाँ साध्यरूपा हैं अतएव साधनरूपा दास्य, सख्य आदि के साथ उनकी परिगणना नहीं की गयी; क्योंकि, साध्य-साधन-संबंधी विशेषताएँ चारों में ही एकसमान हैं। इसका निश्चित कारण यह प्रतीत होता है कि 'भागवत' की रचना के समय तक वात्सल्य और मधुरभक्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी।

६. वोपदेव ने इन्हें भक्ति के 'नववर्ग' कहा है।[4] वैज्ञानिक दृष्टि से किसी वर्गीकरण या विभाजन का एक सुनिश्चित सिद्धांत होना चाहिए। प्रस्तुत वर्गीकरण में इस प्रकार का कोई आधार नहीं है। अर्चन के लिए बाह्य-सामग्री की अपेक्षा है तो स्मरण केवल आभ्यंतर वृत्ति है। दास्य भक्तभगवत्संबंध का द्योतक है तो श्रवण में इस प्रकार के किसी विशिष्ट संबंध की विवृति नहीं है। इनमें परस्पर अतिव्याप्ति भी है, उदाहरणार्थ—दास्य में श्रवण, कीर्तन, आत्मनिवेदन आदि अथवा वंदन में कीर्तन, दास्य आदि भी होते हैं। वात्सल्य आदि का समावेश न होने के कारण अव्याप्ति भी है। इत्यादि। इस प्रकार यह नवधात्व पूर्णतः तर्कसमर्थित वर्गीकरण नहीं है।

७. समन्वयवादी दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह वर्गीकरण तर्कप्रधान न होकर व्यवहार-प्रधान है। किसी वर्गीकरण को तर्क की कसौटी पर सोलहों आने खरा उतारने का प्रयास अनु-

---

१. भा० पु० ७।५।२४
२. दे०—ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिअन फ़िलासफ़ी, जिल्द ४, पृ० ४२१
३. शा० भ० सू० २।२।८ (ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि बली।) और उस पर भ० च०
४. मुक्ता०, पृ० १३६

पेक्षणीय व्यावहारिकता का अवमूल्यन है। यह लक्ष्य करने योग्य है कि इस नवधा भक्ति की प्रथम छः विधाओं का विशेष संबंध आराध्य के नाम-रूप से है और अंतिम तीन का आराधक के भाव से। इन नव वर्गों के तीन स्पष्ट वर्ग हैं—

क. श्रवण, कीर्तन, स्मरण,

ख. पादसेवन, अर्चन, वंदन,

ग. दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

उपर्युक्त पहले वर्ग में आराध्य के नाम की प्रधानता है, दूसरे में उसके रूप की और तीसरे में आराधक के भाव की। 'भागवत' के वर्गीकरण की गरिमा को श्रद्धालु भक्ति-मीमांसक विद्वज्जनों ने व्यावहारिक दृष्टि से आप्त मानकर सादर स्वीकार किया है। तर्क और जीवन में बहुत कुछ विरोध है—**भागवतकार** को इस बात का सम्यक् ज्ञान था। इसीलिए उसने केवल तर्क की अपेक्षा व्यावहारिकता को अधिक महत्त्व दिया और एक ही श्लोक में भक्ति की महत्त्वपूर्ण बातें कह दीं। इन दो पंक्तियों की इतनी अधिक लोकप्रियता ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है।

श्रवण—इस नवलक्षणा भक्ति का पहला लक्षण है 'श्रवण'। सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक शब्द का कान द्वारा ग्रहण और बोध 'श्रवण' कहलाता है।[1] यह 'श्रवण' का भक्ति-संबंधी शब्दार्थ है। इसमें अध्ययन या पठन का भी समावेश है। **'पठंति ये स्तवं इदं। नरादरेण ते पदं।**[2] इस पंक्ति में निर्दिष्ट पठन 'श्रवण' के ही अंतर्गत है। ज्ञान-साधन के रूप में किया गया श्रवण चिंतनात्मक होता है। भक्तिविषयक श्रवण भावात्मक है। सगुणोपासक भक्त के लिए भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम का श्रवण ही 'श्रवण' है। तुलसी के समस्त साहित्य में पग-पग पर राम के नाम, रूप और गुण की महिमा गायी गयी है। जिस प्रकार पूर्वोक्त नव-लक्षणा भक्ति के उपस्थापन में 'भागवत' के प्रह्लाद ने श्रवण को विशेष महत्त्व दिया था[3] उसी प्रकार राम को चौदह निवासस्थान बतलाते हुए 'मानस' के वाल्मीकि ने भी श्रवण को ही प्राथमिकता दी है।[4] राम-कथा का श्रवण सकलमनोरथसाधक, कलिमलनाशक, भवभयहारी और भक्तिदायक है।[5] ऐसी रामकथा के लिए 'मानस' के चारों घाटों पर तुलसी ने आदर्श श्रोताओं (पार्वती, भरद्वाज, गरुड़ तथा अन्य संतों) की सुंदर योजना की है। उनकी मान्यता है कि जिन्होंने हरिकथा का श्रवण नहीं किया उनके कान सर्पों के बिल हैं, उनकी छाती कुलिश-कठोर है। जो रामचरित सुनकर अघा जाते हैं वे रसविशेषज्ञ नहीं हैं। जिन्हें रामकथा सुहाती नहीं है वे जीव जड़ हैं, आत्मघाती हैं।[6]

---

१. श्रवणन्नाम सगुणस्य निर्गुणस्य वा शब्दकरणकशाब्दबोधस्तत्प्रतिपादकशब्दस्य श्रोत्रेण ग्रहणञ्च।
—भ० च०, पृ० १४८

२. रा० ३।४ छं०१२

३. जिनमें श्रवण-महिमा प्रतिपादित की गयी है 'भागवत' के उन संदर्भों के लिए दे०—
मुक्ता०, पृ० १४३-४८

४. रा० २।१२८।२-३

५. रा० १।१५।६, ४।३०, ७।१२६।१, ७।१२६, ७।१२८, ७।१२९।३

६. जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहि भवन समाना॥ —रा० १।११३।१;
तु० दे०— भा० पु० २।३।२०
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती॥ —रा० १।११३।४;

कीर्तन—नवधा भक्ति का दूसरा लक्षण 'कीर्तन' है। सगुण अथवा निर्गुण भगवान् के बोधक शब्द का उच्चारण 'कीर्तन' है।[1] इस कीर्तन के लिए बारंबार उच्चारण अनिवार्य नहीं है। वह एक बार भी हो सकता है और अनेक बार भी। परंतु इसमें संदेह नहीं है कि 'अधिकस्य अधिकं फलं'। तुलसीदास की दृष्टि में रामकथा का लिखना, पढ़ना या कहना भी कीर्तन है; राम के गुण, रूप और नाम,का उच्चारण भी कीर्तन है। अतएव उनके द्वारा 'रामचरितमानस' की रचना, पाठकों द्वारा ऐकिक या सामूहिक रूप से उसका वाचन, शंकर आदि वक्ताओं द्वारा रामलीला का वखम्न, कवि और उसके निबद्ध पात्रों द्वारा भगवान् के गुण, रूप तथा नाम का कथन, यहाँ तक कि यवन के द्वारा अनजान में ही 'हराम' के अंतर्गत 'राम' का उच्चारण[2] भी कीर्तन ही है। यह 'कीर्तन' के अर्थ की बहुत व्यापक अतिशयित परिधि है। नवधा भक्ति में कीर्तन का भी विशेष महत्त्व है।[3] वह चित्त को शुद्ध करके अभ्युदय तथा निःश्रेयस संबंधी समस्त मनःकामनाओं को सिद्ध करता है।[4] राम का यशःकीर्तन करने वाले जन का हृदय ही राम का निवासस्थल है।[5] इसके विपरीत—

जो नहिं करै राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥[6]

स्मरण—नवधा भक्ति का तीसरा लक्षण 'स्मरण' है। भगवान् के नाम, रूप गुण और लीला की स्मृति 'स्मरण' भक्ति है।[7] इसके लिए 'चिंतन', 'ध्यान' आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। सुरसुरानंद के तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हुए रामानंद ने बतलाया है कि ध्येय का चिंतन ही वैष्णवों का श्रेष्ठ ध्यान है।[8] जीव गोस्वामी ने 'स्मरण' के पाँच रूपों का निरूपण किया है—स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति और समाधि।[9] भगवद्विषयक कोई भी अनुसंधान 'स्मरण'[10] है। सभी विषयों से चित्त का निरोध करके सामान्य रूप से भगवान् का स्मरण 'धारणा'[11] है। विशेष रूप से भगवान् के रूप आदि का चिंतन 'ध्यान'[12] है। भगवान् के रूपादि का धारावाहिक अविच्छिन्न ध्यान 'ध्रुवानुस्मृति'[13] है। स्मरण की वह दशा जिसमें ध्येयमात्र का स्मरण होता है

तु० दे०—भा० पु० २।३।२४

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥ —रा० ७।५३।१

ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती॥ —रा० ७।५३।३

१. कीर्तनम्—सगुणस्य निर्गुणस्य च बोधकशब्दस्योच्चारणम्। —भ० च०, पृ० १४८

२. कवि० ७।७६

३. दे०—मुक्ता०, पृ० १४६-५४

४. रा० १।३१।२, १।३६१। छं०, ७।१२६।३, ७।१३०। छं० १-२

५. जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु मन तासु॥ —रा० २।१२८

६. रा० १।११३।३; तु० दे०—भा० पु० २।३।२०

७. षट्सन्दर्भ, पृ० ५४१, ६२२; भ० च०, पृ० १४८

८. वै० म० भा० गु० ५४

९. दे०—षटसन्दर्भ, पृ० ६२२

१०. रा० २।१६०

११. रा० १।१२५।२

१२. रा० ७।११३।४

१३. रा० १।१११

'समाधि'[1] कहलाती है।

भक्ति का यह अंग (स्मरण) श्रवण एवं कीर्तन की अपेक्षा दुःसाध्य और सुसाध्य भी है। यह पूर्णतः मानसिक वृत्ति है। चंचल तथा दुर्निग्रह मन को भगवान् के स्मरण में लगाए रखना कठिन है। अतः यह भक्ति दुःसाध्य है। दूसरी ओर, बाह्य या भौतिक उपाय प्रथम दो को प्रायः अतिक्रांत कर देते हैं, किंतु स्मरण को कम बाधा पहुँचा पाते हैं। इसलिए इसकी साधना सरल भी है। 'भागवत' में स्मरण का भी विशेष महत्त्व बतलाया गया है।[2] तुलसी को भी उसका विशिष्ट गौरव मान्य है।[3] भगवान् ही नहीं, भक्त के नाम मात्र के स्मरण से भी पाप मिट जाते हैं, अमंगल का नाश हो जाता है और लौकिक यश तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है।[4] इसीलिए भक्त-हितैषी भगवान् ने भक्तों को स्मरण-भक्ति का स्वयं भी उपदेश दिया है।[5] जो राम का स्मरण करके द्रुत और पुलकित नहीं होता उसका जीवन वृथा है।[6] और—

जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥[7]

जिस प्रकार 'भागवत' और 'मुक्ताफल' आदि में श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण को विशेष महत्त्व दिया गया है, उसी प्रकार तुलसी की कृतियों में भी। इन तीनों प्रकारों में आचारानुष्ठान आदि की विहित साधना आवश्यक नहीं है। फलतः ये तीनों सभी भक्ति-पद्धतियों में एवं संप्रदायों में सर्वग्राह्य हुए हैं। भक्ति-ग्रंथों में कहीं तो इनका अलग-अलग निरूपण हुआ है और कहीं दो अथवा तीनों का साथ-साथ।[8] श्रवण और कीर्तन प्रायः साथ-साथ चला करते हैं। अतः भागवतकार[9] और तुलसी[10] ने अनेक अवसरों पर दोनों का एक साथ प्रतिपादन किया है। भक्ति एक मानसिक स्थिति है, अतएव उसके उपर्युक्त कायिक अंगों (रूपों) के साथ स्मरण का योग भी अपेक्षित है। अतः 'भागवत' के अनेक अध्यायों में इन तीनों का साथ-साथ उल्लेख किया गया है।[11] जब तुलसी राम-कथा की महिमा का वर्णन करते हैं, तब उसमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण तीनों का ही भाव अंतर्निहित रहता है। कहीं-कहीं इन तीनों का एक साथ स्पष्ट संकेत भी किया गया है।[12]

---

१. रा० ३।१०।८-९
२. भा० पु० के संदर्भों के लिए दे०—मुक्ता, पृ० १५५-५७, १५९-६१
३. पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥ —दो० ५७०
सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहें।
होत सुगम भव-उदधि अगम अति, कोउ लाँघत, कोउ उतरत थाहें॥—गी० ७।१३।१
४. रा० २।२६३
५. रा० ६।११६ख, ६।११८।३
६. हिय फाटहुँ फूटहुँ नयन जरउ सो तन केहि काम।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकहिं नहीं तुलसी सुमिरत राम॥ —दो० ४१
७. रा० १।११३।३
८. दे०—मुक्ता०, अ० ८ से १०
९. भा० पु० २।८।४, ३।६।३६, ८।१२।४६, ११।१४।२६
१०. रा० १।१५।५-६, १।३६१, ३।४६क, ५।६०, ७।१२९।३
११. भा० पु० ३।२२।३५, १०।४७।६६-६७, १०।६९।४५, १०।७०।४३
१२. श्रुति रामकथा, मुख राम को नामु, हिएँ पुनि रामहि को थलु है। —कवि० ७।३७

पादसेवन—नवधा भक्ति का चौथा लक्षण 'पादसेवन' है। जीव गोस्वामी ने कहा है कि पादसेवन में 'पाद' शब्द का प्रयोग केवल भक्तिवश हुआ है। उसका प्रयोजन आदर-प्रदर्शन है। देश, काल आदि के अनुसार की गयी भगवान् की परिचर्या 'सेवा' है। भगवान् की मूर्ति का दर्शन, स्पर्श, परिक्रमा, मंदिर-गमन, तीर्थयात्रा, तीर्थस्नान आदि भी 'पादसेवा' के ही अंतर्गत हैं।[1] नारायण तीर्थ की मान्यता है कि भगवत्प्रतिमापाद-संबंधी गृहलेपन आदि भी पादसेवन हैं और भगवद्भक्त अथवा परमेश्वररूप गुरु का पादसेवन भी।[2] हेमाद्रि ने 'पादसेवन' को 'नमस्कार' का ही अर्थवाची माना है।[3] वल्लभाचार्य ने सेवा तीन प्रकार मानी है—तनुजा, वित्तजा और मानसी। ये तीन सेवाएँ भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन के तीन प्रकार हैं। 'तनुजा' में भक्त भगवान् को अपना तन समर्पित करके उनके निमित्त ही उसका उपयोग करता है। 'वित्तजा' में पुत्र, स्त्री, धन, यश आदि जो कुछ भी भक्त का वैभव है वह भगवान् और भगवद्-भक्त की सेवा में अर्पित करता है। 'मानसी' में भक्त मन से भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है।[4] वल्लभ-प्रतिपादित इस सेवा में 'पादसेवन' की अपेक्षा 'आत्मनिवेदन' की ही प्रधानता है। भगवान् का पादसेवन गर्हित कर्म नहीं है। स्मृति में जिस सेवा को श्ववृत्ति कहा गया है[5] वह असेव्य प्राकृत जन की सेवा है, ईश्वर सदैव सेव्य है।[6]

तुलसीदास ने भगवान् राम, उनकी प्रतिमा, अन्य देवताओं, पार्षदों, भक्तों, गुरु आदि की सेवा का अनेकशः वर्णन किया है। पादसेवन की महिमा का प्रदर्शन करने के लिए भी सती को प्रभावशाली ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अन्य देवता एवं सिद्ध-मुनीश आदि आसनासीन राम की पाद-सेवा करते हुए दिखलाये गये हैं।[7] सीता ने गिरिजा और गणेश की सेवा का स्वयं निवेदन किया है।[8] वे गिरिजा के मंदिर में भी जाती थीं।[9] तुलसीदास ने स्वयं भी अयोध्या, चित्रकूट, काशी आदि अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। 'मानस' की प्रस्तावना में संतसमाज के उपमानरूप में प्रयाग की प्रशस्ति की गयी है और वाल्मीकि ने भी तीर्थयात्रा को रामभक्ति का साधन माना है।[10] गुरु की पादसेवा के विषय में तो तुलसी नारायण तीर्थ से भी एक पग आगे हैं। वे गुरु को भगवत्स्वरूप ही नहीं भगवान् से भी अधिक मानकर वाल्मीकि-सरीखे मुनिश्रेष्ठ के श्रीमुख से

जो सुनत गावत कहत समुझत परमपद नर पावई। —रा० ४।३०।छं०

१. दे०—षट्सन्दर्भ, पृ० ६२३-२४

२. पादसेवनम् परिचर्या विष्णुप्रतिमापादसम्बन्धिगृहलेपनादिरूपा
गुरोरपि परमेश्वररूपत्वात्तस्य भगवद्भक्तस्य वा पादसंवाहनरूपा च। —भ० च०, पृ० १४८

३. पादसेवनं पादयोः सेवनम् नमनमित्यर्थः। —मुक्ता०, ७।८८ पर कैवल्यदीपिका

४. दे०—अष्ट०, पृ० ५२२

५. सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्। —मनु० ४।६

६. 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता' इत्यत्रापि असेव्यसेवा···सेव्यः पुरुषोत्तम एक एव। —वेदार्थसंग्रह, पृ० ३५२
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ —गीता, १४।२६

७. रा० १।५४।३-४

८. रा० १।२३६।१, १।२५७।४

९. रा० १।२३५।२, गी० १।७२

१०. रा० १।२।४-१।३।१, २।१२९।३

उसकी सेवा का उपदेश कराते हैं।[1] लक्ष्मण ने राम का और स्वयं राम ने गुरु विश्वामित्र का पादसंवाहन किया है।[2] 'पादसेवन' के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि 'पाद' के वाचक शब्दों का प्रयोग मात्र पादसेवन या पदश्रिति का आधायक नहीं है।
उदाहरणार्थ—

> **सबु कर माँगहिं एकु फलु राम चरन रति होउ।**
> **तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥**[3]
> **अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।**
> **जनम जनम रति राम पद येह बरदानु न आन॥**[4]

इन दोहों में 'पदश्रिति' नहीं है, 'दास्य' है। पदश्रिति को दास्यभाव की शरणागति भी नहीं कहा जा सकता। 'भागवत' में जिसे 'पादसेवन' कहा गया है[5] उसी को रामानंद आदि ने 'पदश्रिति' कहा है।[6] 'पादसेवन' शारीरिकक्रियाप्रधान है किंतु 'दास्य' केवल चित्तवृत्ति है। उपर्युक्त दोहों में परिचर्या आदि का वाचिक या लाक्षणिक संकेत भी नहीं है। उन्हें दास्यभक्ति का उदाहरण मानना ही न्याय्य है।

अर्चन—नवधाभक्ति का पाँचवाँ अंग अर्चन है। वह भगवत्प्रेम और सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है।[7] भगवान् के पर, व्यूह, विभव और अंतर्यामी रूप का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक काल में, और प्रत्येक स्थान पर सुलभ नहीं है। अतएव भक्ति-साधना की आवश्यकता के अनुसार अर्चावतार के अर्चन का विधान किया गया है। जीवगोस्वामी ने कहा है कि विधि-विहित पूजा को 'अर्चन' कहते हैं।[8] 'अर्चन' शब्द 'प्रतिमापूजन' का समशील है। प्रतिमा आदि पर पुष्प आदि अर्पित करने का व्यापार, जो भगवत्प्रीति का हेतु होता है, 'अर्चन' कहलाता है।[9] 'रामचरितमानस' की कौशल्या ने भगवान् की मूर्ति की विधिवत् पूजा की है।[10] भरत ने शिव का अभिषेक किया है।[11] तुलसी ने राम के पूजन, आरती आदि को भक्ति का साधन माना है।[12] तदनुसार अगस्त्य और भरद्वाज से साक्षात् राम की पूजा करायी गयी है।[13] स्वयं राम ने शिव की विधिवत् पूजा की है।[14] सीता ने गिरिजा और गगा का पूजन किया है।[15] अर्चन-प्रेमी

---

१. रा० २।१२९।४
२. रा० १।२२६।२-४
३. रा० २।१२९
४. रा० २।२०४
५. भा० पु० ७।५।२३
६. वै० म० भा० ६६
७. गीता, ९।२६, १८।४६; भा० पु० १०।८१।१९
८. अर्चनं विध्युक्तपूजा—षट्सन्दर्भ, पृ० ५४१
९. अर्चनम् श्रवणादिभिन्नो विष्णुप्रीतिहेतुर्व्यापारः प्रतिमादौ गन्धपुष्पाद्यर्पणरूपः। —भ० च०, पृ० १४८
१०. रा० १।२०१।१-२
११. रा० २।१५७।४
१२. रा० २।१२९।३; वि० ४८
१३. रा० ३।१२।६ और ६।१२१।२
१४. रा० २।१०३।१
१५. गी० १।७२।१, रा० १।२२८।३; रा० ६।१२१।४

भक्त्याचार्यों ने उस अन्न की निंदा की है और उस भोजन का निषेध किया है जो भगवान् पर चढ़ाया नहीं गया। भगवान् पर चढ़ाकर ही भोजन, वस्त्र, भूषण, माला आदि का ग्रहण करना चाहिए।[1] तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में अर्चाविग्रह की आरती का उल्लेख करके और 'रामचरित-मानस' में वाल्मीकि के मुख से अर्चन के इस रूप का समर्थन किया है।[2] 'रामार्चन-पद्धति' आदि में षोडशोपचार पूजन की व्यवस्था की गयी है। अर्चन की महिमा स्वीकारते हुए भी तुलसी इसके सांगोपांग औपचारिक विधान के निरूपण के चक्कर में नहीं पड़े।

पांचरात्र आदि की भाँति भागवतमत में अर्चनमार्ग को आवश्यक नहीं माना गया है, क्योंकि उसके बिना भी शरणापत्ति आदि में से किसी एक के द्वारा भी पुरुषार्थ-सिद्धि संभव है। परंतु गुरु-संपादित दीक्षा-विधान के द्वारा भगवान् के साथ संबंधविशेष की कामना करने वाले नारद आदि के द्वारा प्रवर्तित भक्तिमार्गों के अनुयायियों ने दीक्षाक्रम में अर्चन को आवश्यक समझा है।[3] तुलसीदास का विचार भागवतमतानुसारी है। उन्होंने अर्चन के आवश्यकत्व का समर्थन नहीं किया। वह 'रामभक्ति' की प्राप्ति का उपाय तो है, परंतु अनिवार्य नहीं है। अर्चन के बिना भी राम का प्रेम, और मोक्ष मिल सकता है।[4] अर्चन-साधना मानसिक भी हो सकती है। अर्चन का साधनपक्ष पंचरात्र आदि के अनुसार क्रियायोग ही है, परंतु कहीं-कहीं मानसपूजा का भी विधान किया गया है।[5] इसका एक कारण यह है कि अर्चन के लिए उपादान-संग्रह आदि की सुविधा सभी परिस्थितियों में संभव नहीं है। ऐसी दशा में अर्चन-भक्त मानसपूजा से ही भगवान् की आराधना कर सकता है। मानसपूजा के महत्त्व का दूसरा कारण यह है कि केवल बाह्य क्रियाकलाप से ही रामकृपा की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिए चित्त की तल्लीनता आवश्यक है। इसी भावना से प्रेरित होकर तुलसी ने 'विनयपत्रिका'[6] में सांगरूपक के सहारे मानसिक आरती का विशद निरूपण किया है—

क्रियायोग की आरती	**मानसिक आरती**
१. धूप	१. विश्वरूप-सर्ववासी भगवान् की वासना
२. दीप	२. आत्मज्ञान[7]
वर्तिका	{ प्रौढ़ अभिमान और चित्तवृत्ति[8] { दस करण[9] (इंद्रियाँ)

---

१. शा० भ० सू० २।२।१३ और उस पर भ० च०

२. वि० ४८, रा० २।१२६।१-३

३. दे०—षट्सन्दर्भ, पृ० ६२५

४. रा० ३।३५।४-३।३६।४

५. योगोऽत्र पञ्चरात्राद्युक्तः क्रियायोगः। क्वचिदत्र मानसपूजा च। —षट्सन्दर्भ, पृ० ६२६

६. दे०—वि० ४७

७. तु० दे०—येहि बिधि लेसइ दीप तेजरासि बिज्ञानमय। —रा० ७।११७ सो०
उपर्युक्त विज्ञान-दीप का वर्णन ज्ञानमार्ग के अनुसार है।
'विनयपत्रिका' (४७।२) में उल्लिखित 'निजबोध' भक्ति का साधन है।

८. पं० श्रीकान्तशरण ने अन्य संस्करणों में मुद्रित 'चितवृत्ति छीजै' के स्थान पर 'चित बर्ति छीजै' पाठ दिया है। यह पाठ अधिक समीचीन है। —दे०— वि० ४७।२ पर सि० ति०

९. अन्य संस्करणों में पाठ है—असुभ-सुभ-कर्म-घृत-पूर्न दस वर्तिका
पं० श्रीकान्तशरण ने पाठ दिया है—असुभ-सुभ-कर्म-घृत, कर्न दस वर्तिका

घृत	शुभाशुभ कर्म
पावक	त्याग
प्रकाश	सत्त्वगुण
अंधकार-निवृत्ति	मोहादि-निवृत्ति
३. नैवेद्य	३. अतिशय विशद भाव
४. तांबूल	४. प्रेम
५. दीपावली-नीराजना	५. वैराग्य-विज्ञान-भक्ति
६. शयन	६. विमलहृदयरूपी मंदिर में शांतिरूपी पर्यंक पर श्रीराम का आराम
परिचारिका	क्षमा, करुणा आदि

तुलसीदास की दृष्टि में भगवान् राम ही अर्चनीय हैं। उनकी अर्चना हो जाने पर सभी देवों की अर्चना हो जाती है। अन्य देवों का अर्चन रामभक्ति के साधनरूप में ही कर्तव्य है। उनका स्वतंत्र पूजन त्याज्य है।

वंदन—नवधा भक्ति का छठा अंग 'वंदन' है। 'वंदन' का अर्थ है—नमस्कार।[1] अर्थात् भजनीय के प्रति भक्त के द्वारा किया गया प्रणाम 'वंदन' है।[2] इसके दो रूप हो सकते हैं—अर्चनांग और स्वतंत्र। वंदन, यद्यपि, अर्चन के अंगरूप में भी होता है तथापि उसकी स्वतंत्र सत्ता भी है। अतएव नवधा भक्ति में उसका पृथक् विधान किया गया है। वस्तुतः अर्चनांगरूप 'वंदन' को 'अर्चन' कहना ही युक्ति-संगत है, उसे 'वंदन' नहीं कहा जा सकता। अतएव नारायणतीर्थ द्वारा की गयी परिभाषा अधिक न्यायोचित है—पूजा के बहिर्भूत नमस्कार को (जो गुरु, शालग्राम, प्रतिमा, भगवान् और भगवद्भक्तों को किया जाता है) 'वंदन' कहते हैं।[3]

तुलसी के मुख्य वंदनीय राम हैं। परंतु उनके द्वारा किये गये वंदन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। 'रामचरितमानस' के प्रत्येक सोपान के आरंभ में लिखित मंगलश्लोकों एवं उसकी प्रस्तावना में सरस्वती, गणेश, शिव, पार्वती आदि देवताओं, रामनाम, वाल्मीकि, हनुमान्, कौशल्या आदि भक्तों, गुरु, ब्राह्मणों और संतों एवं खलों तक की वंदना की गयी है। असज्जनों की वंदना[4] में व्याजनिंदा है। अतएव वह भक्ति का अंग नहीं है। 'वंदन' का अर्थ स्तुति भी है।[5] इस दृष्टि से 'विनयपत्रिका' और 'रामचरितमानस' में ग्रथित स्तुतियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं। उनमें भक्ति, दर्शन और काव्य की तरंगायित त्रिवेणी का सरस आपूर है।

दास्य—'भगवान् स्वामी हैं, मैं उनका सेवक हूँ'—अनन्यभक्त की इस अटल मति को 'दास्य'[6] कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।

उनका यह पाठ अधिक युक्तसंगत है। —दे०—वि० ४७।४ पर सि० ति०

१. वन्दनं नमस्कारः। —षट्सन्दर्भ, पृ० ५४१

२. उदाहरण के लिए —गीता, ११।४०; भा० पु० ११।२।४१, ११।५।३३,

३. वन्दनम् पूजाबहिर्भूतनमस्कारो गुरुशालग्रामप्रतिमाभगवद्भक्तानाम्। —भ० च०, पृ० १४८

४. जैसे —रा० १।४।१-१।५।२

५. वन्दनं स्तुतिः। —मुक्ता०, ७।८८ पर कैवल्यदीपिका

६. तच्चश्रीविष्णोर्दासम्मन्यत्वम्। —षट्सन्दर्भ, पृ० ६४४

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥[1]

इस प्रकार 'दास्य' एक मनःस्थिति है, अभिमान है। अतः तुलसी के सुतीक्ष्ण ने राम से वर-याचना की—

'अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें।'[2]

यद्यपि 'पादसेवन' और 'दास्य' दोनों में ही प्रेम, सेवा, आत्मदैन्य, भगवन्महिमा आदि विशेषताएँ पायी जाती हैं तथापि दोनों विधाओं में स्वरूप, संबंध और साधन की दृष्टि से निश्चित भेद भी है। 'दास्य' आभ्यंतर वृत्ति है। बाह्य उपचार उसके लिए आवश्यक नहीं है। 'पादसेवनभक्ति' बाह्यक्रियाप्रधान है। भक्त की साधकावस्था में वह 'दास्य' का कारण हो सकती है और सिद्धावस्था में उसकी अभिव्यक्ति। दोनों में भक्तभगवत्संबंध का भी भेद है। 'दास्य' में स्वामि-सेवक-भाव अनिवार्य है, किंतु 'पादसेवन' में नहीं। 'पादसेवन' के लिए बाह्य-साधनों, (शारीरिक-समर्थता आदि) की अपेक्षा है लेकिन 'दास्य' के लिए नहीं। फिर भी दोनों में विरोध नहीं है। वे परस्परपूरक हैं।

'दास्य' के जो अन्य लक्षण बतलाये गये हैं वे भक्तिमात्र के सामान्य लक्षण हैं। दास की भाँति सकल कर्मों का अर्पण, जिसका फल परमेश्वरप्रीति है, 'दास्य' है।[3] दास में भगवत्कैंकर्य, अनन्यभाव, दैन्य, निःस्वार्थता आदि का होना अपेक्षित है।[4] उसे शुचि, सुशील, और मनसा-वाचा-कर्मणा राम का सेवक होना चाहिए।[5] ये विशेषताएँ तुलसीदास और उनके काव्य में वर्णित सभी भक्तों की हैं। दास्य-भाव उनके भक्ति-सिद्धांत का मूलाधार है। अयोध्या के निवासी[6], राम के सखा[7], भरत[8], लक्ष्मण[9], हनुमान्[10], जटायु[11],

१. रा० ४।३

२. रा० ३।११।११

३. दास्यम् दासस्येव परमेश्वरप्रीतिफलकं सकलकर्माऽर्पणम्। —भ० च०, पृ० १४८

४. रा० २।२०६।१, ७।२।५; दो० २७७, वि० १०१।१; वि० १६०।१; रा० २।३०१।२

५. रा० ३।१०।१, ७।८६

६. जानत हौं सबही के मन की।
तदपि कृपालु! करौं बिनती सोइ सादर सुनहु दीन-हित जन की॥
ए सेवक संतत अनन्य अति ज्यों चातकहि एक गति घन की।
यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरति परिजन की॥ —गी० २।७१।१-२

७. जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ येह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात येहु ओर निबाहू॥ —रा० २।२४।३

८. मोरे सरन राम की पनहीं। रामु सुस्वामि दोसु सब जन हीं॥ —रा० २।२३४।१
कहु कपि कबहुँ कृपाल गुसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥ —रा० ७।२।८

९. सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥ —रा० ३।१४।३-४

१०. तव माया बस फिरौं भुलाना। तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥
एक मंद मैं मोहबस कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥ —रा० ४।२
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहिं परै जनि भोरें॥

११. तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुरलभ तुमहि कहाँ पुनि पैहौं॥ —गी० ३।१३।४

सुतीक्ष्ण[1], मनुशतरूपा[2] आदि और भगवान् शिव भी[3] राम के दासभक्त हैं। सिद्धांततः, तुलसी की भक्ति **दास्यभक्ति** ही है।[4] पिता, गुरु आदि के रूप में भगवान् की भावना भी 'दास्य' ही है। जिस प्रकार पिता-गुरु आदि पुत्र, शिष्य आदि के शुभचिंतक, रक्षक और आदेशक होते हैं; उसी प्रकार भगवान् भी। जिस प्रकार पुत्र-शिष्य आदि पिता, गुरु आदि के कृपाभाजन, और आज्ञापालक होते हैं; उसी प्रकार भक्त भी।

जब तक जीव भगवान् का दास नहीं हो जाता तब तक उसे अनेक दुःख सहने पड़ते हैं। यह तुलसी का निजी अनुभव है।[5] 'दास्य' के संबंध से भजन महत्तर हो जाता है। दास्याभिमान मात्र से सिद्धि मिल जाती है, भजनप्रयास की कोई आवश्यकता नहीं।[6] कौन ऐसा मूढ़ है जो दास्यभाव प्राप्त कर लेने पर प्रभुत्व की कामना करे![7] दास्य की महिमा का कारण मनोवैज्ञानिक है—भगवान् और भक्त दोनों के केंद्रबिंदु से। यह लोक की रीति है कि संसार के सभी स्वामियों को सेवक प्रिय होता है, और राम को भी अपना दास परमप्रिय है।[8] वे उसके दोषों पर ध्यान नहीं देते; उसकी रुचि का विशेष ख्याल रखते हैं।[9] उसके शत्रु को शत्रु समझकर उसका प्रतिकार करते हैं; वे सेवक के वशवर्ती हैं।[10] भगवान् का दास हो जाने पर भक्त निश्चिंत हो जाता है, उसका पोषण-रक्षण भगवान् स्वयं करते हैं।[11] इसलिए वह दास्य भक्ति का वरण

---

१. मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥
मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥ —रा० ३।१०।१

२. जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥ —रा० १।१५०

३. बार बार बर मागौं हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥ —रा० ७।१४ क

४. सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥ —रा० ७।११९ क

५. जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास, तैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं जद्यपि अंतरजामी॥ —वि० ११३।२

६. अस्तु तावद् भजनप्रयासः केवलतादृशत्वाभिमानेनापि सिद्धिर्भवति। तदेतद्दास्यसम्बन्धेनैव सर्वमपि भजनं महत्तरं भवति। —षट्सन्दर्भ, पृ० ६४४

७. को मूढो दासतां प्राप्य प्राभवं पदमिच्छति। —षट्सन्दर्भ, पृ० ४२१, ५५१

८. सब कें प्रिय सेवक येह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥ —रा० ७।१६।४
सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग। —रा० ७।८६
सत्य कहौं खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय। —रा० ७।८७ सो०
'रामहिं सेवकु परम पिआरा' (रा० २।२१९।१) और 'ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा' (रा० १।२२।४) में परस्पर विरोध नहीं है। इसका समाधान यह है कि दासभक्तों में ज्ञानी और ज्ञानियों में दासभक्त परम प्रिय है।

९. दो० ४७-४८

१०. मानत सुखु सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥ —रा० २।२१९।१
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥ —रा० १।१४४।४

११. सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहै असोच बनइ प्रभु पोसें॥ —रा० ४।३।२
प्रीति रामनाम सों, प्रतीति रामनाम की, प्रसाद रामनाम कें पसारि पाय सूतिहौं॥—कवि० ७।६९

करता है।[1]

सख्य—नवधा भक्ति का आठवाँ अंग 'सख्य' है। सखा के तीन लक्षण बतलाये गये है — अहितकर कर्म करने से रोकना, मंगल कार्य में प्रवृत्त करना और आपत्काल में साथ न छोड़ना। इन सखिधर्मों से युक्त भगवान् का भावन 'सख्य' है।[2] इसमें बंधुभाव की प्रधानता है। भक्त की यह भावना विश्वास की ही परिणति है।[3] तुलसी ने भक्त और भगवान् के जिन विविध संबंधों की कल्पना की है 'सख्य' भी उनमें से एक है। राम ने सुग्रीव को मित्र और अमित्र के लक्षण बतलाये हैं।[4] उनकी प्रतिज्ञा '**सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥**'[5] उनके सभी सखाओं के प्रति चरितार्थ हुई है। सख्य के दो प्रकार हैं—मित्रवृत्ति और विश्वास।[6] जहाँ भक्त के बंधुवत् व्यवहार की चर्चा की गयी हो वहाँ मित्रवृत्ति-सख्य मानना चाहिए। तुलसी-साहित्य में राम के सखा-भक्तों का भी व्यवहार दासवत् है; इसलिए उसमें इस प्रकार की सख्य भक्ति का निरूपण नगण्य है। 'गीतावली' में राम को जगाने वाले राज-कुमारों और 'रामचरितमानस' में राम को धनुर्यज्ञभूमि दिखलाने वाले बालकों का राम-विषयक प्रेम मित्रवृत्ति का किंचित् निदर्शन माना जा सकता है।[7] सख्य का दूसरा प्रकार 'विश्वास' है। जहाँ बंधुवत् व्यवहार का स्पष्ट वर्णन न होने पर भी सखिधर्मयुक्त भगवान् की भावना के आधार पर भक्त अपने भक्तिभाव का सखा की भाँति अनौपचारिक ढंग से निवेदन करता है, वहाँ विश्वास-सख्य मानना चाहिए। सूर के साथ तुलसी की तुलना करते हुए यह बात प्रायः कही जाती है कि तुलसी में वह खरापन नहीं है जो सूर में है। यह अंशतः सत्य है। 'विनयपत्रिका' में उन्होंने अपने आराध्य राम को काफी खरी-खोटी सुनायी है, कड़ी फटकार बतायी है, ललकार-पूर्ण चुनौती दी है—

क. परम पुनीत संत कोमलचित, तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र ब्याध गनिकहि तारेहु कछु रही सगाई॥[8]

ख. महाराज रामादर्यो धन्य सोई।
गरुअ, गुनरासि, सरबग्य, सुकृती, सूर, सीलनिधि, साधु तेहि सम न कोई॥
उपल, केवट, कीस, भालु, निसिचर, सबरि, गीध सम-दम-दया-दान-हीने।
नाम लिये राम किये परम पावन सकल, नर तरत तिनके गुन-गान कीने॥
ब्याध अपराध की साध राखी कहा, पिंगलै कौन मति भक्ति भेई।

१. रा० २।२०४, वि० ७६।४, हनु० ३६
२. सख्यम्—अहितात् प्रतिषेधश्च हिते चैव प्रवर्तनम्।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं सखिलक्षणम्॥
इत्यत्रोक्तस्य सखिधर्मस्य भगवत्त्वेन भावनम्। —मुक्ता०, पृ० १२१
३. यह स्मरण रखना चाहिए कि सख्यभक्ति स्वरूपतः रागानुगा है। अतः इसके लिए विधिमार्ग अनपेक्षित है। (दे०—ह० र० सि० १।२।३७)
४. रा० ४।७।१-३
५. रा० ४।७।५
६. ह० र० सि० १।२।३६, शा० भ० सू० २।२।७ पर भ० च०
७. गी० १।३६-४०, रा० १।२२४।४-१।२२५।३
८. वि० ६१२।२

कौन धौं सोमजाजी अजामिल अधम, कौन गजराज धौं बाजपेयी ॥[1]

ग. हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै, सहि न जात मोपै परिहास एते ॥[2]

घ. राखिये नीके सुधारि, नीच को डारिये मारि,
दुहूँ ओर की बिचारि, अब न निहोरिहौं।
तुलसी कही है साँची रेख बार-बार खाँची,
ढील किये नाम-महिमा की नाव बोरिहौं ॥[3]

जीव गोस्वामी आदि ने 'सख्य' को परमसेवानुकूल, प्रेमविस्रंभवान् और विशेषभावनामय मानकर उसे 'दास्य' से भी उत्तम बतलाया है।[4] मर्यादावादी तुलसीदास भक्त और भगवान् के सभी संभव संबंधों में सेव्यसेवकभाव को ही सर्वोपरि मानते हैं। 'दास्य' की श्रेष्ठता का मनोवैज्ञानिक आधार यह है कि भगवान् की महिमा और अपने दैन्य के प्रति निरंतर जागरूक दास-भक्त भक्ति के आदर्श से कभी च्युत नहीं हो सकता; सखा के द्वारा, जाने-अनजाने, भगवान् के अनादर की संभावना बनी रह सकती है।

आत्मनिवेदन—नवधा भक्ति की नवीं विधा 'आत्मनिवेदन' है। भक्तों एवं भक्त्याचार्यों ने भक्तिनिरूपण में भगवान् के प्रति भक्त के आत्मसमर्पण, आत्मनिवेदन, शरणागति या प्रपत्ति का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भक्त के कार्पण्य (दैन्य), श्रद्धावत्ता, सर्वधर्मार्थकाम-परित्याग, सर्वसंबंध-विच्छेद और भगवान् के प्रति सर्वथा अनन्य भाव पर विशेष बल दिया है।[5] भक्त के द्वारा भगवान् के प्रति सर्वतोभावेन अपने शरीर आदि का एक मात्र उसी के भजनार्थ किया गया अर्पण 'आत्मनिवेदन' है। उस निवेदितात्मा भक्त का कार्य स्वार्थरहित है। उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान् के अर्थ होती हैं। उसके सभी साधन और साध्य भगवन्न्यस्त हो जाते हैं। उसके आत्म-समर्पण की उपमा गोविक्रय से ही दी जा सकती है। बैल को बेच देने के बाद विक्रेता निश्चित हो जाता है। उस बैल की जीविका की चिंता क्रेता को करनी पड़ती है। बैल भी जो कुछ करता है उसी क्रेता के लिए।[6] इसी प्रकार भगवान् को आत्मसमर्पण कर देने के बाद भक्त चिंतामुक्त

१. वि० १०६।३
२. वि० २४१।५
३. वि० २५८।४
४. सख्यन्तु परमसेवानुकूलमित्युपादीयत इति।,
प्रेमविस्रम्भवत् भावनामयत्वेन दास्यादप्युत्तमत्वापेक्षया। —षट्सन्दर्भ, पृ० ६४५
५. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। —गीता, १८।६६
भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः।
परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि वै ॥ —वा० रा० ६।१६।५
पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च।
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो ॥ —'शरणागतिगद्यम्', स्तोत्ररत्नावली, भाग २, पृ० ११२
६. आत्मनिवेदनम्—गवाश्वादिस्थानीयस्य स्वस्य देहादिसङ्घातस्य तदेकभजनार्थं विक्रयस्थानीयं तस्मिन्नर्पणम्। यत्र तद्भरणपालनचिन्तापि स्वयन्न क्रियते। एतदेवार्पणपूर्वकं करणम्। यथा कस्मैचिद् दुग्धे धेवे गवां दानमिति। —भ० च०, पृ० १४६

हो जाता है।[1] वह जो कुछ करता है वह सब भगवान् के लिए। उसके कल्याण का सारा उत्तरदायित्व भगवान् को ही सँभालना पड़ता है।

भागवतकार ने भक्त की जिस मानसिक भावना को 'आत्मनिवेदन' कहा है उसी को पांचरात्र आगम, 'शरणागतिगद्यम्' आदि में 'शरणागति' कहा गया है। मैं अपराधों का घर हूँ, अकिंचन हूँ, निराश्रय हूँ, तुम्हीं मेरे उद्धार के लिए उपाय बनो--भगवान् के प्रति प्रार्थी की एतादृशी चित्तवृत्ति को 'शरणागति' कहते हैं।[2] यद्यपि 'शरण' शब्द का सामान्य प्रयोग आश्रय-स्थल, आश्रय की क्रिया और आश्रयदाता व्यक्ति इन तीनों ही अर्थों में किया जाता है, तथापि भक्ति-शास्त्रीय चिंतन-क्षेत्र में उसका अर्थ है--इष्ट की प्राप्ति कराने वाला एवं अनिष्ट का निवारक आश्रयणीय चेतन।[3] 'शरणागति' में प्रयुक्त 'आगति' का व्यवहार भी विचारणीय है। बौद्धधर्म-दर्शन में शरण-गमन की महिमा सर्वत्र स्वीकार की गयी है।[4] 'गीता' में भी भगवान् ने '**शरणं गच्छ**'[5] और '**शरणं व्रज**' का आदेश किया है। वाल्मीकि के विभीषण ने भी कहा है--**भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः।' 'शरणं तेऽव्रजं विभो।'** का प्रयोग करके रामानुज ने भी इसी रीति का अनुसरण किया है।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है--'शरणागति' क्यों? 'शरणगति' क्यों नहीं? जीव लोक को त्यागकर ईश्वर के पास जा रहा है, आ नहीं रहा है। अतएव 'शरणगति' ही अधिक समीचीन होना चाहिए। समाधान यह है कि दृष्टि-भेद से दोनों ही ठीक हैं। जहाँ संसार या संसारग्रस्त जीव को केंद्रबिंदु मानकर भगवान् की शरण का विलोकन किया गया है वहाँ 'गम्' और 'व्रज्' का प्रयोग ही उपयुक्त है। परंतु जब ईश्वर या ईश्वरप्रपन्न जीव के केंद्रबिंदु से जीव के संसार-परित्याग-रूपी कर्म की अभिव्यंजना की जाती है, तब उसे 'आगति' कहा जाता है। वस्तुतः जीव भगवान् से कहना चाहता है--मैं आपकी शरण में आ गया हूँ। 'शरणागति', 'प्रपत्ति', और 'न्यास' समानार्थक हैं।[6] अनन्यसाध्य भगवत्प्राप्ति में महाविश्वासपूर्वक भगवान् को ही एकमात्र उपाय समझकर प्रार्थना करते हुए रहना ही 'प्रपत्ति' है और इसी को 'शरणागति' कहते हैं।[7]

---

१. को करि सोचु मरै तुलसी, हम जानकीनाथ के हाथ बिकाने। —कवि० ७।१०५
जग में गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नर की। —कवि० ७।२७

२. अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनोऽगतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः॥
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन्प्रयुज्यताम्॥ —अहि० सं० ३७।३०-३१

३. इष्टस्य प्रापकतया अनिष्टस्य निवारणतया समाश्रयणीयः चेतनः शरणम्। —गीता, ९।१८ पर रा० भा०

४. दे—बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ३८६; बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० २४७

५. गीता, १८।६२

६. अहि० सं० ३७।३१-३३, ३६

७. अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायतायाञ्च प्रपत्तिः शरणागतिः॥ --पाञ्चरात्र-विष्वक्सेनसंहिता
—कल्याण, साधनाङ्क, पृ० ६३ पर उद्धृत
शरणमहं प्रपद्ये—श्वे० उ० ६।१८
मां प्रपद्यन्ते—गीता, ४।११
मामेव ये प्रपद्यन्ते—गीता, ७।१४

श्रीनिवासदास ने न्यासविद्या को 'प्रपत्ति' कहा है।[1] 'न्यास' 'आत्मनिवेदन' की ही दूसरी संज्ञा है। इसीलिए उन्होंने 'प्रपत्ति' को 'भक्ति' का अंग बतलाया है।[2] यहाँ 'भक्ति' का तात्पर्यार्थ वैष्णवाचारनिष्ठ वैधी भक्ति है। 'भक्ति' के परिनिष्ठित व्यापक अर्थ में 'प्रपत्ति' का भी अंतर्भाव है। अतएव 'प्रपत्ति' के दोनों भेद 'आर्त' और 'दृप्त' अथवा 'प्रपत्तियोग' की दोनों विधाएँ 'आर्त-प्रपत्तियोग' और 'दृप्तप्रपत्तियोग' तुलसी के **भक्तियोग** में ही समाहित हैं। मुक्तिपद की प्राप्ति के लिए भगवत्प्रसाद आवश्यक है[3] और भगवत्प्रसाद के लिए उसके (भगवान् के) प्रति दैन्य या आत्मसमर्पण आवश्यक है।[4] यही कारण है कि मूढ़, नराधम, मायाग्रस्त और असुरप्रकृति जनों को प्रपत्ति में असमर्थ बतलाया गया है।[5] पांचरात्र आगम में शरणागति के दो प्रकार बतलाये गये हैं—मानसिक और कार्मिक।[6] वस्तुतः मानसिक शरणागति ही शरणागति है। कार्मिक अनुष्ठान तो उसी का आचारनिष्ठ व्यावहारिक पक्ष है, प्रपन्न भक्त की चित्तदशा की क्रियारूपा अभिव्यक्ति है।

शरणागति की छः विधाएँ बतलायी गयी हैं—

> **षोढा हि वेदविदुषो वदन्त्येनं महामुने ॥**
> **आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।**
> **रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥**
> **आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।**[7]

इन छः विधाओं का मनोवैज्ञानिक क्रम है। अतएव इन्हें शरणागति के सोपान या अंग कहना भी अयुक्तिसंगत नहीं है। श्रीनिवासदास ने न्यासविद्या प्रपत्ति के प्रसंग में उपर्युक्त छः अंगों को पाँच के ही अंतर्गत रखा है।[8] उन्होंने 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' की अंतिम दो विधाओं का एक में ही समाहार कर दिया है। आत्मनिक्षेप की भावना सभी में अनिवार्य है, इसलिए कार्पण्य को आत्म-निक्षेपविशिष्ट कहना सामान्य दृष्टि से आपत्तिजनक नहीं है। फिर भी सूक्ष्मदृष्टि से षड्विध-प्रतिपादन ही वांछनीय है। यद्यपि प्रत्येक प्रकार की शरणागति में अन्य सभी प्रकार की भाव-नाओं की निहिति है तथापि उसकी अभिव्यंजना में विधाविशेष की प्रधानता के कारण ही उसे छः नाम दिये गये हैं।

१. आनुकूल्यस्य संकल्पः—यह भक्त की वह भावना है जिसमें भगवान् के प्रति सदैव अनुकूल बने रहने की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति की जाती है।[9] संकल्प का यह भाव शरणागति की मनो-

तमेव शरणं गच्छ —गीता, १८।६२
मामेकं शरणं व्रज —गीता, १८।६६

१. न्यासविद्या प्रपत्तिः। —यतीन्द्र० पृ०, ६६
२. भक्तिः परभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिरूपकमवती प्रपत्त्यङ्गिका। —यतीन्द्र०, पृ० ६७
३. गीता, १८।५६, ५८
४. भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्। —सुबोधिनी, फलप्रकरण, ४।२; दे०—अष्ट०, पृ० ५२४
५. गीता, ७।१५
६. दे०—भा० सं०, पृ० १३१-१३३
७. अहि० सं० ३७।२७-२८
८. दे० —यतीन्द्र०, पृ० ६६
९. मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परै झूठ का साचा ॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई ॥ —रा० ३।११।१२-१३

वैज्ञानिक भूमिका है। इससे भक्त का चित्त अहंकारादि से मुक्त और सत्त्वगुणयुक्त होकर, उसको भगवत्प्रसाद का पात्र बना देता है। भगवान् के प्रति अनुकूलता का भाव रखने वाला भक्त आगे चलकर सर्वभूतानुकूल हो जाता है—

सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥[1]

इस प्रसंग में यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जहाँ भक्त की भजनीय के प्रति अनुकूलता का निरूपण होगा वहाँ 'शरणागति' होगी किंतु जहाँ भक्त के प्रति भगवान् के आनुकूल्य की व्यंजना होगी[2] उसे 'शक्तिपात' या 'अनुग्रह' कहा जाएगा। भक्त की मनोऽवस्था ही शरणागति है, भगवान् की नहीं। पहली साधन है और दूसरी उसका साध्य। अतएव दोनों में कार्य-कारण-संबंध भी है।

२. प्रातिकूलस्य वर्जनम्—भगवान् के प्रतिकूल व्यक्ति, भाव, चर्चा, वस्तु आदि से पराङ्मुख रहना। यह वस्तुतः अनुकूलता के संकल्प का ही व्यतिरेकी प्रतिपादन है। इसी भावना की पराकाष्ठा पर पहुँचकर तुलसी ने कहा है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥[3]

भक्त भूल करके भी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। प्राकृतिक पदार्थों के शाश्वत गुणों में उलट-फेर हो सकता है, परंतु भक्त अपने आराध्य के प्रतिकूल नहीं जा सकता; और यदि कोई उसके विषय में अन्यथाभावन करता है तो वह नरक का अधिकारी होता है। कौशल्या की भरतविषयक काव्यमयी उक्ति इसी भाव की विवृति करती है—

बिधु बिष चवइ स्रवइ हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी ॥
भएँ ग्यानु बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू ॥
मत तुम्हार येहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं ॥[4]

भरत की ग्लानि भी प्रातिकूल्यवर्जन की भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है।[5] आदर्श भक्त भगवान् की प्रतिकूलता का त्याग करके ही संतुष्ट नहीं होता, वह भगवान् के विरोधी समझे जाने वालों का भी वर्जन करता है।[6] जो राम के अनुकूल नहीं हो सका, जो राम-भक्ति के प्रतिकूल आचरण करता है, उसका जीवन व्यर्थ है।[7] भगवत्संबंधी प्रतिकूलता का परित्याग करने वाला

सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥
अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जनु पावइ देवा ॥ —रा० २।३०१।२

१. रा० १।८।१
२. रा० २।२६७।१, २।३०७।२, ४।४।१, ५।३३, ६।५६।४, ६।१०७
३. वि० १७४।१
४. रा० २।१६६।१-२
५. रामबिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी बादि कहौं कछु तोहि ॥ —रा० २।१६२
और भी० दे०—रा० २।१६७।३-२।१६८।४, रा० २।१८१।३
६. तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रजबनितन्हि भये मुदमंगलकारी ॥ —वि० १७४।२
७. कवि० ७।४०-४५

भक्त विकास की उच्चतर भूमि पर पहुँचकर समस्त विश्व के प्रति विरोधभाव का भी सर्वथा त्याग कर देता है—

निजप्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ।[1]

३. रक्षिष्यतीति विश्वासः—भक्त का यह अडिग विश्वास है कि भगवान् रक्षक हैं, वे सदा से भक्तों की रक्षा करते आये हैं और करेंगे । भगवान् को भक्ति के आलंबनरूप में ग्रहण करने के लिए भक्त के मन में इस महाविश्वास का होना आवश्यक है । तुलसी की इस प्रतीति का अनेक स्थलों पर तलस्पर्शी उपस्थापन हुआ है; उदाहरणार्थ—

क. सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहें ।...
कलपलताहु की कलपलताबर, कामदुहहु की कामदुहा हैं ।।
सरनागत-आरत-प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहें ।
करि आईं, करिहैं, करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहें ।।
ख. आरत के हित नाथु अनाथ के रामु सहाय सही दिन गाढ़ें ।।
ग. पापतें, सापतें, ताप तिहूँ तें सदा तुलसी कहँ सो रखवारो ।।[2]

४. गोप्तृत्वे वरणम्—यह उपर्युक्त तीसरी विधा का कार्य है । भक्त भगवान् के रक्षक-रूप की कल्पना मात्र करके संतोष नहीं कर लेता । वह उसका अपने रक्षक-रूप में वस्तुतः वरण भी करता है । यह मानवमात्र की सहज प्रवृत्ति है कि वह कष्टों से त्राण पाने के लिए समर्थ की शरण में जाता है । भक्त की दृष्टि में तो सर्वसमर्थ भगवान् ही गोप्ता हैं—

क. ताहि तें आयो सरन सबेरें ।...
तुम सम ईस कृपालु परम हित पुनि न पाइहौं हेरें ।।
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें ।
तुलसिदास यह बिपति बागुरौ तुम्हहिं सो बनै निबेरें ।।[3]
ख. नाहिनै नाथ ! अवलम्ब मोहिं आनकी ।
करम मन बचन पन सत्य करुनानिधे, एक गति राम ! भवदीय पदत्रान की ।।[4]
ग. हृषीकेश सुनि नाउँ जाउँ बलि, अति भरोस जिय मोरे ।
तुलसिदास इंद्रिय-संभव दुख हरे बनिहिं प्रभु तोरे ।।[5]

५. आत्मनिक्षेपः—जब भक्त गोप्ता के रूप में भगवान् का वरण कर लेता है तब वह

१. रा० ७।११२ ख
२. क्रमशः—गी० ७।१३।१, ८-६; कवि० ७।५४; हनु० १६
और भी दे०—रा० २।१८३, ४।३।२; वि० १७०।७; गी० २।६५।२; हनु० ६;
स्वामी की सेवक-हितता सब, कछु निज साईं-दोहाई ।
मैं मति-तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरुआई ।।
एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आये, अरु करिहैं ।
तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनौड़ा भरिहैं ।। —वि० १७१।६-७
३. वि० १८७।१-४
४. वि० २०६।१
५. वि० ११६।५;
और भी दे०—वि० १०१, १४५।६-७, १७८, २३२, २५३, २७३; कवि० ७।१०, १०८; गी० २।७४।३;
हनु० २१

मनसा-वाचा-कर्मणा अपने को तथा अपने सर्वस्व को भगवान् के चरणों में न्यस्त कर देता है। उसकी इस दशा को 'आत्मनिक्षेप' (आत्मसमर्पण) कहते हैं—

क. मन की बचन की करम की तिहूँ प्रकार
तुलसी तिहारो तुम साहेब सुजान हौ ।।[1]
ख. श्रीरघुबीर निवारिये पीर रहौं दरबार परो लटि लूलो ।।[2]
ग. नातो-नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ।।[3]

'आत्मनिक्षेप' के साथ-साथ 'दैन्य' की मार्मिक अभिव्यक्ति सर्वथा अनिवार्य एवं स्वाभाविक है—

क. जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि सो मोहि सब बिसर्‌यो।
तुलसिदास निज भवनद्वार प्रभु दीजै रहन पर्‌यो ।।[4]
ख. मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर ।।
जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी ।।
मोरे सरन राम की पनहीं। राम सुस्वामि दोसु सब जनहीं ।।[5]

६. **कार्पण्यम्**—अत्यंत दीनता को 'कार्पण्य' कहते हैं। भक्त, विशेषकर तुलसी-जैसा दास-भक्त, भगवान् को परम महान् और अपने को परमदीन मानकर उसके प्रति आत्मनिवेदन करता है। यों तो तुलसी ने अपनी सभी कृतियों में अपने तथा अपने वर्ण्य भक्तों के कार्पण्य का विशद निरूपण किया है किंतु उनकी 'विनयपत्रिका' तो उनके कार्पण्य का ही निदर्शन है। काव्य की जो रमणीयता, भक्तिरस का जो प्रवाह, कला की जो मर्मस्पर्शिता, तुलसी की कार्पण्यनिरूपक पंक्तियों में है वह इस महामहिम भक्त कवि की उत्तमोत्तमता का ज्वलंत प्रमाण है। इस दैन्य-निवेदन में कहीं तो तुलसी ने भक्त की हीनता, असमर्थता, पाप आदि पर ही विशेष बल दिया है[6] और कहीं भक्तविषयक दीनता की तुलना में भगवान् की महिमा का भी समान रूप से अति-रंजित ख्यापन किया है।[7]

१. हनु० १४
२. हनु० ३६
३. वि० ११४।४
४. वि० ६१।५
५. रा० २।२३३-२।२३४।१
६. तऊ न मेरे अघ-अवगुन गनिहैं।
जौ जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनिहैं ।।
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के, असमंजस जिय जनिहैं ।।
देखि खलल अधिकार प्रभू सों भरि भलाई भनिहैं ।।
हँसि करिहैं परतीति भगत की भगत-सिरोमनि मनिहैं ।।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायेहि पर बनिहैं ।। —वि० ९५
और भी दे०—वि० ९६।२, १०६।६, ११४।१, १५६।१-४, २५२।५, कवि० ७।८८
७. माधव ! मो समान जग माहीं।
सब बिधि हीन मलीन दीन अति लीनबिषय कोउ नाहीं ।।

मानसिक शरणागति को कार्यान्वित करने के लिए वैष्णवतंत्र में पंचकर्म के व्यावहारिक अनुष्ठान का भी विधान किया गया है। भगवान् की पूजा के निमित्त दिन-रात को पाँच भागों में विभक्त करके जिन पाँच कर्मों के पालन की विधि बतलायी गयी है उन्हें शास्त्रीय भाषा में 'अभिगमन', 'उपादान', 'इज्या', 'अध्याय' और 'योग' कहते हैं।[1] तुलसीदास ने अपने सर्वतंत्र-स्वतंत्र भक्तिपथ को इस प्रकार के कर्मों के बंधन में जकड़ना उचित नहीं समझा था। अतएव उनके साहित्य में इन आचारों की सुनिश्चित व्यवस्था ढूँढ़ना उचित नहीं है। फिर भी उनके पुराणनिगमागमसंमत निरूपण में उपर्युक्त पाँच कर्मों की मान्यता अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में स्वीकार की गयी है। इन कर्मों में तुलसी की आस्था है, यद्यपि वे इन्हें शरणागति के लिए आवश्यक नहीं मानते। इसीलिए विविध प्रसंगों में यथावसर उन्होंने इन कर्मों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। मन, वचन और कर्म से जप-ध्यान आदि के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना 'अभिगमन' है।[2] भगवान् की पूजा के लिए पुष्प, अर्घ्य, नैवेद्य आदि सामग्री का संग्रह करना 'उपादान' कहलाता है।[3] विहित नियमों के अनुसार भगवान् की पूजा-अर्चा को 'इज्या' कहते हैं।[4] वैष्णव ग्रंथों के श्रवण, मनन तथा श्रावण का नाम 'अध्याय' है। राजा राम ने भी इस कर्म का नियमपूर्वक पालन किया है।[5] पतंजलि के द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग का अनुष्ठान 'योग' है।[6]

तुलसी के साहित्य में प्रतिपादित आत्मनिवेदन की कतिपय विशेषताएं अवेक्षणीय हैं। तुलसी और उनके द्वारा निबद्ध सभी पात्रों में शरणागति की भावना भरपूर है। उसके लिए अनन्य-भाव आवश्यक है। उसमें मानसिक और कार्मिक (वाचिक-समेत) का कोई भेद नहीं है। सभी भक्त मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान् के शरणागत हैं। विशिष्टाद्वैत-मत में भक्ति और प्रपत्ति दो भिन्न मोक्षसाधन के रूप में स्वीकृत हैं।[7] अष्टांगवान् और साधनसप्तकजन्य भक्तियोग[8] सभी के लिए संभव नहीं है। अतएव जो वेदपाठ, मंदिरादि का निर्माण और तीर्थाटन आदि नहीं कर

तुम सम हेतुरहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी।
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ बिचार जिय मोरे।
तुलसिदास प्रभु मोह-सृंखला, छुटिहि तुम्हारे छोरे॥ —बि० ११४।१-५
तुम सम दीनबंधु, न दीन कोउ मो सम, सुनहु नृपति रघुराई।
मो सम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग, तुम सन हरि! न हरनकुटिलाई॥ — बि० २४२।१-४
तुम-सम ग्यान-निधान, मोहि सम मूढ़ न आन पुराननि गायो।
तुलसिदास प्रभु! यह बिचारि जिय कीजै नाथ उचित मन भायो॥ —बि० २४४।५

१. जया० सं० २२।६८-७४, ब्र० सू० २।२।४२ और उस पर शा० भा०
२. यथा—रा० २।१२९।३
३. यथा—रा० १।२२७।१, १।२३७।२
४. यथा—रा० २।१२९।२;
राम के द्वारा शिव (रा० ६।२।३) तथा सीता के द्वारा गिरिजा (रा० १।२२८।३) का पूजन भी पांचरात्र आगम के विधि-विधान के अनुसार न होने पर भी 'इज्या' के अंतर्गत माना जा सकता है।
५. रा० ७।२६।१,४
६. रा० ३।१६।१, ७।११७ क
७. यतीन्द्र०, पृ० १००
८. यतीन्द्र०, पृ० ९५-९६

सकते उन असमर्थ जनों के लिए प्रपत्तियोग का विधान किया गया है। तुलसीदास को इस प्रकार का कोई भेद मान्य नहीं है। वे भक्ति और प्रपत्ति को अभिन्न मानते है। उनकी दृष्टि में 'प्रपत्ति' 'भक्ति' का अनिवार्य धर्म है। जो भगवान् के शरणागत नहीं हुआ वह भक्त है ही नहीं। यद्यपि तुलसी वर्णाश्रमधर्म के सबल समर्थक हैं तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित हरिभक्तिपथ किसी के लिए वर्जित नहीं है। उनके राम एक ओर लक्ष्मण को भक्तियोग का उपदेश करते हुए वर्णाश्रम-धर्म, अर्चन आदि की आवश्यकता पर बल देते है तो दूसरी ओर शबरी को इन सब आचारों से स्वतंत्र भक्ति का भी निर्देश करते हैं। यह उनका उदार दृष्टिकोण है। उन्होंने नामभक्ति एवं नामशरणागति को जो गौरव प्रदान किया है वह उनकी इस दृष्टि-व्यापकता की ओर भी पुष्टि करता है।

कहीं-कहीं पर तुलसी ने चार प्रकार के उपायों की चर्चा की है। 'रामचरितमानस' में उन्होंने चारों युगों में भव-तरण के चार भिन्न साधन बतलाये हैं।[1] 'कवितावली' में भी उन्होंने कर्म, ज्ञान और उपासना के अभाव में कलियुग के लिए चतुर्थ मार्ग के अवलंबन का संकेत किया है।[2] 'दोहावली' में भी उनका यह मार्गचतुष्टय-संबंधी विचार व्यक्त हुआ है—

करमठ कठमलिया कहैं ग्यानी ग्यान बिहीन।
तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरें दीन ॥[3]

कहा जा सकता है कि इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि तुलसी को मोक्ष के चार उपाय मान्य हैं—कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति। हमारी स्थापना इससे भिन्न है। यह बात हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि मोक्ष के वस्तुतः दो ही उपाय है—ज्ञान और भक्ति। अन्य उपायों का अंतर्भाव इन्हीं दो में हो जाता है। जहाँ इन दोनों के अंगों या साधनों का मोक्षोपाय-रूप में वर्णन हुआ है वहाँ तुलसी का उद्देश्य उनका गौरव प्रदर्शित करना ही रहा है। कर्म तो ज्ञान और भक्ति का साधन होने के कारण साधन का ही साधन है। प्रपत्ति भी तुलसी को स्वतंत्र उपाय के रूप में मान्य नहीं है। जहाँ कही भी उन्होंने सैद्धांतिक रूप से मोक्षोपायों का निरूपण किया है वहाँ प्रपत्ति का उल्लेख नहीं है। यह भी ध्यान देने की बात है कि तुलसी के संपूर्ण साहित्य में 'प्रपत्ति' या 'प्रपन्न' शब्द कहीं भी नहीं आया है। यदि प्रपत्ति को वे स्वतंत्र मोक्षमार्ग के रूप में मानते तो उसका उस रूप में उल्लेख अवश्य करते। यद्यपि उन्होंने 'आत्मनिवेदन' का व्यवहार भी कही नहीं किया तथापि 'स्रवणादिक नव भगति'[4] कह देने से उनकी आत्मनिवेदन-विषयक मान्यता सिद्ध हो जाती है। 'सरन' और 'सरनागत' का प्रयोग उन्होंने बारंबार किया है।[5] किंतु यह 'सरन' शब्द भक्ति-भिन्न प्रपत्तिमार्ग का पर्याय नहीं है। यह 'भक्ति' की ही एक विशेषता है, उसका अनिवार्य अंग है। भक्ति द्रुतचित्त की भगवदाकारता है, भगवान् के प्रति परमप्रेम है। और आत्मसमर्पण अर्थात् भगवच्छरणागति उस प्रेम की आवश्यक शर्त है। तुलसी ने 'भक्ति' के अतिरिक्त 'प्रपत्ति' या शरणागति' सरीखे किसी उपाय की विशेषताओं का अलग से कहीं

१. रा० ७।१०३।१-२
२. कवि० ७।८४
३. दो० ९९
४. रा० ३।१६।४
५. रा० २।१३०।२, ४।१७।१, ५।२२, ६।११०।६, ७।१८।२, वि० ७९।४, ११७।५, १८७।१;
रा० २।२९८।२, ४।६, ५।४३।४, वि० १४८।२, १५०।६, १५४।१

कोई उल्लेख नहीं किया और न तो भक्ति की उन विशेषताओं को, जो 'प्रपत्ति' के प्रतिकूल पड़ती हैं, आवश्यक ही बतलाया है। दूसरी ओर प्रपत्तिनिरूपक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रपत्ति की सभी विशेषताएँ उनकी भक्ति के अंतर्गत आ गयी हैं। जहाँ कहीं भी उन्होंने भक्ति का व्यवस्थित निरूपण किया है वहाँ इस कथन की सार्थकता देखी जा सकती है।

'अध्यात्मरामायण' की नवधा भक्ति—

भक्ति-संबंधी व्यापक मूलभूत सिद्धांतों को दृष्टि में रखकर 'अध्यात्मरामायण' में राम के मुख से शबरी के प्रति नवधा भक्ति का उपदेश कराया गया था।[1] 'रामचरितमानस' के राम ने भी उसी प्रकार नवधा भक्ति का उपदेश किया है—

नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजनु सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥
सातव सम मोहिमय जग देखा। मो ते संत अधिक करि लेखा॥
आठव जथालाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिअँ हरष न दीना॥
नव महुँ एकौ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥

१. तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।
सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्॥
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च॥
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते॥
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा॥
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा॥
स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा।
भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे॥
भक्तौ सञ्जातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥
स्यात्तस्मात्कारणं भक्तिर्मोक्षस्येति सुनिश्चितम्।
प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु॥
भवेत्सर्वं ततो भक्तिर्मुक्तिरेव सुनिश्चितम्।
यस्मान्मद्भक्तियुक्ता त्वं ततोऽहं त्वामुपस्थितः॥ —अ० रा० ३।१०।२२-३१

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥[1]

यही एक नवधा भक्ति है, जिसका व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन तुलसी ने जमकर किया है।[2] उनकी दृष्टि में भक्ति-विधाओं या साधनों के इस वर्ग का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बात ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहती कि तुलसी ने 'भागवत'-प्रतिपादित भक्ति की श्रवण आदि नवविधाओं का उस प्रकार व्यवस्थित उपस्थापन नहीं किया जिस प्रकार भागवतकार या उनके अनुवर्ती आचार्यो ने किया है। एक स्थान पर उन्होंने भगवान् राम के मुख से लक्ष्मण के प्रति 'स्रवणादिक नव भगति' कहलाकर उसकी अभिव्यंजना की है। तथा अन्य स्थलों पर विभिन्न संदर्भो में प्रकारांतर से श्रवण, कीर्तन आदि नवप्रकारों की श्रेष्ठता, साधनता आदि का अभिधा या व्यंजना द्वारा कथन किया है।

'अध्यात्मरामायण' की नवधा भक्ति और 'भागवतपुराण' की नवधा भक्ति का तुलनात्मक विहगावलोकन अपेक्षित है। केवल कीर्तन और अर्चन उभयनिष्ठ है। अन्य अनेक बातों में स्वरूप और लक्ष्य की दृष्टि से, दोनों परस्पर बहुत कुछ भिन्न हैं—

भागवतपुराण	अध्यात्मरामायण
१. इसका क्षेत्र संकुचित है। अर्चन, पाद-सेवन आदि के अधिकारी सभी नहीं हो सकते।	१. इसका क्षेत्र व्यापक है। किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं। कोई भी इसका अधिकारी हो सकता है।
२. प्रवृत्तिमार्ग वालों के विशेष अनुकूल है।	२. निवृत्तिमार्ग वालों के विशेष अनुकूल है।
३. प्रेम के साथ ही आचारपरक विधि-विधान पर भी विशेष बल दिया गया है। 'आत्मनिवेदन' में प्रपत्ति का अंतर्भाव कर लिये जाने पर भी इसे वैधी भक्ति	३. भक्ति के प्रेमस्वरूप पर बल दिया गया है। वाह्याचारों की सर्वथा उपेक्षा की गयी है। इसे 'प्रपत्ति' का समशील कहा जा सकता है।

---

१. रा० ३।३५।४-३।३६।४

२. डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने 'रामचरितमानस' के शबरी-भक्तियोग में प्रतिपादित नवधा भक्ति को तुलसीदास की मौलिक कल्पना माना है। 'भागवत'-प्रतिपादित नवधा भक्ति का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है—"वस्तुः इस नवधा भक्ति का प्रचार मध्य-युग में उत्तर-भारत के सभी भक्ति-सम्प्रदायों में सामान्य रूप से हो गया था और तुलसीदास का इससे प्रभावित होना नितान्त ही स्वाभाविक था। यह अवश्य है कि तुलसीदास ने उपर्युक्त नवधा भक्ति की चर्चा करने के साथ ही अपने ढंग पर भी नव नये विभाग किए हैं। उनके राम ने शबरी से इस नवधा-भक्ति की चर्चा इस प्रकार की है'''।"
—रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिंदी-साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ० ४०५-६

यथार्थ यह है कि 'मानस' का शबरी-भक्तियोग 'अध्यात्मरामायण' का ऋणी है। उसके कुछ वाक्य या वाक्यांश तो 'अध्यात्मरामायण' की उक्तियों के अनुवादमात्र हैं, यथा—

क. सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्। (अ० रा० ३।१०।२२)
=प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। (रा० ३।३५।४)

ख. आचार्योपासनं (अ० रा० ३।१०।२४) =गुर पद पंकज सेवा (रा० ३।३५)

ग. मम मन्त्रोपासकत्वं (अ० रा० ३।१०।२५) =मंत्र जाप मम (रा० ३।३६।१)

घ. सर्वभूतेषु मन्मतिः (अ० रा० ३।१०।२६)=मोहिमय जग देखा (रा० ३।३६।२)

यह और बात है कि तुलसी के भक्तिनिरूपण में मौलिकता का भी पर्याप्त अंश है। इसकी विवेचना आगामी पृष्ठों में की जाएगी।

ही मानना पड़ेगा ।	
४. सांप्रदायिकता की छाप है। यह दूसरी बात है कि सभी वैष्णव संप्रदाय अपने-अपने ढंग से इनका पालन करते हैं ।	४. सांप्रदायिकता से मुक्त है ।
५. श्रवणादि का निरूपण भक्ति के करण-रूप में किया गया है ।	५. प्रेमलक्षणा भक्ति की साधनरूपा या अंगरूपा भक्ति का प्रतिपादन करके ही संतोष नहीं कर लिया गया है अपितु उन साधनों के भी मूलभूत साधनों (गुरु, सत्संग आदि) का भी उल्लेख है जो भक्ति ही नहीं ज्ञान और कर्म की भूमिका के लिए भी अपेक्षित हैं ।
६. पहली श्रेणी के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी में तो क्रम है, परंतु नवों में निश्चित क्रम का संगति (संप्रदायविशेष वालों को भले ही मान्य हो) नहीं बैठती ।	६. नवों विधाओं में क्रम और कार्यकारण-संबंध बतलाया गया है ।
७. ज्ञान से निरपेक्ष रहकर भक्ति के ही आचारमूलक और भावप्रधान पक्ष की निबंधना है ।	७. तत्त्व-विचार जैसे ज्ञानात्मक अंग को भी महत्त्व दिया गया है ।

कहा जा चुका है कि 'भागवत' की नवधा भक्ति भी तुलसी को मान्य है और उसके विभिन्न अंगों का निरूपण भी उन्होंने विभिन्न अवसरों पर यथास्थान किया है; परंतु एक ही स्थल पर उसकी निदर्शना नहीं की गयी है । यह गौरव केवल 'अध्यात्मरामायण' की नवधा भक्ति को ही दिया गया है । अध्यात्मरामायण' की भूमिका में तुलसी की इस नवधा भक्ति को समझने के लिए दोनों की तुलनात्मक सारणी अपेक्षित है—

'अध्यात्मरामायण' की नवधा भक्ति	'अध्यात्मरामायण' की भक्ति का 'मानस' में क्रम	'रामचरितमानस' की नवधा भक्ति
१. सत्संगति	प्रथम	१. सत्संग
२. रामकथा का कीर्तन	द्वितीय	२. रामकथा-प्रसंग में रति
३. राम के गुणों की चर्चा	चतुर्थ	३. अभिमानरहित होकर गुरु-पद-सेवा
४. रामवचनों (गीतादि) का व्याख्यान	×	४. निष्कपट होकर रामगुणगान
५. आचार्य को भगवान् समझकर उनकी अमायिक उपासना	तृतीय	५. दृढ़विश्वासपूर्वक राममंत्र-जाप
६. पुण्यशीलत्व, यमादि, नियमादि, नित्य राम-पूजन-निष्ठा	षष्ठ	६. दम, शील, बहुकर्म-विरति, निरंतर सज्जनधर्मनिरतता

७. राममंत्र की सांगोपासना	पंचम	७. जगत् को राममय देखना और संत को राम से अधिक मानना
८. रामभक्त की राम से अधिक पूजा, सर्वभूतों में रामभावना, बाह्य पदार्थों के प्रति वैराग्य, शमादि-संपन्नता	सप्तम	८. यथालाभ संतोष, दूसरे के दोष को न देखना
९. रामतत्त्वविचार, रामतत्त्वानुभव	×	९. सरलता, सबसे छलहीनता, राम-भरोसा, हृदय का हर्षदैन्यराहित्य

तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य-वैषम्य दिखायी देता है। दोनों के उपक्रम और उपसंहार समान हैं। दोनों ने ही भक्ति की भूमिका में पहले शबरी के मुख से उसके दैन्य का निवेदन कराया है[1] और तत्पश्चात् राम के द्वारा भक्तिविषयक उपदेश की योजना की है। दोनों ने भक्ति के अधिकारी की चर्चा की है।[2] दोनों ने व्यतिरेक के द्वारा भक्ति की महिमा का गान किया है।[3] दोनों के ही राम अपने कथन के आरंभ और अंत में शबरी को 'भामिनि' शब्द से संबोधित करते हैं।[4] नवधा भक्ति के प्रतिपादन में दोनों ने ही सत्संगति को प्रथम स्थान दिया है क्योंकि संतों के प्रति अतिशय गौरवभाव भक्तों का चिराचरित धर्म है। दूसरी ओर, 'अध्यात्मरामायण' की चौथी और नवीं भक्तियों अर्थात् 'रामवचनों का व्याख्यान' तथा 'राम-तत्त्वविचार' का तुलसी ने उल्लेख नहीं किया। श्रोता के अधिकार की दृष्टि से यह उपेक्षा मनो-वैज्ञानिक है। शबरी-जैसी भीलनी को शास्त्रार्थ-मीमांसा एवं तत्त्वविचार का उपदेश देना असंगत है। बोद्धव्य की पात्रता का विचार करके ही तुलसी ने उक्त दोनों विधाओं की उपेक्षा की। तुलसी की अंतिम दो भक्तियाँ 'अध्यात्मरामायण' की भक्तियों के अतिरिक्त हैं। भगवद्रति की स्थिरता, लौकिक कामवासना के नाश तथा चित्त की शांति के लिए यथालाभसंतोष एवं परदोष को न देखना भी आवश्यक हैं।

तुलसी ने 'अध्यात्मरामायण' की नौ भक्तियों में से सात को स्वीकार किया है—पहली ज्यों-की-त्यों, किंतु शेष छः कुछ हेर-फेर के साथ। 'अध्यात्मरामायण की' दूसरी भक्ति-'कथा-लाप' के बदले 'कथाप्रसंग' में 'रति' कहा। इसमें दो विशेषताएँ हैं। 'आलाप' कीर्तन का व्यंजक था किंतु 'प्रसंग' में श्रवण का प्राधान्य है। 'रति' का व्यवहार भक्तिभाव के प्रादुर्भाव का सूचक है। मायिक मन से की गयी राम की गुणचर्चा निष्फल है। अतएव तुलसी ने उसके लिए निष्कपट भाव आवश्यक बतलाया। अध्यात्मरामायणकार ने आचार्य को भगवान् मानकर अमायिक उपासना का आदेश किया था। तुलसीदास ने प्रस्तुत प्रसंग में गुरु को भगवत्पद नहीं दिया, क्योंकि वह भगवान् से अधिक है।[5] गुरुसेवा के लिए शिष्य में निरभिमानता अनिवार्य है—अभि-मान भगवान् को अच्छा नहीं लगता।[6] यक्ष प्रजापति, नारद, रावण आदि इसके ज्वलंत प्रमाण

१. अ० रा० ३।१०।१७-१८; रा० ३।३५।१-२
२. अ० रा० ३।१०।२०, २८; रा० ३।३६।३-४
३. अ० रा० ३।१०।२१; रा० ३।३५।३
४. अ० रा० ३।१०।२२, २७; रा० ३।३५।२, ३।३६।४
५. रा० २।१२९।४
६. बेद-पुरान कहैं, जग जान, गुमान गोबिंदहि भावत नाहीं। —कवि० ७।१३२

हैं। 'अध्यात्मरामायण' की छठी भक्ति में नित्य रामपूजन-निष्ठा को महत्त्व दिया गया था। 'पूजन' से पुराणकार का अभिप्राय 'विधिवत् पूजन' से है। तुलसी ने षोडशोपचारपूजन का कथन अनपेक्षित समझा। एक तो कलियुग के धर्म की दृष्टि से तुलसी ने पूजाविधि का आग्रह करना अनुचित समझा (वह तो द्वापर के अनुकूल भवतरण का उपाय था)[1]; दूसरे, शबरी के प्रति शास्त्र-विहित चर्चा का उपदेश पात्र के अननुकूल था। उसके स्थान पर तुलसी ने निरंतर सज्जनधर्म के पालन पर बल दिया जो शील का रूप है। यहाँ पर 'सज्जनधर्म' सामान्यधर्म या मानवधर्म का ज्ञापक है। उन्होंने इस छठी भक्ति के अंतर्गत बहुकर्म से विरत होने का भी उपदेश किया, क्योंकि आचाराडंबर भक्ति-साधना में बाधा पहुँचाने लगता है। भक्ति के साधनभूत विहित कर्मों की अपेक्षा तभी तक है जब तक भक्तिभाव का उदय न हो।[2] ईश्वर में परमप्रेम हो जाने पर काम्य कर्मों के प्रति वैराग्य हो जाता है। उपासना-पद्धति का जगड्वाल तुलसी को पसंद नहीं है। वह युग की परिस्थिति के सर्वथा अनुपयुक्त है। आडंबर की अपेक्षा भावका स्थान बहुत ऊँचा है। अतएव राममंत्रोपासना में तुलसी ने सांगता के बदले दृढ़ विश्वास पर बल दिया।

तुलसी की भक्तियों का क्रम 'अध्यात्मरामायण' के क्रम से भिन्न है। 'अध्यात्मरामायण' का क्रम उतना व्यवस्थित नहीं है। उसकी दूसरी और तीसरी भक्तियाँ वस्तुतः एक ही हैं। राम-वचनों के व्याख्यान का ज्ञान बिना आचार्योपासना के नहीं हो सकता, अतः पाँचवीं का उप-स्थापन चौथी के पूर्व होना चाहिए था, आदि। तुलसी की नवों भक्तियों में एक निश्चित क्रम है। सत्संग से राम-कथा में अनुराग उत्पन्न होता है। अनुरागी साधक जिज्ञासा-तृप्ति के लिए गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। गुरु के उपदेश से वह राम का गुणगान और मंत्रजाप करता है। तत्पश्चात् काम्य कर्मों के प्रति वैराग्य तथा जगत् के विषय में भगवद्भाव का प्रादुर्भाव होता है। भगवद्भाव और भगवद्भक्ति से संतोष की प्राप्ति होती है। संतुष्ट (निष्काम) भक्त राम के भरोसे हर्ष-विषाद-रहित होकर सरल-निश्छल-भाव से विचरण करता है। इस प्रकार पहली से चौथी तक बाह्य साधना, तथा पाँचवीं से नवीं तक आभ्यंतर साधना का क्रमबद्ध व्यव-स्थित निरूपण है। तुलसी की नवधा भक्ति के इस क्रम को देखकर यह व्यामोह नहीं होना चाहिए कि परवर्ती भक्ति के कारणरूप में पूर्ववर्ती भक्ति या भक्तियाँ अनिवार्य है। 'अध्यात्मरामायण' के कर्ता को उनके क्रम की आवश्यकता (आंशिक रूप में ही सही) अभीष्ट है।[3] तुलसी के मत से (इन भक्तियों में क्रम होने पर भी) नवों में से प्रत्येक भक्ति योगिदुर्लभ गति देने में समर्थ है। यथार्थ यह है कि रामकृपा से किसी एक का भी उदय होने पर अन्य सभी भक्तियाँ अपने-आप आ जाती हैं। जब तुलसी नौ में से एक के भी होने की बात कहते हैं तब उनका आशय उस विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति के प्राधान्य से ही होता है। **अध्यात्मरामायणकार** ने नवधा भक्ति को प्रेमलक्षणा भक्ति का साधनमात्र माना था। तुलसी के मत से हम इन्हें भक्ति के साधन भी मान सकते हैं और भक्ति की अभिव्यक्तियाँ भी। यह बात उनमें से प्रत्येक को स्वतंत्र मानने से स्वयंसिद्ध है। अधिकारि-क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि भी तुलसीदास के विचार अधिक उदार हैं। **अध्यात्मरामायणकर्ता** ने नर-नारियों के अतिरिक्त तिर्यग्योनि वालों के लिए ही भक्ति की

१. रा० ७।१०३।२
२. भा० पु० ३।२९।२५
३. प्रथमं साधनं यस्य भवेत् तस्य क्रमेण तु।
भवेत् सर्वं ततो भक्तिर्मुक्तिरेव सुनिश्चितम्॥ —अ० रा० ३।१०।३०-३१

व्यवस्था की थी, तुलसी ने सचराचर के लिए।

१. पहला साधन **सत्संग** है। उसकी विवेचना 'कृपासाधन' के प्रकरण में की जा चुकी है। "सत्संग के संबंध में गोस्वामीजी ने दो बातें बड़े मार्के की कही हैं। एक तो यह कि वह 'मनलाई'[1] किया जाए और दूसरी यह कि वह 'बहुकाल'[2] तक किया जाए। यदि मन लगाकर बहुत समय तक सत्संग किया जाए तो उसका असर होना और हमें लाभ पहुँचना अवश्यंभावी है।...वे विरले ही भाग्यवान् हैं जो स्वल्प सत्संग से ही कृतकृत्यता प्राप्त कर लेते हैं। सामान्य जीवों के लिए तो यही उचित है कि वे सत्संग करते जाएँ।"[3] तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रस्तुत संदर्भ में तुलसी ने सत्संग आदि को भक्ति-साधन न कहकर स्वतंत्र भक्ति ही कहा है। यह उन्हें गौरव देने के लिए है। कारण के परिपक्व होने पर कार्य का घटित होना अनिवार्य है। अतः सत्संग की परिणति भगवद्भक्ति में अनिवार्य रूप से होगी। चौथी प्रेक्ष्य बात यह है कि सत्संग को तुलसी ने भक्ति-साधनों के निरूपण में अत्र-तत्र-सर्वत्र ही प्रमुख स्थान दिया है।[4]

२. दूसरा साधन **रामकथा में रति** है। यहाँ पर 'रति' शब्द दो अर्थों का व्यंजक है। एक अर्थ है—श्रद्धा। 'मानस' के मंगलाचरण में, ज्ञानसाधन के प्रसंग में और संतों (भक्तों) के लक्षण बतलाते समय तुलसी ने उसे यथेष्ट गौरव दिया है। दूसरा अर्थ है—राम के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम का श्रवण। इसकी मीमांसा पिछले प्रकरण में हो चुकी है। यह साधन कीर्तन का भी द्योतक हो सकता है, परंतु वह चौथी भक्ति के रूप में अलग से ही अभिहित है।

३. तीसरा साधन **गुरुसेवा** है। गुरु की साधनता और उसकी महिमा का निरूपण हम 'कृपासाधन' के अंतर्गत कर चुके हैं। प्रस्तुत योजना में तीसरे स्थान पर गुरु का नामोल्लेख सार्थक है। सत्संग के फलस्वरूप विषयविराग और रामकथानुराग होने पर व्यक्ति गुरु की शरण में जाकर वैष्णव-धर्म की दीक्षा और राममंत्र ग्रहण करता है।

४. चौथा साधन है **कपट त्यागकर राम का गुणगान करना**। गुणगान भी राम के नाम, रूप, गुण, लीला तथा धाम का गान है। इसी को 'भागवत' की नवधा भक्ति में 'कीर्तन' कहा गया है जिसकी विवेचना उस संदर्भ में की जा चुकी है। तुलसी ने निष्कपट भाव पर विशेष बल दिया है। तुलसी की दृष्टि उन कलियुगी भक्तों पर है जिन्होंने जनता को ठगने के लिए ही भक्त का बाना धारण कर रखा था। जब तक निश्छल मन से भजन नहीं किया जाएगा तब तक राम द्रवीभूत नहीं हो सकते।

५. **वेद-विहित राममंत्र का दृढ़विश्वासपूर्वक जप** पाँचवाँ साधन है। 'बेद' से तुलसी का तात्पर्य उपनिषद्, पुराण आदि आप्त ग्रंथों से है जिनमें राममंत्र का निरूपण किया गया है।[5] इस विशेषण-युक्त कथन का प्रयोजन तत्कालीन तांत्रिकों आदि के भूतप्रेतादिविषयक मंत्रजप का व्यावर्तन है। भूत-गण का भजन तुलसी की दृष्टि में विगर्हणीय है।[6] तुलसी का भक्तिपथ श्रुति-

१. रा० १।३९।४
२. रा० ७।६१।२
३. तुलसी-दर्शन, पृ० ३२४
४. रा० ३।१६।२, ७।४५।३, ७।४६।४, वि० १२६।२, १३६।१०, २०५।२, कवि० ७।२६
५. रा० पू० ता० उ०, उपनिषद् १-४; रा० उ० ता० उ०, खण्ड २-५; रा० र० उ०, अ० २-५; अ० रा० ६।१५।६२; वै० म० भा० गु० १०-५३
६. जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूत गन घोर।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥ —रा० २।१६७

संमत है, अतः भक्ति के मंत्रजप आदि साधन भी श्रुतिसंमत हैं। 'मम' की ध्वनि यह है कि अन्य देवी-देवताओं के मंत्रजप से विरत होकर राममंत्र का ही जप करना चाहिए। भूतप्रेतादिकों के मंत्र तो दुःखनिवृत्ति करने में असमर्थ ही नहीं कष्टवर्धक भी हैं।[१]

जो अनुसंधानपूर्वक (अर्थ को समझकर) ज्पे जाने पर जापक का त्राण करता है वह 'मन्त्र' है—**मननात् त्राणनात् मन्त्रः**।[२] जापक को भवसागर से तारने के कारण वह 'तारक' कहलाता है। प्राचीन मनीषियों ने महामंत्रों की संख्या सात करोड़ बतलायी है जिनमें राममंत्र सर्वोपरि है, अन्य मंत्रों की आत्मा है।[३] 'रामोत्तरतापिन्युपनिषद्' में रामषडक्षर तारकमंत्र की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए[४] याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को सैंतालीस राममंत्र बतलाये हैं जिनसे प्रसन्न होकर राम दर्शन देते हैं।[५] 'रामरहस्योपनिषद्' में एकाक्षर से लेकर एकत्रिंशद्वर्णिक राममंत्रों का सांग वर्णन[६] करके रामषडक्षरमंत्र का मंत्रराजत्व[७] प्रतिपादित किया गया है। रामानंद ने तीन प्रकार के राममंत्रों की व्यवस्था की है—रामषडक्षरमंत्र, रामद्वयमंत्र और रामचरममंत्र। उन्होंने इन मंत्रों के पदार्थ, वाक्यार्थ, तात्पर्यार्थ, अनुसंधानार्थ, प्रधानार्थ और स्पष्टार्थ का सूक्ष्मेक्षिका से विवेचन किया है।[८] तुलसी की दृष्टि में राममंत्र की आराधना-विधि एवं तदंगभूत होमादि का आनुष्ठानिक जंजाल आवश्यक नहीं है। उन्होंने मंत्र की सरलता और हृदय की सच्चाई पर ही ध्यान दिया है। नाना प्रकार के मंत्रों का आटोप भी उन्हें पसंद नहीं है। उन्होंने राम के मुख से ही नहीं, वाल्मीकि के द्वारा[९] और स्वयं[१०] भी मंत्रजाप की साधनता का व्यवस्थापन किया है। इन स्थानों पर उन्होंने क्रमशः 'मंत्रजाप', 'मंत्रराज', और 'महामंत्र' तथा 'बीजमंत्र'[११] का व्यवहार किया है। इन चारों ही शब्दों का प्रतिपाद्य राम-नाम है। वही मंत्र है। 'रामतापिन्युपनिषद्', 'वैष्णवमताब्जभास्कर' आदि में प्रशंसित तारक षडक्षर मंत्र एवं 'अध्यात्म-रामायण', 'रामचरितमानस' आदि में निरूपित द्व्यक्षर या त्र्यक्षर राममंत्र में पंडितों ने दो प्रकार से समन्वय स्थापित किया है। एक तो यह कि षडक्षर राममंत्र के बीज तथा 'राम' नाम में अभेद है। दूसरे यह कि षडक्षर मंत्र का मूलतत्त्व ही 'राम'-नाम है। राम का नाम ही मंत्र

१. औषध अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किए,
बादि भए देवता, मनाए अधिकाति है। —हनु० ३०
२. रा० पू० ता० उ० १।१२
३. महारामायण, ५२।३९; दे०—मा० पी० १।१९।३
४. रा० उ० ता० उ०, खण्ड २, ५
५. रा० उ० ता० उ०, खण्ड ४
६. रा० र० उ० २।१-८०
७. रा० र० उ० ५।१-२
८. क. रामषडक्षरमन्त्र—रां रामाय नमः।
ख. रामद्वयमन्त्र—श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये। श्रीमते रामचन्द्राय नमः।
ग. रामचरममन्त्र—सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ —दे०—वै० म० भा० गु० १०-५३
९. मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। —रा० २।१२९।३
१०. महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥ —रा० १।१९।२
बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस। —वि० १०८।२
११. 'बीजमंत्र' (वि० १०८।२) का पाठांतर 'महामंत्र' भी है।

तारकमंत्र या महामंत्र है।[1] जब तुलसीदास मंत्रजाप की बात कहते हैं अथवा जब वे नाम-जप की साधनता का प्रतिपादन करते हैं, तब उनका एक ही आशय रहता है—'राम'-नाम का जप। **'राम'** की निरुक्ति अनेक प्रकार से की गयी है—

१. जिस परब्रह्म में योगियों का मन रमण करता है वह 'राम' है।[2]

२. जो सौंदर्य, माधुर्य, लावण्य आदि गुणों से युक्त होकर विश्व में रमण करता है वह 'राम' है।[3]

३. अखिलं राति महीस्थितः अथवा राजते यो महीस्थितः।[4]

४. राक्षसा येन मरणं यान्ति अथवा राक्षसान् मर्त्यसंरूपेण (राहुर्मनसिजं यथा) प्रभाहीनान् करोति स 'रामः'।[5]

५. श्रियो रमणसामर्थ्यात् सौंदर्यगुण गौरवात् अथवा रमया नित्यायुक्तत्वात् अथवा श्रियो मनोरमो योऽसौ स रामः।[6]

६. 'राम' शब्द तीन अक्षरों के संयोग से बना है—रकार, अकार और मकार। **'हेतु कृसानु भानु हिमकर को'** कहकर तुलसी ने 'महारामायण' में प्रतिपादित अर्थ के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। रकार अग्नि का बीज है जो समस्त मनोमलों और शुभाशुभ कर्मों को भस्म कर देता है। अकार सूर्य का बीज है जो अखिल वेदशास्त्र का प्रकाशक एवं अविद्या का नाशक है। मकार चंद्रमा का बीज है जो त्रितापहारी तथा शांतिदायक है। 'राम'-नाम ब्रह्मा, विष्णु, महेश का भी कारण है। त्रिदेव उसके अंशमात्र हैं। वह वेद का प्राण है। पंडितों ने असाधारण बौद्धिक व्यायाम करके पाणिनीय सूत्रों की सहायता से 'राम' से 'ओम्' की सिद्धि बतलायी है।[7] नामी से अभिन्न होने के कारण[8] 'राम'-नाम प्राकृत हेय गुणों से रहित एवं भक्तवत्सलता, करुणा, कृपालुता, शरणागतपालन आदि अनुपम दिव्य गुणों से युक्त है।

१. महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥ —रा० १।१९।२
अहं भवन्नाम गृणन्कृतार्थो
वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं
दिशामि मन्त्रं तव राम नाम॥ —अ० रा० ६।१५।६२
उपदिशाम्यहं काश्यां तेऽन्तकाले नृणां श्रुतौ।
रामेति तारकं मन्त्रं तमेव विद्धि पार्वति॥ —आ० रा०, यात्राकाण्ड, २।१५-१६
जपस्व तन्महामन्त्रं रामनाम रसायनम्। —शुकपुराण
एक एव परो मन्त्रः श्रीरामेत्येक्षरद्वयम्॥ —सारस्वततन्त्र
दे०—मा० पी० १।१९।३
२. रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥ —रा० पू० ता० उ० १।६
३. रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः। —रा० पू० ता० उ० १।३
४. रा० पू० ता० उ० १।१
५. रा० पू० ता० उ० १।२-४
६. वृद्धहारीतस्मृति, ६।२४८, २४९, २५२
७. दे०—मा० पी० और सि० ति० १।१९।१-२
८. रा० १।२१।१

ग्राह्य राम-नाम और अग्राह्य 'जंत्र मंत्र' के अतिरिक्त तुलसीदास ने दो अन्य मंत्रों की चर्चा की है—शाबरमंत्र और द्वादशाक्षरमंत्र। शिव-रचित शाबरमंत्र का उल्लेख उन्होंने अपनी समन्वयभावना के कारण आदर के साथ तो किया[1] परंतु उसके जप का उपदेश नहीं दिया। उसके स्रष्टा शिव भी रामनाम के जापक[2] और उपदेशक[3] के रूप में अंकित किये गये हैं। द्वादशाक्षरमंत्र का जप मनु-शतरूपा ने कवि के आराध्य राम के दर्शनार्थ किया है।[4] नामजप या मंत्रजाप का उपदेश करते हुए तुलसी ने इस मंत्र का भी कहीं उल्लेख नहीं किया। राम-मंत्र के जाप में प्रयत्न-लाघव है। अन्य मंत्रों की भाँति उच्चारण की दुस्साध्यता न होने से उसकी साधना बड़ी सरल है। बाह्याचारपरक अनुष्ठानविधि का कष्टकारक प्रयास नहीं है। तुलसी ने मंत्रजप की औपचारिक या गुह्य साधना का आडंबर न खड़ा करके उसके मानसिक पक्ष पर ही बल दिया है। 'विनयपत्रिका' का निम्नांकित पद उसके इसी स्वरूप की स्थापना करता है—

बीर महा अवराधिये, साधे सिधि होय।
सकल काम पूरन करै, जानै सब कोय॥
बेगि बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस।
बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस॥
प्रेम-बारि-तरपन भलो, घृत सहज सनेहु।
संसय-समिध, अगिनि छमा, ममता-बलि देहु॥
अघ-उचाटि, मन बस करै, मारै मदमार।
आकरषै सुख-संपदा-संतोष-बिचार॥
जिन्ह यहि भाँति भजन कियो, मिले रघुपति ताहि।
तुलसिदास प्रभु पथ चढ़्यो, जौ लेहु निबाहि॥[5]

उपर्युक्त पद में जपयज्ञ का निरूपण किया गया है। 'गीता' में भगवान् ने जपयज्ञ को यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ माना है।[6] यज्ञ के उपरांत तर्पण करने की विधि है। तुलसी ने यहाँ पर तर्पण की जो मानसिक विधि बतलायी है वह आभ्यंतर शुद्धि और हरिप्राप्ति का आवश्यक साधन है।[7] इसमें

१. कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू॥ —रा० १।१५।३;
—दे०—मा० पी० १।१५।५-६

२. रा० १।१०।१, १।१९।२, १।१०८।४, ४।१। श्लोक २

३. कवि० ७।७४, ब० रा० ५३, रा० ५।२०।२

४. द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥ —रा० १।१४३
द्वादशाक्षर मंत्र के प्रकार के विषय में कई मत हैं—
क. ॐ श्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा। —
ख. ॐ नमो भगवते रामचन्द्राय। } रा० र० उ० २।५१-५४
ग. ॐ नमो भगवते रामभद्राय। —
घ. ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। —दे०—मा० पी० १।१४३

५. वि० १०८

६. गीता, १०।२५

७. दे०—वि० २०३

सांप्रदायिक आचारनिष्ठा, मंत्रदीक्षा पंचसंस्कारविधि[१] आदि के विधिविधान की कोई शास्त्रीय या रूढ़िगत जटिल व्यवस्था नहीं है। अतएव यह अधिकाधिक उपासकों के लिए ग्राह्य है। प्रवृत्ति-मार्गी और निवृत्तिमार्गी, निर्गुणोपासक, साधनसंपन्न और साधनविहीन, सभी इसे अपना सकते हैं।

नामभक्ति—

मंत्रजप का नामभक्ति से घनिष्ठ संबंध है। अतएव इस प्रकरण में नामभक्ति पर भी थोड़ा विस्तारपूर्वक विचार कर लेना चाहिए। पहले कहा जा चुका है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि का तात्पर्य है भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला तथा धाम का श्रवण आदि। भक्ति के उक्त रूपों में नामभक्ति का भी अंतर्भाव है; तथापि, तुलसीदास की दृष्टि में राम-नाम की महिमा एवं नामभजन के गौरव का पद विशेषरूप से ऊँचा है। अतएव नामभक्ति का स्वतंत्र विवेचन भी अपेक्षित है।

ब्रह्मांभोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छंभुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥[२]

भक्तों ने भगवान् की नाम-भक्ति को विशेष गौरव दिया है। तुलसीदास की समस्त कृतियों का एक प्रधान प्रतिपाद्य रामनाम-महिमा भी है। 'रामचरितमानस' की प्रस्तावना और 'कविता-वली' तथा 'विनयपत्रिका' के अनेक पद्यों में उसका विशेष रूप से निरूपण किया गया है।[३] नाम की महिमा अगम है; वह इतनी अपरंपार है कि राम भी उसका गुणगान नहीं कर सकते।[४] यद्यपि वेदादि में ईश्वर के अनेक नामों का निरूपण किया गया है तथापि 'राम' ही उन सबमें महत्तम है।[५] तुलसी ने नाम की श्रेष्ठता के अनेक कारणों का निरूपण किया है। आप्त ग्रंथों में रामनाममहिमा का प्रतिपादन किया गया है।[६] यह बात अनुभव-सिद्ध भी है। अनुभव दो प्रकार का है—परानुभव और स्वानुभव। पहली श्रेणी में शिव से लेकर यवन तक अनगिनत मुक्तजनों की गणना की गयी है। शिव का जाप्य रामनाम ही है।[७] रामनाम के बल से ही वे जीवों को शुभगति प्रदान करते हैं।[८] नाम के प्रभाव से ही कालकूट उनके लिए अमृत हो गया था।[९] उसकी

१. वृद्धहारीतस्मृति (६।२५५-६४) आदि में प्रतिपादित
२. रा० ४।१।श्लोक २
३. रा० १।१६।१-१।२८।१, कवि० ७।७३-६३, वि० ६८-७०, १२६-३०, २५४-५५
४. ताकी महिमा क्यों कही है जाति अगमैं। —कवि० ७।७६,
रामु न सकहिं नाम गुन गाई। —रा० १।२६।४
५. जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। स्रुति कह अधिक एकतें एका।
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघखगगनबधिका॥
राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम॥ —रा० ३।४२ क
६. वि० ६७।४, २५५।३, रा० १।४६।१ (राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा।)
७. संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ज्ञान गुन रासी॥ —रा० १।४६।२
८. रा० १।११६।१, ४।१०।२ (जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी।)
९. नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥ —रा० १।१६।४

महिमा को भवानी भी जानती हैं जो रामनाम को 'विष्णुसहस्रनाम' के समान मानकर शिव द्वारा समादृत हुई थीं।[1] गणेश भी जानते हैं जो नाम के प्रभाव से आज भी प्रत्येक कार्यारंभ में सर्वप्रथम पूजित होते हैं।[2] वाल्मीकि, हनुमान्, सनकादि, नारद, प्रह्लाद, ध्रुव, द्रौपदी, अजामिल, पिंगला, गज आदि के अनुभव भी नाम का महनीय प्रताप प्रमाणित करते हैं।[3] वस्तुतः उनका यह कथित 'अनुभव' आप्तग्रंथों की ही कल्पना है। तुलसी का अपना अनुभव भी यही है। उन्होंने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है—

क. हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो ॥[4]

ख. तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम, न तु भेंट पितरन को न मूड़ हू में बारु है ॥[5]

ग. तुलसी सो पोच न भयो है, नहिं ह्वैहै कहूँ, सोचें सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहै।
भले सुकृती के संग मोहि तुलाँ तौलिये तौ नाम कें प्रसाद भारु मेरी ओर नमिहै ॥[6]

घ. पतितपावन रामनाम सो न दूसरो। सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो ॥[7]

राम का नाम नामी राम से भी महत्तर है।[8] सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि से नाम और नामी दोनों एक सदृश हैं तथापि गुण-भेद से दोनों में कुछ अंतर है।[9] भक्तों ने आराध्य ब्रह्म के दो रूप माने हैं—निर्गुण और सगुण। तुलसीदास का अभिमत है कि नाम दोनों से श्रेष्ठ है—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥
मोरे मत बड़ नामु दुहूँ ते। किए जेहि जुग निज बस निज बूते ॥[10]

योगसमाधिस्थ निर्गुणभक्त साधक नामजप द्वारा रहस्यज्ञानी होकर ब्रह्मसुख का अनुभव करता है—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥
जानी चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहि तेऊ ॥
साधक नामु जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥[11]

१. सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपि जेईं पिअ संग भवानी ॥ —रा० १।१९।३-४
तु० दे०—प० पु० ६।२५४।२२

२. महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ ॥ —रा० १।१९।२

३. रा० १।१९।३, १।२६।१-४;
'राम' बिहाय 'मरा' जपते बिगरी सुधरी कबिकोकिल हू की।
नामहि तें गज की, गनिका की, अजामिल की चलि गै चलचूकी ॥
नामप्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही पति पांडुबधू की।
ताको भलो अजहूं तुलसी जेहि प्रीति-प्रतीति है आखर दू की ॥ —कवि० ७।८९

४. कवि० ७।६०

५. कवि० ७।६७

६. कवि० ७।७१

७. वि० ६९।५

८. राम तें अधिक नाम-करतब जेहि किये नगर-गत गामो। —वि० २२८।५

९. समुझत सरिस नाम अरु नामी।...सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू। —रा० १।२१।१, २

१०. रा० १।२३।१

११. रा० १।२२।१-२

हृदयस्थित निर्गुण ब्रह्म, अगम होने पर भी, नामनिरूपण के द्वारा सुगम हो जाता है; अतएव नाम का प्रभाव 'निर्गुण' से बड़ा है—

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी।।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।।
निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।[1]

सगुण राम से नाम का बड़प्पन सिद्ध करने के लिए तुलसी ने दो तर्क दिये हैं। पहला तर्क अन्वय-व्यतिरेकी है जो नाम और रूप के तुलनात्मक मूल्यांकन के प्रसंग में प्रस्तुत किया गया है। यह लौकिक अनुभव है कि रूप नाम के अधीन है। नामज्ञान के अभाव में करतलगत रूप भी पहचाना नहीं जा सकता और दूसरी ओर नामोच्चारण से अनदेखा रूप भी प्रकट हो जाता है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतलगत न परहिं पहिचानें।।
सुमिरिअ नामु रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें।।[2]

दूसरे तर्क की रचना नाम और सगुण राम की लोकमंगल-संबंधी उपलब्धियों के आधार पर की गयी है। राम की अपेक्षा नाम की देन कहीं अधिक महनीय है। निम्नांकित तुलासारणी[3] से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

राम	नाम
१. नरशरीर धारण करके संकट सहकर सज्जनों को सुख पहुँचाया।	१. अनायास ही, जपमात्र से, भक्तों को मुद-मंगल प्रदान करता है।
२. एक अहल्या को तारा।	२. कोटि खलों का सुधार किया।
३. ऋषि के लिए निशिचरों का नाश किया।	३. दासों के निशिरूप दोषों, दुःखों एवं दुराशाओं का दलन करता है।
४. केवल शंकर का धनुष तोड़ा।	४. भव-भय का भंजन करता है।
५. केवल दंडकवन की शोभा बढ़ायी।	५. अनगिनत जन-मन को पावन किया।
६. केवल निशाचर-समूह का ही दलन किया।	६. समस्त काल-कलुष का नाशक है।
७. शबरी, जटायु आदि कुछ ही सुसेवकों को सुगति दी।	७. असंख्य खलों का उद्धार किया।
८. सुग्रीव-विभीषण को ही शरण दी।	८. अनेक गरीबों पर कृपा की।
९. बानर-भालुओं की इतनी बड़ी सेना बटोर कर बहुत आयास किया तो एक नन्हा-सा पुल बाँधा।	९. उच्चारण मात्र से भवसागर को सुखा देता है।
१०. केवल सपरिवार रावण को मारकर	१०. नामस्मरणमात्र से ही सेवक अनायास ही

१. रा० १।२३।३-दोहा
२. रा० १।२१।२-३
३. रा० (१।२४।१-१।२५।४) के आधार पर

सीता-सहित अपने नगर में लौट आये और राजा होकर राजधानी में ही रहे। प्रबल मोहदल को जीतकर सुखपूर्वक निःसंकोच भाव से सर्वत्र विचरण करता है।

इस प्रकार राम-नाम ब्रह्म राम से भी बड़ा है। वह वरदायकों का भी वरदाता है। इसीलिए महेश ने भी उसका वरण किया है।[1] ईश्वर के सगुण-रूप मे जिसकी रुचि नही है, उसमे जिसे आनंद नहीं आता और निर्गुण-रूप का चिंतन जिसके मन के लिए संभव नहीं है, उसके लिए राम का नामस्मरण ही श्रेयस्कर है—

सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि॥[2]

नाम-भजन की एक लोकप्रिय विशेषता यह भी है कि वह निर्गुणपंथी संतों और सगुणोपासक भक्तों को समान रूप से मान्य है। हठयोग की साधना का अवलंबन करने वाले निर्गुणमार्गी साधक घट के भीतर ही निराकार ब्रह्म के अंतर्दर्शन पर बल देते हैं और सगुणमार्गी भक्त भगवान् के चक्षुर्ग्राह्य साकार रूप की उपासना पर। दोनों के समन्वित अभिप्राय को लेकर तुलसी ने कहा है—

हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥[3]

नाम निर्गुण और सगुण दोनों का प्रबोधक है।[4] अतएव समन्वयवादी तुलसी का उपदेश है—

रामनाम मनिदीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥[5]

राम का नाम पावनता, ज्ञान और शांति का हेतु है, विधिहरिहरमय है; वेद का प्राण है; ब्रह्मसुखानुभव, और अणिमादिक सिद्धियों द्वारा लौकिक सुखों का साधन है।[6] अघादिनाशक, मोक्षप्रद और भवतारक है।[7] राम ही नहीं उनके भक्तों का नाम भी सकल मनोरथों की सिद्धि करता है।[8] रामनाम से लोकलाभ भी होता है और परलोक में भी निर्वाह हो जाता है; 'स्वारथ' और 'परमारथ' के द्वारा तुलसी इसी ऐहिक और आमुष्मिक सिद्धि पर बल देते हैं।[9] अभ्युदय और निःश्रेयस के सभी उपाय (विविध प्रकार के धर्म, वैराग्य, योग, ज्ञान और भक्ति) नाम के अधीन हैं। जिसने रामनामामृत का पान कर लिया, उसे सभी फलों की प्राप्ति हो गयी। नाम-प्रेम पुरुषार्थचतुष्टय का भी फल है; सकल पुण्यों का आधार है; सबके लिए सर्वदा सुलभ और

१. रा० १।२५, दो० ३१
२. दो० ८
३. दो० ७
४. अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।
उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥ —रा० १।२१।४
५. रा० १।२१, दो० ६
६. रा० १।१९।१, १।२२।१-३
७. रा० १।११९।२, ब० रा० ५८; रा० ३।२०क, दो० १४; रा० ४।२९।२, ५।२०।२
८. हनु० ९, १४
९. रा० १।२०।१; वि० ७०।५, दो० १५, कवि० ७।८५

सुखद है।[1] नाम की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करते हुए तुलसी ने कहा है कि नाम के बिना मोक्ष के अन्य सब साधन व्यर्थ हैं। अंकगणित के आधार पर रूपक-विधान द्वारा उन्होंने इस मन्तव्य की सुंदर व्यंजना की है—

राम नाम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून॥[2]

रामनाम भक्ति का भी आश्रय है।[3] युगधर्म की आवश्यकताओं की दृष्टि से इस कलियुग में राम-नाम का विशेष महत्त्व है। कलियुग में नाम से वही गति मिलती है जो अन्य युगों में योग आदि से—

क. ध्यान प्रथम जुग मख बिधि दूजे। द्वापर परितोषत प्रभु पूजे।
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
नाम काम तरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला।
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
नहिं कलि करम न भगतिबिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥[4]

ख. कृत जुग त्रेताँ द्वापर हुँ पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरिनाम ते पावहिं लोग॥[5]

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कलियुगेतर युगों में नाम का तिरस्कार किया जाता था। चारों ही युगों में नाम का प्रभाव रहा है, किंतु कलियुग में अन्य मोक्षोपायों की मोघता के कारण उसका विशेष गौरव है।[6]

तुलसी ने दैन्यपूर्वक जो बात अपने विषय में कही है, वह दूसरों के विषय में भी समान रूप से चरितार्थ होती है। मन क्रोधादि का आयतन है, चित्त वासनाओं से संकुल है। ऐसी दशा में ज्ञानमार्ग का अवलंबन दुष्कर है। धर्म-ग्लानि के युग में वेद-बोधित कर्मों के पालन की संभावना नहीं। हठयोग, प्राण-बलि आदि के द्वारा सिद्धों, देवों आदि की सेवा भी कठिन है। भक्ति तो शंभु, शुकदेव आदि के लिए भी परम दुर्लभ है। ऐसी स्थिति में नाम ही विश्रामदायक है।[7] निराधार जनों का एकमात्र आधार वही है।[8] रामनाम का एक बहुत बड़ा वैशिष्ट्य और आनुपम्य तो इस बात में है कि उसको उलटा जपने से भी अविकलफलप्राप्ति होती है।[9] विभिन्न दार्शनिक और सांप्रदायिक मतमतांतरों की विवादग्रस्त स्थिति में भवसागर से पार जाने के

---

१. वि० ४६।६-८, २५५।१-३
२. दो० १०
३. रा० १।१६
४. रा० १।२७।२-४
५. रा० ७।१०२ख
६. चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥ —रा० १।२२।४
 और भी दे०—रा० १।२७।१, वि० १८४।१-३, ब० रा० ४८
७. वि० २०६।२-४, कवि० ७।८७
८. वि० ६६; रा० ६।१२०ख
९. रा० २।१९४।४, कवि० ७।८९, गी० ५।४०।३

लिए राम-नाम का अवलंबन ही श्रेयस्कर है।[1] राम-नाम की श्रेष्ठता का एक रोचक प्रमाण यह भी है कि 'र' और 'म' सभी उच्चारित वर्णों में सर्वोपरि हैं। वे अन्य वर्णों के शीर्ष पर छत्र और मुकुटमणि की भाँति सुशोभित होते हैं।[2] इतना सुंदर रूप राम-नाम के अतिरिक्त और किसी नाम को नहीं मिला। नाम की इन विशेषताओं के कारण तुलसी ने उसकी शरण ग्रहण की है।[3] जिस प्रकार जल ही मीन की गति है उसी प्रकार नाम तुलसी की।[4] वे अपने मन को और साथ ही अन्य जीवों को भी नामजप का यथासंभव उपदेश करते रहते हैं। राम से उनकी साग्रह प्रार्थना है—

नाम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु॥[5]

अन्य मोक्षमार्गों की तुलना में नामश्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए तुलसी ने जो तर्क दिये हैं उनका निष्कर्ष यह नहीं है कि अन्य उपायों की मान्यता उन्हें सर्वथा अस्वीकार्य है। कर्म, उपासना और ज्ञान वेद-विहित उपाय हैं। उनकी अपनी उपयोगिता है। परंतु परिस्थितियों के आग्रहवश तुलसी की प्रीति-प्रतीति राम-नाम में ही है। वे नाम को ही माँ-बाप तथा सर्वस्व समझते हैं। यह अनुभूति का विषय है। भक्त के विश्वास के सामने प्रश्नसूचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता। तुलसी की धारणा है कि राम-नाम में जिसकी प्रीति-प्रतीति नहीं है वह मानव होकर भी गर्दभ है; उसकी जीभ सर्पिणी है, वदन बिल के समान है।[6] नामविमुख व्यक्ति को भाव में भी अभाव दिखायी पड़ता है; अमृत भी उसके लिए विष हो जाता है।[7]

'भागवत'-प्रतिपादित नवधा भक्ति की दृष्टि से भी नामभक्ति की कुछ विशेषताएँ विचारणीय हैं। नाम के संबंध से तुलसीदास ने पादसेवन और अर्चन को छोड़कर किसी-न-किसी रूप में शेष सातों विधाओं की अभिव्यक्ति की है। जिस प्रकार संपूर्ण सगुणमार्गीय भक्ति-निरूपण में प्रथम तीन रूपों श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण को विशेष स्थान दिया गया है उसी प्रकार नाम की इन तीन भक्तियों को भी। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि **नामश्रवण** की मंगलकारिता में तुलसी का पूर्ण विश्वास है[8] तथापि उनके साहित्य में उसकी चर्चा लीला आदि के श्रवण अथवा नाम के जप आदि की अपेक्षा बहुत कम हुई है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण मानसिक है। श्रवण एक कर्माश्रयिक (पैस्सिव) प्रक्रिया है अतएव उस पर मन को केंद्रित रख पाना सरल नहीं है। दूसरा कारण शारीरिक है, श्रवण के लिए एक वक्ता की भी अपेक्षा है। यदि 'श्रवण' का लक्ष्यार्थ 'पठन' किया जाए तो भी पठनीय वस्तु की आवश्यकता बनी रहेगी। नाम-भक्ति के कीर्तन आदि अन्य रूप अपने अधीन हैं, अतएव श्रवण की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हैं।

१. वि० २५१।४
२. रा० १।२०, दो० ६
३. कवि० ७।६६, वि० १८४।५
४. वि० ६८।५ (रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को), १८२।६, दो० ३०
५. व० रा० ६८
६. ऐसे राम रामनाम सों न प्रीति, न प्रतीति मन, मेरे जान, जानिबो सोइ नर खर है। —वि० २५५।३
रसना सांपिनि बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम। —दो० ४०
७. वि० ६८। २-४
८. रा० १।२०।२, १।१६३।३, वि० २०६।४

नाम-कीर्तन दो प्रकार का है—एक बार नामकथन, और अनेक बार नामकथन। भगवान् का सकृत् उच्चरित नाम भी नर को 'तरनतारन' बना देता है, चांडाल, यवन आदि पामर भी पावन हो जाते हैं।[1] अजामिल-जैसा पापी भी अपने पुत्र नारायण का नाम लेने से भवसागर पार हो गया।[2] अनेक बार नामकथन के दो प्रकार हैं। कहीं तो आर्तिभाव प्रधान है, जैसे, दशरथ के 'राम-राम' रटने में।[3] कहीं पूजा-भाव प्रधान है। इसी को 'नामजप'[4] कहते हैं। विषयासक्त मन को मुक्त करने के लिए तुलसी ने धारावाहिक नामजप का उपदेश किया है।[5] जप के तीन रूप हो सकते हैं—

क. वाचिक (जिसमें ध्वनि उच्चरित हो),

ख. कायिक (जिसमें केवल ओठों का कंपन हो),

ग. मानसिक (जो केवल मन में हो)।

तुलसी ने इन तीनों रूपों का भेदनिरूपण नहीं किया और न तो जप-पद्धति का कोई सिद्धांत ही प्रतिपादित किया। विधि-विधान का प्रपंच खड़ा करके भक्ति को प्राविधिक और यांत्रिक बनाना उनका लक्ष्य नहीं था। वे भक्ति के सामान्यतः ग्राह्य रूप का ही पाठक के हृदय तक पहुँचाना चाहते थे।[6] इसीलए उसे कांता-संमित उपदेश के रूप में उपस्थित किया। **नामस्मरण** में नाम का श्रवण और उच्चारण न करके केवल मनसा चिंतन किया जाता है।[7] स्मरण के लिए किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं है। श्रवण तथा कीर्तन के बाद इसका वैज्ञानिक क्रम है। साधना के उच्चतर सोपान पर पहुँचा हुआ साधक ही स्मरण करने में समर्थ होता है। नाम की साकार उपासना न होने के कारण **पादसेवन** और **अर्चन** का प्रश्न ही नहीं उठता। राम की भाँति नाम का भी तुलसी ने वंदन किया है—**'बंदौं नाम राम रघुबर को'**।[8]

नाम को सखा और अपने को दास कहकर तुलसी ने नाम के प्रति **सख्य** और **दास्य** की भी अभिव्यक्ति की है।[9] नाम के प्रति **आत्मनिवेदन** (शरणागति) का उपस्थापन तो स्थान-स्थान पर किया है।[10]

६. शबरी-भक्तियोग में प्रतिपादित छठा साधन है **इन्द्रिय-दमन, बहुकर्मों से विरति और सज्जनधर्म का निरंतर पालन**। जब तक इंद्रियाँ विषयों में लिप्त हैं, तब तक भक्ति नहीं हो सकती।[11] इसलिए दमनशीलता आवश्यक है। यह भी सज्जनधर्म ही है। नाना प्रकार के नैमित्तिक

१. रा० २।१९४, २।२१७।२

२. गी० ५।४२।३

३. रा० २।१५५

४. रा० १।२७।१, वि० १८४।१, दो० ४

५. वि० ४६।१, ६५।१, ६६।१

६. पय अहार फल खाइ जपु राम राम षट मास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥ —दो० ५
इस प्रकार की पंक्तियाँ सात्विक जीवन और नाम-जप को गौरव प्रदान करने के लिए ही लिखी गयी हैं।

७. रा० २।१०१।२, वि० २०७।२, दो० ११, रा० प्र० ६।४।७, ब० रा० ६०

८. रा० १।१९।१

९. क्रमशः—वि० ६६।१, वै० सं० ४२

१०. वि० ६८।५, १५३।३, १८२।६, १८४।५, रा० प्र० ६।४।७

११. वि० ८८, ९२

कर्मों से विरत होकर लोकयात्रा के लिए आवश्यक कर्म ही करणीय हैं। 'सज्जनधर्म' में वर्णाश्रम-धर्म, भागवत-धर्म और संतलक्षण की सभी अच्छाइयाँ समाहित हैं। इस साधन में भी तुलसी ने साधना के आभ्यंतर पक्ष और सार्वजनीन मानवीय गुणों को महत्त्व दिया है।

७. **समस्त जगत् को राममय देखना** सातवाँ साधन है। यह रामोपासक का एक आवश्यक लक्षण है।[1] यह साधन साधक के चित्त को राग-द्वेष आदि से मुक्त करके उसे भक्ति के योग्य निर्मल बनाता है। समस्त जगत् अपना हो जाता है; विरोध की गुंजाइश नहीं रहती।[2] यह वैष्णव धर्म की उदार भावना है। इस दृष्टि से साधक का सारा जगद्व्यवहार ही भक्तिरूप हो जाता है। संतों को राम से बढ़कर मानना पहले साधन के अंतर्गत ही है। उसे गौरव देने के लिए ही यहाँ पर भी उसका उल्लेख कर दिया गया है।

८. आठवाँ साधन **यथालाभसंतोष और पर-दोष को न देखना** है।[3] कामनाएँ ही दुःख का कारण होती हैं। संतोष के बिना उनका नाश असंभव है।[4] जब साधक को यह ज्ञान होता है कि यह शरीर प्रारब्धवश है, सब कुछ ईश्वरेच्छा से हो रहा है तब उसका असंतोष और उसकी आशा-अभिलाषाएँ दूर हो जाती हैं। सर्वात्मभाव का उदय होने पर, सबको राममय देखने पर, उसे सर्वत्र राम का ही रूप दिखायी पड़ता है। दूसरों के दोष उसकी दृष्टि में आते ही नहीं। परदोष-दर्शन से अंतःकरण मलिन हो जाता है। उसको निर्मल रखने के लिए एवं उसकी मलिनता के अप-सारण के लिए यह साधन अपेक्षित है। पहले जो परछिद्र के दुराव की बात कही थी[5] वह संतों की मध्यम कोटि की थी। दोष पर दृष्टि का न जाना चित्त की उससे भी अधिक विकसित अवस्था है।

९. **सरलता, निश्छलता, राम का भरोसा और हर्ष-दैन्य-राहित्य** नवें साधन की विशेषताएँ हैं। निष्कपट एवं अमायिक हृदय ही राम का निवासस्थल है।[6] चित्त की राममयता के लिए तथा राम को द्रवीभूत करने के लिए संसार से सभी आशाएँ हटाकर एकमात्र राम पर ही भरोसा रखना चाहिए। ऐसे साधक के योगक्षेम का भार भगवान् स्वयं ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिए तुलसी ने सारा भार राम पर डालकर उनका दास होना स्वीकार कर लिया।[7] **'हिअँ हरष न दीना'** की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। एक अर्थ है—प्रसन्न तथा दैन्यरहित। जिसका चित्त शोकाकुल और विक्षिप्त है वह भक्ति भी नहीं कर सकता। अतएव भक्तिसाधक को सहर्ष रहना चाहिए। उसमें दीनता का भाव नहीं आना चाहिए। यहाँ पर 'दीनता' का तात्पर्य है—विषाद एवं संसार के प्राकृतजनों के प्रति दीनता। दूसरा अर्थ है—हर्ष-शोक से रहित। हर्ष और

१. तु० दे०—भा० पु० ११।२।४१, गीता, ६।३१, रा० २।१३१।४
२. रा० १।८।२, ७।११२ ख
३. और भी दे०—रा० ७।४६।१
४. रा० ७।३०।१
५. रा० १।२।३
६. रा० २।१३०।१
७. नातो-नेह नाथ सों करि सब नातो-नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥ —वि० १०४।४

शोक राजस कर्ता के लक्षण हैं।[1] हर्षादि से युक्त जन भगवान् को विशेष प्रिय है।[2] अतएव हर्ष और दैन्य के विपर्यय को भक्ति का साधन बतलाया गया। इन्हीं को प्रकारांतर से रामानुज आदि ने 'अनुद्धर्ष' एवं 'अनवसाद' कहा है।[3]

साधनसप्तक—रामानुज ने वाक्यकार के मत का उल्लेख करते हुए स्थापित किया है कि ध्रुवानुस्मृतिरूपा भक्ति की निष्पत्ति विवेकादिरूप साधनसप्तक द्वारा होती है।[4] इसी आधार पर रामानंद ने उसे 'विवेकादिकसप्तभूमिजा' कहा है।[5] ये सात साधन हैं—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष।[6] तुलसीदास ने भक्ति के साधनरूप में नवधा भक्ति आदि की भाँति इनका उपस्थापन कहीं नहीं किया। परंतु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैतवाद की यह मान्यता उन्हें सामान्य रूप से स्वीकार्य है। 'विवेक' का अर्थ है दोषरहित अन्न से शरीरशुद्धि। साधारण धर्मों का निरूपण करते हुए कहा जा चुका है कि तुलसी ने शारीरिक शौच पर भी पर्याप्त बल दिया है। 'भक्षाभक्ष' की निंदा करके उन्होंने 'विवेक' का ही समर्थन किया है।[7] काम का परित्याग, उससे विरक्ति, 'विमोक' है। तुलसी ने अनेक स्थलों पर रामभक्ति की प्राप्ति के लिए निष्कामता की आवश्यकता बतलायी है।[8] भक्ति के आलंबन भगवान् का पुनः-पुनः भावन 'अभ्यास' है। 'स्मरण' भक्ति और राम के ईश्वरत्व का बारंबार उल्लेख इसी भावना का द्योतक है। 'क्रिया' का अर्थ है पंचमहायज्ञादि का अनुष्ठान। षष्ठ अध्याय में इन यज्ञों की विचारचर्चा की गयी है। सत्य, दया, दान, अहिंसा आदि को 'कल्याण' कहते हैं। साधारण धर्मों के अंतर्गत इनका भी विवेचन हो चुका है। शोकादि से उत्पन्न दैन्य के अभाव को 'अनवसाद' एवं अतितुष्टि के विपर्यय को 'अनुद्धर्ष' कहा गया है। पूर्वोक्त 'हिअँ हरष न दीना में इन दो साधनों की भी व्यंजना हुई है।

•

१. हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः। —गीता, १८।२७
२. हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः। —गीता, १२।१५
   यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
   शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥ —गीता, १२।१७
३. दे०—ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०, यतीन्द्र०, पृ० ६६
४. ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०
५. वै० म० भा० गु० ६६
६. इनके स्वरूप के लिए दे०—ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०, यतीन्द्र०, पृ० ६६
७. रा० ७।६८ क
८. रा० २।१३०।१, २।१३१, ३।१६, वि० २०३।७

नवम अध्याय

उपसंहार

सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥
तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥[1]

रामावतार के विषय में कहे गये शंकर के उपर्युक्त शब्द तुलसीदास के दार्शनिक मत के विषय में भी चरितार्थ होते हैं। दार्शनिक दृष्टि से, 'रामचरितमानस' के प्रतिज्ञावचन[2] में प्रयुक्त 'पुराण', 'निगम', 'आगम', 'क्वचिदन्यतोऽपि' और 'स्वान्तःसुखाय' भी विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि ने सर्वतंत्रस्वतंत्र होकर निगम, आगम, पुराण तथा अन्य स्रोतों से भी दार्शनिक विचार ग्रहण किये हैं—परंतु, अपनी मति और रुचि के अनुसार। तुलसी-दर्शन के अनेक अनुशीलकों ने उन्हें सांप्रदायिक दार्शनिक माना है। महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी[3] और मानस-राजहंस विजयानंद त्रिपाठी[4] के अनुसार वे शांकर अद्वैतवाद के पक्के अनुगामी हैं। श्री श्रीकांतशरण जी के मत से वे सर्वथा विशिष्टाद्वैतवादी हैं।[5] डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, डा० रामदत्त भारद्वाज आदि ने उन्हें समन्वयवादी बतलाया है।[6] यही मत तर्कसंगत है। तुलसी को किसी संप्रदाय से संबद्ध करना न्याय्य नहीं है। उनकी प्रतिभा सारग्राहिणी है। उनका साहित्य मधुकोश है, जिसमें कवि के स्वानुभव का रस भी संमिलित है। उन्होंने आप्त ग्रंथों से ग्राह्य विचारों का ग्रहण किया है, अग्राह्य विचारों के विरुद्ध अपनी मान्यता उपस्थापित की है।

निगम और तुलसीदास—

प्रमाण-मीमांसा के प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि 'निगम' और उसके पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार तुलसी ने वैदिक संहिताओं के लिए भी किया है और संपूर्ण वैदिक साहित्य तथा समस्त आप्त वाङ्मय के लिए भी। प्रस्तुत प्रसंग में 'निगम' वैदिक साहित्य का अर्थवाची

---

१. रा० १।१२१।१-३
२. रा० १।१।श्लोक७
३. दे०—गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार (तुलसीग्रंथावली, तीसरा खंड)
४. दे०—'रामचरितमानस' की विजया टीका; गोस्वामी तुलसीदासजी के दार्शनिक विचार (अच्युत-लेखमाला: कल्याण, जुलाई, १९३७), गो० तुलसीदासजी का सिद्धान्त (अच्युत-लेखमाला)
५. दे०—श्री गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार ('रामचरितमानस' के सिद्धान्ततिलक की प्रस्तावना); 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका', 'दोहावली' आदि पर सिद्धान्ततिलक
६. दे०—तुलसी-दर्शन, मानस में रामकथा; दि फिलॉसफी ऑफ तुलसीदास

है। दर्शन की दृष्टि से उसके दो मुख्य भाग हैं—वेद और उपनिषद्। वेद दर्शनग्रंथ नहीं हैं; परंतु उनमें ऋषियों के अंतर्दर्शन और दार्शनिक मन्तव्यों की अभिव्यक्ति हुई है। **पुरुष, हिरण्यगर्भ और नासदीय** सूक्त विशेष रूप से दार्शनिक हैं।[१] वैदिक दर्शन के सिद्धांत अपने सामान्य और मूल रूप में तुलसी को मान्य हैं।

वेद सबके मूल में एक, अद्वितीय, सर्वव्यापक, समर्थ परमात्मशक्ति की सत्ता स्वीकार करता है। एक होते हुए भी ऋषियों ने उसे अनेक नाम दिये हैं--'**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**'[२] असत्,[३] अभयंज्योतिः,[४] परमव्योमन्,[५] परमपद,[६] अदिति[७] आदि उसी के नाम हैं। वह प्रभु निराकार होते हुए भी निर्गुण और सगुण दोनों ही है।[८] मंत्रद्रष्टाओं ने उसकी उदारता, वत्सलता आदि के प्रति अपनी भावानुभूति व्यक्त की है।[९] उसमें विरोधी गुण भी हैं।[१०] उसके विराट् स्वरूप का भी वर्णन किया गया है।[११] उसी से जगत् की उत्पत्ति हुई है।[१२] वह सबका आधार और अधीश्वर है।[१३] जीव और ईश्वर में भेद है। ईश्वर को जीव का शासक, विधाता त्राता, पिता-माता और सखा कहा गया है।[१४] इस प्रकार दोनों के संबंध में स्वामिसेवक-भाव, पाल्यपालकभाव और सख्यभाव की कल्पना की गयी है। जीव के मोक्षसाधन की दृष्टि से, वेदों में कर्म, ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य उपस्थापित किया गया है।[१५] स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञ आवश्यक साधन है।[१६] अमरत्व प्राप्ति का आवश्यक साधन ज्ञान है—**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**[१७] ज्ञान के लिए वर्णाश्रमधर्मपालन, आचारनिष्ठा, प्रियसत्यभाषण आदि पर बल दिया गया है। सदाचरण के प्रति संमान की भावना व्यक्त की गयी है। कर्मानुसार फलभोग का सिद्धांत वैदिक ऋषियों को मान्य है।[१८] कभी-कभी जीव को दूसरे के

१. क्रमशः—ऋ० १०।९०, १०।१२१, १०।१२९
२. ऋ० १।१६४।४६
३. ऋ० १०।७२।२-३
४. ऋ० २।२७।११
५. ऋ० १।१४३।२
६. ऋ० १।२२।२०-२१
७. ऋ० १।८९।१०
८. यजु० ४०।८
९. ऋ० ४।१९।६, ८।१९।२, ८।४५।२०
१०. 'अपादशीर्ष' (ऋ० ४।१।११),
'सहस्रशीर्ष' आदि (ऋ० १०।९०।१); यजु० ४०।४-७
११. ऋ० १।८९, १०।९०, अथर्व० १०।७, यजु०, अ० ३१
१२. ऋ० ६।४९।१३, १०।९०, १०।१२९; यजु०, अ० ३१
१३. अथर्व० १०।७, अथर्व० १०।८।१, ऋ० १०।१२१।७
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —ऋ० १०।१२१।१
१४. अथर्व० ४।१६।२, ४; यजु० २३।३, ३२।१०; ऋ० ४।१७।१७
१५. दे०—भक्ति का विकास, पृ० १७०
१६. यजु०, अ० २
१७. यजु० ३१।१८
१८. ऋ० १।१६४।२०

किये हुए कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है।[1] वैदिक भक्ति के तीन अंग हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना।[2] स्तुतियों में आराध्य का विशद गुणकीर्तन किया गया है।[3] डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि नारद-भक्तिसूत्र की ग्यारह आसक्तियों में से गुणमाहात्म्यासक्ति, पूजासक्ति, रूपासक्ति, दास्यासक्ति, तन्मयासक्ति और सख्यासक्ति वैदिक मंत्रों में अभिव्यक्त हुई हैं;[4] परवर्ती भक्तिशास्त्र में प्रतिपादित शरणागति की छः विधाओं का भी संनिवेश है;[5] भक्ति की कतिपय अन्य विशेषताएँ पश्चात्ताप, व्याकुलता, विनय आदि भी हैं।[6]

वैदिक दर्शन की उपर्युक्त विशेषताएँ अपने सामान्य रूप में तुलसी को मान्य हैं। अनेक पद्यों में वैदिक मंत्रों की अर्थच्छाया भी संलक्ष्य है।[7] किंतु, उनका दर्शन वैदिक दर्शन नहीं है। उनका आराध्य वैदिक परमात्मशक्ति की भाँति निराकारमात्र नहीं है। उनके राम की लीला सृष्टि-रचना तक ही सीमित नहीं है। राम की अवतार-लीला ही तुलसी का मुख्य प्रतिपाद्य है। वेद में उनके बालरूप या धनुर्धररूप का सकेत भी नहीं है, रूप-वर्णन का अभाव है, वैकुंठलोक या क्षीरसागर की कल्पना नहीं है। तुलसी ने जीव और जगत् का जो निरूपण किया है, वह वैदिक दर्शन की देन नहीं है। वैदिक कर्मकांड का आतिशय्य उन्हें मान्य नहीं है। वेद-प्रतिपादित स्वर्ग और मोक्ष उनकी दृष्टि में तिरस्कार्य हैं। वेद में भक्ति साधनमात्र है। तुलसी उसे साध्य मानते हैं। उनकी भक्ति पुरोहित-संपाद्य नहीं है। उनका पुरुषकार-सिद्धांत, और अर्चन, पाद-सेवन आदि भक्तियाँ वैदिक युग के बाद की परिकल्पनाएँ हैं। उनके भक्तों में विरहासक्ति और दैन्य की मार्मिकता है। वैदिक ऋषि ने जीव का संबोधन उत्साह-वर्धक शब्दों में किया है। वह साधक को कुटिल, कामी, पापी, निर्बल, कायर आदि नहीं कहता। उसकी दृष्टि में जीव हंस के समान ऊर्ध्वगमनशील है, अधोगति उसके स्वभाव में ही नहीं है।[8] तुलसी की भक्ति आर्तभक्त के कार्पण्य-निवेदन से ओत-प्रोत है। तुलसी के उपास्यदेव वैदिक न होकर स्मार्त है। वेद का आराध्य इंद्र उनकी दृष्टि में श्वान और काक की भाँति[9] निरादरणीय है।

१. ऋ० ७।५२।२, तु० दे०—रा० २।७७
२. दे०—भक्ति का विकास, चतुर्थ अध्याय
३. दे०—भक्ति का विकास, पृ० ११३-३८
४. दे०—भक्ति का विकास, पृ० १५७-६३
५. आनुकूल्यस्य संकल्पः —ऋ० ८।६३।१०, अथर्व० ६।२।११
   प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् —ऋ० ४।१८।२
   रक्षिष्यतीति विश्वासः —ऋ० ६।४५।३, १।३०।८
   गोप्तृत्वे वरणम् —ऋ० १।५७।१, ८।६६।१३
   आत्मनिक्षेपः —ऋ० १०।२१।४, ७।२६।३
   कार्पण्यम् —ऋ० २।३३।७, १०।३३।३
   —दे०—भक्ति का विकास, पृ० १४६-५३
६. दे०—भक्ति का विकास, पृ० १३७-४६
७. ऋ० १०।६०; मि० दे०—रा० ६।१४।१५;
   ऋ० ६।२४।६, साम० १।७।६; मि० दे०—रा० ४।१४।४
८. दे०—भक्ति का विकास, पृ० १६०
९. काक समान पाकरिपु रीती। —रा० २।३०२।१
   सरिस स्वान मघवान जुबानू। —रा० २।३०२।४

उपनिषद् और तुलसीदास—

'सत पुरान उपनिषद गावा,'[१] 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा',[२] 'महिमा निगम नेति कहि कहई',[३] 'निगम नेति सिव ध्यान न पावा',[४] 'जेहि इमि गावहिं बेद बुध'[५] आदि उक्तियों एवं तत्तत्प्रसंगों में वर्णित राम के स्वरूप से यह स्पष्ट है कि तुलसी का ब्रह्मनिरूपण उपनिषदों से प्रभावित है। उपनिषदा का प्रतिपाद्य ब्रह्म है। वह सच्चिदानंद-स्वरूप है।[६] 'एकमेवाद्वितीयम्' है।[७] उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[८] वह निर्गुण और सगुण है। अगोचर, अज्ञेय और अग्राह्य है।[९] निष्कल, निरवद्य, निरंजन, अज, अमूर्त, अमना एवं अप्राण है।[१०] गोत्र, वर्ण, इंद्रिय आदि से रहित है।[११] अमृत, अव्यय, अक्षर, अशब्द, अस्पर्श तथा अरूप है।[१२] वह ज्ञानमय, सर्वविद्, सर्वज्ञ और विविधशक्ति-संपन्न है।[१३] सत्यसंकल्प और सत्यकाम है।[१४] सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध तथा सर्वरस है।[१५] सर्वरूप या विश्वरूप[१६] है। सर्वव्यापक, अंतर्यामी, हृदयमंनिविष्ट, एक और केवल है।[१७] परात्पर, दिव्य, शुभ्र, सर्वप्रकाशक और साक्षी है।[१८] स्वतंत्र; जगत् का शासक; और काल, कर्म, स्वभाव आदि का संचालक है।[१९] सबका आधार है।[२०] विरोधी गुणों का आश्रय है।[२१]

१. रा० १।४६।१
२. रा० १।१४४।३
३. रा० १।३४१।४
४. रा० ३।२७।६
५. रा० १।११८
६. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म —तै० उ० २।१।१
   विज्ञानमानन्दं ब्रह्म —बृ० उ० ३।९।२८
   रसो वै सः —तै० उ० २।७।१
   विज्ञानं ब्रह्म — तै० उ० ३।५।१
७. छा० उ० ६।२।१
८. नेह नानास्ति किंचन ।—क० उ० २।१।११
९. के० उ० १।१।३, श्वे० उ० ३।१९, मु० उ० १।१।६, ३।१।८
१०. श्वे० उ० ६।१९, मु० उ० २।१।२
११. मु० उ० १।१।६
१२. बृ० उ० ३।७।१५-२३, ३।८।८, क० उ० १।३।१५
१३. मु० उ० १।१।९, श्वे० उ० ६।२, ६।८
१४. छा० उ० ८।१।५
१५. छा० उ० ३।१४।२
१६. श्वे० उ० ४।२, मु० उ० २।१।४, २।१।१०, २।२।११
१७. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
    कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ —श्वे० उ० ६।११
    दे०—श्वे० उ० ३।१-२, ४।१०, ४।१७; क० उ० १।२।१२, १।३।१
१८. मु० उ० २।१।२, २।२।१०, क० उ० १।३।११, श्वे० उ० ६।११
१९. श्वे० उ० ६।१२; श्वे० उ० ६।१७, क० उ० २।३।३, बृ० उ० ३।८।९; श्वे० उ० ६।१, ११
२०. मु० उ० २।२।५
२१. मु० उ० ३।१।७, ईशा० ५, श्वे० उ० ३।२०, ६।८

अनिर्वचनीय है।[1] अतएव 'नेति नेति' के द्वारा उसका प्रतिपादन किया गया है।[2] वह जगत् का कर्ता है।[3] उसका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।[4] सबकी उत्पत्ति और लय का स्थान है।[5] संसार के मोक्ष, स्थिति और बंध का हेतु है।[6] यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी के आश्रय से स्थित रहता है और उसी में लीन हो जाता है।[7] भिन्न प्रतीत होने वाला जगत् ब्रह्मरूप ही है।[8] जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न भी है[9] और भिन्न भी।[10] वह चार अवस्थाओं और पाँच कोशों वाला है।[11] सुखदुःखभागी है।[12] उसका बंधन, उसकी हृदय-ग्रंथि, अविद्याग्रंथि है।[13] कामनाश, ईश्वरदर्शन, ब्रह्मज्ञान और शरण-प्रपत्ति से मुक्ति होती है।[14] ज्ञान के विना संसार-निवृत्ति नहीं हो सकती।[15] उसके लिए विद्या और अविद्या दोनों का ही ज्ञान अपेक्षित है।[16] ब्रह्मज्ञानी जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप हो जाता है—समुद्र में पहुँचकर समुद्रस्वरूप हो जाने वाली नदियों की भाँति।[17] ज्ञान के साधनरूप में धर्म के विविध अंगों (सत्य, अहिंसा, यज्ञ, दान, दया, सेवा, अतिथि-सत्कार, शम आदि) तथा विवेक, वैराग्य और योग पर बल दिया गया है।[18] श्रेय (आत्यंतिक अतींद्रियसुख) और प्रेय (नश्वर इंद्रियसुख) का निरूपण करते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि यथार्थतः बुद्धिमान् मनुष्य प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण करता है।[19]

औपनिषदिक दर्शन के उपर्युक्त सिद्धांत तुलसी-दर्शन में स्वीकृत हैं। उन्होंने उपनिषदों की

१. के० उ० १।१।३
२. बृ० उ० ४।४।२२
३. मु० उ० १।१।७, तै० उ० २।६।१, ऐ० उ० १।१।१-२, श्वे० उ० १।३-४, ४।१, ९
४. मु० उ० १।१।७, छा० उ० ६।२।१-३, तै० उ० २।७।१
५. एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। —मा० उ०, मन्त्र ६
६. स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः...।
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः —श्वे० उ० ६।१६
७. तज्जलानिति —छा० उ० ३।१४।१
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यतो जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। —तै० उ० ३।१।१
८. सर्वं खल्विदं ब्रह्म —छा० उ० ३।१४।१
९. ...स आत्मा तत्त्वमसि —छा० उ० ६।८।७
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। —ईशा० १६
१०. मु० उ० ३।१।१-३, श्वे० उ० ४।६-७, क० उ० १।३।१
११. मा० उ०, मन्त्र २-४; तै० उ० २।१-५
१२. आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः —श्वे० उ० १।२
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति —श्वे० उ० ४।६
१३. क० उ० २।३।१५, मु० उ० २।१।१०, २।२।८ और उन पर शा० भा०
१४. क० उ० २।३।१४, मु० उ० ३।१।२-३, श्वे० उ० १।७, ६।१८
१५. क० उ० २।३।४
१६. ईशा० ११
१७. मु० उ० ३।२।८-९, प्र० उ० ६।५
१८. मु० उ० ३।१।६, छा० उ० २।२३।१, ३।१७।४, बृ० उ० ४।४।२३, ५।२।१-३, तै० उ० ३।१०।१, श्वे० उ० १।१४, २।८-१०
१९. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते // —क० उ० १।२।२

उक्तियों के शब्दों और अर्थों को भी अनेक स्थलों पर ग्रहण किया है।[1] तथापि तुलसीदास का दर्शन औपनिषदिक दर्शन का समशील नहीं है। उनके मुख्य प्रतिपाद्य राम की अवतारलीला और भक्तवत्सलता आदि गुणों का उपनिषदों में अभाव है। उनमें रामभक्तिदर्शन की कहीं भी कोई चर्चा नहीं की गयी है। 'रामपूर्वतापिन्युपनिषद्', 'रामोत्तरतापिन्युपनिषद्', 'रामरहस्योपनिषद्', 'सीतोपनिषद्' आदि उपनिषद्-काल की रचनाएँ नहीं हैं। वे भक्तियुग की कृतियाँ हैं। अतएव औपनिषदिक दर्शन के अंतर्गत उनके दार्शनिक सिद्धांतों का समावेश नहीं किया जाता। तुलसीदास के साहित्य में किया गया सृष्टि-वर्णन भी उपनिषदों में सांकेतिक रूप से वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया,[2] त्रिवृत्करण[3] आदि से प्रभावित नहीं है। उपनिषदों में जीवात्मा और ब्रह्म के ऐक्य पर अधिक बल दिया गया है किंतु तुलसी ने भेद-निरूपण को प्रधानता दी है। उपनिषदों में वर्णाश्रम-धर्म-पालन को विशेष गौरव नहीं दिया गया। तुलसी उसके प्रबल समर्थक हैं। उपनिषदों में ज्ञान को ही मोक्ष का आवश्यक साधन माना गया है। तुलसी भक्ति को अनिवार्य और केवल-ज्ञान को मोघ समझते हैं। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मभाव ही मुक्ति है। तुलसी की दृष्टि में दासभाव से भगवान् के समीप उनके वकुंठ-धाम में निवास ही आदर्श मुक्ति है।

आगम और तुलसीदास—

तुलसीदास का दर्शन आगम-संमत है। 'आगम' शब्द सामान्यतः सभी शास्त्रों एवं वैदिक तथा तांत्रिक परंपरा का वाचक है। तुलसी-दर्शन के प्रसंग में उसके चार अर्थ किये जा सकते हैं—पांचरात्र आगम, दर्शनशास्त्र, भक्तिशास्त्र और शिव के द्वारा पार्वती को सुनाया गया वैष्णव सिद्धांत। इन चारों ही अर्थों में तुलसी-दर्शन आगमानुयायी है। दर्शनशास्त्र के विवेचक विभिन्न संप्रदायों में ब्रह्मवाद (अद्वैतवाद), विशिष्टाद्वैतवाद, रामानंद-संप्रदाय, वल्लभ-संप्रदाय और सांख्य-योग की दार्शनिक विचारधारा का ही तुलसी-दर्शन पर विशेष प्रभाव पड़ा है। 'गीता' को भी विद्वानों ने आगम-ग्रंथ माना है।[4] अतएव प्रस्तुत अध्याय के इस प्रकरण में इन्हीं की दृष्टि से तुलसी-दर्शन का तुलनात्मक दिग्दर्शन किया जाएगा।

---

१. क. प्राणस्य प्राणः —के० उ० १।१।२
   चेतनश्चेतनानाम् —श्वे० उ० ६।१३
   मि० दे०—प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। —रा० २।२९०
   ख. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। —श्वे० उ० ३।१९
   मि० दे०—बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।...
   तन बिनु परस नयन बिनु देखा। —रा० १।११८।३-४
   ग. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
   तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ —मु० उ० ३।८
   मि० दे०—सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥ —रा० ४।१४।४
   घ. और भी दे०—क० उ० २।३।१—रा० ७।१३।छं० ५
   श्वे० उ० १।६—वि० १३६।१
२. ऐ० उ०, अ० १; छा० उ० ६।२।३-४, ६।३।१-२, मु० उ० १।१।८-९, २।१।३
३. छां० उ० ६।३।३-४
४. "'गीता' में 'वासुदेव' तथा 'भगवान्' के स्वरूप का वर्णन देखकर यह मालूम होता है कि 'गीता' प्राचीन 'भागवत-सम्प्रदाय' से विशेष सम्बन्ध रखती है। अतएव यह 'वैष्णव-आगम' का ग्रन्थ कहा जा सकता है।"
   —भा० द० (उ० मि०), पृ० ८१

पांचरात्र आगम और तुलसीदास—पांचरात्र आगम में निरूपित किया गया है कि ब्रह्म एक, सुखानुभवरूपरूप, सर्वव्यापक, पूर्ण और नित्य है। वह निर्दुःख, सर्वहेयविवर्जित, निःसीम, अनादि, अनंत, अनामय, निरवद्य, क्षोभरहित, निष्कलंक और निरंजन है। वह सर्ववास और भव-सागर से परे है। आकार, देश और काल से अनवच्छिन्न है। इदंता, ईदृक्ता और इयत्ता से अपरिच्छेद्य है।[1] वह समस्तभूतवासी, अव्यक्त, सर्वप्रकृति, अक्षर, सम, अचिंत्य, अव्यय एवं कल्याणकारी होने के कारण शिव है।[2] वह सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्त, सर्वोपाधिविवर्जित और सर्वकारणकारण है।[3] वह अश्रोत्र, अचक्षु, अपाणि, अपाद और दूरस्थ होते हुए भी विश्वश्रवा, विश्वचक्षु, विश्वपाणि, विश्वपाद एवं समीपवर्ती है।[4] प्राकृतगुणस्पर्श से रहित होने के कारण वह 'निर्गुण' है।[5] अप्राकृत गुणों का आश्रय[6] होने के कारण वह 'सगुण' है। षाड्गुण्ययुक्त होने से वह 'भगवान्' कहलाता है।[7] उसके छः गुण हैं—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज।[8] 'ज्ञान' के संबंध में यह स्मरणीय है कि परमात्मा ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञानगुणयुक्त भी।[9] वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर, सर्वनियामक एवं स्वाधीन है।[10] अपनी शक्ति से परिबृंहित ब्रह्म ही संकल्प मात्र से सृष्टि-रचना में समर्थ है।[11] भगवान् विष्णु की शक्ति का नाम ही 'प्रकृति' है।[12] विष्णुसंकल्प-प्रेरित प्रकृति से ही महदादि-क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है।[13] ईश्वर ही जगत् का निमित्तोपादान कारण है[14]; उसका स्रष्टा, पालक और संहारक है।[15] वह विश्वरूप भी है।[16] कालानुसार रजस्तमोगुण का उद्रेक और सत्त्वगुण का ह्रास होने पर राक्षसों आदि का आविर्भाव होता है। उसके परिणामस्वरूप सात्त्विकी वेदमर्यादा का लोप, ज्ञान का विनाश एवं धर्म का तिरोधान हो जाता है। ऐसी दशा में अधर्मियों के निरास, पीड़ित प्रजा के उपकार तथा धर्ममर्यादा की स्थापना के लिए भगवान् अवतार धारण करता है।[17]

जीव भगवान् विष्णु का अंश है।[18] वह स्वभावतः चिदानंदमय, भगवन्मय, अनादि तथा

१. अहि० सं० २।२२-२६, जया० सं० ४।६०-६५
२. अहि० सं० २।२८-३१
३. अहि० सं० २।५३
४. अहि० सं० ३१।८-१०, जया० सं० ४।६४-६१, १२५
५. अहि० सं० २।२४, ५५
६. अहि० सं० २।२४
७. अहि० सं० २।२८
८. अहि० सं० २।५४-६१
९. अहि० सं० २।५७, ६२
१०. जया० सं० ४।७०
११. अहि० सं० २।६२, ५।३-४
१२. अहि० सं० ५।२८
१३. अहि० सं० ७।७-५०
१४. अहि० सं० ८।२८
१५. अहि० सं० ८।२१, जया० सं० ४।६७
१६. लक्ष्मीतन्त्र, २।६; जया० सं० ४।१२७-३०
१७. अहि० सं० ११।६-१२
१८. अहि० सं० ७।५९

अपरिच्छेद्य है।[1] भगवान् की तिरोधानकरी शक्ति माया या अविद्या उसके स्वरूपज्ञान को आवृत कर देती है। यह अविद्या ही जीव का बंध या हृदयग्रंथि है।[2] अविद्याजन्य मलों से युक्त होकर कर्मविपाक में पड़ा हुआ जीव जन्म, आयु आदि के भाग में फँसा रहता है।[3] अपने कर्मों के कारण संसारचक्र में भ्रमते हुए दुःखाकुल जीव पर जब कभी भगवान् की कृपा हो जाती है तब वह संसारसागर से पार हो जाता है।[4] कर्म, योग और ज्ञान भी मोक्षप्राप्ति में सहायक हैं।[5] मुक्त जीव समुद्र में नदी की भाँति भगवान् में लीन हो जाता है।[6] परंतु परमधाम और परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र अमोघ उपाय न्यास (शरणागति या प्रपत्ति) है।[7] 'मैं अपराधों का घर हूँ, अकिंचन और अगति हूँ, तुम्हीं मेरे उपाय बनो, मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ'—यह प्रार्थना-मति 'शरणागति' है। इस प्रकार भगवत्प्रपन्न भक्त के सभी अनुबंध तथा पाप नष्ट हो जाते हैं। उसे तप, तीर्थ, यज्ञ, दान आदि समस्त पुण्यों के फल की प्राप्ति हो जाती है।[8] वीतकल्मष मुक्त भक्त विष्णुलोक में विहार करता है। वह देश प्रकाशानंदमय, निर्मल, अनवद्य, अनाकुल और परमव्योम है। उस धाम में पहुँचकर जीव फिर इस कालकल्लोलसंकुल भवपंथ में नहीं पड़ता।[9] ब्रह्मप्राप्ति के लिए गुरुभक्ति आवश्यक है। शास्त्रज्ञानांजन के द्वारा अज्ञानतिमिर का नाश करने वाला गुरु नररूप में भगवान् ही है।[10]

पांचरात्र आगम की ये मान्यताएँ तुलसी-साहित्य में भी अभिव्यक्त हुई है। परंतु उसकी बहुत-सी मान्यताएँ उन्हें अस्वीकार्य हैं। पांचरात्र-दर्शन[11] में पर, व्यूह, विभव, अर्चा और अंतर्यामी के रूप में ईश्वर की पंचधा अवस्थिति स्वीकार की गयी है। व्यूह चार हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। वासुदेव को परमात्मा, संकर्षण को जीव, प्रद्युम्न को मन एवं अनिरुद्ध को अहंकार माना गया है। यह चतुर्व्यूह-सिद्धांत पांचरात्रों का विशिष्ट सिद्धांत है।[12] प्रत्येक व्यूह से उत्पन्न तीन-तीन व्यूहांतर भी हैं।[13] भगवान् की शक्ति द्विविध है—क्रिया तथा भूति।[14] 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में शुद्ध एवं शुद्धेतर सृष्टि के रूप में द्विविध सर्ग तथा 'जयाख्यसंहिता' में ब्राह्म, प्राधानिक और शुद्ध सर्ग के रूप में त्रिविध सर्ग का वर्णन किया गया है।[15] साधना के क्षेत्र

---

१. अहि० सं० १४।६
२. अहि० सं० १४।१५-१७
३. अहि० सं० १४।२०-२४
४. अहि० सं० १४।२८-२९, ३३; लक्ष्मीतन्त्र, १३।१-१४
५. जया० सं० ४।५०, अहि० सं० ३१।११-१४, लक्ष्मीतन्त्र, १७।४९
६. जया० सं० ४।१२१-२३
७. अहि० सं० ३७।२६-२७, लक्ष्मीतन्त्र, १७।५९-६३
८. अहि० सं० ३७।३०-३४
९. अहि० सं० ६।२१-३१
१०. जया० सं० १।६२-६५
११. विस्तार के लिए दे०—दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ दि पाञ्चरात्रज्, इन्ट्रोडक्शन टु दि पाञ्चरात्र ऐन्ड दि अहिर्बुध्न्यसंहिता, पृ० २७-९३
१२. अहि० सं० ५।१७-६०; ब्र० सू० २।२।४२-४५ पर शा० भा०; महा०, शान्ति० ३३९।३३-४१
१३. अहि० सं० ५।४६-४९
१४. अहि० सं० ३।२८
१५. अहि० सं०, अ० ५-६; जया० सं०, पटल २-४

में नाना प्रकार के मंत्रों, यंत्रों आदि की व्यवस्था की गयी है।[1] ये सब मान्यताएँ तुलसी द्वारा उपेक्षित हैं। पांचरात्रों द्वारा स्वीकृत विभवों (अवतारों) की निश्चित संख्या (उनतालीस), उनका मुख्य-गौण-विभाग, अनिरुद्ध से अवतारों का प्रादुर्भाव आदि[2] भी तुलसी को अमान्य हैं। उनके साहित्य में प्रतिपादित राम की अवतारलीला, जीव के भोगायतन और भोगभूमि का रचनाक्रम, वर्णाश्रमधर्म की महिमा, भक्तिनिरूपण आदि भी पांचरात्र आगम से भिन्न हैं। अत एव तुलसीमत पांचरात्रमत नहीं है।

ब्रह्मवाद (केवलाद्वैतवाद) और तुलसीदास—

तुलसी-दर्शन के अनेक सिद्धांत शांकर मत के अनुकूल हैं। ब्रह्म सच्चिदानंदस्वरूप है।[3] वही परमार्थ तत्त्व है।[4] परमाद्वैत, एकरूप और कूटस्थनित्य है।[5] वह निर्गुण है—अकल, निरवयव, निर्विकार, अव्यय, निर्मल, देश-काल-परिच्छेद-रहित, संसारधर्मवर्जित, निरुपाधि, अप्रमेय एवं अज्ञेय है।[6] वेदांतवेद्य और अनिर्वचनीय है।[7] विश्व का अभिन्ननिमित्तोपादान है।[8] जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण है।[9] ईश्वर सगुण है—ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज आदि से सदा संपन्न है।[10] यह सृष्टि-व्यापार उसका लीलाविलास है।[11] वह संतों के परित्राण आदि के उद्देश्य से अवतार धारण करता है।[12]

परमेश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति का नाम माया है जो विश्व की रचना और जीव के बंध का हेतु है।[13] माया ही प्रकृति है, ईश्वर उसका प्रेरक है।[14] उसी से महत्तत्त्व आदि के क्रम से सृष्टि की रचना हुई है। जगत् असत्य है—स्वप्न और मायारचित गंधर्वनगर के समान दृष्ट-नष्टस्वरूप है; रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत, किरण में जल आदि की भाँति अपने अधिष्ठान ब्रह्म में सत्य भासता है।[15] किंतु वह व्यवहारतः सत्य है, स्वप्न की भाँति सर्वथा अलीक नहीं है।[16]

१. अहि० सं०, अ० १८-२७, ४८-४९, ५२-५९; जया० सं०, पटल ६-२१, २६-३२; लक्ष्मीतन्त्र, अ० १८, २२-५२
२. दे०—इन्ट्रोडक्शन टु दि पाञ्चरात्र ऐन्ड दि अहिर्बुध्न्यसंहिता. पृ० ४२-४९
३. अपरोक्षानुभूति, २४, तत्त्वोपदेश, १८, वि० चू० २३९
४. गीता, २।५९ और ब्र० सू० २।१।११ पर शा० भा०; वि० चू० २२८, २४१
५. वि० चू० २२८; ईशा० ४, छा० उ० ६।२।१-२ और ब्र० सू० १।३।१९ पर शा० भा०
६. ब्र० सू० ४।३।१४, श्वे० उ० ६।१९, गीता, २।१७, २।२५, १३।२, छा० उ० ६।२।२, मु० उ० १।१।६, बृ० उ० ३।८।८, ३।९।२६, ४।४।२२, ऐ० उ० १।१।१ तथा के० उ० १।३ पर शा० भा०; तत्त्वोपदेश, १७
७. तत्त्वोपदेश, २५; बृ० उ० ३।९।२६ तथा ४।४।२२ पर शा० भा०
८. मु० उ० १।१।७ पर शा० भा०
९. तै० उ० ३।१, ३।६ और ब्र० सू० १।१।२ पर शा० भा०
१०. गीता पर शा० भा० का उपोद्घात
११. ब्र० सू० २।१।३३ पर शा० भा०
१२. गीता, ४।७-९ पर शा० भा०, मा० उ० पर शा० भा०, अन्तिम वन्दना, १
१३. वि० चू० ११०-११४, दृग्दृश्यविवेक, १३-१५
१४. श्वे० उ० ४।१० पर शा० भा०
१५. ब्र० सू० पर शा० भा० का उपोद्घात, अपरोक्षानुभूति, ९५-९६, वि० चू० ४०५, गीता, १५।३ पर शा० भा०, आत्मबोध, ६-९
१६. ब्र० सू० २।१।१४ और २।२।२९ पर शा० भा०

मोक्षपरक वेद-शास्त्र भी व्यावहारिक है।[1] माया की भाँति मायानिर्मित जगत् भी अनिर्वचनीय है।[2] जीव अनेक और ईश्वरांश हैं।[3] जीव कर्ता और भोक्ता है।[4] कर्म से ही जगत् का चक्र चलता है।[5] कर्मानुसार ही जीव को अनेक प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं।[6] उसके स्थूल आदि तीन शरीर, तत्संबंधी जाग्रत् आदि तीन अवस्थाएँ तथा अन्नमय आदि पाँच कोश हैं।[7] जीवात्मा नित्य है और जीर्ण वस्त्र को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करने वाले नर की भाँति एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में संक्रमण करता है।[8] उसके दुःख का कारण अविद्या है।[9] अविद्यारूप हृदयग्रंथि का मोक्ष ही मोक्ष है।[10] ब्रह्मात्मैकत्वबोध से मुक्ति की प्राप्ति होती है।[11] कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती; कर्मनाश का उपाय ज्ञान है।[12] ईश्वरार्पित कर्म से बंध नहीं होता।[13] ज्ञान मोक्ष का साधन है।[14] शास्त्रज्ञानमात्र पर्याप्त नहीं है, अनुभव (विज्ञान) आवश्यक है।[15] ब्रह्मज्ञानी संसार के बंधन में नहीं पड़ता।[16] कर्म आदि ज्ञान के साधन हैं। फल-तृष्णारहित कर्मयोग से अंतःकरण की शुद्धि होती है।[17] अतएव ज्ञाननिष्ठा-योग्यता के लिए वर्णाश्रमधर्म का पालन अपेक्षित है।[18] विवेक, विराग, शमादि और मुमुक्षुत्व ज्ञान के अंतरंग साधन हैं।[19] मुक्तात्मा ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।[20] आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर देहावसान के पूर्व ही आत्मा की जीवन्मुक्ति हो जाती है।[21] ज्ञान के सभी साधनों में गुरु का स्थान अन्यतम है। श्रुति-सिद्धांत यही है कि आचार्यवान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[22]

उक्त समानताओं के आधार पर तुलसीदास को केवलाद्वैतवादी मान बैठना तर्कसंगत नहीं है। शांकर दर्शन से उनके मत का वैषम्य कम अवेक्षणीय नहीं है। अद्वैतवाद निर्गुण और सगुण

१. ब्र० सू० पर शा० भा० का उपोद्घात
२. पञ्चपादिका, पृ० ४; दे०—श्री शंकराचार्य, पृ० २६४
३. ब्र० सू० १।३।१५, २।३।४३ और गीता, ४।१०-११ पर शा० भा०
४. ब्र० सू० २।३।३३-३९ तथा श्वे० उ० ४।६ पर शा० भा०
५. गीता, ३।१३ पर शा० भा०
६. ईशा० ३ और गीता, २।५१ पर शा० भा०
७. वि० चू० ७४-७५, ८९-१२३, १५६-१६०, २०९-२११
८. गीता, २।२२-२४ पर शा० भा०
९. जीवस्य तु दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैव। —ब्र० सू० २।३।४६ पर शा० भा०
१०. वि० चू० ५५९
११. वि० चू० ५८
१२. ब्र० सू० १।१।४ और ४।१।१३ पर शा० भा; गीता, ४।१९ तथा ३७ पर शा० भा०
१३. गीता, ६।२७-२८ पर शा० भा०
१४. श्वे० उ० ३।८, ६।१३-१५, ब्र० सू० १।३।३९, २।१।११, गीता, ४।३३ एवं ४।३९ पर शा० भा०
१५. गीता, ६।८ पर शा० भा०, अपरोक्षानुभूति, १३२
१६. क० उ० २।३।१५, श्वे० उ० १।७, मु० उ० २।२।८ और ब्र० सू० ४।१।१३-१५ पर शा० भा०
१७. ब्र० सू० ३।४।२७, गीता, २।४८ और ६।१२ पर शा० भा०, वि० चू० ११
१८. गीता, १८।४५-४६ और ब्र० सू० ३।४।३२ पर शा० भा०, तत्त्वोपदेश, ७५
१९. ब्र० सू० १।१।१ पर शा० भा०, तत्त्वोपदेश, ७६-७७
२०. मु० उ० ३।२।९ पर शा० भा०
२१. वि० चू० ४२६-४१, गीता, २।५१ पर शा० भा०
२२. तत्त्वोपदेश, ४६-४७, ८४-८७

ब्रह्म में भेद मानता है।[1] तुलसी की दृष्टि में ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण और सगुण दोनों है। सगुण-सविशेष राम ही परब्रह्म हैं। अद्वैतमत में 'ईश्वर' मायोपाधिक अथवा अज्ञानोपहित माना गया है।[2] तुलसी के राम ईश्वर होते हुए भी मायावच्छिन्न कदापि नहीं होते। अद्वैतवाद में मायोपहित ईश्वर को ही अवतारी और पूजा का आलंबन माना गया है। तुलसी के मायापार ब्रह्म राम ही अवतारी और वंदनीय हैं। अद्वैत-वेदांत में सगुण ब्रह्म को निर्गुण से न्यून कहा गया है, तुलसी के भक्तिदर्शन में निर्गुण-सगुण-स्वरूप ब्रह्म का सगुणरूप ही, भक्तहितकारी होने के कारण, श्रेष्ठ है। वही तुलसी और उनके द्वारा वर्णित भक्तों का भजनीय है। अतएव उनका प्रतिपाद्य सगुण राम का चरित है, जब कि अद्वैत वेदांत का प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म है।

शंकर आदि माया और अविद्या को पर्याय मानते हैं।[3] तुलसी माया के दो रूप मानते हैं—विद्या और अविद्या। अद्वैत वेदांत में माया चतुष्कोटिविनिर्मुक्ता मानी गयी है।[4] तुलसी के अनुसार माया भगवान् की भावरूपा अभिन्न शक्ति है। वे केवल अविद्या माया को मिथ्या मानते हैं। 'शांकरदर्शन में माया किसी के अधीन नहीं है'[5]; तुलसी-दर्शन में वह राम की दासी है। अद्वैतवाद में जीव अचित् पर चित् का प्रतिबिंब है; अंतःकरणावच्छिन्न चैतन्य है; काल्पनिक वस्तु है।[6] तुलसीदास जीव को वास्तविक नित्य तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार जीव ईश्वर का अंश है, शंकर उसे 'अंश इव कल्पित'[7] मानते हैं। अद्वैतवेदांत ज्ञानमार्गी है, अतः उसमें भक्ति को ज्ञान का साधन माना गया है। तुलसा भक्तिमार्गी हैं। उनके अनुसार भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र अमोघ साधन है, वही भक्त का साध्य है, ज्ञान भक्ति का अंग है। अद्वैतवेदांतियों का लक्ष्य ब्रह्मभावरूपा मुक्ति है; तुलसी का प्राप्य भेदभक्ति है। वह सालोक्य मुक्ति है जिसमें भक्त दासभाव से वैकुंठ-लोक में निवास करता हुआ आनंदलाभ करता है।

विशिष्टाद्वैतवाद और तुलसीदास—

तुलसी-साहित्य में रामानुज-दर्शन के अनेक सिद्धांतों की निबंधना हुई है। विशिष्टाद्वैतवाद में प्रतिपादित किया गया है कि तत्त्व तीन हैं—चित्, अचित् और ब्रह्म (ईश्वर)।[8] प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (विविधागमरूप शास्त्र)।[9] प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ईश्वरसिद्धि नहीं हो सकती; ब्रह्मावगम के प्रमाण श्रुति, स्मृति, पुराण आदि शास्त्र हैं।[10] ब्रह्म

१. ब्र० सू० १।२।१४ और ४।३।१४ पर शा० भा०
२. मायाबिंबो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः। —पञ्चदशी, १।१६
अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः। —सि० बि०, पृ० ७९
३. वि० चू० ११०; विद्यारण्य ने शुद्धसत्त्वप्रधाना प्रकृति को 'माया' तथा मलिनसत्त्वप्रधाना प्रकृति को 'अविद्या' कहा है—पञ्चदशी, १।१६
४. वि० चू० १११, ब्र० सू० १।४।३ पर शा० भा०, भा० द० (उ० मि०), पृ० ३६२
५. दे०— भा० द० (उ० मि०), पृ० ३८०
६. वि० च० १९८-९९; आत्मबोध, २७; सि० बि०, पृ० ७९
७. गीता, १५।७ और ब्र० सू० २।३।४३ पर शा० भा०
८. ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०, पृ० १०३
९. रामानुजसिद्धान्तसार, पृ० ४, २८
१०. रामानुजसिद्धान्तसार, पृ० ३०-३३

सच्चिदानंदस्वरूप है।[1] वह स्वभावतः सगुण है।[2] चैतन्यगुणयुक्त है।[3] आनंदमय है।[4] जगत् का कर्ता, पालक और संहारक है।[5] ब्रह्म से उत्पन्न और उसमें अवस्थित विश्व की रचना आदि उसकी लीला मात्र है।[6] ईश्वर में विषमता, निर्दयता आदि दोष नहीं है। व्यावहारिक जीवन में दृष्टिगोचर वैषम्य जीवों के कर्म के कारण है। कर्म अनादि है।[7] ब्रह्म जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।[8] ब्रह्म ही विश्वरूप में परिणत होता है—वस्त्ररूप में सूत की भाँति।[9] जगत् ब्रह्म से अनन्य है।[10] ब्रह्म विश्वरूप भी है और विश्वातीत भी।[11] निर्गुण भी है और सगुण भी।[12] वह अखिलहेयप्रत्यनीक और समस्तकल्याणगुणात्मक है।[13] सर्वफलप्रद[14], परात्पर[15], अंतर्यामी[16], विश्वायतन[17] और विश्वपति[18] है। तर्क के द्वारा अग्राह्य है।[19] निराकार होते हुए भी दिव्य विग्रह धारण करने में समर्थ है।[20] उसका शरीर अप्राकृत होता है।[21] वह अव्यक्त होने पर भी संराधन से प्रकट हो जाता है।[22] भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन साधुपरित्राण और आनुषंगिक प्रयोजन दुष्टविनाश है।[23] वैकुंठ भगवान् का दिव्य लोक है।[24]

ईश्वर की गुणमयी भावरूपा शक्ति को (विचित्रार्थसर्गकारिणी होने के कारण) 'माया' कहते हैं। वही प्रकृति है।[25] प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार इत्यादि क्रम से सृष्टि का विस्तार

१. ब्र० सू० १।१।१६ पर रा० भा०
२. ब्र० सू० १।१।२१ और १।२।२ पर रा० भा०
३. ब्र० सू० १।१।५-६ पर रा० भा०
४. ब्र० सू० १।१।१३-२० पर रा० भा०
५. ब्र० सू० १।१।२ पर रा० भा०
६. ब्र० सू० २।१।३३, २।३।१४ और गीता, ७।१२ पर रा० भा०; गीता पर रा० भा० का उपोद्घात
७. ब्र० सू० २।१।३४-३५ तथा गीता, ६।६ पर रा० भा०
८. ब्र० सू० १।४।२३ पर रा० भा०
९. ब्र० सू० १।४।२७ और २।१।१९ पर रा० भा०
१०. ब्र० सू० २।१।१५ पर रा० भा०, वेदार्थसंग्रह, पृ० ४६
११. वेदार्थसंग्रह, पृ० १७७-७९
१२. ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०, पृ० ५६-५७; गीता, १२।३-९ पर रा० भा०
१३. ब्र० सू० १।१।२१ पर रा० भा०, वेदार्थसंग्रह, पृ० १२, तत्त्वत्रय, पृ० ७१-७३
१४. ब्र० सू० ३।२।३७-४० पर रा० भा०
१५. ब्र० सू० ३।२।३०-३६ पर रा० भा०
१६. ब्र० सू० १।२।१९ पर रा० भा०
१७. ब्र० सू० १।३।१ पर रा० भा०
१८. ब्र० सू० १।३।४४ पर रा० भा०
१९. ब्र० सू० २।१।११ पर रा० भा०
२०. ब्र० सू० १।१।२१ तथा ३।२।१४ पर रा० भा०
२१. ब्र० सू० २।१।९ पर रा० भा०
२२. ब्र० सू० ३।२।२२-२३ पर रा० भा०
२३. ब्र० सू० १।१।२१ पर रा० भा०, पृ० १८४
२४. दे०—वैकुण्ठगद्यम्
२५. गीता, ७।१४ तथा ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०, पृ० ९१

होता है।[1] सत्य[2] जगत् विनाशी होने के कारण मिथ्या कहा जाता है।[3] जीव ईश्वर का अंश[4], नित्य एवं ज्ञाता[5] है। उसका ज्ञान कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रहता है।[6] वह कर्ता है; उसकी प्रवृत्ति ईश्वराधीन है।[7] जीव ईश्वर से भिन्न है।[8] दोनों में अंशांशिभाव और नियंतृ-नियम्य-संबंध है।[9] मुक्त होने पर भी जीव में ईश्वरत्व नहीं आता, जगत् के सर्जन आदि की शक्ति नहीं आती।[10] उसका सारूप्य केवल भोगसाम्य तक ही सीमित रहता है।[11] जीवों की संख्या अनंत है।[12]

जड़ प्रकृति और अविद्या का संसर्ग जीव के संसार और दुःख का कारण है।[13] विवेक के द्वारा जगत् (ब्रह्मरूप में प्रतीत होने से) सुखदायक हो जाता है।[14] ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति मोक्ष के साधन हैं।[15] वाक्यज्ञानमात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती।[16] यज्ञादि और शमादि विद्या के साधन हैं।[17] मुक्त जीव दिव्य शरीर से भगवान् के प्रकाशानंदमय धाम में निवास करता है।[18]

इन समानताओं के होते हुए भी तुलसी-दर्शन को विशिष्टाद्वैतवाद के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। विशिष्टाद्वैतवाद का एक आधारभूत व्यावर्तक सिद्धांत है जीव और ईश्वर में **शेष-शेषी** तथा **प्रकार-प्रकारी** संबंध की मान्यता।[19] तुलसी ने जीव को राम का **शेष** अथवा **प्रकार** कहीं नहीं कहा। ईश्वर का पंचप्रकारत्व और व्यूह-सिद्धांत भी विशिष्टाद्वैतवाद की अत्यंत महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ हैं।[20] तुलसी ने पांचरात्रों, विशिष्टाद्वैतवादियों या सूर आदि कवियों की भाँति व्यूह-सिद्धांत अथवा चतुर्व्यूह का निरूपण नहीं किया। अतएव (व्यूह-सिद्धांत की अमान्यता के कारण) उनके साहित्य में ईश्वर के पंचप्रकारत्व का भी प्रतिपादन नहीं किया गया। अवतारों (विभवों)

---

१. दे०—तत्त्वत्रय, पृ० ४०-६५
२. वेदार्थसंग्रह, पृ० ४६
३. विनाशीति नास्तिशब्दाभिधेयः। —ब्र० सू० १।१।१ पर रा० भा०, पृ० ६३
४. ब्र० सू० २।३।४२ पर रा० भा०
५. ब्र० सू० २।३।१८-१९ पर रा० भा०
६. ब्र० सू० २।३।३१ पर रा० भा०
७. ब्र० सू० २।३।३३ और ४१ पर रा० भा०
८. ब्र० सू० १।१।१७-१८, २२, ३२ और १।२।३-८ पर रा० भा०
९. ब्र० सू० २।३।४२ पर रा० भा०; ब्र० सू० १।२।२१ और २।३।३९ पर रा० भा०
१०. ब्र० सू० १।३।४४ और ४।४।१७ पर रा० भा०
११. ब्र० सू० ४।४।२१ पर रा० भा०
१२. तत्त्वत्रय, पृ० २६
१३. ब्र० सू० १।३।२ पर रा० भा०
१४. ब्र० सू० १।३।७ पर रा० भा०, पृ० २३९-४०
१५. यतीन्द्र०, पृ० ११२-११३
१६. ब्र० सू० १।१।४ पर रा० भा०, पृ० १३७-३९
१७. ब्र० सू० ३।४।२६-२७ पर रा० भा०
१८. यतीन्द्र०, पृ० ८०
१९. वेदार्थसंग्रह, पृ० ३४
२०. यतीन्द्र०, पृ० १३३-३६; तत्त्वत्रय, पृ० १०१-१८

का वर्गीकरण[1] भी तुलसी को अमान्य है। विशिष्टाद्वैतमत में भक्ति और प्रपत्ति दो भिन्न साधन के रूप में स्वीकृत है; कैवल्य और मोक्ष में भेद माना गया है; भक्त और प्रपन्न मोक्ष-पर बतलाये गये है; शूद्र को भक्ति का अनधिकारी घोषित किया गया है।[2] तुलसीदास भक्ति और प्रपत्ति को भिन्न नहीं मानते। उनकी भक्ति ही प्रपत्त्यात्मक है। उन्होंने कैवल्य और मोक्ष को एक माना है। उनके अनुसार, (स्वभावतः प्रपन्न) भक्त का साध्य भक्ति ही है। उस भक्ति का अधिकार प्राणिमात्र को है। उसमें वर्ण, लिंग आदि का भेद-भाव नहीं है। रामानुज-दर्शन की एक अवेक्षणीय विशेषता है जीवन्मुक्ति के सिद्धांत का तिरस्कार।[3] तुलसीदास ने इस सिद्धांत को अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

रामानंद[4] और तुलसीदास—

रामानंद के अनुसार तत्त्व तीन हैं—ईश्वर, चित् और अचित्। राम ईश्वर हैं। एक, अविनाशी, साक्षी, कूटस्थ, सर्वज्ञ, चेतन, अज, अजर, अमर, मन-वाणी आदि के अगोचर, विश्वाधार, सर्वप्रकाशक, सर्वशासक, सर्वकारण, सर्वशक्तिमान्, जगत् के कर्ता-भर्ता-संहर्ता और वेदप्रतिपाद्य हैं।[5] जीव चित्तत्त्व है। वह नित्य, अल्पज्ञ, अज, भगवत्परतंत्र, एकशरीरव्यापी और कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अभिमान वाला है।[6] प्रकृति अचित् तत्त्व है। अव्यक्त, प्रधान आदि उसके अन्य नाम हैं। वह त्रिगुणात्मिका और विश्व का कारण है। वस्तुतः तत्त्व एक है। उपर्युक्त तीन भेद उसी के हैं।[7] कर्मप्रवाह के कारण संसार-सागर में मग्न जीव पर भगवान् की स्वाभाविकी कृपा होती है।[8] राम और जीव में अनेक संबंध हैं—पितापुत्रत्व, रक्ष्यरक्षकत्व, सेव्यसेवकता आदि।[9] दाशरथ राम का ध्यान ही विधातव्य है।[10] सीता पुरुषकाररूपा हैं।[11] प्रपत्तिनिष्ठा-पूर्वक अनुष्ठित सत्कर्म, ज्ञान और भक्ति से मुक्तिपद की प्राप्ति होती है।[12] सुसंस्कृत भागवतों को चाहिए कि सीतासहित-राम की भक्ति करें। अनन्य भाव से भगवान् का तैलधारावत् निरंतर उपाधिनिर्मुक्त स्मरण 'भक्ति' है।[13] विवेक आदि सात भूमियाँ, यम आदि आठ अवयव तथा श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्तियाँ उस पराभक्ति के साधन हैं।[14] भक्ति-साधन के रूप में

१. तत्त्वत्रय, पृ० १०८
२. यतीन्द्र०, पृ० ११२-१४
३. ब्र० सू० १।१।४ पर रा० भा०, पृ० १३८
४. रामानंद और तुलसीदास के विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के लिए दे० रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव
५. वै० म० भा० गु० ८-९
६. वै० म० भा० गु० ७
७. वै० म० भा० गु० ६
८. वै० म० भा० गु० ६३
९. वै० म० भा० गु० १४-१७
१०. वै० म० भा० गु० ५८-५९
११. वै० म० भा० गु० ३५-३६
१२. वै० म० भा० गु० ६५
१३. वै० म० भा० गु० ६४
१४. वै० म० भा० गु० ६६-६७

सत्संग और गुरूपसत्ति आवश्यक हैं।[1] गुरुभक्त, आस्तिक और प्रपन्न जन ही ही भक्ति का अधिकारी है।[2]

रामानंद-दर्शन के उपर्युक्त सिद्धांत तुलसी को मान्य हैं। किंतु, वे रामानंदी नहीं हैं। रामानंद विशिष्टाद्वैतवादी हैं। सिद्ध किया जा चुका है कि तुलसी विशिष्टाद्वैतवादी नहीं हैं। राम और जीव का शेषशेषित्वसंबंध अथवा भार्यभर्तृत्वभाव[3] भी उन्हें अभीष्ट नहीं है। 'वैष्णव-मताब्जभास्कर' में आवश्यक साधन के रूप में प्रतिपादित और संप्रदाय की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण पंचसंस्कारदीक्षा[4] तुलसी को मान्य नहीं है। रामानंद ने मंत्र,[5] व्रत,[6] अर्चन[7] आदि के विस्तार को महत्त्व दिया है। तुलसी इनके मूलरूप में तो विश्वास करते है, लेकिन इनके आडंबर में उनकी आस्था नही है। इसी प्रकार वैष्णवों के ऊर्ध्वपुंड्र, पंचायुधचिह्न आदि लक्षण का जो वर्णन रामानंद ने आस्थापूर्वक किया है[8] उसके प्रति भी तुलसी ने कोई गौरव प्रदर्शित नहीं किया। इसका कारण यह है कि उन्हें बाह्य प्रदर्शन की अपेक्षा भक्त की आभ्यंतर गरिमा ही श्रेयस्कर जँचती है। सांप्रदायिक भक्तों की यह विशेषता रही है कि वे अपनी संप्रदाय-निष्ठा की अभिव्यक्ति करते आये हैं। तुलसी ने ऐसा कहीं नहीं किया। इसका कारण यही है कि किसी भी संप्रदाय के प्रति वे एकांतनिष्ठावान् नहीं थे। तुलसी को रामानंद-संप्रदाय से अलग मानने का एक सबल प्रमाण यह है कि वे रामानंद की वैरागी-परंपरा के प्रतिकूल स्मार्त धर्म के दृढ़ अनुयायी हैं। रामानंद-संप्रदाय के विशेषज्ञ अनुसंधाता डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव का कथन है कि "रामानन्द-सम्प्रदाय के इतिहास का निर्माण करते समय स्वयं मेरे समक्ष जितनी भी प्रमुख गादियों की परंपराएँ आईं उनमें कहीं भी गोस्वामी तुलसीदास का नाम नहीं था।"[9] उन्हें रामानंद-संप्रदाय के अंतर्गत रखने का प्रयत्न लेखकों की कल्पनामात्र है।[10]

शुद्धाद्वैतवाद और तुलसीदास—शुद्धाद्वैतवाद की अनेक मान्यताएँ तुलसी को स्वीकार्य हैं। ब्रह्म सच्चिदानंदस्वरूप, व्यापक, अव्यय, सर्वशक्तिमान्, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, प्राकृतगुण-रहित, सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जित, सत्य आदि नित्यगुणों से युक्त, सर्वाधार, मायाधीश आनंदाकार और प्रापंचिक पदार्थों से विलक्षण है।[11] वह विरुद्ध धर्मों का आश्रय, निर्गुण-सगुण एवं अनंतमूर्ति है।[12] जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय का हेतु है।[13] उसका निमित्तोपादान

---

१. वै० म० भा० गु० १६६-६७; रामार्चनपद्धति, ७
२. वै० म० भा० १८६, १६१
३. वै० म० भा० गु० १५
४. वै० म० भा० गु० ६१
५. वै० म० भा० गु० १०-५३
६. वै० म० भा० गु० ६८-६२
७. दे०—रामार्चनपद्धति
८. वै० म० भा० गु० १४७-१५०
९. रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ० ३३७
१०. दे०—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १३२
११. तत्त्वदीप, १।६७-६८, शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ८
१२. ब्र० सू० ३।२।२७ पर अणुभा०, तत्त्वदीप, १।७३; तत्त्वदीप, २।८४; तत्त्वदीप, १।३१
१३. ब्र० सू० १।१।२ पर अणुभा०, शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ४, ७

कारण है।[1] ब्रह्म ही कार्यकारणरूप है।[2] विश्व उसका लीलाविलास[3] और अविकृत परिणाम[4] है। जिस प्रकार सुवर्णमय कटक सुवर्णरूप ही है, उसी प्रकार ब्रह्म का परिणाम जगत् ब्रह्मरूप है।[5]

भगवान् की शक्ति 'माया' है; तत्त्वतः भगवत्कार्य जगत् माया द्वारा निर्मित है।[6] इस शक्ति के दो रूप हैं—विद्या और अविद्या।[7] द्रव्य (माया) काल, कर्म, स्वभाव और जीव भगवद्-भावरूप हैं।[8] माया का उपादान प्रकृति है।[9] प्रकृति से ही महदादिक्रम से सृष्टिविस्तार होता है।[10] जगत् का प्रवाह नित्य है; उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।[11] वैकुंठ से प्रपंचात्मक जगत् में भगवान् का समागमन उसका अवतार है।[12] जीव ईश्वर का अंश है; नित्य है; चेतन है; ज्ञाता है; कर्ता-भोक्ता है; दैवाधीन है।[13] उसके संसार का कारण अविद्या माया है।[14] अविद्या पंचपर्वा है।[15] विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होने पर जीव मुक्त हो जाता है।[16] ज्ञान और भक्ति मोक्ष के साधन हैं। केवलज्ञान की अपेक्षा केवलभक्ति गरीयसी है। ज्ञान-युक्त भक्ति श्रेष्ठ है।[17] ज्ञानैकनिष्ठा से कैवल्य की प्राप्ति होती है; किंतु भगवान् की लीला का अतिदुर्लभ आनंद केवल भक्तों को ही मिलता है।[18] भगवान् भक्ति के द्वारा ही लभ्य हैं।[19] भवबंधन से मुक्ति के लिए भगवान् का अनुग्रह आवश्यक है।[20] ज्ञान और भक्ति के साधनरूप में वर्णाश्रमधर्मपालन, स्वाध्याय, गुरुसेवा, वैराग्य, संतोष, योग, भागवत-प्रतिपादित नवधा भक्ति

---

१. तत्त्वदीप, १।६६; अणुभा० पर बालबोधिनी का उपोद्घात, पृ० ५
२. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ६; अणुभा० पर बालबोधिनी का उपोद्घात, पृ० १
३. ब्र० सू० १।१।११ और २।१।३३ पर अणुभा०; शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, १२
४. ब्र० सू० १।४।२६ पर अणुभा०; शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, १३
५. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २०
६. प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्। —तत्त्वदीप, १।२७
माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता। —उपर्युक्त पर प्रकाश
७. विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते। —तत्त्वदीप, १।३५
८. प्रस्थानरत्नाकर, प्रमेयपरिच्छेद, पृ० १६३
९. द्रव्यं माया। प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम्। —प्रस्थानरत्नाकर, प्रमेयपरिच्छेद, पृ० १६३
१०. प्रस्थानरत्नाकर, प्रमेयपरिच्छेद, पृ० १८५-२१६
११. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, १४-१५
१२. अवतरणं वैकुण्ठादत्रागमनम्। —सुबोधिनी, १।१।२, पृ० ७
१३. ब्र० सू० २।३।४३ पर अणुभा०, शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २१; सुबोधिनी, १।१।४२ की अवतरणिका; शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड, १०; ब्र० सू० २।३।१८ पर अणुभा०; ब्र० सू० २।३।३३ पर अणुभा०; सुबोधिनी, १।१।४२, तत्त्वदीप, १।३५
१४. तत्त्वदीप, १।२७ और उस पर प्रकाश
१५. स्वरूपविस्मरण, अंतःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इंद्रियाध्यास, देहाध्यास —तत्त्वदीप, १।३६
१६. विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति। —तत्त्वदीप, १।३७
१७. तत्त्वदीप, १।४८-४९; अणुभा० पर बालबोधिनी का उपोद्घात, पृ० १८-२२
१८. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ६३ और उस पर प्रकाश
१९. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ८७-८८
२०. दे०—दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ श्रीवल्लभाचार्य, पृ० १७१

आदि की अपेक्षा है।[1] वल्लभाचार्य[2] द्वारा स्वीकृत जीवन्मुक्ति, और वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा भागवत का प्रामाण्य तुलसी को भी मान्य है। वल्लभ-संप्रदाय में बालकृष्णोपासना का समादर है।[3] यद्यपि तुलसी के आराध्य लोकरक्षक धनुर्धर राम ही हैं तथापि उन्होंने स्वयं एवं काकभुशुंडि आदि पात्रों के द्वारा भी बालकरूप राम की भजनीयता का उल्लेख किया है।[4] वल्लभ-संप्रदाय में भक्ति की तीन विधाएँ मानी गयी हैं—रुचि, श्रवणादि और प्रेम।[5] 'तब मम धर्म उपज अनुरागा। स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।'[6] में ये तीन विधाएँ देखी जा सकती है।

उपर्युक्त साम्य होने पर भी तुलसी-दर्शन वाल्लभ वेदांत से बहुत भिन्न है। वल्लभ ने जीव के तीन भेद माने हैं—व्यष्टि, समष्टि और पुरुष। ब्रह्म के भी तीन भेद हैं—कृष्ण, अक्षर और अंतर्यामी।[7] तुलसी को यह भेद-निरूपण मान्य नहीं है। "वल्लभाचार्य जी ने आनंदस्वरूप श्रीकृष्ण को ही मूल परब्रह्म, उन्हीं को अपने मार्ग का इष्ट और उन्हीं की भक्ति को परमानंद-प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन, माना है।"[8] परंतु तुलसी ने रामानंद की भाँति, मर्यादापुरुषोत्तम राम को अपना आराध्य माना है।"पुष्टि-मार्ग के पुष्टि-पुरुषोत्तम ब्रह्म और रामानन्दी सम्प्रदाय के मर्यादापुरुषोत्तम ब्रह्म में अन्तर है। राम का अवतार मर्यादापुरुषोत्तम का है और कृष्ण का अवतार मर्यादा-पुरुषोत्तम और पुष्टि-पुरुषोत्तम रसेश, दोनों का है।···धर्म-संस्थापन के लिए जो भगवान् का अवतार होता है वह चतुर्व्यूहात्मक है।···वासुदेव-रूप मोक्षदाता है, संकर्षण-रूप दुष्टों का संहारकारी है, प्रद्युम्न-रूप सृष्टि का रक्षक, काम और गृहस्थ-रूप है तथा अनिरुद्ध-रूप धर्म-रक्षक और धर्मोपदेशक है।···श्रीकृष्ण के अवतार-रूप में दो रूप वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य हैं, एक लोक-वेद-प्रथित पुरुषोत्तम और दूसरा लोकवेदातीत पुरुषोत्तम।"[9]इस प्रकार का अवतारि-भेद या अवतार-भेद एवं चतुर्व्यूहसिद्धांत तुलसीदास को अमान्य है। 'सुबोधिनी' के आधार पर 'प्रमेयरत्नार्णव' में बतलाया गया है कि मत्स्य आदि लीलावतारों का मूल 'अंतर्यामी' है; कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अन्य अवतार अंशावतार हैं; ब्रह्मा आदि गुणावतार हैं।[10]ये मान्यताएँ भी तुलसी-दर्शन के प्रतिकूल हैं। वल्लभ ने जीव को आराग्रमात्र (अणुपरिमाण) कहा है; जगत् की सत्यता सिद्ध करने के लिए उसकी मायिकता और नश्वरता का खंडन किया है।[11]तुलसी ने जीव के अणुत्व का उल्लेख नहीं किया; जगत् की व्यावहारिक सत्यता स्वीकारते हुए पारमार्थिक दृष्टि से उसकी मायिकता एवं नश्वरता का ही बारंबार निरूपण किया है। वल्लभ-संप्रदाय में बहुवर्णित गोलोक, गोकुल

१. तत्त्वदीप, १।४८, २।१८१-१९४; अष्ट०, पृ० ५४२-४३
२. दे०—तत्त्वदीप, १।१५, १।६१; शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ७९
३. दे०—दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ श्रीवल्लभाचार्य, पृ० १८१
४. कवि० १।५-६; रा० ७।७५।१-दोहा, रा० १।११२।२
५. रुचिः श्रवणादि प्रेम चेति भक्तिस्त्रिविधा (सुबोधिनी) —प्रमेयरत्नार्णव, पृ० २५
६. रा० ३।१६।४
७. व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः। अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे ॥—तत्त्वदीप, २।११९
८. अष्ट०, पृ० ४०४
९. अष्ट०, पृ० ४०४
१०. प्रमेयरत्नार्णव, पृ० १४
११. तत्त्वदीप, १।५६ और उस पर प्रकाश तथा आवरणभङ्ग; शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २२-३२

या वृंदावन, रासलीला, मधुरभक्ति, सखी-भाव, पूजा-विधान ग्रादि के प्रति भी तुलसी निष्ठा-वान् नहीं हैं।

सांख्य-योग और तुलसीदास—

सांख्य-योग में प्रतिपादित त्रिगुणात्मिका प्रकृति[1], सृष्टि-प्रक्रिया[2], सत्कार्यवाद[3], तीन प्रमाण[4], पुरुषों की अनेकता[5], प्रकृतिसंयोग से त्रिविध तापों का अनुभव[6], अभ्यास-वैराग्य और अष्टांगिक योग के द्वारा विवेक-ज्ञान से कैवल्य-प्राप्ति[7] आदि के सिद्धांत तुलसीदास को मान्य हैं। किंतु, तुलसी-दर्शन के क्रेंद्र-बिंदु से, ये सिद्धांत गौण हैं। उनके मुख्य सिद्धांत सांख्य-योग से सर्वथा भिन्न हैं। सांख्य तथा योग मूलतः द्वैतवादी और अनीश्वरवादी दर्शन हैं। योग-दर्शन का 'ईश्वर' भी पुरुषविशेष ही है।[8] तुलसी ईश्वरवादी, रामाद्वैतवादी और अवतारवादी हैं। उनकी दृष्टि में यह समस्त जड़चेतनात्मक विश्व ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह ईश्वर का ही अंश एवं ईश्वररूप है। उसी के द्वारा सृष्ट, पालित, संहृत और शासित है। प्रकृति उसी की माया है। जीव (पुरुष) उसी का दास है।

इस तात्त्विक भेद के कारण तुलसी की मोक्षविषयक मान्यताएँ भी सांख्य-योग से भिन्न हैं। सांख्य और योग ज्ञानवादी दर्शन हैं। उनका चरम साध्य पुरुष का कैवल्य है। तुलसी भक्तिवादी हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य दास्य-भक्ति है। योग-दर्शन में जिस 'ईश्वरप्रणिधान'[9] की चर्चा की गयी है वह कैवल्य के साधन समाधि का साधनमात्र है, भक्तों की साध्या भक्ति नहीं है। यथार्थ यह है कि सांख्य-योग की साधना का जो अंतिम बिंदु है, जहाँ कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ से भक्ति का आरंभ होता है। तुलसी ने जिस सांख्यशास्त्रप्रणेता कपिल के प्रति आस्था व्यक्त की है[10] वे अनीश्वरवादी और अभक्तिवादी सांप्रदायिक सांख्यदर्शन के कपिल नहीं हैं। वे 'भागवत' के कपिल हैं[11] जो भगवान् के अवतार हैं, भागवत और भक्तिनिरूपक हैं। उनका सांख्यसमन्वित भक्तिदर्शन ही तुलसीदास का अभीष्ट है।

भक्तिशास्त्र और तुलसीदास—

तुलसी का दर्शन भक्तिशास्त्रसंमत है। उनकी रचनाओं में भक्त्याचार्यों के सिद्धांतों की विशेषरूप से अभिव्यक्ति हुई है। वेदांत-प्रतिपादित ब्रह्म ही भक्तों का भजनीय, इष्टदेव, है।[12]

---

१. सा० का० ११-१४
२. सा० का० ३, २२-४०, ५२-५६;
साङ्ख्यसार, पूर्वविवेक, तृतीय परिच्छेद
३. सा० का० ९
४. सा० का० ४
५. सा० का० १८
६. सा० का० १; साङ्ख्यप्रवचनभाष्य, १।१, १।१९
७. यो० सू० १।१२, २।२६-५५, ४।३४
८. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। —यो० सू० १।२४
९. यो० सू० १।२३
१०. रा० १।१४२।३-४
११. दे०—भा० पु० ३।२४-३३
१२. भ० नि०, पृ० १-३

वह सच्चिदानंदस्वरूप, एक, अद्वितीय और अनिर्वचनीय है।[1] परमैश्वर्य उसका स्वाभाविक गुण है।[2] वह निर्गुण भी है, सगुण भी है।[3] निराकार भी है, साकार भी है।[4] वह अखिल विश्व का शासक, विश्वरूप, अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती है।[5] वह स्वभावतः करुणामय है। प्राणियों के कल्याण के लिए सृष्टि करता है।[6] भक्तों के मंगल के हेतु कारुण्यवश अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है।[7] वह जगत् का कर्ता, पालक और संहारक है।[8] उसकी शक्ति का नाम माया है। अपनी माया के द्वारा ही वह सर्जन आदि कार्यों का संपादन करता है।[9] वह जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादन कारण है।[10] ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उसी के रूप हैं।[11] उनमें कोई भेद नहीं है। जगत् का स्वरूप रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत और सिकता में जल की भाँति मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय है।[12] जीव परमार्थतः ईश्वरस्वरूप, उसका अंश, नित्य, चेतन और आनंदमय है।[13] माया के द्वारा संमोहित होने के कारण वह अपने चित्स्वरूप को भूल कर त्रिगुणात्मक जड़ देहादि से तादात्म्य स्थापित करके संसारदुःखभागी होता है।[14] जीव कर्म, स्वभाव और ईश्वर के अधीन है। ईश्वर ही जीव के शुभाशुभ कर्मों का फलदाता है।[15] अज्ञान मात्र जीव के बंध का कारण नहीं है, उसके संसार का वास्तविक कारण अभक्ति है।[16] अतएव मुक्ति के दो ही मार्ग हैं—ज्ञान और भक्ति।[17] भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है।[18] ईश्वर के प्रति परमप्रेम[19], द्रुतचित्त की भगवदाकारता[20], भक्ति है। वह परमपुरुषार्थरूपा है। मुक्ति उसकी तुलना में अत्यंत तुच्छ

---

१. तत्त्वसन्दर्भ, पृ० १३३-३५
२. शा० भ० सू० २।१।८-९ और उन पर भ० च०
३. भ० नि०, पृ० ४२; भ० च०, पृ० १५६-५७
४. मुक्ता०, पृ० ७
५. भ० नि०, पृ० १-२
६. शा० भ० सू० ३।१।५ पर भ० च०
७. शा० भ० सू० २।१।२३ पर भ० च०
८. तत्त्वसन्दर्भ, पृ० ५६
९. शा० भ० सू० ३।१।२-५ पर भ० च०
१०. शा० भ० सू० ३।१।५ पर भ० च०, पृ० २३६
११. भ० नि०, पृ० ३
१२. शा० भ० सू० ३।२।६ पर भ० च०
१३. शा० भ० सू० ३।२।१ पर भ० च०; तत्त्वसन्दर्भ, पृ० ९८-९९, १३८-४२
१४. तत्त्वसन्दर्भ, पृ० ९०-९१
१५. शा० भ० सू० ३।१।७ पर भ० च०
१६. शा० भ० सू० ३।२।६ और उस पर भ० च०
१७. शा० भ० सू० २।२।२९ पर भ० च०, पृ० २१९-२१
उपाय के रूप में उल्लिखित 'ज्ञान' और 'भक्ति' के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि साधनरूप 'ज्ञान' व्यावहारिक ज्ञान है और साधनरूपा 'भक्ति' गौणी भक्ति है।
१८. ना० भ० सू० २५
१९. ना० भ० सू० २, शा० भ० सू० १।१।२
२०. भ० र० १।३ और उस पर टीका

है। वही भक्त का एकमात्र साध्य है।[1] गुरुपादाश्रय, सत्संग, श्रवण आदि उसके साधन हैं।[2] इत्यादि।

शिव-प्रोक्त आगम और तुलसीदास

पहले कहा गया है कि 'आगम' शब्द का एक अर्थ है—पार्वती के प्रति शिव द्वारा वैष्णव-मत का निरूपण। प्राचीन मनीषियों का कथन है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥[3]

'अध्यात्मरामायण' की रचना शिव-पार्वती-संवाद के रूप में हुई थी। पार्वती के प्रति शिव ने रामकथा एवं रामभक्तिदर्शन के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का निर्माण भी उसी शैली पर हुआ। शंकर ही उसके मूल रचयिता हैं, पार्वती ही उसकी प्रथम श्रोत्री हैं।[4] ग्रंथ की प्रस्तावना में तुलसी ने बल देकर स्पष्ट शब्दों में अपनी आगमानुयायिता का प्रतिज्ञापन किया है—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥[5]
कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबंध बिचित्र बनाई॥[6]

कथा के उपक्रम में याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद की योजना करके याज्ञवल्क्य के मुख से भी इस मान्यता की पुष्टि करा दी है—

ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥
कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद।
भएउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटहि बिषाद॥[7]

इस प्रकार 'आगम' के उपर्युक्त अर्थ में भी तुलसी का मत आगम-संमत है।

गीता-दर्शन और तुलसीदास—

'गीता' भी वैष्णव आगम का ग्रंथ है।[8] वह स्मृति के रूप में भी प्रतिष्ठित है।[9] उसके प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका से सिद्ध है कि वह उपनिषद् भी है। वह उपनिषदों का सार है[10]; अतएव

---

१. भ० र० (टीका), पृ० १४
२. शा० भ० सू० २।२।२९ पर भ० च०
३. भा० द० (उ० मि०), पृ० ३९४ पर उद्धृत
४. रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा॥ —रा० १।३५।६
५. रा० १।३०।२-३
६. रा० १।३३।१
७. रा० १।४७
८. दे०—भा० द० (उ० मि०), पृ० ८१
९. दे०—ब्र० सू० २।३।४५ पर शा० भा०
१०. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ —गीतारहस्य, पृ० २ पर उद्धृत

वेदांत के प्रस्थान-रूप में विशेष समादृत है। तुलसी का 'रामचरितमानस' नानापुराणनिगमादि-संमत है। वह जनसाधारण का महनीय प्रस्थान और लोकप्रिय धर्मग्रंथ है। जिस प्रकार 'गीता' में काव्य और मोक्षशास्त्र का, अध्यात्मज्ञान और भक्तिरस का, साहित्य है[1] उसी प्रकार तुलसीदास की कृतियों में भी। तथापि, उनमें यह अवेक्षणीय अंतर भी है कि 'गीता' काव्यात्मक शास्त्र है और 'रामचरितमानस' शास्त्रात्मक काव्य है। तुलसी दार्शनिक कवि है, दर्शनशास्त्री नहीं।

'गीता' के अधिकांश दार्शनिक विचार तुलसीदास को स्वीकार्य हैं। परब्रह्म परमेश्वर सत्[2], ज्ञानस्वरूप[3], अनादि[4], अनंत[5], अव्यय-अविनाशी[6], सर्वांतर्यामी[7], सर्वव्यापक[8], सर्वावभासक और स्वयंप्रकाश[9] है। सबकी गति, पालक, स्वामी, साक्षी, निवास तथा शरण है।[10] वह निर्गुण और सगुण है; विरोधी गुणों का आश्रय है।[11] वह सब भूतों का सनातन बीज है।[12] जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का हेतु है।[13] जगन्निवास[14] और विश्वरूप[15] परमेश्वर में ही संपूर्ण जगत् अनुस्यूत है।[16] 'गीता' के विश्वरूपधर कृष्ण ने अपने विराट् रूप के ऐश्वर्य का, अपने शरीर के अंतर्गत एकस्थ समस्त जगत् का, दर्शन कराया है।[17] 'रामचरितमानस' के राम ने भी कौशल्या, सती और काकभुशुंडि को अपने उदर में स्थित ब्रह्मांड-निकाय एवं परमेश्वरत्व की प्रतीति करायी है। (यह और बात है कि पात्र और परिस्थिति के अनुसार दोनों के वर्णन-विस्तार में कुछ अंतर भी आ गया है।) 'गीता' में प्रतिपादित किया गया है कि तत्वतः कर्मस्पर्शरहित[18] परमात्मा सज्जनों के परित्राण, दुष्टों के विनाश तथा धर्म के संस्थापन के लिए अवतीर्ण होता है; उसके जन्म-कर्म दिव्य होते हैं।[19] तुलसी ने भी इन सब मान्यताओं का प्रतिपादन किया है।

---

१. "केवल काव्य की ही दृष्टि से यदि इसकी परीक्षा की जाय तो भी यह ग्रंथ उत्तम काव्यों में गिना जा सकता है, क्योंकि इसमें आत्मज्ञान के अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषा में लिखे गये हैं कि वे बूढ़ों और बच्चों को एक समान सुगम हैं; और इसमें ज्ञानयक्त भक्तिरस भी भरा पड़ा है।"
—गीतारहस्य, पृ० १

२. गीता, २।१७, ९।१९
३. गीता, १३।१७
४. गीता, ११।१६, १३।१२
५. गीता, ११।१६, ३७
६. गीता, २।१७, ८।२०, १३।२७
७. गीता, १३।१७
८. गीता, १३।१३
९. दे०—गीता, १५।६ और उस पर विविध भाष्य
१०. गीता, ९।१८
११. गीता, १३।१२-१७
१२. गीता, ७।१०
१३. गीता, ७।६, ९।१८
१४. गीता, ११।३७
१५. गीता, ११।१६
१६. गीता, ७।७
१७. गीता, ११।५-३०
१८. गीता, ४।१४
१९. गीता, ४।७-९

परंतु 'गीता' से तुलसी का वैमत्य भी है। 'गीता' में भगवान् के सगुणरूप की अपेक्षा उनके निर्गुणरूप की श्रेष्ठता बतलायी गयी है। लोकमान्य तिलक की प्रस्थापना है कि "गीता में परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का यद्यपि बहुत-सा वर्णन है, तथापि परमेश्वर का मूल श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण तथा अव्यक्त ही है, और मनुष्य मोह या अज्ञान से उसे सगुण मानते हैं।"[१] तुलसीदास भगवान् के दोनों ही रूपों को तत्त्वतः परमार्थ मानते हुए सगुण रूप को ही श्रेष्ठ एवं भजनीय समझते हैं।

भगवान् की दैवी शक्ति का नाम 'माया' है। वह गुणमयी और दुरत्यया है। भगवत्प्रपन्न जन ही उसे पार कर सकते हैं।[२] 'गीता' में की गयी माया की परिकल्पना का विवेचन करते हुए तिलक जी ने कहा है कि "सृष्टि के आरंभकाल में अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म जिस देशकाल आदि नामरूपात्मक सगुणशक्ति से व्यक्त अर्थात् दृश्यसृष्टिरूप हुआ-सा दीख पड़ता है, उसी को···**माया** कहते हैं।[3] सांख्यों की प्रकृति या उसका व्यक्त फैलाव—अखिल संसार—उस परमेश्वर की माया है।"[४] माया-प्रकृति के द्वारा ही ईश्वर भौतिक विश्व की सृष्टि करता है।[५] उसी की अध्यक्षता में प्रकृति सचराचर जगत् का उत्पादन करती है।[६] यद्यपि 'गीता' में 'अविद्या' शब्द का व्यवहार कहीं भी नहीं हुआ है तथापि **'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।'**[७] और **'भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।'**[८] आदि प्रयोगों से सिद्ध होता है कि 'गीता' में माया के दो रूप स्वीकृत हैं—रचयित्री माया और मोहकारिणी माया। इन्हीं को तुलसी ने **विद्या** और **अविद्या** माया कहा है। "सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के विषय में सांख्यों के सिद्धांत **गीता** को भी मान्य हैं। इसलिए उनकी निश्चित परिभाषा में कुछ अदल-बदल कर उन्हीं के शब्दों में क्षर-अक्षर या व्यक्त-अव्यक्त-सृष्टि का वर्णन **गीता** में किया गया है।"[९] तुलसीदास ने भी वेदांतानुसार सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया को मान्यता दी है। 'गीता' में अभिव्यक्त सत्कार्यवाद का सिद्धांत[१०] भी तुलसी को मान्य है। 'गीता' में निरूपित अष्टधा-प्रकृति[११] का रूप तुलसी को स्वीकार्य है, लेकिन उन्होंने भगवान् की 'परा प्रकृति' के रूप में जीव का निरूपण नहीं किया।

जीव ईश्वर का अंश है।[१२] शरीर नश्वर है, शरीरधारी जीवात्मा नित्य और अविनाशी है।[13] वह जीर्ण शरीर को त्यागकर उसी प्रकार नया शरीर धारण करता है जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण

---

१. गीतारहस्य, पृ० २१९
२. गीता, ७।१४
३. गीतारहस्य, पृ० २७४
४. गीतारहस्य, पृ० २१९
५. गीता, ९।८
६. गीता, ९।१०
७. गीता, ४।६
८. गीता, १८।६१
९. गीतारहस्य, पृ० २१०
१०. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। —गीता, २।१६
११. गीता, ७।४-५
१२. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ —गीता, १५।७
१३. गीता, २।१८, २१, २४

वस्त्र को छोड़कर नया वस्त्र।[1] प्रकृतिसंभव गुण उस अव्यय जीवात्मा को देह में निबद्ध करते हैं।[2] माया उसके ज्ञान को हर लेती है; उसे कठपुतली की भाँति भ्रमाती रहती है।[3] संसार-चक्र से मुक्ति पाने के अनेक साधन हैं—कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति आदि।[4] कर्मयोग तो 'गीता' का मुख्य प्रतिपाद्य ही है। उसमें वर्णाश्रमधर्मपालन को विशेष गौरव दिया गया है।[5] उसके द्वितीय अध्याय में विस्तारपूर्वक बतलाया गया है कि सांख्ययोग के द्वारा साधक ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है। षष्ठ अध्याय में प्रतिपादित किया गया है कि ध्यानयोग से परागति की उपलब्धि होती है। द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ प्रशस्यतर है; समस्त कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।[6] अनेक स्थलों पर भक्त और भक्ति की महिमा का निरूपण किया गया है।[7] भगवान् ने कहा है कि भक्त के योगक्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ[8]; भक्त चार प्रकार के होते हैं, चारों ही सुकृती और उदार हैं, किंतु ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है।[9] माया को पार करने का अमोघ उपाय प्रपत्ति है।[10] आराधक की कामना की दृष्टि से, उपासना दो प्रकार की है—सकाम और निष्काम। निष्काम उपासना ही उपासक का आदर्श है।[11] आराध्य के स्वरूप की दृष्टि से, उपासना के दो रूप हैं—निर्गुणोपासना और सगुणोपासना। निर्गुणोपासना अधिक क्लेशकारिणी है; अतः सगुणोपासना विशेष श्रेयस्कर है।[12] 'अभितो ब्रह्मनिवार्ण वर्तते विदितात्मनाम्।'[13] से प्रमाणित है कि 'गीता' को **जीवन्मुक्ति** का सिद्धांत मान्य है। तुलसीदास ने भी इन सब मान्यताओं का यथास्थान निबंधन किया है। परंतु, 'गीता' का यह मत कि शरीरस्थ जीवात्मा निर्गुण-निर्लेप परमात्मा ही है तुलसी को अंगीकार्य नहीं है। वे ईश्वर और जीव में भेद मानते हैं।

'गीता' में निर्गुणनिराकारब्रह्मभावना और सगुणसाकारभगवद्भावना का; एकेश्वरवाद और बहुदेववाद का; कर्म, योग, ज्ञान और भक्ति का; तथा सांख्य और वेदांत की दार्शनिक विचारधारा का समन्वय उपस्थापित किया गया है। 'गीता' की भाँति ही तुलसीदास भी समन्वयवादी है। परंतु युगधर्म के वैशिष्ट्य के कारण दोनों के समन्वयवाद में भी विशेषता है। व्यास के युग में एक ओर वैदिक धर्म और पूर्वमीमांसा-विहित कर्मकांड की अतिशयता थी; दूसरी ओर उत्तरमीमांसा का कर्मोपेक्षक ज्ञानमार्ग था। निर्गुण-निराकार ब्रह्म तथा औपनिषद अद्वैत-वाद और बहुसंख्यक पौराणिक देवी-देवताओं की उपासना में विरोध दिखायी देता था। द्वैत-वादी सांख्य-योग और अद्वैतवादी वेदांत में भी वैमत्य था। "गीता के अध्ययन से ही पता चलता

१. गीता, २।२२
२. गीता, १४।५
३. गीता, ७।१५, १८।६१
४. गीता, १३।२४-२५
५. गीता, २।३१, ३।३५ और ४।१२-१३ तथा उन पर शा० भा०
६. गीता, ४।३३
७. गीता, ८।२२, ९।२९, ११।५४, १४।२६
८. गीता, ९।२२
९. गीता, ७।१६-१८
१०. गीता, ७।१४
११. गीता, ९।२०-२७
१२. गीता, १२।५-८
१३. गीता, ५।२६

है[1] कि उस समय भारतवर्ष में चार प्रकार के पृथक्-पृथक् मार्ग प्रचलित थे···। इन चारों के नाम हैं—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। जो जिस मार्ग का पथिक था वह उसे ही सबसे बढ़िया मानता था; उसकी दृष्टि में मोक्ष का दूसरा मार्ग था ही नहीं।"[2] यह भी प्रश्न था कि ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में कौन श्रेष्ठ है। व्यास ने अपेक्षानुसार इन सबका समन्वय उपस्थित किया। तुलसीदास के सामने, सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप में, ये सब जटिलताएँ तो थीं ही; इनके अतिरिक्त भी अनेक समस्याएँ खड़ी हो गयी थीं। उनके युग में भारतीय और अभारतीय संस्कृतियों का संघर्ष था। परंपरागत वर्णाश्रम धर्म के विरोधियों की संख्या बढ़ रही थी। दर्शनशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों (और केवल वेदांत के ही अंतर्गत प्रचलित विभिन्न संप्रदायों) में परस्पर खंडन-मंडन तथा वितंडावाद की प्रवृत्ति उत्तेजना की सीमा पर पहुँची हुई थी। शैव-शाक्त-वैष्णव एवं निर्गुणभक्ति तथा सगुणभक्ति के बहुसंख्यक संप्रदायों और पंथों का संघर्ष भी कम नहीं था। तुलसी ने अपने युग की परिस्थिति के अनुसार आस्तिक विचारधाराओं का समन्वय किया।

गीता-दर्शन की एक महती विशेषता उसमें पारमार्थिक ज्ञान एवं व्यावहारिक जीवन का संतुलित और समंजस समन्वय है।[3] तुलसीदास ने भी अपनी कृतियों में राम के परमार्थरूप तथा उनकी परमार्थरूपा भक्ति का निरूपण करते हुए दर्शन के व्यावहारिक पक्ष धर्म की मर्यादा का सम्यक् ध्यान रखा है। उनके राम अधर्म के नाश और धर्म के संस्थापन के लिए अवतार लेते हैं। इसीलिए उनके प्रबंधों में पात्रों के शीलनिरूपण पर इतना अधिक बल दिया गया है।

'गीता' और 'रामचरितमानस' की सिद्धांत-प्रतिपादन-शैली में भी सादृश्य है। अर्जुन-जैसे अधिकारी श्रोता ने प्रपत्तिपूर्वक शिष्यभाव से श्रेय के यथार्थ स्वरूप के विषय में अपनी जिज्ञासा प्रकट की है।[4] भगवान् कृष्ण ने अपने ज्ञानोपदेश द्वारा उनके मोह का निरास किया है। उपदेश की समाप्ति पर गतसंदेह अर्जुन ने उनके प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए अपने मोहनाश और ज्ञानोपलब्धि की प्रज्ञप्ति की है।[5] 'रामचरितमानस' के अधिकारी जिज्ञासु श्रोताओं ने भी विनम्रतापूर्वक राम के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया है[6] एवं ज्ञाननिधि वक्ताओं ने उनका समुचित समाधान किया है। कथा की समाप्ति पर इन श्रोताओं ने भी अपनी अज्ञाननिवृत्ति तथा वक्ताओं के प्रति कृतज्ञता का सादर ज्ञापन किया है।[7] 'गीता' के अर्जुन की भाँति 'राम-चरितमानस' के श्रोता भी अंततोगत्वा 'गतसंदेह' हो गये हैं। 'गीता' भगवद्गीता है, भगवान् ने आद्योपांत उत्तम पुरुष के पद से उपदेश किया है। 'रामचरितमानस' के राम ने भी अनेक स्थलों

१. दे०—गीता, १३।२४-२५

२. भा० द० (ब० उ०), पृ० १०३

3. The central interest of the Gita's philosophy and Yoga is its attempt, the idea with which it sets out, continues and closes, to reconcile and even effect a kind of unity between the inner spiritual truth in its most absolute and integral realisation and the outer actualities of man's life and action.

—Essays on the Gita (second series), P. 398

४. गीता, २।७

५. गीता, १८।७३

६. रा० १।४५।३-१।४७।१, १।१०७-१।११०

७. रा० ७।१२४ख-७।१२५।२, ७।१२९।४-दोहा

पर लक्ष्मण, शबरी, नारद, भरत आदि के प्रति तत्त्वज्ञान एवं मोक्षसाधनों का स्वयं निरूपण किया है। 'गीता'[1] के समान 'रामचरितमानस'[2] में भी उपसंहार करते हुए प्रतिपादित विषय के अधिकारी और फलश्रुति का उल्लेख किया गया है।

इस प्रसंग में एक भेदक तथ्य भी ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहता कि शास्त्रग्रंथ 'गीता' के वक्ता में तर्कबुद्धि की प्रधानता है और भक्तिकाव्य 'रामचरितमानस' के वक्ताओं में विश्वास की। यही कारण है कि सारा व्याख्यान संपन्न कर लेने के उपरांत आचार्य-धर्म का निर्वाह करते हुए भगवान् कृष्ण को अर्जुन से यह पूछना पड़ा कि क्या तुमने मेरा प्रवचन एकाग्रचित्त से सुना, और क्या उसे सुनकर तुम्हारा अज्ञानजनित मोह दूर हुआ।[3] परंतु 'रामचरितमानस' के वक्ताओं के मन में इस प्रकार का कोई संदेह उठा ही नहीं। कथा का निर्वहण करते हुए **'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥'**[4] कहकर काकभुशुंडि ने गरुड़ से यह नहीं पूछा कि मेरी बात तुम्हारी समझ में आयी या नहीं। **'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत स्रवन छूटहिं भवपासा॥'**[5] कहकर शंकर ने अपने को 'सहज जड़'[6] माननेवाली पार्वती से भी यह पूछना बिल्कुल अनावश्यक समझा कि राम की रहस्यमयी लीला के इतिहास का बोध तुम्हें हुआ या नहीं। उन श्रोताओं ने बिना पूछे ही अपनी मोहनिवृत्ति एवं यथार्थप्रतीति का निवेदन किया है।

तुलसी के उत्तमर्ण ग्रंथों में से 'गीता' भी एक है। उससे शब्दार्थ-ग्रहण करके भी उन्होंने उसकी आप्तता स्वीकार की है।[7] लेकिन, 'गीता' और 'रामचरितमानस' की केंद्रीय विचार-धारा में एक तात्त्विक भेद है। दोनों के पात्रों की भिन्नता के कारण उनके प्रयोजन और मुख्य

१. गीता, १८।६७-६८
२. रा० ७।१२८।२-४; रा०, अंतिम श्लोक
३. कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ —गीता, १८।७२
४. रा० ७।१२३।१
५. रा० ७।१२६।१
६. रा० १।१२०।२
७. उदाहरण के लिए, मि० दे०—
रा० १।२२।३-४ —गीता, ७।१६-१७
रा० १।१२१।३-दोहा —गीता, ४।७-८
रा० १।२४२।१ —गीता, ११।१०-१६
रा० २।९३।१-२ —गीता, २।६९
रा० २।९४।४ —गीता, २।३४
रा० २।३१७।४ —गीता, ५।१०
रा० ३।३९ क —गीता, ७।२५
रा० ३।४३।२-३ —गीता, ९।२२
रा० ४।३।४ —गीता, ९।२९
रा० ७।८७ —गीता, १५।१९, १८।६२
वि० ११९।३ —गीता, २।६९
वि० १३५।३ —गीता, ४।११, ९।२९

प्रतिपाद्य विषय में भी भिन्नता है। अर्जुन का मोह कर्तव्याकर्तव्य के विषय में है।[1] अपने को 'धर्मसंमूढचेता' कहकर उन्होंने असंदिग्ध रूप से इस तथ्य का निवेदन कर दिया है।[2] आगे चलकर अर्जुन ने स्पष्ट प्रश्न किया है—कर्मसंन्यास और कर्मयोग में कौन श्रेयस्कर है?[3] और उनके इस प्रश्न का भगवान् ने निर्भ्रांत उत्तर दिया है—संन्यास और कर्मयोग दोनों ही निःश्रेयसकर हैं; किंतु कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।[4] सारा उपदेश सुन लेने पर अंत में संशयमुक्त अर्जुन ने कर्मयोग में प्रवृत्त होने की ही प्रतिज्ञा की है।[5] इस प्रकार उपक्रम से उपसंहार तक (योग, ज्ञान, भक्ति आदि का समन्वय होने पर भी) कर्मयोग ही 'गीता' का साध्यपक्ष है। भक्तिवादियों ने 'गीता' को मुख्यतया भक्ति-सिद्धांत-प्रतिपादक ग्रंथ माना है। परंतु, तुलसीदास उनकी इस मान्यता से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। उन्होंने 'विनयपत्रिका' में कहा है—

मानत भलहि भले भगतन्हि तें कछुक रीति पारथहि जनाई।[6]

'कछुक रीति पारथहि जनाई' से यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि 'गीता' में भक्तिसिद्धांत का केवल आंशिक निरूपण हुआ है। वस्तुतः कर्मयोग के सिद्धांत का प्रतिपादन ही 'गीता' का लक्ष्य है। 'रामचरितमानस' के श्रोताओं का मोह या जिज्ञासा अवतारी एवं अवतार राम के विषय में है। अतएव मानसकार का मुख्य प्रतिपाद्य अवतारी तथा अवतार राम की अभिन्नता, उनकी लीला और भक्ति है। इसीलिए मानस के श्रोताओं ने कथा के अंत में '**करिष्ये वचनं तव**' न कहकर यह कहा है कि '**रामचरन नूतन रति भई।**'[7], '**रामचरन उपजेउ नव नेहा।**'[8] 'गीता' का संदेश वैराग्य-योग-ज्ञान-भक्ति-समन्वित कर्मयोग है और तुलसी का संदेश कर्म-वैराग्य-योग-ज्ञान-समन्वित **भक्तियोग** है।

पुराण और तुलसीदास

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तुलसी-दर्शन को किसी दार्शनिक संप्रदाय की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। उनका दर्शन वस्तुतः पौराणिक दर्शन है। 'पौराणिक दर्शन' कहने का

१. 'गीता' के तात्पर्य के विषय में दे०—गीतारहस्य, विषयप्रवेश, पृ० ६-१६
२. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ —गीता, २।७
३. संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ —गीता, ५।१
४. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ —गीता ५।२
५. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ —गीता, १८।७३
६. वि० २४०।४
७. बोलेउ प्रेम सहित गिरा गरुड़ बिगत संदेह॥
मैं कृतकृत्य भएउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति रस सानी॥
राम चरन नूतन रति भई। माया जनित बिपति सब गई॥ —रा० ७।१२४-७।१२५।१
८. सुनि सब कथा हृदयँ अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई।
नाथकृपा मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा॥
मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥ —रा० ७।१२९।४-दोहा

यह अर्थ कदापि नहीं है कि पुराणों में जो कुछ भी दार्शनिक विचार निबद्ध किये गये हैं उन सभी की अभिव्यक्ति तुलसी-साहित्य में हुई है। पुराण तो भारतीय विचारधारा के विश्वकोश हैं और तुलसीदास की रचनाएँ काव्यकृतियाँ हैं। यथार्थ यह है कि तुलसी-साहित्य में जो दार्शनिक सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं वे विभिन्न पुराणों में निश्चय ही उपलब्ध हैं। तुलसीदास पर पुराणों का प्रभाव दुहरा है—प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से और प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से। प्रबंध के विभिन्न परिच्छेदों में तुलसी-दर्शन के प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन करते समय हम पौराणिक संदर्भों का स्थान-स्थान पर उल्लेख करते हुए यह संकेत करते गये हैं कि तुलसी की दार्शनिक विचारधारा के मुख्य स्रोत पुराण हैं।[1]

पुराणों में प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर एक है। वह अनिर्वचनीय है। नाम-रूप उसकी उपाधियाँ हैं। विष्णु, शिव, देवी, राम, कृष्ण आदि उसी के विभिन्न नाम हैं। स्वेच्छा-नुसार भक्त उसे किसी भी रूप में भज सकता है। परमात्मा सच्चिदानंदस्वरूप है। निर्गुण और सगुण है। अनादि, अनंत, अक्षर, अकल, अनीह, निर्विकार, निरुपाधि, निरंजन, अगोचर और गुणातीत है। ज्ञान, बल, बुद्धि, ऐश्वर्य, दया, कृपा, भक्तवत्सलता आदि दिव्य गुणों वाला है। सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वरूप और सर्वशासक है। वह विरोधी गुणों का आश्रय भी है। जगत् का कर्ता, पालक और संहर्ता है। वही ब्रह्मा रूप से स्रष्टा, विष्णुरूप से पालक और शिवरूप से संहारक है। ईश्वर की शक्ति माया है। वही प्रकृति है। उसी से विश्व का विकास हुआ है। उसी से प्रलय होता है। सृष्टि भगवान् का लीला-विलास है। विश्व-रचना का दूसरा प्रयोजन है जीव का कल्याण।

भगवान् से ही काल, कर्म, स्वभाव और गुणों की उत्पत्ति होती है। उन्हीं की प्रेरणा से महदादि-क्रम से सृष्टिविस्तार होता है। विविध प्रकार के भोगायतनों, भोगस्थानों तथा भोग्य पदार्थों की रचना होती है। असंख्य लोकों वाला यह ब्रह्मांड भगवान् का ही रूप है। सर्वव्यापक होते हुए भी वे अपने विशिष्ट दिव्य लोक में निवास करते हैं। धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होने पर भक्तों के परित्राण, धर्म-संस्थापन एवं दुष्टों के विनाश तथा लीला के लिए आव-श्यकतानुसार अवतीर्ण होते हैं। अवतार असंख्य हैं। उनमें अधिक लोकप्रसिद्ध अवतार दस हैं। उनमें भी राम और कृष्ण की विशेष ख्याति है।

जीव ईश्वर का अंश, नियाम्य, नित्य, चेतन और आनंदमय है। माया के कारण उसका ज्ञान और आनंद तिरोहित हो जाता है। वह कर्ता और भोक्ता है। कर्म करने में स्वतंत्र किंतु फल भोगने में ईश्वराधीन है। कर्मवश अनेक योनियों में भ्रमता हुआ त्रिविध तापों से पीड़ित होता है। भगवान् की अहैतुकी कृपा से उसकी बंधन-मुक्ति होती है। मोक्ष के प्रत्यक्ष साधन ज्ञान और भक्ति हैं। भक्ति श्रेष्ठ है, अनिवार्य और अमोघ है। कर्म, योग, वैराग्य आदि उन साधनों के ही साधन हैं। मुक्त जीव भगवान् के दिव्यधाम में पहुँचकर दिव्य शरीर से आनंद-भोग करता है; फिर इस संसार-चक्र में नहीं पड़ता। ये मान्यताएँ अतिशय विस्तार के साथ पुराणों में उपस्थापित की गयी हैं। तुलसी ने अपने साहित्य में पौराणिक दर्शन के इन सिद्धांतों का निबंधन किया है।

तुलसीदास ने अपनी माधुकरी वृत्ति के अनुसार भारतीय वाङ्मय में जो कुछ भी आदेय

१. विस्तृत जानकारी के लिए दे०—'रामचरितमानस' पर पौराणिक प्रभाव (अप्रकाशित)

प्रतीत हुआ उसे बिना किसी संकोच के ग्रहण किया।[1] परंतु उनके प्रधान उत्तमर्ण पुराण ही हैं। विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न पुराणों से उन्होंने जो शब्दार्थ-ग्रहण किया है उसका दिग्दर्शनमात्र ही तुलसी-दर्शन की पौराणिकता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।[2] अनेक स्थलों पर उन्होंने

---

१. उदाहरण के लिए, मि० दे०—
  रा० १।१।सो०२—'भागवत' पर श्रीधरकृत टीका, मङ्गलश्लोक
  रा० १।३ क—सुभाषितरत्नभाण्डागार, सज्जनप्रशंसा, ३
  रा० १।१८—रघुवंश, १।१
  रा० २।४७।४—भर्तृहरि-नीतिशतक, ४६
  रा० २।५६—यो० वा० ६/१।२५।६४
  रा० २।९२।४—आदिरामायण, पूर्वखण्ड, पत्र २८६
  रा० ४।६।४—याज्ञ० ३।२३२-३३
  रा० ४।२१।२-३—भर्तृहरि-नीतिशतक, ७४
  रा० ४।२६—अवताराणां हेतुरिच्छा—तत्त्वत्रय, पृ० ११४
  रा० ७।१२२क—भर्तृहरि-नीतिशतक, ४
  रा० ७।१२२क—सत्योपाख्यान, १५।१६-१७ दे०—मा० पी०
  वि० १११।४—महिम्नस्तोत्र, ६
  वि० १८८।१-५—धम्मपद, ११।८-९
  वि० १९८।३—यो० वा० ६/१।२६।६
  वि० २०१।४—हितोपदेश, प्रस्ताविका, २५
२. उदाहरण के लिए, मि० दे०—
  रा० १।१।सो०२—भवि० पु०, ब्राह्म पर्व, १।३
  रा० १।१०।२-३—भा० पु० १।५।१०-११
  रा० १।२३।२—भा० पु० १।२।३२
  रा० १।२३।२—भा० पु० ४।२१।३५
  रा० १।६९।४—भा० पु० १०।३३।३०
  रा० १।६९।४—शि० पु० २।३।८।२०
  रा० १।७३।२—भा० पु० २।९।२३
  रा० १।७३।२—भा० पु० ६।४।५०
  रा० १।११०।१—भवि० पु०, ब्राह्मपर्व, ६।६
  रा० १।११२।१—भा० पु० १०।१४।२५-२८
  रा० १।१३८।३—शि० पु० २।१।४।३७
  रा० १।१८७।५-१।१८८।४—अ० रा० १।२।३०-३२
  रा० १।२०१।२-४—भा० पु० १०।३९।४१-४३
  रा० २।५६।१—ब्र० वै० पु० १।१०।४८
  रा० २।१२८।२-२।१३१—अ० रा० २।६।५२-६३
  रा० ३।५।४-५—भा० पु० १०।२९।२५
  रा० ३।५।६-८—शि० पु० २।३।५४।७३-७७
  रा० ३।२९।३—भा० पु० १०।७४।३४
  रा० ४।१४—भा० पु० १०।२०।१६
  रा० ४।१५।१—भा० पु० १०।२०।९
  रा० ४।१५।३—भा० पु० १०।२०।८

पुराणों के श्लोकों के आशय तथा आलंकारिक विधान का भी अनुसरण किया है।[1] यह उनकी

रा० ४।१६।१—वि० पु० ५।१०।११
रा० ४।१६।३—वि० पु० ५।१०।८
रा० ४।१६।४—भा० पु० १०।२०।३८
रा० ४।१६।५—भा० पु० १०।२०।४३
रा० ४।१६—भा० पु० १०।२०।४६
रा० ४।१७।३—भा० पु० १०।२०।४२
रा० ५।४१।४—भा० पु० ६।५।४४
रा० ५।४२।२-दोहा—भा० पु० १०।३८।३-२३
रा० ६।२३ग—भा० पु० १०।६०।१५
रा० ६।११०।४-५—अ० रा० २।५।१४-२४
रा० ७।४०।१—आदिपु० ३।१०
रा० ७।१००।५—ना० पु० १।४१।५८
वि० ६८।२—भा० पु० ५।१।१४, १०।६।१४
वि० ११३।२—भा० पु० ३।६।६
वि० १३६।३-५—वि० पु० ६।५।१-२४
वि० २४६।४—भा० पु० १।१३।४२
दो० २००—भा० पु० १०।६३।२६

१. उदाहरणार्थ, मि० दे०—
रा० १।१।श्लोक ५—अ० रा० १।१।३४, २।५।२३
रा० १।१।श्लोक ६—अ० रा० ७।५।३७
रा० १।१।श्लोक ७—अ० रा० १।१।३
रा० १।१८—शि० पु० २।२।२४।५, २।२।२५।६६; वि० पु० १।८।१८
रा० १।७०।२—ब्र० वै० पु० ३।२६।४३
रा० २।६२।२—शि० पु० २।३।१६।२८
रा० १।१०७-१।१११।२—अ० रा० १।१।७-१५
रा० १।११२-१।११६।३—अ० रा० १।१।१६-२४
रा० १।११३।१—भा० पु० २।३।२०
रा० १।११३।१, ३—आदिपु० ८।२८
रा० १।११३।२—आदिपु० ८।२६
रा० १।११३।२—भा० पु० २।३।२२
रा० १।११८।३-४—वि० पु० ५।१।४०
रा० १।११६।१—अ० रा० ६।१५।६२
रा० १।१२१।३-दोहा—भा० पु० ६।२४।५६, ब्र० पु० ५६।३५-३६, १८०।२६-२७, १८१।२-४, (गीता, ४।७-८)
रा० २।२४।३—वि० पु० १।२०।१६
रा० २।६२।२—अ० रा० २।६।६-१५
रा० २।२१६।२—भा० पु० ६।१७।२२
रा० ४।११।४—अ० रा० २।६।५८
रा० ६।१११।८—ना० पु० १।३।२६
रा० ७।११५।१—भा० पु० १०।१४।४

पुराण-निष्ठा का ही परिणाम है। 'रामचरितमानस' तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादक प्रधान ग्रंथ है। वह पौराणिक शैली में लिखा गया शास्त्रमहाकाव्य है। यह और बात है कि पुराणों का वस्तुविन्यास व्यास-शैली में किया गया है, किंतु 'रामचरितमानस' का विषय-निरूपण काव्यानुसार कहीं व्यस्त है और कहीं समस्त। अनेक स्थलों पर, अनेक दृष्टियों से, तुलसी ने पुराणों का अविकल अनुसरण किया है। जिस प्रकार 'भागवतपुराण' के मंगलश्लोक में अद्वैतसिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार 'रामचरितमानस' में भी।[1] 'भागवत' की भाँति 'मानस' का प्रतिज्ञावाक्य भी उसकी निगमसंमतता की घोषणा करता है।[2] जिस प्रकार 'अध्यात्मरामायण' में जिज्ञासु पार्वती के परिप्रश्न का समाधान करने के लिए शंकर ने ब्रह्म राम का प्रतिपादन किया है उसी प्रकार 'रामचरितमानस' में भी। पुराणों की भाँति 'रामचरितमानस' की रचना भी रोचक संवादशैली में हुई है, अपेक्षानुसार सामान्य और विशिष्ट वक्ता-श्रोताओं की योजना की गयी है। पुराणों के समान ही 'रामचरितमानस' में भी दार्शनिक सिद्धांतों का बहुत कुछ निरूपण मंगलाचरण[3], विभिन्न स्तुतियों[4] और गीताओं के माध्यम से किया गया है। गीताएँ भी दो प्रकार की हैं—स्वयं भगवान् राम द्वारा कही गयी भगवद्गीताएँ[5] और भक्तों द्वारा कही गयी भक्तगीताएँ।[6] भगवान् से लेकर खलों तक की व्यापक वंदना, संत-असंत-लक्षण, संपूर्ण प्रबंध और प्रबंधांशों की फलश्रुतियों, शकुनापशकुन, अलौकिक रामचरित आदि की वर्णन-शैली पर भी पुराणों का अन्यतम प्रभाव है।

पुराणों का दर्शन सनातनधर्म-दर्शन है। वे हिंदू-विचारधारा की समस्त मान्यताओं के आकर हैं। उनमें स्मार्त धर्म की अखिल विधाओं का सांगोपांग निरूपण करते हुए वर्णाश्रमधर्म का मुख्यतया प्रतिपादन किया गया है। उनकी दृष्टि मानवतावादी रही है। अतः मानवधर्मों (साधारणधर्मों) को भी विशेष गौरव दिया गया है। उन्होंने अनेकता में एकता का दर्शन किया है। स्मार्त पंचदेवोपासना की महत्ता स्वीकार करते हुए एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है। उनकी

रा० ७।७३।३-४—अ० रा० १।१।२२
रा० ७।११०।८—ना० पु० १।१६।३३
रा० ७।११५।१—ना० पु० १।३।६८
वि० २६४।३—ना० पु० १।४।९
कवि० ७।४७—ब्र० वै० पु० ४।६।४५

१. भा० पु० १।१।१, मि० दे०—रा० १।१।श्लोक ६
२. भा० पु० १।१।३, मि० दे०—रा० १।१।श्लोक ७
३. दे०—सातों सोपानों के मंगलश्लोक
४. रा० १।१८६।१-४, १।१९२।२-४, १।२११।२-४, १।२३५।३-१।२३६।२, १।२८५।१-३, ३।४।१-१२, ३।११।१-११, ३।३२।१-४, ६।११०।२-६, ६।१११।१-११, ६।११३।१-९, ६।११५।१-५, ७।१३।१-६, ७।१४।१–दोहा क, ७।३४।१–दोहा, ७।५१।१-५, ७।१०८।१-८ तथा 'विनयपत्रिका' की स्तुतियाँ
५. रा० ३।१५।१-३।१६, ३।३५।४-३।३६।५, ३।३७।३-३।३८, ३।४३।२-३।४४, ३।४५।३-३।४६।४, ४।११।२-३, ५।४३।४-५।४४।३, ५।४८।१–दोहा, ६।२।३-६।३।२, ६।८०।२-दोहा क, ७।३७।३-७।४१, ७।४३।२-७।४६, ७।८६।१-७।८७
६. रा० १।११२।१-१।११६।३, २।९२।२-२।९४।१, ३।५।२-सो०, ५।२१।२-५।२३, ५।३८।३-५।३९।४, ६।६।३-६।७।४, ६।१४।४-६।१५, ६।३६।१-६।३७, ७।७०।३-७।७३, ७।७८।२-७।७९।२, ७।८९।३-७।९२, ७।१११।२-३, ७।११५।१-७।१२३।१, ७।१२६।१-७।१२७

विचारधारा समन्वयवादी है। इसीलिए उन्होंने वैष्णव, शैव, शाक्त आदि संप्रदायों के आराध्य देवों में समन्वय स्थापित करते हुए उन्हें एक ही परमात्मा का स्वरूप माना है। विष्णु, शिव आदि को उसी की शक्तिविशेष के रूप मे स्वीकार किया है। विभिन्न संप्रदायों में विहित मोक्ष के विभिन्न साधनों (कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति) में सामंजस्य दिखाते हुए भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। वैष्णव पुराणों का एक मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् के अवतारों और उनकी लीला का वर्णन है। तुलसीदास की रचनाएँ पुराणों की इस धार्मिकता, समन्वय-भावना, अवतारवादिता और भक्तिनिष्ठा से आद्योपांत अनुप्राणित हैं। उपर्युक्त पर्यवेक्षण से यह सिद्ध है कि तुलसीदास का रामभक्तिदर्शन सांप्रदायिक दर्शन नहीं है। पुराणों की प्रतिपाद्यवस्तु, शब्दार्थ और शैली का इतना अधिक अनुसरण इस स्थापना का अकाट्य प्रमाण है कि उनकी विचारधारा पौराणिक विचारधारा है। उनका दर्शन समन्वयवादी दर्शन है।

अनुबंध

अनुबंध—१

काव्यदर्शन और भक्तिरस

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदौं सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ।।[1]

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना । ज्ञान नयन निरखत मन माना ।।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा । बरनब सोइ बर बारि अगाधा ।।
राम सीअ जस सलिल सुधा सम । उपमा बीचि बिलास मनोरम ।।
पुरइनि सघन चारु चौपाई । जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई ।।
छंद सोरठा सुंदर दोहा । सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा ।।
अरथ अनूप सुभाव सुभाषा । सोइ पराग मकरंद सुबासा ।।
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला । ज्ञान बिराग बिचार मराला ।।
धुनि अवरेब कबित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ।।
अरथ धरम कामादिक चारी । कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी ।।
नव रस जप तप जोग बिरागा । ते सब जलचर चारु तड़ागा ।।
सुकृती साधु नाम गुन गाना । ते बिचित्र जल बिहग समाना ।।
संत सभा चहुँ दिसि अँवराई । श्रद्धा रितु बसंत सम गाई ।।
भगति निरूपन बिबिध बिधाना । छमा दया दम लता बिताना ।।
सम जम नियम फूल फल ज्ञाना । हरिपद रति रस बेद बखाना ।।[2]

तुलसी का काव्यदर्शन—

काव्यलक्षण—तुलसीदास दार्शनिक कवि हैं। उनका काव्य भक्तिरस का काव्य है। उनमें काव्यकवित्व भी है और शास्त्रकवित्व भी। शास्त्रीय दृष्टि से उनका मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति-दर्शन है। परंतु काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की निदर्शना भी उन्होंने साररूप में की है। 'रामचरितमानस' के प्रथम श्लोक में ही काव्य की पंचसूत्री योजना प्रस्तुत करके अप्रत्यक्ष रूप से काव्यलक्षण का भी निरूपण किया है—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि ।
मंगलानां च कर्तारौ वंदे वाणीविनायकौ ।।[3]

---

१. रा० १।१८
२. रा० १।३७।१-७
३. रा० १।१। श्लोक १

उपर्युक्त उद्धरण से निष्कर्ष निकलता है कि रसात्मक, छंदोबद्ध और मंगलकारिणी शब्दार्थमयी रचना **काव्य** है। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि तुलसी के उत्तमर्ण संस्कृत-आचार्यों ने काव्य-लक्षण के अंतर्गत **छंद** और **मंगल** का उल्लेख नहीं किया है। भाषा-कवि तुलसी ने युगधर्मानुसार काव्य की विशेषताओं में 'छंद' को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। 'मंगल' का संनिवेश दो कारणों से हुआ है—धर्मबुद्धि से और काव्यबुद्धि से। तुलसीदास काव्य की परिभाषा न लिखकर मंगलश्लोक लिख रहे थे, अतएव उसमें 'मंगल' का न होना ही असमीचीन होता। दूसरी ओर वे मंगल-विधान को काव्य-महिमा का व्यावर्तक धर्म मानते हैं। उनके मतानुसार काव्य की कसौटी दुहरी है—एक रमणीयता की और दूसरी श्रेष्ठता की। कविता की रमणीयता रस, भाव, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, अलंकार, पदसंघटना, छंदोविधान और प्रबंधकल्पना में है। 'रामचरितमानस' के रूपक[1] और दैन्यपूर्ण आत्मनिवेदन[2] के प्रसंगों में उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी है। काव्य की श्रेष्ठता का एकमात्र निकष उसका शिवत्व है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥[3]

वही कविता उत्तम है जो लोकमंगलकारिणी है। तुलसी-वर्णित रामकथा इसी प्रकार की कविता है—

मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।[4]

'संबुक भेक सिवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥'[5] द्वारा भी प्रकारांतर से इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। जो कविता भावक के चित्त को विषय-रस से ही प्रभावित करती है, उसे उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित नहीं करती, वह हेय है। तुलसीदास प्रत्येक भाव की सहजाभिव्यक्ति को श्रेष्ठ कविता नहीं मानते। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ विचारों से अनुप्राणित रसाभिव्यंजक रमणीय वाणी ही श्रेष्ठ कविता है—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुता मनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥[6]

काव्यशरीर—आचार्यों ने शास्त्रीय विवेचन को रमणीय तथा बोधगम्य बनाने के लिए काव्य या कविता की कल्पना पुरुष[7] अथवा नारी[8] के रूप में की है। वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है। तुलसीदास ने भी नारी को कविता का उपमान बनाया है।[9] कविता के मानवीकरण के फलस्वरूप उसके शरीर और आत्मा पर भी विचार किया गया है। विश्वनाथ आदि

१. रा० १।३७।२-५
२. रा० १।९।४-५
३. रा० १।१४।५
४. रा० १।१०। छं०
५. रा० १।३८।२
६. रा० १।११।४-दोहा
७. काव्यमीमांसा, पृ० १
८. ध्वन्यालोक, १।४
९. रा० १।१०।२, ५।२३।२

ने काव्य को शब्दरूप माना है।[1] भामह, कुंतक, मम्मट आदि की भाँति तुलसी ने उसे शब्दार्थ-मय माना है। **'वर्णानामर्थसंघानां'**, **'आखर अरथ अलंकृति नाना'**[2], **'कबिहि अरथ आखर बलु साँचा।'**[3] आदि उक्तियों में दोनों का साथ-साथ उल्लेख करके उन्होंने इस मान्यता की व्यंजना की है। शब्द और अर्थ में व्यावहारिक भेद स्वीकार करते हुए वे दोनों में परमार्थतः अभेद मानते हैं--

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।[4]

पतंजलि आदि वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ में नित्यसंबंध माना है।[5] अद्वैतवादी व्याकरण-दर्शन में अर्थभाव को शब्द का विवर्त माना गया है।[6] जगत् को राम-रूप और राम को विश्व-रूप मानने वाले तुलसी ने जगत् के दृश्यमान अनुभूत रूप को मिथ्या माना है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार **'रबि आतप भिन्न न भिन्न'**[7] हैं, जिस प्रकार जल-बीचि **'भिन्न न भिन्न'** हैं, उसी प्रकार राम और सीता भी[8], उसी प्रकार वाणी और अर्थ भी। वे केवल व्यावहारिकतया भिन्न हैं, मूलतः एक हैं। 'विनयपत्रिका' में राम को **वाच्यवाचकरूप** कहकर भी उन्होंने यही सत्य-तथ्य व्यक्त किया है।[9] यह भी अवेक्षणीय है कि कालिदास ने वाणी और अर्थ में संपृक्तता स्वीकार की थी,[10] परंतु तुलसी ने भेदाभेद माना है।

काव्यात्मा--भारतीय साहित्यशास्त्र म काव्य की आत्मा के विषय में काफी विवाद रहा है। किसी ने रस को काव्य की आत्मा माना है, किसी ने ध्वनि को, किसी ने रीति को...।[11] तुलसीदास समन्वयवादी होते हुए भी रसवादी हैं। काव्यसौंदर्य के लिए उन्होंने रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, गुण और वृत्ति--इन विविध काव्यांगों की आवश्यकता स्वीकार की है--

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥[12]

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। --सा० द० १।३
२. रा० १।९।५
३. रा० २।२४१।२
४. रा० १।१८
५. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। (नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः) --व्याकरणमहाभाष्य, अ० १, पाद १, आह्निक १
६. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ --वाक्यपदीय, प्रथमकाण्ड, कारिका १
अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति॥ --वाक्यपदीय, प्रथम काण्ड, कारिका ४४
७. रा० ६।१११।८
८. 'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥' (रा० २।९७।३) में भी राम और सीता का व्यावहारिक भेद एवं पारमार्थिक अभेद प्रतिपादित किया गया है।
९. वि० ५३।७
१०. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ --रघुवंश, १।१
११. दे०--सा० द० १।३; ध्वन्यालोक, १।१; काव्यालङ्कारसूत्र, १।२।६
१२. रा० १।९।४-५

धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥[१]

कविता की अनिंद्य चारुता के लिए उन्होंने दोषों के परिहार का भी संकेत किया है।[२] इन सब काव्यांगों में रस का स्थान अन्यतम है। सरसता काव्य का सुंदरतम धर्म है। अतएव उन्होंने रस को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।[३] यह बात 'रामचरितमानस' के प्रथम मंगलश्लोक से भी प्रमाणित है। **'निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥'**[४], **'जदपि कबित रस एकौ नाहीं।'**[५] आदि उक्तियों से भी यही सिद्ध होता है कि रस काव्य का सर्वप्रधान तत्त्व है, काव्यात्मा है।

काव्यप्रयोजन--प्राचीन काव्यशास्त्र में काव्य के अनेक प्रयोजन बतलाये गये हैं—यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, अमंगलनिवारण, सद्यःपरनिर्वृति, कांतासंमित उपदेश, चतुर्वर्गप्राप्ति आदि।[६] ये प्रयोजन दो वर्गों में रखे जा सकते हैं। यश आदि कविनिष्ठ प्रयोजन हैं। व्यवहार-ज्ञान, सद्यःपरनिर्वृति आदि भावकनिष्ठ प्रयोजन हैं। तुलसी ने इन दोनों ही प्रकार के प्रयोजनों का उपस्थापन किया है। दोनों के ही केंद्रबिंदु से **स्वांतःसुख** काव्य का मूल प्रयोजन है। एकाध आलोचक आत्माभिव्यक्ति को काव्य या साहित्य का मूल प्रयोजन मानते हैं। उनकी मान्यता तर्कसंगत नहीं है। इसके दो कारण हैं। १. इस प्रसंग में 'प्रयोजन' का तात्पर्यार्थ है फल। और आत्माभिव्यक्ति (इस गूढ़ शब्द का चाहे जो भी अर्थ किया जाए) काव्य का फल नहीं है। २. 'मूल प्रयोजन' उसे कहते हैं जो प्रयोजनों का भी प्रयोजन हो, जिसका कोई अन्य प्रयोजन न हो। यदि आत्माभिव्यक्ति को प्रयोजन मान लिया जाए तो भी वह अंतिम प्रयोजन नहीं है। स्वान्तःसुख ही उसका भी मूल प्रयोजन है। चतुर्वर्ग आदि प्रयोजन इस प्रयोजन की ही शाखाएँ हैं। तुलसी ने केवल कवि के केंद्रबिंदु से ही 'रामचरितमानस' के प्रतिज्ञावचन में इस मूल प्रयोजन का उल्लेख किया है—

स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।[७]

उन्होंने अर्थ, काम और यश की एषणाओं को मोहमूल तथा नश्वर समझकर[८] उन्हें अपना साध्य नहीं माना। यशःकामना उदात्त मानव की बहुत बड़ी कमजोरी है।[९] **'भाषा भनिति**

---

१. रा० १।३७।४
२. रा० १।१४घ
३. रा० १।३७।७
४. रा० १।८।६
५. रा० १।१०।४
६. दे०—काव्यालङ्कार, १।२; काव्यप्रकाश, १।२; सा० द० १।२ आदि
७. रा० १।१।श्लोक ७
८. सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥ —रा० ७।७१।३
   सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू॥···
   मोहमूल परमारथ नाहीं॥ — रा० २।९२।४
९. मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
   प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ —रघुवंश, १।३
   Fame is the spur that the clear spirit doth raise
   (That last infirmity of noble mind)
   To scorn delights, and live laborious days.—Lycidas
   —The Poems of John Milton, P. 99

भोरि मत मोरी । हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ।।'[1], '**जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं । सो श्रम बादि बाल कबि करहीं ।।**'[2] आदि पंक्तियों से यशोऽभिलाषा की अस्पष्ट ध्वनि अवश्य प्रतीत होती है; किंतु वीतराग भक्तकवि ने प्रयोजनरूप में उसकी निबंधना नहीं की। गौण प्रयोजन के रूप में उन्होंने प्रबोध का उल्लेख किया है—

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई ।।
जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहौं हिग्रँ हरि के प्रेरें ।।
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी ।।[3]

इस प्रयोजन के विषय में यह स्मर्तव्य है कि इसकी सिद्धि केवल भक्तिरस या शांतरस की कविता में ही हो सकती है, शृंगार आदि में नहीं।

भावक के केंद्रबिंदु से, वे काव्य के दो प्रयोजन मानते हैं—रसानुभूति और मंगल। '**कबित रसिक न राम पद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू ।।**'[4] जैसी पंक्तियों से पहले प्रयोजन की व्यंजना होती है। '**मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।**', '**कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।।**' आदि में लोकमंगल को काव्य का प्रयोजन बतलाया गया है। '**बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ।।**'[5] में 'बुध बिश्राम' भक्तिजन्य ब्रह्मानंद और ब्रह्मानंदसहोदर काव्यरस दोनों का ही द्योतक है। तुलसी के काव्य-प्रयोजन के विषय में एक संगत प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने काव्यरचना स्वांतःसुखाय की है या बहुजनहिताय। इसका उत्तर यह है कि दोनों में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि, बहुजनहित में ही तुलसी का स्वांतःसुख है।

काव्यहेतु—आचार्यों ने शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास को संमिलित रूप से काव्य का हेतु माना है।[6] उनका यह मत तुलसीदास को मान्य है। उनकी दृष्टि में शक्ति अर्थात् ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा-शक्ति काव्यरचना के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक तत्त्व है—

सारद दारुनारि सम स्वामी। रामु सूत्रधर अंतरजामी ।।
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी ।।[7]

'**संभु प्रसाद सुमति हिग्रँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी ।।**'[8] में भी इसी सिद्धांत की अभिव्यक्ति हुई है। 'निपुणता' का अर्थ है—विविध कलाओं, विद्याओं, काव्यशास्त्र, लोकजीवन आदि का ज्ञान। अपने विनम्र आत्मनिवेदन में व्यतिरेक से तुलसी ने प्रवीणता की आवश्यकता पर भी बल दिया है।[9] काव्यमर्मज्ञों के निर्देशानुसार काव्यरचना के अभ्यास की स्पष्ट चर्चा

१. रा० १।६।२
२. रा० १।१४।४
३. रा० १।३१।१-२
४. रा० १।६।२
५. रा० १।३१।३
६. काव्यप्रकाश, १।३; काव्यादर्श, १।१०३; वाग्भटालङ्कार, १।३
७. रा० १।१०५।३
८. रा० १।३६।१
९. कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू ।।···
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ।। —रा० १।६।४-६

उन्होंने नहीं की, परंतु इस संबंध में **श्रम** शब्द के अनेकधा उल्लेख[1] से 'अभ्यास' की भी व्यंजना हो जाती है।

प्रतिपाद्य विषय—कविता के प्रतिपाद्य विषय के संबंध में तुलसीदास द्वारा उपस्थापित सिद्धांत से सामान्य कवि या आलोचक का सहमत होना कठिन है। वे केवल रामविषयक वृत्त को ही महान् समझते हैं। राम के संबंध से कुकवियों की गुणरहित वाणी भी विद्वज्जनों द्वारा समादृत होती है—

क. सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी।।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही।।
ख. प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।।[2]

उनके मतानुसार प्राकृत जनों का गुणगान सरस्वती का अपमान करना है—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछताना।।[3]

और दूसरी ओर—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।।[4]

उनकी यह निश्चित धारणा है कि सुकवियों की विचित्र रचना भी राम-नाम से रहित होने पर सर्वशृंगारवती नग्न सुंदरी की भाँति शोभा को नहीं प्राप्त होती—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।।
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।।[5]
राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा।।
बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी।।[6]

यह दार्शनिक भक्तकवि की आध्यात्मिक दृष्टि है। जो काव्य भावक को उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित नहीं करता, जो निःश्रेयस का भी साधक नहीं है, वह उसकी दृष्टि में हेय है। वह तो भक्ति-दर्शन से अनुप्राणित काव्य को ही आदर्श काव्य समझता है। काव्य और दर्शन दोनों का ही लक्ष्य है चित्तमुक्ति के द्वारा आनंदानुभूति कराना। काव्यानंद और ब्रह्मानंद दोनों के लिए ही साधारणीकरण आवश्यक है। सांख्य-दर्शन में अंतःकरण की वृत्तियाँ दो प्रकार की बतलायी गयी हैं—असाधारण एवं साधारण। अंतःकरणत्रय अर्थात् बुद्धि, अहंकार और मन की असाधारण वृत्तियाँ क्रमशः अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्प-विकल्प हैं। साधारण वृत्ति है—प्राणादि वायु।[7] विभिन्न असाधारण वृत्तियों को त्यागकर, अंतःकरण का अपने साधारण रूप में स्थित हो जाना ही उसका **साधारणीकरण** है। बुद्धि, अहंकार और मन के अपने-अपने विषयों के संबंध से मुक्त

१. राम चरित सर बिनु अन्हवायें। सो स्रम जाइ न कोटि उपायें।। —रा० १।११।३
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं।। —रा० १।१४।४
२. क्रमशः—रा० १।१०।३, १।१०।छं०
३. रा० १।११।४
४. रा० १।११।२
५. रा० १।१०।२
६. रा० ५।२३।२
७. दे०—सा० सू० २।३०-३१ पर साङ्ख्यप्रवचनभाष्य

हो जाने पर अंतःकरण में केवल प्राण-व्यापार का अस्तित्व रह जाता है। यही उसकी साधारणीकृत अवस्था है। यही चित्त मुक्ति है। भक्ति और ज्ञान की दशा में अंतःकरण का साधारणीकरण पूर्ण और स्थायी होता है, काव्य के भावन की दशा में यह साधारणीकरण अपूर्ण एवं अस्थायी होता है। इस कारण से भी काव्यानंद ब्रह्मानंद से हीन है, ब्रह्मानंद सहोदर है। भक्ति-रस के काव्य में साधारणीकरण की (अपेक्षाकृत) अधिक शक्ति है[1], उसके भावन से भावक को दोनों प्रकार की आनंदानुभूति हो सकती है। अतः भक्तिरस के आचार्यों और तुलसीदास ने उसे अन्य काव्यों की तुलना में श्रेष्ठ माना है।

भारतीय काव्यशास्त्र में सामान्यतः स्वीकृत रस-सिद्धांत वेदांत और सांख्य की दार्शनिक भूमि पर आश्रित है। मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि चित्तद्रव्य लाख की भाँति स्वभावतः कठिनात्मक होता है। तापक विषयों के संनिकर्ष से वह द्रुत हो जाता है। द्रुत चित्त की विषयाकारता भाव है। संस्काररूप से स्थित भाव स्थायी भाव है। यह स्थायी भाव ही विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होने पर रस कहलाता है। वेदांत की मान्यता है कि भगवान् परमानंदस्वरूप है। जीवात्मा माया के द्वारा आवृत है। काव्यगत विभावादि के द्वारा यह माया का आवरण क्षण भर के लिए तिरोहित हो जाता है। और भावक को परमानंदस्वरूप की अनुभूति होने लगती है। यही अनुभूति रस है। इस अनुभूति में भावक विषय से सर्वथा अनवच्छिन्न नहीं होता। अतः काव्य-रस ब्रह्म-रस से न्यून है।[2] सांख्य के अनुसार सभी कार्यों का हेतु प्रकृति है जो तमोरजस्सत्त्वगुणमयी है। सत्त्वगुण की विशेषता है सुखमयता। विभावादि के भावन से तमोगुण और रजोगुण अभिभूत हो जाते हैं। सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर भावक को सुखानुभूति होने लगती है। यही सुखानुभूति रस है। सत्त्व के साथ मिश्रित रजोगुण और तमोगुण के तारतम्य के अनुसार ही रस की आनंदानुभूति में भी न्यूनाधिकता होती है।[3] सत्त्वगुण का उद्रेक करने तथा भगवान् के परमानंदस्वरूप की अनुभूति कराने में जितना समर्थ भक्तिकाव्य है उतना दूसरा काव्य नहीं। अतएव तुलसी ने भक्तिकाव्य को श्रेष्ठ माना है। भक्ति की मिठास मिल जाने पर अन्य सभी रस सीठे लगते हैं।[4]

काव्यवस्तु के संबंध में एक यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि काव्य में प्रतिपादित वस्तु (भावपक्ष) का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है अथवा प्रतिपादन-शैली (कलापक्ष) का। इस विषय में भी तुलसीदास समन्वयवादी हैं। उनके मतानुसार सामान्य काव्य में दोनों का समान महत्त्व है। पूर्वोक्त **'कबित बिबेक एक नहिं मोरे'** आदि में प्रतिपादन-कला को और **'भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी।।'**[5] आदि में प्रतिपाद्य वस्तु को गौरव देकर उन्होंने दोनों की समान महत्ता स्वीकार की है। शब्द और अर्थ के अभेद का निरूपण तथा 'सप्तप्रबंध'-वर्णन भी दोनों की समानता के प्रत्यायक हैं।

काव्य-भाषा—तुलसीदास के युग में लोकभाषा की कविता विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय

१. राम चरित मानस ऐहि नामा। सुनत स्रवन पाइअ बिस्रामा।।
मन करि विषय अनल वन जरई। होइ सुखी जौ येहिं सर परई।। —रा० १।३५।४

२. विस्तार के लिए दे०—भ० र० १।४-१३ और उन पर टीका

३. दे०—भ० र० १।१५-१८ और उन पर टीका

४. वि० १३६।१

५. रा० १।१०।५

नहीं थी। 'भाषा भनिति', 'भनिति भदेस', 'गिरा ग्राम्य' आदि उक्तियों[1] द्वारा कवि ने युग की भाषा-विषयक इस भावना का संकेत किया है। लोकसंग्रहाभिलाषी तुलसी का दृष्टिकोण उदार है। उन्होंने काव्य-निर्माण के लिए संस्कृत भाषा को आवश्यक नहीं माना। उनके मतानुसार, यदि कवि में भाव की सच्चाई है तो वह लोकभाषा में भी सरस रचना कर सकता है—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच।[2]

काव्य की लोकप्रियता के लिए भाषा की सरलता अपेक्षित है—

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥[3]

कवि और भावक—काव्य-सिद्धांत-विवेचन के प्रसंग में कवि और भावक के ऐक्य पर विचार कर लेना भी अपेक्षित है। इस विषय में दो प्रश्न विचारणीय हैं। पहला प्रश्न है—क्या कवि भावक और भावक कवि हो सकता है? दूसरे शब्दों में—क्या एक ही व्यक्ति में कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा दोनों का समुचित विकास संभव है? इस प्रश्न के उत्तर में राजशेखर का कथन है कि अनेक प्राचीन आचार्यों ने दोनों में एकता स्वीकार की है, परंतु कालिदास इसे नहीं मानते। कवित्व एवं भावकत्व एक दूसरे से स्वरूपतः अपि च विषयतः भिन्न हैं।[4] तुलसीदास भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी मत का समर्थन करते हैं—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥[5]

दूसरा प्रश्न है—क्या कवि को स्वरचित कविता से रसानुभूति होती है या नहीं? तुलसीदास का मत है—नहीं। अपनी रचना के द्वारा कवि को जो आनंदानुभूति होती है वह विश्रांतचित्त की रसानुभूति से भिन्न सुखानुभूति है। 'स्वांतःसुख' से यही निष्कर्ष निकलता है। दूसरा अकाट्य तर्क यह है कि रचनाकार को अपनी नीरस रचना भी अच्छी लगती है—

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥[6]

जो रसाभाव में भी रसानुभव कर लेता है वह निश्चय ही रसानुभूति से शून्य है। उसे प्रमाण मानना प्रमाण का हनन है।

मानसी रचना—तुलसीदास के अनुसार, काव्य मूलतः कवि की मानसी सृष्टि है। इस विषय में निम्नांकित पंक्ति ध्यान देने योग्य है—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा॥[7]

१. क्रमशः —रा० १।९।२, १।१०।५, १।१०ख
२. दो० ५७२
३. रा० १।१४क
४. कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना—
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥ —काव्यमीमांसा, पृ० १४
५. रा० १।११।१-२
६. रा० १।८।६
७. रा० १।३५।६

परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् के कृपापात्र सुमति कवि का सुमानस[1] ही 'रामचरितमानस'-जैसी काव्यरचना में कृतकार्य होता है। तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में बतलाया है कि विश्व मनोनिर्मित है।[2] और कवि का विश्व तो स्पष्ट ही मनोनिर्मित है।[3] **'मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाये'**[4] का सिद्धांत काव्य-रचना के विषय में विशेष रूप से चरितार्थ होता है।

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही।।
भएउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू।।
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।।[5]

यह उक्ति भक्तकवि की अनुभूति और उसकी काव्यरचना के विषय में है। यदि इसमें से भक्ति-भावना को अलग करके शुद्ध काव्यसिद्धांत की दृष्टि से विचार किया जाए तो निष्कर्ष यह होगा कि मनोदृष्टि से महान् विषय का साक्षात्कार होने पर कवि की बुद्धि निर्मल हो जाती है, हृदय आनंद से उल्लसित हो उठता है; जब भाव हृदय में नहीं समाता तब वह कविता के रूप में अभिव्यक्त होता है।

तुलसी का आदर्श—तुलसी ने भरत की भारती की जो विशेषताएँ बतलायी हैं वे उनके काव्य की भी विशेषताएँ हैं। वही उनका आदर्श है—

क. हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुखपंकज आई।।
बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली।।[6]
ख. सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे।।
ज्यों मुख मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।।[7]

यह तथ्य लक्ष्य करने योग्य है कि तुलसी के परवर्ती बहुसंख्यक कवियों ने उनके प्रतिपाद्य विषय एवं प्रतिपादन-शैली का अनुसरण किया है, अनेक टीकाकारों और आलोचकों ने उनकी कविता के मर्म को यथाशक्ति समझने-समझाने का सत्प्रयास किया है, परंतु तुलसीदास की अद्भुत वाणी अभी तक गही नहीं जा सकी।

भक्तिरस—

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने परंपरा-प्रथित नवरसों के अतिरिक्त प्रेयस्, वात्सल्य, भक्ति, स्नेह, श्रद्धा, लौल्य, मृगया, अक्ष, व्यसन, दुःख, सुख, उद्दात्त, उद्धत, स्वातंत्र्य, पारवश्य, ब्रीडनक, कार्पण्य, माया आदि रसों की भी चर्चा की है। यहाँ तक कि समस्त व्यभिचारी और सात्त्विक भावों के रसत्व का भी उल्लेख किया गया है।[8] किंतु गौरवशाली आचार्यों अभिनव-

१. रा० १।३६।१-५
२. वि० १२४
३. अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।। —अ० पु० ३३९।१०
४. वि० १२४।४
५. रा० १।३९।५-६
६. रा०२।२९७।४
७. रा० २।२९४।१-२
८. दे०—दि नम्बर ऑफ़ रसज्, पृ० १०७-१४३

गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, आदि ने रसों की सख्या नौ ही मानी। तथाकथित अथवा वास्तविक अन्य रसों को या तो रस माना ही नहीं या उक्त नवरसों के अंतर्गत उन्हें समाविष्ट कर दिया।

काव्यशास्त्र के उपर्युक्त प्रतिष्ठित आचार्यों ने भक्ति का रसत्व स्वीकार नही किया। कही तो भक्ति को अयौन या असांप्रयोगिकी रति का एक रूप मानकर उसे प्रेयान् के अंतर्गत स्थान दिया गया[1] और कहीं वह सामान्य रति का प्रकारविशेष मानी गयी।[2] अभिनवगुप्त ने भक्ति का अंतर्भाव शांत रस में स्वीकार किया[3] तो धनंजय ने हर्षोत्साह आदि में।[4] मम्मट[5], जयदेव[6], विश्वनाथ[7], जगन्नाथ[8] आदि ने उसे भाव-कोटि में रखा तो वाग्भट द्वितीय ने अनुभाव से आगे नहीं बढ़ने दिया।[9]

भक्ति के रसत्व की स्थापना का श्रेय वैष्णव आचार्यों को है। उन्होंने अपने मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय विवेचन द्वारा भक्तिरस को अन्य रसों के समकक्ष ही नहीं उनसे भी उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित किया। साहित्यिक सहृदय धार्मिक भक्त के रूप में आया। रूपगोस्वामी के 'हरि-भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिरस का तत्त्वाभिनिवेशी और सांगोपांग विवेचन है। अपने इस ग्रंथ के पूरकरूप में उन्होंने 'उज्ज्वलनीलमणि' का प्रणयन किया। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के ही आधार पर आगे चलकर नारायण भट्ट ने 'भक्तिरसतरङ्गिणी' लिखी। 'नाटकचन्द्रिका', 'अलङ्कार-कौस्तुम' और 'काव्य-चन्द्रिका' भी वैष्णव काव्य-शास्त्र की परंपरा में प्रणीत कृतियाँ हैं। उनमें वैष्णव विचारों तथा भक्तिरस की भी प्रसंगानुसार चर्चा की गयी है। वोपदेव के 'मुक्ताफल' और जीव गोस्वामी के 'भागवतसन्दर्भ' या 'षट्सन्दर्भ' में भी भक्तिरस की चर्चा हुई है। मधुसूदन सरस्वती का 'भक्तिरसायन' भक्तिरस की स्थापना का पांडित्यपूर्ण, निश्चित और सफल प्रयास है।

भक्ति का रसत्व तर्क-संमत है। रस की कसौटी (सहृदयों का) अनुभव है। मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि जब अनुभव के आधार पर साक्षात् सुखविरोधी क्रोध, शोक, भय आदि स्थायी भावों का रसत्व को प्राप्त होना मान लिया गया तो फिर सहस्रगुणित अनुभवसिद्ध

१. काव्यादर्श, २।२७५-७६; सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।१६६
२. क. स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषाः। ···अनुत्तमस्योत्तमे रतिः प्रसक्तिः। सैव भक्तिपदवाच्या।
 दे०— हेमचन्द्र-काव्यानुशासन (टीका), पृ० ८१
 ख. रतिभेदौ हि भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ। —शार्ङ्गदेव-सङ्गीतरत्नाकर, पृ० ८३७
 दे०— दि नम्बर ऑफ़ रसज़् पृ० १११
३. अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहानुप्रविष्टे अन्यथैवाङ्गम् इति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्। —अभिनवभारती, जिल्द १, पृ० ३४०
 आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः। स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति।···एवं भक्तावपि वाच्यमिति। —अभिनवभारती, जिल्द १, पृ० ३४१
४. दशरूपक, ४।८३
५. काव्यप्रकाश, ४।३५-३६
६. चन्द्रालोक, ६।१४
७. सा० द० ३।२६०-६१
८. रसगङ्गाधर, पृ० ५५-५६
९. देवगुरुमुनिपुत्रादिविषया तु रतिरनुभाव एव। — काव्यानुशासन (व्याख्या), अ० ५, पृ० ५३

भक्तिरस को रस न मानना अपलाप है, जड़ता है।[1] वास्तविकता तो यह है कि भक्तिरस पूर्ण रस है, अन्य रस क्षुद्र हैं; भक्तिरस आदित्य है, अन्य रस खद्योत हैं।[2] यह कहना युक्तियुक्त नहीं होगा कि भक्तिरस का अनुभव सबको नहीं होता (अर्थात् युवक-युवतियों की उसमें कोई रुचि नहीं) अतएव, सार्वजनिक न होने के कारण उसकी गणना रसों में नहीं की जा सकती। इस शंका का समाधान यह है कि भक्तिभाव का अस्तित्व सब में है, किंतु सभी में वह व्यक्त नहीं है, भक्त में व्यक्त है। किसी भी रस की अनुभूति के लिए तदनुकूल बौद्धिक भूमिका का होना आवश्यक है। भक्तिदशा, भग्नावरणाचित् होने के कारण, रस[3]-दशा ही है। और यदि सर्वजनानुभूत रस को ही रस माना जाएगा तो रसराज कहा जाने वाला शृंगार भी रसत्व से हीन हो जाएगा; क्योंकि, शृंगारिक रचनाएँ विषयविरक्त तत्त्वज्ञानी भगवद्भक्तों के मन में जुगुप्सा का भाव जागृत करती हैं। यदि ज्ञानियों को प्रमाण न मानकर प्रवृत्तिमार्गी जनसाधारण को ही आप्त माना जाएगा तो फिर सारे शास्त्र व्यर्थ हो जाएँगे।

भक्तिरस शांतरस का अंग है, वह पृथक् रस नहीं है—अभिनवगुप्त की यह मान्यता[4] तर्कसंमत नहीं है। कारण, दोनों में तात्त्विक भेद है। शांत रस का स्थायीभाव शम (तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान) है।[5] कामस्पृहा-रहित वशीकारनामक वैराग्य के द्वारा द्रुत चित्त के प्रकाश को 'शम' कहते हैं।[6] भक्तिरस का स्थायी भाव भक्ति अर्थात् भगवद्विषयक रति है।[7] भगवद्धर्म के कारण द्रुतचित्त की सर्वेशविषयक धारावाहिक वृत्ति (भगवदाकारता) भक्ति है।[8] पहली वृत्ति निवृत्तिमूलक है और दूसरी प्रवृत्तिमूलक। पहली का आलंबन है संसार की असारता एवं परमात्मा का चिंतन और दूसरी के आलंबन भगवान् एवं उनके भक्तगण हैं। इसी कारण भक्त्याचार्यों ने मीमांसकों को शुष्केश्वरविभावक तथा ज्ञान-वैराग्य-दग्ध कहकर उन्हें भक्तिरसास्वाद करने वालों की पंक्ति से बहिष्कृत कर दिया था और भक्तों को सचेत किया था कि उनसे भक्तिरस की उसी प्रकार अवधानपूर्वक रक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार पथिक अपने वर्त्मक की रक्षा वृकों से करता है।[9]

भारतीय काव्यशस्त्र की परंपरा में प्रत्येक रस का संबंध किसी-न-किसी पुरुषार्थ से है।[10]

१. क्रोधशोकभयादीनां साक्षात्सुखविरोधिनाम्। रसत्वमभ्युपगतन्तथानुभवमात्रतः ॥
इहानुभवसिद्धोऽपि सहस्रगुणितो रसः। जडेनेव त्वया कस्मादकस्मादपलप्यते ॥ —भ० र० २।७७-८
२. भ० र० २।७६
३. भग्नावरणा चिदेव रसः। —रसगङ्गाधर, पृ० २७
४. अभिनवभारती, जिल्द १, पृ० ३४०
५. इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञानञ्च नामात्मज्ञानमेव।
—अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० ३३६
शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः। —सा० द० ३।२४५
६. भ० र० २।२४
७. ह० र० सि० २।५।२
८. भ० र० १।३
९. भक्तिरसतरङ्गिणी, पृ० १११, अंतिम श्लोक
१०. एवं ते नवैवरसाः। पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात।
—अभिनवभारती, जिल्द १, पृ० ३४१

और प्रत्येक पुरुषार्थ किसी-न-किसी रस से संबद्ध है। धर्म, अर्थ और काम से संबंध रखने वाले रस वीर आदि हैं। मोक्ष-संबंधी रस शांत है। इस प्रकार इन पुरुषार्थों के संबंध से रसों का निरूपण किया गया है। दुःख से अस्पृष्ट सुखानुभूति होने के कारण भक्ति भी पुरुषार्थ है।[1] पुरुषार्थरूपा भक्ति से संबद्ध रस की मान्यता स्वीकार न करना न्यायोचित नहीं है। अतएव भक्तिरस की अवहेलना नहीं की जा सकती।

शृंगार आदि लौकिक रसों में विषयावच्छिन्न चित् के आनंद के अंशमात्र का ही स्फुरण होता है किंतु भक्तिरस में अनवच्छिन्न चिदानंदघन भगवान् के स्फुरण के कारण आनंद का अत्यंताधिक्य होता है।[2] इस दृष्टि से भक्तिरस रस ही नहीं अपितु सभी रसों में महत्तम है। अतएव ऐसे रस का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा।

मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों की 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः'[3] आदि[4] उक्तियों की ओर लक्ष्य करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के रसत्व की पुष्टि में एक और अत्यंत रोचक तर्क दिया है। उनका कथन है कि प्राचीन रसकोविदों ने जिस देवादिविषया रति को रस न कहकर भाव कहा है उसका संबंध परमानंद परमात्मा से न होकर अन्य देवताओं से है जो जीवत्वविशिष्ट हैं, परानंद के प्रकाश से रहित हैं।[5] मधुसूदन सरस्वती की इस कसौटी पर यदि हम तुलसीदास के भक्तिनिरूपण की परीक्षा करें तो कह सकते हैं कि उनके विविध-देववंदित[6], निगमप्रशंसित[7], चराचरनायक[8] राम परमानंदरूप[9] परमात्मा हैं। यह अधिकार-पूर्वक कहा जा सकता है कि तुलसी के रामविषयक भक्तिभाव की अभिव्यंजना में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भक्तिरस की सत्ता असंदिग्ध है। परंतु, जहाँ उन्होंने गणेश, सूर्य आदि जीवत्वविशिष्ट देवों के प्रति भक्ति निवेदित की है वहाँ प्रायः भक्तिरस न होकर भक्तिभाव ही है।

तुलसीदास की भक्तिविषयक परिकल्पना का विवेचन पहले किया जा चुका है। 'रस' शब्द

१. क. दुःखासम्भिन्नसुखं हि परमः पुरुषार्थ इति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पुरुषार्था इति प्रसिद्धिस्तु लाङ्गलञ्जीवनमितिवत् साधने फलत्ववचनादौपचारिकी। —भ० र० (टीका), पृ० १४

ख. धर्मार्थकामानां स्वतःपुरुषार्थत्वाभावात्तज्जन्यसुखस्यैव पुरुषार्थत्वे गौरवादननुगमाच्च धर्मजन्यत्वादि-विशेषणं परित्यज्य सुखमात्रं पुरुषार्थ इति स्थिते समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्। —भ० र० (टीका), पृ० १६

ग. पुरुषार्थचतुष्टयान्तर्गतत्वेन वा स्वातन्त्र्येण वा भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम्। —भ० र० (टीका), पृ० १७

२. इत्थञ्च लौकिकरसे शृङ्गारादौ विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणादानन्दांशस्य न्यूनत्वं भगवदाकारोक्तचेतोवृत्तिलक्षणे भक्तिरसे त्वनवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणादत्यन्ताधिक्यमानन्दस्य अतो भगवद्भक्तिरस एव लौकिकरसानुपेक्ष्य परमरसिकैः सेव्यः। —शा० भ० सू० १।१।२ पर भ० च०, पृ० ८

३. काव्यप्रकाश, ४।३५-३६

४. चन्द्रालोक, ६।१४; सा० द० ३।२६०-६१

५. भ० र० २।७३-७४

६. रा० १।१४६।१, ६।६३।३, ७।५।३

७. रा० १।१४६।३

८. रा० २।७७।३

९. रा० १।११६।४, ७।३४

का प्रयोग उन्होंने विभिन्न प्रसंगों में अनेक अर्थों में किया है—जल,[1] दूध,[2] तेल,[3] किसी वस्तु से निकाला गया तरल पदार्थ,[4] फल का जूस,[5] मकरंद,[6] मधुर द्रव (शर्बत),[7] मादक पेय,[8] शीरा,[9] तत्त्व,[10] सारतत्त्व,[11] रासायनिक द्रव्यों से तैयार किया गया भस्म,[12] प्रवृत्ति,[13] आस्वाद,[14] छः की संख्या,[15] ऐंद्रिय सुख,[16] भाव,[17] प्रेम,[18] उल्लास,[19] मज़ा,[20] विनोद,[21] आध्यात्मिक आनंद,[22]

१. बिलग होइ रस जाइ कपट खटाई परत पुनि । —रा० १।५७ सो०
२. स्रवत प्रेम रस पयद सुहाए । —रा० २।५२।२
३. दै दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत । — वि० १९०।३
४. पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा । अन्न दान अरु रस पीयूखा ॥ —रा० ६।२६।३
५. सम जम नियम फूल फल नाना । हरिपदरति रस बेद बखाना ॥ —रा० १।३७।७
यहाँ पर 'रस' शब्द में श्लेष है । हरिपदरतिरस (भक्तिरस, भक्ति का आनंद) उपमेय है । फल का रस उपमान है ।
६. पियहिं सुमन रस अलि, बिटप काटि कोल फल खात । —दो० ३४३
पदकमलपरागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना । —रा० १।२११। छं० ३
७. बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेम रस सानि ॥ —रा० १।११९
बालमीकि हँसि-कहहिं बहोरी । बानी मधुर अमिय रस बोरी ॥ —रा० २।१२८।१
८. सुभट समर रस दुहुँ दिसि माते । कपि जयसील रामबल ताते ॥ —रा० ६।८१।२
९. दंपति बचन परम प्रिय लागे । मृदुल बिनीत प्रेम रस पागे ॥ —रा० १।१४६।४
स्यामल सलोने गात, आलस बस जँभात प्रिया प्रेम रस पागे ॥ —गी० ७।२।२
१०. भानु कृसानु सर्व रस खाहीं । तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं ॥ —रा० १।६९।३
११. अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै ॥ —वि० १६७।३
१२. तुम्ह कहँ भरत कलंक येह हम सब कहँ उपदेसु ।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु ॥ —रा० २।२०८
उपर्युक्त 'रस' के दो अर्थ हैं—भक्तिजन्य आनंद और भस्म ।
१३. बाल केलि लीलारस ब्रजजन-हितकारी । —कृ० १
१४. छ रस रुचिर बिंजन बहु जाती । एक एक रस अगनित भाँती ॥ —रा० १।३२९।३
ज्यों नासा सुगंधरस बस रसना षटरस-रति मानी । —वि० १७०।३
१५. सुभग सगुन उनचास रस रामचरित मय चारु । —रा० प्र० ६।७।७
१६. सीयरामपद पेमु अवसि होइ भवरस बिरति । —रा० २।३२६
जे जन रूखे विषय-रस, चिकने रामसनेह । —दो० ६१
तुलसी भूलि गयो रस एहा । ते जन प्रगट राम की देहा ॥ —वै० सं० २८
१७. सो मन सदा रहत तोहिं पाहीं । जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं ॥ —रा० ५।१५।४
सो सकोचु रस अकथ सुबानी । समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी ॥ —रा० २।३१८।२
१८. लग्यो मन बहु भाँति तुलसी होइ क्यों रसभंग ? —कृ० ५४
मधुकर रसिकसिरोमनि कहिअत कौने यह रसरीति सिखाए । —कृ० ५०
प्रीति को बधिक, रसरीति को अधिक, नीतिनिपुनबिबेकु है निदेस देसकाल को । —कवि० ७।१३५
१९. कहि सप्रेम सब कहा प्रसंगू । जेहि बिधि रामराज रस भंगू । —रा० २।२२२।४
२०. कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम ! रस न रहत । —वि० २५६।१
तुलसी अधिक कहे न रहै रस गूलरि को सो फल फोरे । —कृ० ४४
२१. हिलि मिलि करत सवाँग सभा रसकेलि हो । —रा० न० १८
२२. मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह । —रा० १।१११
सूनो प्रेम-भगतिरस हरि-रस जानहिं दास । —वि० २०३।१६

काव्यानंद[१] आदि।[२] इन विविध अर्थों में 'रस' का व्यवहार कोई नयी बात नहीं है। भारतीय साहित्य में ऐसा प्रयोग सनातन से होता आया है। उन्होंने 'भगतिरस' का व्यवहार दो अर्थों में किया है। एक अर्थ काव्यशास्त्रीय है और दूसरा आध्यात्मिक। काव्यशास्त्र के अनुसार—शब्द-निबद्ध विभावों, अनुभावों और संचारी भावों की भावना से विकसित (पुष्ट) भगवद्रति (भक्तिभाव) भक्तिरस है। आध्यात्मिक अर्थ में—भक्ति (ईश्वरविषया रति) स्वयमेव रस है।[3] भक्त की दृष्टि में कीर्तन आदि के द्वारा द्रुत भक्त-चित्त की भगवदाकारता भी भक्तिरस है और भक्तिपरक विभावादि-निरूपक काव्य के भावन से प्रतीत आनंद भी भक्तिरस है। उसके लिए भक्ति-दशा ही रस-दशा है—चाहे वह भगवान् के स्मरणमात्र से प्राप्त हो, चाहे अर्चनादि से और चाहे विभावादिनिरूपक काव्य से। भक्त के मन में प्रतिबिंबित परमानंदस्वरूप भगवान् ही स्थायिभावता और रसता को प्राप्त होता है।[४] इंद्रियों की आनंदमयी भगवद्रूपता भी भक्तिरस ही है।[५]

एकाध विद्वान् 'रामचरितमानस' को काव्य न मानकर भक्तिरस का ग्रंथ मानते हैं।[६] उनके वचन का सैद्धांतिक निष्कर्ष यह निकलता है कि भक्तिरस काव्य से व्यावृत्त वस्तु है। यह मत तुलसी-संमत नहीं है। **रामचरितमानसकार** ने मंगलाचरण के पहले ही श्लोक में काव्य-रचना की पंचसूत्री योजना का निरूपण किया है। वाणी को पहला और विनायक को दूसरा स्थान देकर कवि ने अपनी कृति के काव्यत्व की ही व्यंजना की है। अपने अल्पज्ञताविषयक आत्मनिवेदन में भी उसने कविता को पर्याप्त वैशिष्ट्य प्रदान किया है।[७] इस महाकाव्य की प्रस्तावना में उसने कितनी ही बार बल देकर अपने को कवि[८] और अपनी रचना को अभिधा या व्यंजना द्वारा अनेक प्रकार से कविता[९] कहा है। काव्य-कृति के लिए 'प्रबंध' या 'निबंध' का व्यवहार परंपरा-सिद्ध

तुलसिदास जे रसिक न यहि रस ते नर जड़ जीवत जग जाये। —गी० १।३२।७
जिन्ह के मनमगन भए हैं रस सगुन, तिन्ह के लेखे अगुन-मुकुति कवनि। —गी० ३।५।५

१. वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। —रा०, प्रथम श्लोक
रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥ —रा० ७।५३।१
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे। —वि० १६९।१
संबुक भेक सिवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ —रा० १।३८।२

२. (क) 'अनरस' (वि० १६९।१; १८३।३) का अर्थ है—स्वादहीन अर्थात् फीका।
(ख) 'एकरस' (वि० २३।८, १३६।११, २४९।३, २६६।१; रा० १।४२।४, १।३४१।४, ३।३९) का अर्थ है—एकतार, अविकल एवं एकसमान रहने वाला।
(ग) 'रस रस' (रा० ४।१६।३) का अर्थ है—धीरे-धीरे।
(घ) 'अनरसे' (गी० १।१२।१) का अर्थ है—अनमने।
(ङ) 'गोरस' (रा० प्र० ७।१।४) का अर्थ है—दूध, दही आदि।

३. भक्तिः ईश्वरविषयारतिरेव रसः —'वाचस्पत्य वृहत् संस्कृताभिधान' में 'भक्ति' के अंतर्गत उद्धृत

४. भ० र० १।१०

५. यत्र मनःसर्वेन्द्रियाणाम् आनन्दमात्रकरपदमुखोदरादिभगवद्रूपता तत्र भक्तिरस एव।
—भक्तिमार्तण्ड, पृ० १०२; दे०—ए हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द ४, पृ० ३५२

६. 'रामायण' को काव्य कहना उसका अपमान करना है। उसमें तो भक्तिरस का प्रवाह बहता है जो जीवन को पवित्र कर देता है। (पं० मदनमोहन मालवीय) —कल्याण, रामायणाङ्क, पृ० २८

७. रा० १।९।४-६, १।१०।४

८. रा० १।९।४, १।३६।१, १।३९।५, १।४३क

९. रा० १।८।६, १।९।२, १।११।२, १।११।५, १।१४।१-३, १।१४क, १।३७।१-७, १।३९।६

है।[1] कविता का अर्थवाची 'भनिति'[2] शब्द अवधी भाषा की प्रकृति और कवि की विनम्रता का परिचायक है। सबसे बड़ा प्रमाण सहृदय है। 'रामचरितमानस' को पढ़कर या सुनकर सहृदय पाठक को काव्योचित रमणीय अर्थ की प्रतीति होती है। अतएव वह काव्यकृति है। इस प्रकार के सहृदय भावकों की संख्या असंख्य है। तुलसी के कवित्व पर ही मुग्ध होकर तो भक्तिवादी दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती ने मुक्तकंठ से कहा था—

आनन्दकानने ह्यस्मिंस्तुलसीजङ्गमस्तरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥[3]

निष्कर्ष यह है कि '**रामचरितमानस**' काव्य है; परंतु, वह **भक्तिरस का काव्य** है।

भक्त के लिए भक्तिरस ही रस है। वल्लभाचार्य ने तो काव्यमात्र को असत्य या सत्त्वहीन कहकर धर्म के विषय में उसकी अनुपयोगिता की घोषणा की थी।[4] तुलसी ने अन्य रसों का सर्वथा तिरस्कार किये बिना ही भक्तिरस की मुख्यता प्रतिपादित की है। उनकी काव्य-सिद्धांत-विषयक संपूर्ण अभिव्यंजना भक्तिभावना से अनुप्राणित है। काव्य का हेतु शक्ति और व्युत्पत्ति है। शक्ति (प्रतिभा) रामकृपा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस पर राम अनुग्रह करते हैं उसके हृदयांगण में सरस्वती कठपुतली की भाँति नृत्य करती है।[5] व्युत्पत्ति (निपुणता) के साधन भक्तिपरक वेद, पुराण आदि ग्रंथ हैं।[6] रामकथा का प्रतिपादन करने वाली कविता ही कविता है।[7] विषय-कथा रस तो शंबुक, भेक और शैवाल के समान हैं।[8] प्राकृतजनों का गुणगान करना भारती का अपमान है।[9] काव्य का प्रयोजन है प्रबोधात्मक स्वांतःसुख[10], स्वकीय एवं परकीय संदेह, मोह, भ्रम और कलुष का हरण[11] तथा सुरसरिता की भाँति लोकमंगल की साधना।[12]

मानस-रूपक-निरूपण के प्रसंग में तुलसी ने भक्तिरस को नवरसों के मूर्धन्य पर प्रतिष्ठित किया है। काव्य के परंपराप्रसिद्ध नवरस तो मानसरूपी मानसरोवर के जलचर हैं, संतसभा अमराई है, शमयमनियम फूल हैं, ज्ञान फल है और भक्तिरस ही उसका रस है—

नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना ॥
संत सभा चहुँ दिसि अँबराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई ॥

१. रा० १।१४।४, १।३७।१; रा० १।१।श्लोक ७
२. रा० १।८।६, १।९।२, १।९, १।१०।२, १।१०।५, १।१०।छं०, १।१०क, १।१४।४, १।१४।५, १।१५।५
३. दे०—भ० र० की प्रस्तावना, पृ० ९; हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १५५
४. तत्त्वदीप, २।८०; अणुभाष्य पर बालबोधिनी का उपोद्घात, पृ० ५३
५. सारद दारु नारि सम स्वामी। रामु सूत्रधर अंतरजामी।
जेहि पर कृपा करहि जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी ॥ —रा० १।१०५।३
६. रा० १।३६।२, ७।१२०।७
७. रा० १।१०।२-३
८. रा० १।३८।२
९. रा० १।११।४
१०. रा० १।१।श्लोक ७, १।३१।१
११. रा० १।३१।३
१२. रा० १।१४।५

भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना ।।
सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना ।।[1]

यहाँ यह शंका नहीं उठनी चाहिए कि इस संदर्भ में तुलसी का प्रतिपाद्य भक्ति है, भक्तिरस नहीं। कारण स्पष्ट है। इसके ऊपर ही भक्ति-निरूपण को लतावितान कह दिया गया है। उसकी पुनरुक्ति का अवसर नहीं है। 'रस' में दीपदेहरी-न्याय है। हरिपदरतिरस ही उस ज्ञान-फल का रस है। तुलसी ने अन्य स्थलों पर भी भक्तिरस का श्रेष्ठत्व और रसत्व असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया है।[2] हम अधिक-से-अधिक, समन्वयवादी दृष्टि से, यह कह सकते हैं कि भक्ति और भक्तिरस दोनों ही तुलसी के प्रतिपाद्य हैं। 'मानस' को पढ़कर या सुनकर जो काव्यानंद मिलता है वह भक्तिरस है और यदि भगवद्रति का उदय होता है तो वह भक्तिभाव है। पहले का अनुभव सभी सहृदयों, काव्यरसिकों, को होता है और दूसरे का केवल भक्तजनों को।

अनेक आचार्यों की मान्यता है कि मूलतः रस एक है; उसकी प्रकृति एक है। इसी दृष्टि से रसविचारकों ने किसी एक विशिष्ट रस को प्रकृति तथा इतर रसों को उसकी विकृति माना है। भरत[3] और अभिनवगुप्त[4] के अनुसार शांत रस प्रकृति एवं अन्य रस तथा भाव उसके विकार हैं। अग्निपुराणकार[5] और भोज[6] ने (अपने विशिष्ट अर्थ में) शृंगार को अन्य रसों तथा भावों का मूल बतलाया है। भवभूति के अनुसार करुण ही एकमात्र स्थायी रस है।[7] 'अलंकारकौस्तुभ' के रचयिता कविकर्णपूर ने अन्य सभी रसों का अंतर्भाव प्रेमरस में माना है।[8] विश्वनाथ[9] आदि के मत से अद्भुत के स्वरूप में ही रस की एकता और अखंडता है। परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने काम-रति-विषयक शृंगार को रसराज की संज्ञा दी है। तुलसीदास की दृष्टि में भक्तिरस रसविशेष है।[10] अन्य रसों या भावों का मूल न होने पर भी, रसराज है। उनका अभिमत है कि तुच्छ कवि की भी भक्तिपरक रचना आदरास्पद है; सुकवि की रमणीय काव्यकृति भी रामनाम के बिना श्रीहीन है।[11]

तुलसी ने भक्तिरस का अंतर्भाव शांत रस में नहीं माना है। जब वे 'नवरस' कहते हैं[12] तब उनका अभिप्राय सामान्यतः परिगणित शृंगारादि नवरसों से ही होता है। और भक्तिरस इनके अंतर्भूत नहीं है। जहाँ तक सामान्य काव्य-कृतियों का संबंध है तुलसी को इन नवरसों की स्वतंत्र सत्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं है—उनके नवरसों के सैद्धांतिक उल्लेख से यह बात प्रमाणित

---

१. रा० १।३७।५-७
२. वि० १६६।१, २०३।१६; रा० २।२०८, ७।१२५।१
३. नाट्यशास्त्र, ६।८३ के बाद कोष्ठगत श्लोक ५
४. अभिनवभारती, पृ० ३४०
५. अ० पु० ३३९।१-६
६. दे०—दि नम्बर ऑफ़ रसज़, पृ० १६७-६९
७. उत्तररामचरित, ३।४७ (इस श्लोक की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है।)
८. दे०—दि नम्बर ऑफ़ रसज़, पृ० १७०
९. सा० द० ३।३ पर वृत्ति
१०. रा० ७।५३।१
११. रा० १।१०।२-३, ५।२३।२
१२. रा० १।३७।५; वि० १६६।१

हो जाती है। व्यावहारिक रूप में भी उनकी 'कवितावली', 'गीतावली' आदि कृतियों में नवरसों की व्यंजना हुई है। लेकिन, उनकी महत्तम कृतियाँ भक्तिरसपरक ही हैं। 'विनयपत्रिका' तो भक्तिरस का ही उत्स है। बीच-बीच में शृंगार आदि रसों का मेल होने पर भी 'रामचरितमानस' भक्तिरस का ही ग्रंथ है। 'मानस' की प्रस्तावना, बारंबार राम के परब्रह्मत्व का स्मरण और पाठकों का अनुभव आदि इस बात के प्रमाण हैं। 'रामचरितमानस' को कुछ-न-कुछ नवों रसों में गिनना चाहिए[1]—एड्विन ग्रीव्स की यह मान्यता अंशतः सत्य है। इसकी सत्यता केवल इस अर्थ में है कि 'रामचरितमानस' में भक्तीतर रसों की भी अभिव्यक्ति हुई है। परंतु उनकी व्यंजना अंगी रस के रूप में नहीं हुई। यथार्थ यह है कि 'रामचरितमानस' का मुख्य प्रतिपाद्य रस भक्तिरस ही है। अन्य रस गौण हैं। 'मानस' एक प्रबंधकाव्य है। काव्य-कथा के आग्रहवश भक्तीतर रसों की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है परंतु वे भक्तिरस के पोषक बनकर ही आये हैं। इस महाकाव्य की प्रबंधध्वनि भक्तिरस ही है।

स्थायी भाव—काव्यशास्त्र की दृष्टि से भक्तिरस का स्थायी भाव भगवद्रति है।[2] शृंगार के स्थायी भाव रति और भक्ति-रति में मौलिक भेद यह है कि पहली रति दांपत्यविषयक रति है, उसमें शरीर के सुरतरूपसंबंधविशेष की कामस्पृहा होती है[3] और दूसरी इससे भिन्न, भाव्य भगवान् के गुणश्रवण से द्रुत चित्त की धारावाहिकी भगवदाकारा वृत्ति है।[4] चित्त की इसी भूमिका में भगवदाकारतारूप रतिभाव अभिव्यक्त होकर परमानंदरूपता को प्राप्त होता है। यही परमानंदानुभूति रस है।[5] कुछ आचार्यों ने स्थायी भाव को ही रस कहा है, उनका वह (स्थायी भाव के लिए 'रस' शब्द का) प्रयोग औपचारिक है।[6] यह पहले ही कहा जा चुका है कि तुलसीदास-सरीखे भक्तकवि की दृष्टि में राम के नामश्रवण आदि के द्वारा उत्पन्न भगवद्रति भी भक्तिरस है और काव्यशास्त्रीय दृष्टि से, काव्य में उपस्थापित विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त उत्तम सुखात्मक भगवद्रति भी भक्तिरस है। वोपदेव ने अपने 'मुक्ताफल' में भक्तिरस का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—व्यास आदि के द्वारा वर्णित विष्णु या विष्णुभक्तों के नवरसात्मक चरित्र के श्रवण आदि से जनित चमत्कार भक्तिरस है।[7] तुलसीदास की कृतियाँ इस मान्यता का समर्थन करती हैं। हम कह आये हैं कि साधारण काव्य के नवरसों का निरूपण जो तुलसी की रचनाओं,

---

१. "यदि यह बात पूछी जाय कि रामायण को किस रस में गिनना चाहिए, तो यह कहना चाहिए कि कुछ न कुछ नवों में"—गुसाईं तुलसीदास का जीवनचरित (एड्विन ग्रीव्स)—तुलसी-ग्रंथावली, भाग ३, पृ० ५७

२. स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः। —ह० र० सि० २।५।२

३. भ० र० २।३

४. भ० र० १।३ और उस पर टीका; शा० भ० सू० १।१।२ पर भ० च०, पृ० ८

५. अस्यामेव विभावादिना रसरूपतयाऽभिव्यक्तपरमानन्दलक्षणभाव्याकारानपायात्स्थायिभावं रसं वदन्ति रसविदः। —शा० भ० सू० १।१।२ पर भ० च०, पृ० ८
वस्तुतो भगवद्गुणश्रवणादिजनितद्रुतिरूपायां मनोवृत्तौ विभावादिभी रसरूपतयाभिव्यक्तो भगवदाकारतारूपरत्याख्यः स्थायी भावः परमानन्दसाक्षात्कारात्मकः प्रादुर्भवति स एव भक्तियोग इति।
—भक्त्यधिकरणमाला, पृ० १७

६. भ० र० ३।१२-१४

७. व्यासादिभिर्वर्णितस्य विष्णोर्विष्णुभक्तानां वा चरित्रस्य नवरसात्मकस्य श्रवणादिना जनितश्चमत्कारो भक्तिरसः। —मुक्ता०, पृ० १६७

विशेषकर 'रामचरितमानस', में किया गया है वह जलचर के समान गौण है। मुख्य वस्तु है राम-सीता का सुयश। वह इस मानस का सुधा की भाँति जीवनदायक जल है।[1] कवि ने राम और उनके अवतारों के नवरसात्मक चरित्र का चित्रण भक्तिरस की व्यंजना के लिए ही किया है। 'रामचरितमानस' के (ज्ञान-नयन-द्वारा निरीक्षितव्य) सात सोपान रघुपति-भक्ति के ही पंथ हैं।[2]

आलंबन—भक्तिरस के आलंबन भगवान् और उनके भक्तगण हैं।[3] तुलसीदास की भक्ति के मुख्य विषय भगवान् राम ही हैं। उन्होंने रामेतर अवतारों का भी वर्णन किया है।[4] उनमें प्रधान श्रीकृष्ण हैं। 'कृष्णगीतावली' के अतिरिक्त अन्य कृतियों में भी उनका चित्रण हुआ है।[5] परंतु तुलसी का मन आराध्य राम में जितना रमा है उतना अन्य अवतारों में नहीं। इसीलिए उनकी रामविषयक रचनाओं में भक्तिरस का अजस्र प्रवाह है। सीता राम की शक्ति हैं, उनसे अभिन्न और पुरुषकाररूपा हैं।[6] अतएव सीता-विषयक पंक्तियाँ भी रसप्लावित हैं।[7] तुलसी की भक्ति के विषयालंबन का दूसरा वर्ग कृष्ण आदि अवतारों एवं शंकर आदि देवताओं का है। जहाँ रामेतर अवतारों का वर्णन हुआ है, कृष्ण-विषयक कुछ पद्यों[8] को छोड़कर, वहाँ तुलसी का भक्ति-भाव (सामान्य सहृदय की दृष्टि में) रस की कोटि तक नहीं पहुँच सका है। शिव-भवानी-विषयक स्तुतियों में अनेक स्थलों पर भक्तिरसता है।[9] तुलसी ने गणेश, सरस्वती, सूर्य, गंगा, यमुना आदि को भी भक्ति का विषयालंबन बनाया है।[10] यों तो भक्तजन प्रत्येक स्तुति को पढ़कर या सुनकर भक्ति-रस-धारा में निमग्न हो जाते हैं परंतु हमारी प्रतीति यह है कि उपरिनिर्दिष्ट गणेश आदि की स्तुतियों में काव्यशास्त्रियों का परंपराप्रोक्त भाव ही है, रस नहीं। तुलसी-साहित्य में अभिव्यक्त भक्तिरस के आलंबन का तीसरा वर्ग रामभक्तों का है। उनकी सूची बहुत लंबी है। 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' के आरंभ में गुरु, दशरथ, कौशल्या, वाल्मीकि, हनुमान्, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि रामभक्तों की भावमयी वंदना की गयी है।

---

१. रा० १।३७।१-२
२. रा० १।३७।१, ७।१२९।२
३. ह० र० सि० २।१।१६
४. वि० ५२; रा० ६।११०।४ आदि
५. कवि० ७।१३१, १३३-३५; वि० ५२।७, ९८।२-३; रा० १।८८।१
६. रा० १।१८, वि० ४१-४२
७. कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ॥
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाइ॥
बूझिहैं 'सो है कौन' कहिबी नाम-दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥
जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥ —वि० ४१
८. कवि० ७।१३१, १३३ आदि
९. वि० ५, ६, १५
१०. रा० १।१।श्लोक १, वि० १-२, १७-२४, कवि० १४५-४७

सरसता के तारतम्य की दृष्टि से राम के बाद दूसरा स्थान हनुमान् का ही है। हनुमद्विषयक स्तुतियाँ[१], विशेषकर 'हनुमानबाहुक' में, बहुत ही सरस एवं मार्मिक हैं।[२]

रस-सिद्धांत का यह आग्रह है कि आलंबन में यथोचित गुणों का अस्तित्व होना चाहिए। अपात्र को आलंबन मानकर की गयी रचना रसानुभूति कराने में सर्वथा असमर्थ होती है। इसीलिए भारतीय काव्य और काव्यशास्त्र में नायक के स्वरूप-निरूपण पर इतना अधिक बल दिया गया है। तुलसी ने राम को भक्तिभाव का सर्वश्रेष्ठ आलंबन क्यों माना—इसकी विस्तृत विवेचना पूर्ववर्ती अध्यायों में की जा चुकी है। उनके राम सभी कमनीय गुणों के आकर हैं। वाल्मीकि-रामायण के वाल्मीकि और नारद ने जिन लोकविश्रुत आदर्श गुणों की चर्चा की है[३] और भारतीय काव्यशास्त्र में जिन नायकोचित गुणों का प्रतिपादन किया गया है[४] वे सभी गुण तुलसी के राम में विद्यमान हैं। भारतीय महाकाव्य के नायक की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि उसमें रूप[५] और गुण के समन्वय का आदर्श उपस्थित किया गया है। जिस नायक में रूप और गुणों का यह समन्वय जितना ही अधिक होगा वह उतना ही लोकरंजक और लोकशंकर होगा। इसी परंपरागत धारणा के अनुसार तुलसी के अखिलगुणोदधि राम सर्वसौंदर्यसंपन्न भी हैं।[६] कोई भी प्राणी (सुर-असुर, नर-वानर, पशु-पक्षी) ऐसा नहीं है जो राम के रूप को देखकर मुग्ध, आत्मविस्मृत, न हो गया हो।[७]

काव्यकोविदों ने चार प्रकार के नायक माने हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरशांत और धीरोद्धत।[८] तुलसी के राम में भारतीय नायक के सामान्य आदर्श-गुणों एवं धीरोदात्त तथा

---

१. वि० २५-३६; रा० ५।१।श्लोक३

२. आपने ही पापतें त्रिताप तें कि साप तें
बढ़ी है बाँहबेदन कही न सहि जाति है।
औषध अनेक जंत्र-मंत्र टोटकादि किये,
बादि भये देवता मनाये अधिकाति है॥
करतार, भरतार, हरतार, कर्म, काल,
को है जगजाल जो न मानत इताति है।
चेरो तेरो तुलसी तू मेरो कह्यो रामदूत,
ढील तेरी बीर मोहि पीर तें पिराति है॥ —हनु०३०

३. वा० रा० १।१।२-२०

४. दशरूपक, २।१-२; नाट्यदर्पण, कारिका १६१-६५; नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० ५९-६०; सा० द० ३।३०, ३२; ह० र० सि० २।१।१९-२५

५. रूप के प्रति आकर्षण मानव-मन की बहुत बड़ी कमजोरी है। हमारे महाकवियों और आचार्यों ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य की नस को खूब पहचाना था। किसी कुरूप भिनभिनहे नायक के चित्रण से पाठक का रतिभाव जागृत नहीं हो सकता। और, यदि किसी का होता है तो यह मानना पड़ेगा कि उसकी मति में कोई-न-कोई गड़बड़ी अवश्य है।

६. रूपसीलसिंधु गुनसिंधु बंधु दीन को दयानिधान जानमनि बीर बाहु-बोल को। —कवि० ७।१५
जयति शृंगारसरतामरसदामदुतिदेह गुणगेह विश्वोपकारी। —वि० ४४।३

७. रा० १।३१७।२-४, २।११४।१-२।१२०।४, ३।१९।२-३; गी० १।३४, १।६२, १।१०६, २।३५; कवि० २।२३-२७

८. दशरूपक, २।३-६; सा० द० ३।३१-३४

धीरशांत नायक के विशिष्ट गुणों का समुचित आधान है। वे रूपवान्[1], अनुपम[2] और अनवद्य[3] हैं। संसार में ऐसा कोई जीव जंतु नहीं जिसे राम प्रिय न हों।[4] वे भूपालचूड़ामणि[5], रघुकुल-केतु[6], अतुलित-अजेय-शक्तिमान्[7] और साहिब[8] हैं। वाग्मी[9], धार्मिक[10], नीतिज्ञ[11] और शुचि[12] हैं। हृषीकेश[13], धीर[14], शांत[15], सत्यपालक[16], नागर[17], सुजान[18], ज्ञानी[19], विवेकी[20], शीलवान्[21], सरल[22], विनयी[23], संकोचशील[24] और कोमल[25] हैं। मंगलकारी[26], अतिशय उदार[27] और क्षमावान्[28] हैं। यदि कभी क्षमा छोड़ते भी हैं तो भक्त के कल्याण के लिए।[29] वे शरणागतपालक[30], कृपालु[31] और भाववल्लभ हैं।[32] तुलसी के राम शील, शक्ति और सौंदर्य के अनुपम निधान

१. रा० १।२२१।१, २।११६, गी० १।१०८, कवि० २।२७
२. रा० १।१९३।४, २।६३।४
३. रा० ३।११।६, ७।७२।३
४. अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं। —रा० २।१६२।३
५. रा० ५।१।श्लोक १; गी० ५।५०।६, ७।७।१
६. रा० ७।३५।४
७. सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥ —रा० २।१८६।४
अतुलित भुज प्रताप बल धामः। —रा० ३।११।८
अजित अमोघसक्ति करुनामय॥ —रा० ६।११०।३
८. रा० २।२९८।१, वि० २५६।१, कवि० ७।१३, दो० १८१, गी० ५।२५।१
९. रा० १।२८५।२, वि० ५४।१
१०. रा० २।२५४।१, वि० १५२।६, गी० २।३३।२
११. रा० २।२५७।४, ५।५०।२, ब० रा० ७
१२. रा० १।२३०, १।३५८
१३. वि० ११६।५
१४. रा० २।१४१।४, ३।२२।३
१५. रा० १।२४२।२, ५।१।श्लोक१, वि० ५३।३
१६. रा० २।२५४।२, वि० ५३।५, गी० २।४१।३
१७. रा० ३।११।७, ६।१११।१
१८. रा० २।६४, वि० १५४।१, कवि० ७।१००
१९. रा० ७।२६।१, वि० २४४।५
२०. रा० २।६७।३, ३।१।श्लोक १
२१. रा० २।२७४।३, वि० २५७।३, कवि० ६।५२
२२. रा० २।२९८।१, ब० रा० ७
२३. रा० १।२८५।२, १।३०८, १।३५७
२४. रा० २।२०१, २।२६६।३, गी० २।६५।२
२५. वि० १६६।१ गी० २।२।५
२६. रा० १।११२।२, वि० ६१।८
२७. रा० ३।४२।३, ६।११३।३, गी० ७।३८।१
२८. रा० १।२८५।३, दो० ४२७
२९. कवि० ७।३
३०. वि० २७४।१, गी० ५।२२।१०
३१. रा० ३।४।१, गी० १।२५।१, वि० ४५।१, कवि० ५।३०
३२. रा० ३।४।१०, ७।९२ सो०

हैं।[1]

कृष्णभक्त आचार्यों ने नायकरूप में अंकित कृष्ण का चतुर्विधत्व स्वीकार किया है।[2] उनका यह अवसाय कृष्ण की सर्वतोमुखी पूर्णता प्रतिपादित करने के लिए है। तुलसीदास इस प्रकार के मोह और आग्रह के वशीभूत नहीं हैं। अपनी लोकसंग्रहाभिलाषिता एवं मर्यादावादिता के कारण उन्होंने राम को धीरललित या धीरोद्धत नायक के रूप में चित्रित नहीं किया। राम का रूप-वर्णन, प्रेमनिरूपण आदि धीरललित नायक के व्यावर्तक लक्षण नहीं है। ये विशेषताएँ धीरोदात्त आदि में भी पायी जाती हैं। राम के विषय में 'ललित'[3] शब्द के प्रयोग से यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि तुलसी राम का चित्रण धीरललित नायक के रूप में कर रहे हैं। धीरललित नायक का वैशिष्ट्य उसकी विलासिता आदि में है। परंतु तुलसी के मर्यादापुरुषोत्तम राम विषयरस-रूखे[4] हैं। राजधर्म के प्रति जागरुक हैं।[5] वे हर्ष, विषाद, क्रोध, माया, मान आदि से रहित हैं।[6] अपने परित्राणपरायण और लोकपालनदक्ष आराध्य को धीरललित विलासी के रूप में चित्रित करना तुलसी को वांछनीय नहीं जँचा। जनक-वाटिका[7] और हिंडोले आदि[8] के शृंगारिक प्रसंगों के आधार पर भी राम में मधुररसानुयोगी धीरललित-गुणों—कलासक्तता, भोगप्रवणता आदि[9]—की पुष्टि नहीं की जा सकती। उन संदर्भों में भी, जहाँ कहीं अवकाश मिला है, काव्य-धर्म की रक्षा करते हुए, दास्यभक्तिमयी पंक्तियाँ बिठा दी गयी हैं।[10] राम के धीरोद्धतत्व की बात तो दूर रही, उद्दंड लक्ष्मण में भी धीरोद्धत नायक की अधिकांश विशेषताएँ[11] नहीं हैं। वे चपल, विकत्थन और रोषण तो हैं परंतु उनमें अहंकार, दर्प, मात्सर्य, छद्म और मायावीपन नहीं है। **'जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।'**[12] आदि का कारण उनका राम-भक्तिप्रेरित रोष है, पापमूलक क्रोध नहीं।

१. रा० १।२८५।१-२, २।२६८।१-२, ७।१।श्लोक १, ७।६१।४-७।६२
२. स पुनश्चतुर्विधः स्याद् धीरोदात्तश्च धीरललितश्च।
धीरप्रशान्तनामा तथैव धीरोद्धतः कथितः॥ —ह० र० सि० २।१।७६
३. दो० १२०, रा० प्र० ४।३।३
४. रा० २।१७६।४
५. रा० ७।२०।४-७।२४।१
६. रा० १।२७०, २।१२।२, वि० ५६।६
७. रा० १।२३०।१-१।२३८।२, गी० १।७१-७२
८. गी० ७।१८-२२
९. धीरललित नायक के लक्षण के लिए दे०—दशरूपक, २।३ और उस पर अवलोक, सा० द० ३।३४ आदि
१०. मुदित असीस सुनि, सीस नाइ पुनि पुनि,
बिदा भई देवी सों जननि डर डरिकै।
हरषीं सहेली, भयो भावतो, गावतीं गीत,
गवनी भवन तुलसीस-हियो हरि कै॥ —गी० १।७२।४
और भी दे०—रा० १।२३५।१-२
११. धीरोद्धत नायक की विशेषताओं के लिए दे०—दशरूपक, २।५-६ और उस पर अवलोक, सा० द० ३।३३, ह० र० सि० २।१।८७-८८
१२. रा० १।२५३।२

आश्रय—भक्तिरस के आश्रय भक्तगण हैं। तुलसी के काव्य में इनके दो मुख्य वर्ग हैं—स्वयं कवि और कविनिबद्ध पात्र। 'कवितावली' आदि मुक्तक रचनाओं में और जहाँ-तहाँ प्रबंधों[1] में भी तुलसी स्वयं आश्रय हैं। भक्तिरस की महामहिम कृति 'विनयपत्रिका' तो उनका आत्मनिवेदन ही है। तुलसी के द्वारा निबद्ध पात्रों की, विभिन्न दृष्टियों से, विविधप्रकारक चर्चा भक्तों की मीमांसा के प्रकरण में की जा चुकी है।

उद्दीपन विभाव—उद्दीपन विभाव दो प्रकार के हैं। आलंबनगत और आलंबनबाह्य। आलंबनगत उद्दीपन के तीन वर्ग हैं—गुण, चेष्टा और प्रसाधन। सामान्य दृष्टि से, गुण आलंबन के स्वरूप के ही अंतर्गत आते हैं परंतु जब उनका चित्रण उद्दीपक रूप में किया जाता है तब अपने इस वैशिष्ट्य के कारण उन्हें उद्दीपन विभाव कहना ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[2] राम का सस्मित मुख, नयनतारल्य आदि उद्दीपन विभाव के रूप में भी अंकित हुए हैं।[3] राम की चेष्टाएँ (बाल-क्रीड़ा, भक्तरक्षण, दुष्टवध आदि) आलंबन विभाव के दूसरे प्रकार (चेष्टा) के अंतर्गत आती हैं।[4] आलंबनगत उद्दीपन विभाव का तीसरा प्रकार प्रसाधन है। उसके अनेक रूप हैं—वसन, आकल्प, मंडन आदि। झगा, दुकूल आदि वसन हैं। केशबंधन, तिलक, तुलसीमाला आदि आकल्प हैं। किरीट, कुंडल, हार, केयूर, किंकिणी, नूपुर आदि मंडन हैं। सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से यह बात ध्यान देने योग्य है कि राम के छवि-वर्णन में तुलसी ने प्रसाधनरूप उद्दीपन विभावों का प्रायः समन्वित चित्रण किया है।[5] इसका कारण यह है कि संश्लिष्ट चित्र में जितनी मार्मिक प्रभावकता होती है उतनी किसी खंडचित्र में नहीं हो सकती।

अनुभाव—भाव के अवबोधक विकारों की संख्या अनंत होने के कारण अनुभाव भी अनंत हैं। तुलसी ने (भक्ति के आश्रय) भक्तों के बहुसंख्यक अनुभावों और सात्त्विक भावों की रमणीय योजना की है।[6] सात्त्विक भाव वस्तुतः अनुभाव ही हैं। अनुभावों में विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सत्त्व-समुत्पन्न होने के कारण उन्हें 'सात्त्विक भाव' की संज्ञा दी गयी है।[7] अनुभाव आश्रयगत ही होते हैं। भक्तिरस के शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से, भगवान् के मनोगत भावों की शारीरिक अभिव्यक्तियाँ (अश्रु[8], बाहुस्फुरण[9] आदि) विभाव के ही अंतर्गत आती हैं, अनुभाव के नहीं; क्योंकि वे भक्ति (भगवद्विषयक रति) का अनुभावन (सूचन) न करके भगवान् की ही वत्सलता, कृपा आदि का विभावन करती हैं।

संचारी—भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में तैंतीस संचारी भाव माने गये हैं।[10] भक्तिरस-

---

१. 'रामचरितमानस' की प्रस्तावना, उपसंहार और सातों सोपानों के मंगलाचरण विशेष द्रष्टव्य हैं।

२. ह० र० सि० २।१।११७-१८ और उस पर दुर्गमसङ्गमनी।

३. यथा—रा० १।१९९।१-६

४. यथा—कवि० १।३, ४

५. रा० ७।७६।३-७।७७; गी० १।२६, कवि० १।२, ५, ७

६. नृत्य (रा० ३।१०।६), लुंठन (रा० ३।१०।११), स्तंभ (रा० ३।१०।८-९), रोमांच (रा० ३।१०।८), अश्रु (रा० ३।१२।५), मूर्च्छा (रा० २।७९।४) आदि

७. दशरूपक, ४।४-५, सा० द० ३।१३४-३५

८. रा० ३।३१।४

९. रा० ४।६।७

१०. नाट्यशास्त्र, ६।१९-२२; दशरूपक, ४।८; काव्यप्रकाश, ४।३१-३४, सा० द० ३।१४१

मीमांसक आचार्यों ने भक्तिरस के विवेचन में उन तैंतीसों का परिगणन किया है।[1] तुलसी द्वारा प्रतिपादित भक्तिपथ ज्ञानवैराग्य-संयुत है।[2] अतः उनके काव्य में अभिव्यक्त भक्तिरस के व्यंजक संचारी भावों में निर्वेद अन्यतम है। प्रायः संपूर्ण 'विनयपत्रिका', 'कवितावली' के उत्तरकांड और 'रामचरितमानस' के अधिकांश भक्तिरसात्मक स्थलों में उसकी विवृति हुई है।[3] तुलसी की भक्ति प्रपत्त्यात्मक है। अतएव उसमें दैन्य का भी अत्यंत विशिष्ट स्थान है।[4] हृदयद्रावकता की दृष्टि से भरत की ग्लानि की गरिमा हिंदी के संपूर्ण भक्तिकाव्य में अनुपम है—

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइगोठ महिसुर पर जारें॥
जे अघ तिअ बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं येहु होइ मोर मत माता॥
जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूत गन घोर।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥
बेचहिं बेद धरमु दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी॥
लोभी लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं पर धनु पर दारा॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी येहु संमत मोरा॥
जे नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे॥
जे न भजहिं हरि नर तनु पाई। जिन्हहिं न हरिहर सुजस सोहाई॥
तजि श्रुति पंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेषु जग छलहीं॥
तिन्ह कइ गति मोहि संकरु देऊ। जननी जौं येहु जानौं भेऊ॥[5]

निर्वेद के अतिरिक्त अन्य संचारी भावों की व्यंजना भी प्रेक्षणीय है। शंका,[6] चिंता,[7] आवेग,[8]

---

१. ह० र० सि० २।४।१-६
२. रा० १।४४, ७।१००ख
३. यथा—वि० २०१, २०२, २३४, २३५
४. उदाहरणार्थ—वि० ११४, २४५; हनु० ३०, ३६
५. रा० २।१६७।३-२।१६८।४
६. समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
राम लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥
मातु मतें महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥
जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी।
मोरे सरन राम की पनहीं। रामु सुस्वामि दोसु सब जन हीं॥ —रा० २।२३३।४-२।२३४।१
७. रहेउ एक दिनु अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहिं बिसरायउ॥
... ...
बीते अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥ —७।१।१-४
८. भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीनमनि फनिबर जैसें॥

मति,[1] स्मृति,[2] धृति,[3] मरण,[4] उग्रता,[5] हर्ष,[6] विषाद,[7] उन्माद,[8] क्रीड़ा,[9] वितर्क,[10] जड़ता[11] आदि के संयोग से विभिन्न स्थलों पर भक्तिरस की उचित निष्पत्ति हुई है।

आगे देखि रामु तनु स्यामा। सीता अनुज सहित सुखधामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी॥ —रा० ३।१०।६-११

१. जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥ —रा० ४।१०।२-३

२. जब जब भवन विलोकति सूनो।
तब तब विकल होति कौसल्या दिन दिन प्रति दुख दूनो॥
सुमिरत बाल-बिनोद राम के सुंदर मुनि-मन-हारी।
होत हृदय अति सूल समुझि पदपंकज अजिर-बिहारी॥
... ...

दूरि करै को भूरि कृपा बिनु सोकजनित रुज मेरो? —गी० २।५४

३. नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीन दयाल अनुग्रह तोरें॥ —रा० २।१०२।३-४

४. हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर॥
राम राम कहि राम कहि। राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयउ सुरधाम॥ —रा० २।१५५

५. सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
... ...

तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥ —रा० १।२५३

६. जय रघुबंस बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥
... ...

देवन्ह दीन्हीं दुंदुभी प्रभु पर बरषहिं फूल।
हरषे पुर नर नारि सब मिटी मोहमय सूल॥ —रा० १।२८५

७. पाइ सुदेह बिमोह-नदी-तरनी न लही, करनी न कछू की।
रामकथा बरनी न बनाइ, सुनी न कथा प्रह्लाद न ध्रू की। —कवि ७।८८

८. कबहुंक फिरि पाछें मुनि जाई। कबहुंक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥ —रा० ३।१०।६-७

९. रूपरासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥
मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा॥—रा० ७।७७।४-५

१०. अवसि फिरहिं गुर आयेसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ। रामजननि हठ करबि कि काऊ॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥
जौं हठ करौं त निपट कुकरमू। हर गिरि तें गुरु सेवक धरमू॥
एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहिं रैनि बिहानी॥ —रा० २।२५३।२-४

११. अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रकटे हृदयँ हरन भवभीरा॥
मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनसफल जैसा॥ —रा० ३।१०।७-८

ग्यारह रस—रसो की सख्या के विषय मे मतभेद है।[1] तुलसीदास के काव्य में ग्यारह रसों की अभिव्यक्ति हुई है—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध नवरस (शांत,[2] शृंगार,[3] वीर,[4] करुण,[5] अद्भुत,[6] हास्य,[7] रौद्र,[8] भयानक[9] एवं बीभत्स[10]) तथा वात्सल्य[11] और भक्ति-रस।[12] शास्त्रीय दृष्टि से, इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से प्रलक्ष्य है कि तुलसी ने केवल दस रस ही माने हैं। नवरस[13] तथा भक्तिरस[14] का उल्लेख तो उन्होंने किया है, परंतु वात्सल्य रस का कहीं नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें वात्सल्य का रसत्व मान्य नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। यद्यपि तुलसी के पूर्ववर्ती विश्वनाथ-सरीखे आचार्य ने वात्सल्य की रसता स्वीकार कर ली थी[15] तथापि साहित्यिक जगत् में उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पायी थी। तुलसी के समक्ष वात्सल्य रस का पर्याप्त साहित्य नहीं था, जिसके आधार पर वे उसे गौरव देते। सूरदास उनके समकालीन ही थे। उनके (सूर के) वात्सल्यरस-निरूपण को मान्यता प्राप्त करने में कुछ समय लग जाना बिल्कुल स्वाभाविक था। अपने वात्सल्य-वर्णन के आधार पर भी तुलसी वात्सल्यरस की परिकल्पना नहीं कर सके। उनके काव्य में निरूपित अधिकांश वात्सल्य वत्सल-भक्तिरस के ही अंतर्गत माना जाएगा। उसे केवल वात्सल्यरस की कोटि में नहीं रखा जा सकता। यही नहीं, तुलसीदास की वे पंक्तियाँ भी[16] जो सामान्य पाठक को केवल वात्सल्यरस की अनुभूति कराती हैं, तुलसी की दृष्टि में (अन्य भक्तजनों के लिए भी) वत्सलभक्तिरस-व्यंजक हैं।

उपर्युक्त ग्यारह रसों के दो स्पष्ट वर्ग हैं—एक भक्तिरस का और दूसरा भक्तीतर दस रसों का। भक्तिमान् भावक कह सकते हैं कि तुलसी के संपूर्ण काव्य का अंगी रस भक्तिरस ही है। शृंगार, रौद्र, भयानक आदि रसों का निरूपण अंगरूप में ही हुआ है। किसी भी रचना में

१. आठ रस—विक्रमोर्वशीय, २।१८; नाट्यशास्त्र ६।१६-१७
नवरस—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ४।४; अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० ३४१; काव्यप्रकाश, ४।२९, ३५
दस रस—काव्यालङ्कार, १०।३; साहित्यदर्पण, ३।१८२, २५१
सोलह रस—भ० र०, द्वितीय उल्लास
२. कवि० ७।३१
३. रा० १।२२९-१।२३४, कवि० १।१७
४. कवि० ६।४०-४६
५. रा० २।१५६।२-३
६. कवि० ६।५४
७. रा० १।१३४।१-१।१३५।१
८. कवि० १।२०
९. कवि० ५।४-२५
१०. कवि० ६।५०
११. गी० २।५२-५३
१२. वि० २४४-४५
१३. रा० १।३७।५, वि० १६६।१
१४. रा० ७।१२५।१
१५. सा० द० ३।२५१-५४
१६. कवि० १।१-५ आदि

कवि के मानस से स्थायी भगवद्रति तिरोहित नहीं हुई है। अतएव तुलसी-निरूपित भक्तीतर रस की कल्पना करना निरर्थक है। इस कथन में यथार्थता, तर्कसंगति या समीचीनता नहीं है। इसका प्रबलतम प्रमाण यह है कि 'कवितावली', 'गीतावली', 'रामचरितमानस' आदि की अनेकानेक पंक्तियों के भावन से तटस्थ भावक के जिस वासनारूप स्थायी भाव का विकास होता है, वह भगवद्रति न होकर कामरति, जुगुप्सा, वात्सल्य या शोक ही है।[1] भक्तीतर रसों का विवेचन हमारा प्रतिपाद्य नहीं है; प्रसंगवश ही उनका संकेत कर दिया गया है। यहाँ पर यह प्रतिपन्न कर देना अपेक्षित है कि तुलसीदास केवल भक्त ही नहीं थे, वे भक्त कवि थे। अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द'[2] की भाँति तुलसी की काव्यकृतियाँ भी मोक्षार्थगर्भा हैं। यद्यपि उनकी कृतियों का अधिकतर भाग मोक्षधर्म अथवा काव्यधर्म-विशिष्ट मोक्षधर्म का ही प्रतिपादक है तथापि ऐसे स्थल भी बहुत हैं जहाँ केवल काव्यधर्म का ही पालन किया गया है।

रूप गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरस के विविध भेदों का भिन्न प्रकारसे निरूपण किया है। रूप गोस्वामी ने मुख्य एवं गौण दो भेद बताकर मुख्य के पाँच (शांत, प्रीत, प्रेयान्, वत्सल और मधुर) तथा गौण के सात (हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स) उपभेदों के रूप में भक्तिरस के कुल मिलाकर बारह भेद माने हैं।[3] अपने 'भक्तिरसायन' में मधुसूदन सरस्वती ने सात चित्तद्रुतियों, तत्संबंधी सोलह स्थायी भावों और तदनुसार सोलह रसों का विवेचन किया है।[4] उनकी स्थापना है कि शुद्ध भक्तिरस केवल तीन है,

१. कवि० १।१७, ६।५०; गी० २।५२-५३; रा० २।१५६।२-३
२. सौन्दरनन्द, १८।६३
३. दे०—ह० र० सि० २।५।९५-९८
४. प्रस्तुत सारणी से उनका मत स्पष्ट हो जाएगा—

मूलचित्तद्रुति	तत्संबंधी स्थायी	रस
१. काम (२।३)	१. रति (२।४)	१. शृंगार (२।३१-३३)
२. क्रोध (२।५)	२. ईर्ष्याज द्वेष (२।२९)	२. शुद्ध रौद्र (२।३०)
,,	३. भयज द्वेष (२।२९)	३. रौद्रभयानक (२।३०)
,,	४. भय रति (२।८)	४. प्रीतिभयानक (२।३१-३३)
३. स्नेह (२।९)	५. वत्सल रति (२।११)	५. वत्सल रस (२।३४-३५)
,,	६. प्रेयो रति (२।११)	६. प्रेयान् (२।३४-३५)
४. हर्ष (२।१२)	७. शुद्धा रति (२।१३)	७. विशुद्धभक्तिरस (२।३४-३५)
,,	८. हास (२।१४)	८. हास्य (२।३१-३३)
,,	९. विस्मय (२।१५)	९. अद्भुत ,, ,, ,,
,,	१०. युद्धोत्साह (२।१६)	१०. युद्धवीर ,, ,, ,,
५. शोक (२।१७)	११. शोक (२।१७)	११. करुण ,, ,, ,,
६. दया (२।१८)	१२. जुगुप्सा (२।१८-२०)	१२. बीभत्स (२।२७-२८)
,,	१३. दयोत्साह (२।२१)	१३. दयावीर (२।२७-२८)
,,	१४. दानोत्साह (२।२२)	१४. दानवीर (२।३१-३३)
,,	१५. धर्मोत्साह (२।२३)	१५. धर्मवीर (२।२७-२८)
७. शम (२।२४)	१६. शम (२।२४)	१६. शान्त (२।२७-२८)

मिश्रित भक्तिरस सात हैं और शेष छः रस भक्तिरसत्व के अयोग्य है। पूर्वोक्त सोलह रसों में से परिपुष्कल (शुद्ध या मुख्य) भक्तिरस केवल तीन हैं—विशुद्ध-भक्तिरस, वत्सल-भक्तिरस और प्रेयान्-भक्तिरस। किसी अन्य रस या भाव का मिश्रण न होने से इन्हें अमिश्र भक्तिरस भी कहा जा सकता है।[1] शृंगार, करुण, हास्य, प्रीतिभयानक, अद्भुत, युद्धवीर और दानवीर—ये सात मिश्रित भक्तिरस हैं; क्योंकि इनके स्थायी भावों (कामरति, शोक, हास, भयरति, विस्मय, युद्धोत्साह और दानोत्साह) का भगवद्भक्ति के साथ मिश्रण हो सकता है।[2] शेष छः रस (शुद्ध-रौद्र, रौद्रभयानक, बीभत्स, धर्मवीर, दयावीर और शांत) भक्तिरसत्वानर्ह हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् जुगुप्सा, धर्मोत्साह, दयोत्साह और शम के (भक्तिरस-विषयक) आलंबन नहीं हो सकते।[3] ईर्ष्याज द्वेष और भयज द्वेष तो भगवद्विषयक होने पर भी प्रीति के साक्षात् विरोधी हैं।[4] अतएव उनका भक्तिरसत्व प्राप्त करना सर्वथा असंभव है।

भक्तिरस के शुद्धत्व या केवलत्व और इतर रसों के साथ उसके सांकर्य के आधार पर तुलसी के काव्य में अभिव्यक्त भक्तिरस के भी दो भेद हैं—शुद्ध भक्तिरस तथा मिश्रित भक्तिरस। इन्हीं को क्रमशः मुख्य भक्तिरस तथा गौण भक्तिरस, एवं केवल भक्तिरस और मिलित भक्ति-रस भी कहा जा सकता है। शुद्ध भक्तिरस वहाँ होता है जहाँ स्थायी भाव के रूप में केवल भगवद्रति की अभिव्यंजना की गयी हो;[5] जिसमें कामरति, हास, शोक आदि का मेल न किया गया हो। मिश्रित भक्तिरस वह है जिसमें भगवद्रति के साथ कामरति, हास, शोक आदि भावों का भी मिश्रण हो।[6] तुलसी की मुक्तक काव्यरचना 'विनयपत्रिका' का अधिकांश शुद्ध भक्तिरस का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रबन्ध काव्य 'रामचरितमानस' में मिश्रित भक्तिरस की भी रमणीय व्यंजना हुई है।

शुद्ध भक्तिरस—आश्रय भक्त, आलंबन भगवान् के रूप, एवं भक्तभगवत्संबंध के भेद से शुद्ध भक्तिरस के भी अनेक भेद हैं। इस विषय में भक्तिरस-मीमांसक एकमत नहीं हैं। रूप-गोस्वामी आदि के मत से शुद्ध (मुख्य) भक्तिरस के पाँच भेद हैं—शांत, प्रीत, प्रेयान् वत्सल और मधुर।[7] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार शुद्ध (परिपुष्कल या अमिश्र) भक्तिरस केवल तीन हैं—विशुद्ध भक्तिरस, वत्सल भक्तिरस, और प्रेयान् भक्तिरस।[8] तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। वत्सल भक्तिरस दोनों को मान्य है। रूपगोस्वामी के प्रीत भक्तिरस तथा प्रेयोभक्तिरस, एक प्रकार से, मधुसूदन सरस्वती के प्रेयान् भक्तिरस में समाविष्ट हैं। रूप गोस्वामी का मुख्य (शुद्ध) शांत भक्तिरस मधुसूदन सरस्वती को शुद्ध या मिश्रित किसी भी रूप में मान्य नहीं है। वे रूपगोस्वामी के मधुर रस को भी शुद्ध और श्रेष्ठ भक्तिरस मानने को तैयार नहीं है। वे उसे मिश्रित भक्तिरस की कोटि में ही रखते हैं। फिर भी उसकी प्रभ-

१. भ० र० २।३४-३५
२. दे०—भ० र० २।३३ और उस पर किञ्चिद्व्याख्या
३. भ० र० २।२८
४. भ० र० २।३०
५. भ० र० २।३४-३५, ४०
६. भ० र० २।३२-३३
७. ह० र० सि० २।५।६६-६७
८. भ० र० २।३४-३५

विष्णुता स्वीकारने में उन्हें कोई संकोच नहीं है। उनका कथन है कि यद्यपि भक्तिरस की दृष्टि से तीनों शुद्ध भक्तिरस ही श्रेष्ठ हैं तथापि शृंगार रस, मिश्रित होने पर भी, सभी रसों में बलवत्तम है, क्योंकि उसी में ही संभोगविप्रलंभानुसार रति का तीव्रतीव्रतरत्व पाया जाता है।[1]

तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त शुद्ध भक्तिरस चार प्रकार का है—विशुद्ध भक्तिरस, शांत भक्तिरस, प्रेयान् भक्तिरस और वत्सल भक्तिरस। परानंदमय भगवान् के माहात्म्य से उत्पन्न हर्ष के कारण द्रुतचित्त की भगवद्विषयक शुद्ध सात्त्विकी रति विशुद्ध भक्तिरस का स्थायी भाव है।[2] इसमें भगवान् की महिमा आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि अनुभाव एवं हर्ष, मति आदि संचारी भाव होते हैं। यथा—

सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नामु, हिएँ पुनि रामहि को थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को बलु है॥
सब की न कहै, तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को फलु है॥[3]

तुलसी के काव्य में अभिव्यक्त शुद्ध भक्तिरस का दूसरा प्रकार शांत भक्तिरस[4] है। उनकी कृतियों में 'शांत' के दो रूप हैं—शुद्ध शांत रस और शांत भक्तिरस। जहाँ स्थायी भाव के रूप में केवल शम की व्यंजना हुई है, (भगवद्रति की नहीं) वहाँ शांत रस है।[5] जहाँ ज्ञानी भक्तों की ज्ञानपूर्विका भगवद्रति की व्यंजना है वहाँ शांत भक्तिरस है। ऐसे स्थलों में ज्ञानचर्चा गौण है। शम संचारी मात्र है। कवि का वास्तविक प्रतिपाद्य, स्थायी भाव, भगवद्रति ही है। शांतरस-प्रत्यायक तत्त्वज्ञाननिरूपण भगवद्रति और भक्तिरस का पोषक है, एवं स्थायी भाव शम ईश्वर-विषयक रति का अंग होकर आया है।[6] शांत भक्तिरस का स्थायी भाव संकल्प-विकल्प से रहित मन वाले शमी भक्तों की शांता रति है। विभु, सच्चिदानंद, परमात्मा विषयालंबन और आत्माराम तापस शांतभक्त आश्रय हैं। वेदोपनिषदादि का श्रवण, तीर्थादि का सेवन, ज्ञानी भक्तों का संसर्ग आदि उद्दीपन विभाव हैं। ज्ञानमुद्रा, निरपेक्षता, निरहंकारिता, भक्त्युपदेश आदि अनुभाव तथा रोमांच, कंप आदि सात्त्विक भाव हैं। निर्वेद, धृति, मति आदि संचारी भाव हैं।[7] स्वयं तुलसीदास[8], और उनके शंकर[9], सुतीक्ष्ण[10], अगस्त्य[11], सनक[12] आदि की शांता रति

१. भ० र० २।३६
२. भ० र० २।१२-१३
३. कवि० ७।३७
४. मधुसूदन सरस्वती को शांत भक्तिरस का अस्तित्व कथमपि मान्य नहीं है। उनका अभिमत है कि शम भगवद्विषयक नहीं हो सकता, भगवद्भिन्न विषय ही उसके आलंबन विभाव हो सकते हैं। इस प्रकार भिन्नास्पद होने के कारण वह भक्तिरसता प्राप्त करने में असमर्थ है। (दे०—भ० र० २।२७-२८)
५. वि० १११, ११५, १२२, १६७
६. रा० १।११७।३-१।११६, वि० ११६, ११७, १२०, १२१
७. ह० र० सि० ३।१।४-२४
८. वि० १२१, १२३, रा० १।१।श्लोक६
९. रा० १।११६।१-१।११६।२
१०. रा० ३।११।६
११. रा० ३।१३।३-७
१२. रा० ७।३३।१-७।३४

अनेक स्थलों पर रमणीयता के साथ व्यक्त हुई है।

तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त शुद्ध भक्तिरस का तीसरा प्रकार प्रेयान् भक्तिरस है। इस रस का स्थायी भाव प्रेयोरति है। सेव्य-सेवक-भाव से की गयी भगवद्विषयक रति को प्रेयोरति कहते हैं।[1] यह कहा जा चुका है कि तुलसीदास की भक्ति मुख्यतः सेव्य-सेवक-भाव की भक्ति है।[2] अतएव उनके काव्य में अभिव्यक्त मुख्य भक्तिरस (मधुसूदन सरस्वती वाले अर्थ में) प्रेयान् भक्तिरस ही है।

निर्भ्रांत विचारणा के लिए रूपगोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती का मतभेद स्पष्ट कर देना अपेक्षित है। रूपगोस्वामी ने भक्तिरस-संबंधी जिन स्थायी भावों का निरूपण किया है उनमें संभ्रमप्रीति (दास्य), सख्य तथा वात्सल्य तीन स्वतंत्र स्थायी भाव हैं और तदनुसार प्रीत, प्रेयान् तथा वात्सल्य इन तीन रसों की अभिव्यक्ति होती है। मधुसूदन सरस्वती ने जो सात मूल चित्तद्रुतियाँ मानी हैं उनमें से एक चित्तद्रुति स्नेह है। इसी स्नेह के दो रूप हैं—वत्सल रति (पाल्य-पालक-भाव) और प्रेयोरति (सेव्य-सेवक-भाव)। इस प्रेयोरति की ही दो वृत्तियाँ हैं—दास्य और सख्य। अर्थात् सख्य में भी सेव्य-सेवक-भाव अनिवार्य है। रूपगोस्वामी ने जिसे प्रीत-भक्तिरस कहा है उसका स्थायी भाव संभ्रमप्रीति है। भगवान् की प्रभुता के ज्ञान से चित्त में जो सादर कंप उत्पन्न होता है उसे 'संभ्रम' कहते हैं। अतएव संभ्रमप्रीति का अर्थ हुआ—माहात्म्य-ज्ञानपूर्विका भगवद्रति। उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण इसकी तीन तारतमिक अवस्थाएँ हैं—प्रेमा, स्नेह और राग।[3] इसके विषयालंबन हैं कृपा, शक्ति, ज्ञान, क्षमा आदि गुणों के आकर भगवान् एवं उनके निदेशवशवर्ती, प्रभुताज्ञानी भक्तजन।[4] इसके साधारण उद्दीपन भगवान् का स्मित-पूर्वक अवलोकन, उनके गुणोत्कर्ष का श्रवण आदि तथा असाधारण उद्दीपन भगवदनुग्रह, हरि-भक्तसंगति आदि हैं।[5] हरिप्रीतिनिष्ठता, भक्तजनों से मैत्री आदि इसके असाधारण अनुभाव; भक्तों का आदर, विराग आदि साधारण अनुभाव; तथा रोमांच आदि आठों सात्त्विक भाव हैं।[6] हर्ष, दैन्य, ग्लानि आदि संचारी भाव हैं।[7] उन्होंने जिसे प्रेयान् रस कहा है उसका स्थायी भाव सख्य है।[8] मधुसूदन सरस्वती ने रूपगोस्वामी के उपर्युक्त दोनों ही स्थायी भावों को एक ही मूल स्थायी भाव माना है—प्रेयोरति (जिसकी निष्पत्ति प्रेयान् रस के रूप में होती है)। तुलसीदास के एतद्विषयक विवेचन के लिए मधुसूदन सरस्वती का यह मत ही अधिक उपयोगी है क्योंकि उनके काव्य में रूपगोस्वामी के प्रेयान् रस की अभिव्यंजना न होकर मधुसूदन सरस्वती के प्रेयान् रस की ही अभिव्यंजना हुई है—अर्थात् उनके द्वारा अभिव्यक्त सख्यभाव के मूल में भी प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से सेव्य-सेवक-भाव विद्यमान है।

प्रेयोरति के तीन भेद हैं—दास्य, सख्य और दास्यसख्योभयात्मक। तदनुसार प्रेयान् रस के

१. भ० र० २।११
२. सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि। —रा० ७।११९क
३. ह० र० सि० ३।२।४०-४३
४. ह० र० सि० ३।२।६-१३
५. ह० र० सि० ३।२।३०-३३
६. ह० र० सि० ३।२।३३-३६
७. ह० र० सि० ३।२।३६-३८
८. ह० र० सि० ३।३।१

भी तीन भेद हैं—दास्यप्रेयान् रस, सख्यप्रेयान् रस तथा उभयात्मक प्रेयान् रस। तुलसी की प्रायः सभी सरस रचनाओं में दास्यप्रेयान् रस का शक्तिमान् प्रवाह है।[1] उनके साहित्य में अंकित दास्यप्रेयोरति (संभ्रमप्रीति) का रूप सर्वथा स्पष्ट है। यह दास्य-भाव ही उनकी समस्त कृतियों में सर्वव्यापक स्थायी भाव है। यही कारण है कि वात्सल्य के आश्रय दशरथ, कौशल्या आदि का स्थायी वात्सल्य भी प्रायः तुलसी के स्थायी दास्य से मुक्त नहीं हो सका है। भरत और लक्ष्मण राम के भाई एवं सुग्रीव तथा विभीषण राम के सखा होकर भी उनके प्रति दास्यभाव का निवेदन करते हैं।[2] शिव, ब्रह्मा, शुक, सनक आदि ज्ञानी-विज्ञानी भी सेव्यसेवकभाव की भक्ति को अनिवार्य समझते हैं।[3]

सहृदयों के हृदय में स्थित स्थायी सख्यभाव आत्मोचित विभावादि के संयोग से पुष्ट होने पर प्रेयान् रस कहा जाता है। इसके आलंबन हरि और उनके वयस्य हैं।[4] विषय और आश्रय के भेद से हरि विषयालंबन एवं हरिवयस्य आश्रयालंबन हैं। शृंगार रस की भाँति दोनों को परस्पर आश्रय और विषय नहीं माना जा सकता; क्योंकि, हरि के प्रति वयस्यों का स्थायी भाव सख्ययुक्त भक्ति है, किंतु वयस्यों के प्रति हरि का स्थायी भाव सख्ययुक्त वात्सल्य है। यदि यह भेद नहीं स्वीकार किया जाएगा तो हरि की भगवत्ता और वयस्य की भक्तिमत्ता ही लुप्त हो जाएगी। फिर भक्तिरस कहाँ रहेगा? हाँ, भगवान् का एक सखा दूसरे सखा की सख्यभक्ति का विषयालंबन हो सकता है। लेकिन, ऐसे भाव का निबंधन करने वाली रचना रसकोटि तक नहीं पहुँच पाती, अधिक-से-अधिक भावव्यंजक हो सकती है।

तुलसीदास मूलतः दास्यभक्ति के कवि हैं; अतएव उनके काव्य में सख्यप्रेयान् रस की विशेष अभिव्यंजना नहीं हो सकी। इस प्रकार के एकाध ही स्थल देखने को मिलते हैं। निम्नोद्धृत पंक्तियों में मित्रवृत्तिविशिष्ट प्रेयान् रसध्वनि की रमणीयता है—

पुर बालक कहि कहि मृदुबचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥
सब सिसु येहि मिसु प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तनु पुलकहिं अति हरष हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥
सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥
रामु देखावहिं अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥
लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥

१. रा० ३।६।५-छं०, ७।१३। छं०१-६; वि० १०१

२. भरत—जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥
मोरे सरन राम की पनहीं। रामु सुस्वामि दोसु सब जनहीं॥ —रा० २।२३४।१
लक्ष्मण—उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ॥ —रा० २।७१
सुग्रीव—विषयबस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अति कामी॥ —रा० ४।२१।२
विभीषण—स्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर॥ —रा० ५।४५

३. रा० ७।११९क, ७।१२२।६-७

४. ह० र० सि० ३।३।१-२

भगति हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुष मखसाला।।[1]

इस उदाहरण की समीचीनता पर यह आपत्ति की जा सकती है कि वे बालक भक्त नहीं हैं, उनमें सखिधर्मयुक्त भगवान् की भावना नहीं है। इसका समाधान तुलसीदास ने ही इस अवतरण की अंतिम पंक्तियों में कर दिया है। बालकों की भक्ति से ही प्रभावित होकर राम मखशाला का अवलोकन करते हैं। राम के प्रति बालकों का बंधुवत् व्यवहार उनके सख्यभाव का प्रत्यायक है। शास्त्रीय दृष्टि से यहाँ पर रसोचित सामग्री का भी समुचित संयोग है। राम विषयालंबन और बालक आश्रयालंबन हैं। राम के मनोहर वचन आदि उद्दीपन हैं। हर्ष आदि संचारी भाव हैं। पुलक आदि अनुभाव हैं। इस प्रकार उपस्थापित विभावादि रसाभिव्यंजन में समर्थ हैं। सबसे बड़ी बात अनुभव है। इन पंक्तियों को पढ़कर सहृदयों को प्रेयान् रस की अनुभूति होती है, अतः इनमें प्रेयान् रस है।

प्रेयान् भक्तिरस के तीसरे प्रकार (दास्यसख्योभयात्मक) की व्यंजना अनेक स्थलों पर हुई है। इसका कारण यह है कि सखातुल्य भरत, लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण आदि भक्तों की राम-विषयक प्रीति का आधार सेव्यसेवकभाव ही है। विश्वास-विशिष्ट सख्यप्रेयोरति की रसात्मक अभिव्यंजना के लिए अधोलिखित पद निदर्शनीय है—

केशव ! कारन कौन गुसाईं।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहिं तजेउ अग्य की नाईं।।
परम पुनीत संत कोमल-चित तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र, ब्याध, गनिकहि तारेहु, कछु रही स गाई ?
काल, करम, गति अगति जीव की, सब हरि ! हाथ तुम्हारे।
सोइ कछु करहु, हरहु ममता प्रभु ! फिरउँ न तुमहि बिसारे।।[2]

उपर्युक्त पद के प्रथम दो पद्यों में की गयी सामीप्यसूचक अनौपचारिक प्रश्न-योजना एवं भगवान् को दी गयी 'अवरेब'-पूर्ण लताड़ में सख्यभाव का समावेश है। अंतिम तीन पद्यों में आत्म-निवेदनात्मक दास्यभक्ति का ज्ञापन है।

सख्यभक्ति के संबंध में यह बात अवधानपूर्वक स्मरण रखने की है कि सख्यभक्ति वहीं मानी जा सकती है जहाँ भक्त सखिधर्मविशिष्ट भगवान् की भावना करता है। परंतु जहाँ भगवान् भक्त को तो सखा कहते हैं लेकिन भक्त उन्हें स्वामी के रूप में देखता है वहाँ सख्यभक्ति नहीं है। अतएव '**सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।**'[3]—राम की इस उक्ति में सख्यभक्ति का अस्तित्व नहीं है। इसके दो कारण हैं। सख्य भक्त की भावना है, भगवान् की नहीं। प्रस्तुत अर्द्धाली में राम का सख्यभाव व्यक्त हुआ है, विभीषण का नहीं। दूसरे, विभीषण के मन में स्थित भक्तिभाव दास्य है। उसी के ऊपर की दो पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।।
नाथ न रथ नहिं तनु पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना।।[4]

१. रा० १।२२४।४-१।२२५।३
२. वि० ११२।१-३
३. रा० ६।८०।२
४. रा० ६।८०।१-२

'बंदिचरन' और **'नाथ'** से हमारे कथन की निस्संदेह पुष्टि हो जाती है।

इसी प्रकार **"पुनि रघुपति सब सखा बोलाए।...ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे।"**[1] को भी सख्यभक्ति का उदाहरण मानना[2] युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ पर सखि-धर्म से युक्त भगवान् का भक्तद्वारा भावन नहीं किया गया है; बल्कि उल्टे भक्तों के सखिधर्म का ही भगवान् के द्वारा कृतज्ञतापूर्वक प्रकाशन हुआ है। भगवान् आश्रय हैं और भक्त विषया-लंबन। जिस, पूर्ववर्ती पंक्ति में जामवंत आदि का भक्तिभाव व्यक्त हुआ है, उससे दास्य की ही ध्वनि निकलती है—**'देखि नगरबासिन्ह कै रीती। सकल सराहहिं प्रभु पद प्रीती।'**[3] एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि 'सखा' शब्द का प्रयोगमात्र सख्यभक्ति का लक्षण नहीं है। उसमें पूर्वोक्त प्रकार से भक्तिभाव की अपेक्षित अभिव्यक्ति अवश्य होनी चाहिए। उपर्युक्त उदाहरणों के पक्ष में एक यौक्तिक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि इन पंक्तियों के पठन या श्रवण से भावक का कौन सा भाव जागृत होता है—सख्य-विशिष्ट भक्ति या दास्य-विशिष्ट भक्ति? हमारी मान्यता है—सख्य-विशिष्ट दास्यभक्ति। हमें इसे दास्य-विशिष्ट सख्यभक्ति कहने में भी संकोच है। कारण, ये सभी रामकथित सखा सभी अवसरों पर राम को अपना स्वामी और अपने को उनका दास ही मानते हैं।

तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त शुद्ध भक्तिरस का चौथा प्रकार वत्सल भक्तिरस है।[4] उनकी कृतियों में निरूपित वात्सल्य तीन रूपों में निष्पन्न हुआ है—शुद्धवात्सल्यरस, शुद्धवत्सल-भक्तिरस और वात्सल्यमिश्रित वत्सलभक्तिरस। 'गीतावली', 'कवितावली' और 'रामचरित-मानस' में निरूपित वात्सल्य इयत्ता एवं ईदृक्ता दोनों की ही दृष्टियों से गौरवशाली है। विभिन्न स्थलों पर विषयालंबन के शरीर, आकल्प और मंडन के नयनाभिराम सरस चित्र अंकित किये गये हैं। संयोग और वियोग की विविध दशाओं में आश्रय की चित्तवृत्तियों की, अनुभावों और संचारी भावों की सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक हृदयहारिणी अभिव्यंजना की गयी है। आलंबनगत और आलंबनबाह्य उद्दीपनों का मर्मस्पर्शी चित्रांकन किया गया है।

सूर की तुलना में भी तुलसी के वात्सल्य-निरूपण की कतिपय विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। इसमें संदेह नहीं कि सूर वात्सल्य के अन्यतम कवि हैं। परंतु, इस क्षेत्र में भी तुलसी का स्थान काफी ऊँचा है। वत्स के प्रति जननी के वात्सल्य की अतिशयता प्रायः सर्वत्र ही देखी जाती है। सूर में भी इसका आधिक्य है। किंतु पुत्र-वियोग की भावना मात्र से सुरलोकपरक्षक विश्व-विजेता पिता के द्रुतचित्त की कातरता की पराकाष्ठा का चमत्कारकारी कारुणिक आलेखन समर्थ कवि तुलसी की लेखनी का ही चमत्कार है। वात्सल्यमयी माँ के हृदय की अभिव्यंजना में भी तुलसी का काव्य-कौशल उत्तम कोटि का है। राम के संयोग तथा वियोग के अनेक अवसरों पर कौशल्या के वात्सल्य का मार्मिक चित्रण असाधारण है।[5] इसमें भी विशेष लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि दशरथ और कौशल्या को यह भलीभाँति विदित है कि राम परब्रह्म परमेश्वर हैं;[6]

१. रा० ७।८।४
२. डा० मुंशीराम शर्मा ने इसे सख्यभक्ति का उदाहरण माना है (दे०—भक्ति का विकास, पृ० ७४६)।
३. रा० ७।८।२
४. रा० २।३३।१-२, २।१५५।३-४
५. गी० १।८, २।५१-५५ आदि
६. रा० १।२०२।४, २।७७।३

फिर भी वे वात्सल्य से अभिभूत और कातर हो उठते हैं।[1] सूर के वात्सल्य की विविधता एक सीमित क्षेत्र में ही है। तुलसी के वात्सल्य का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। देश-काल की विविध भूमिकाओं में जीवन की जितनी विविध परिस्थितियों एवं मानव तथा अमानव के जितने विविध संबंधों की निदर्शना तुलसी ने की है वह सूर से कहीं अधिक है। पार्वती, राम, लक्ष्मण, सीता, आदि के प्रति माता-पिता एवं स्वयं कवि के वात्सल्य का वर्णन तो सुंदर है ही किंतु राम और सीता के प्रति सास-ससुर, अन्य गुरुजनों तथा साधारण दर्शकों का वात्सल्य भी विशेष द्रष्टव्य है। मेना, सुनयना, कौशल्या, सुमित्रा आदि की परिस्थितियों में जो वैविध्य है वह यशोदा आदि में नहीं है। सपत्नी-पुत्रों के प्रति सौतेली माताओं के स्नेह का इतना चित्ताकर्षक निरूपण[2] अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण के मथुरा-गमन में लाचारी है; लेकिन राम का गमन अनिवार्य नहीं है। कृष्ण के साथ राधा नहीं गयी थीं, राम के साथ सीता भी हैं। वक्रता इस बात में है कि दशरथ चाहें तो कैकेयी को वरदान न देकर अंधकूप में डाल दें; कौशल्या, वसिष्ठ आदि चाहें तो राम को अवध में ही रोक रखें; और यदि राम स्वयं चाहें तो वन न जाएँ। फिर भी वे जाते हैं और वेदना का पारावार उमड़ता है। धर्म की मर्यादा वंदनीय है! भगवान् राम का भक्तों के प्रति स्नेह भी वात्सल्य है। इसीलिए उन्हें भक्तवत्सल कहा गया है। राम की भक्तवत्सलता का निरूपण तुलसी के अतिशय प्रिय विषयों में से एक है। वात्सल्य के इस रूप की निबंधना भी तुलसी के वात्सल्य-निरूपण की अनुपेक्षणीय विशेषता है। यदि तुलसी के राम ने किसी की माखनचोरी नहीं की, गायें नहीं चरायीं, बालाओं से छेड़छाड़ नहीं की, तो क्या हुआ? उनका विश्वमंगलकारी लोक-रंजक धनुर्धर रूप एक गोरसप्रेमी माखनचोर लीलावतार की अपेक्षा कहीं अधिक महनीय है।

जहाँ केवल पाल्यपालकलक्षणयुक्त पुत्रादिविषयक स्नेह की अभिव्यक्ति हुई है वहाँ शुद्ध वात्सल्य रस है।[3] जिन स्थलों पर पाल्यपालकभाव एवं भगवद्रति का प्रभाव समान है वहाँ वात्सल्यरस-मिश्रित वत्सलभक्तिरस है।[4] जहाँ पाल्यपालकभाव के द्वारा मुख्यतः भगवद्रति की ही अभिव्यंजना हुई है वहाँ वत्सलभक्तिरस है।[5]

वत्सलभक्तिरस के मुख्य विषयालंबन हैं भगवान्—श्याम, रुचिर सर्वसल्लक्षणयुक्त, मृदु, प्रियभाषी, सरल, विनयी आदि।[6] तुलसी के काव्य में वत्सलरति के विषयालंबन के रूप में जहाँ भरत, लक्ष्मण, सीता आदि का रमणीय चित्रण हुआ है वहाँ वात्सल्य रस है, वत्सल भक्तिरस नहीं; क्योंकि वहाँ वे ईश्वररूप नहीं हैं, अतः उनके आश्रयालंबन वत्सल स्नेह मात्र से द्रुतचित्त हैं, भक्तिभावना से नहीं। इस रस के उद्दीपन बालरूप भगवान् का शैशवचापल्य, रूप-वेष, जल्पित, स्मित, लीला आदि हैं। इसके अनुभाव शिरोघ्राण, हाथ से अंगों का स्पर्श, आशीर्वाद, निदेश, लालन, प्रतिपालन, चुंबन, आश्लेष, नामग्रहणपूर्वक आह्वान आदि हैं। इसमें अन्य रसों में अभिव्यक्त आठों प्रकार के सात्त्विक भावों के अतिरिक्त एक नवाँ सात्त्विक भाव भी होता है जिसे

१. गी० २।४, रा० २।७९।३-४
२. रा० १।३५६।४-१।३५७।४, गी० १।८, ९, ११, १९
३. गी० १।३४, २।५२, ५३; रा० १।२०८।१-५
४. गी० १।१८-१९, रा० १।२०३।१-दोहा
५. गी० २।२, कवि० १।६
६. ह० र० सि० ३।४।२-४

स्तन्यस्राव कहा गया है।[1] परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि तुलसीदास ने जिन प्रसंगों में स्तन्यस्राव की निबंधना की है[2] वहाँ शुद्धवात्सल्य रस ही है, वत्सल भक्तिरस नहीं। इसके संचारी भाव हर्ष, गर्व, निर्वेद, दैन्य, चिंता, स्मृति, शंका, औत्सुक्य, मोह, उन्माद, मरण आदि है।[3]

इस रस का स्थायी भाव ईश्वर-विषयक वात्सल्य है। यहाँ पर 'वात्सल्य' शब्द अपने संकुचित अर्थ (संतान के प्रति जनक-जननी का स्नेह) में नहीं व्यवहृत हुआ है। उसका व्यापक अर्थ है—अनुकंप्य के प्रति अनुकंपा करने वाले की संभ्रम आदि से रहित रति।[4] वत्सलरति को संभ्रम आदि से रहित कहा गया है क्योंकि वात्सल्य के प्रसंग में विषयालंबन के प्रति माहात्म्यज्ञान अथवा आदरभाव नहीं होता है। विषय और आश्रय में पाल्य-पालक-भाव या लाल्य-लालक-भाव होने के कारण आश्रय की चित्तद्रुति अनुकंपायुक्त स्नेह ही कही जाएगी। डा० सुशील कुमार दे ने वत्सल रति और अनुकंपा दोनों को ही इस रस का स्थायी भाव माना है।[5] उनकी यह मान्यता चिंत्य हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि वत्सल रति में अनुकंपा के भाव का भी समावेश है और दूसरे यह कि केवल अनुकंपा वात्सल्य रस का स्थायी भाव नहीं हो सकती क्योंकि वह रतिभाव से रहित भी हो सकती है और इस रस के लिए रति-भाव अनिवार्य है।

तुलसी के भक्तिनिरूपण-संबंधी वात्सल्य के आश्रय दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—भजनीय और भक्तजन। भक्तों के प्रति भजनीय राम का वात्सल्य अथवा अनुकंपा वत्सल भक्तिरस का स्थायी भाव नहीं है।[6] उसे हम औचित्यानुसार भक्तिरस-व्यंजक उद्दीपन विभाव ही मानेंगे। वत्सल भक्तिरस में भगवान् वात्सल्य के विषयालंबन ही हो सकते हैं, आश्रय कदापि नहीं। दूसरे वर्ग के आश्रय (वत्सल भक्तजन) भी दो प्रकार के हैं। पहला वर्ग दशरथ, कौशल्या आदि भक्तजनों का है जिनका राम से वस्तुतः पाल्यपालक-संबंध है। जो इस वास्तविक संबंध के बिना भी उन्हें लाल्यपाल्य रूप में देखते हैं वे पात्र भी इसी वर्ग के अंतर्गत हैं। यथा—

पद कंजनि मंजु बनीं पनहीं, धनुही सर पंकज-पानि लिएँ।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजू तट चौहट हाट हिएँ।
तुलसी अस बालक सो नहिं नेहु कहा जप जोग समाधि किएँ।
नर वे खर सूकर स्वान समान कहौ जग में फल कौन जिएँ।[7]

उपर्युक्त पद में बालक राम आलंबन; उनके वसन, मंडन, चेष्टा आदि उद्दीपन; भक्त का बलि जाना और प्राण न्यौछावर करना अनुभाव; तथा हर्ष और निर्वेद संचारी भाव है।

दूसरा वर्ग काकभुशुंडि आदि भक्तों का है जिनका पाल्य-पालक-भाव सुव्यक्त नहीं है और

१. ह० र० सि० ३।४।८-६, २०-२३
२. रा० २।१६६।३, ७।६।छं०
३. ह० र० सि० ३।२।३६-३८, ३।४।२३
४. ह० र० सि० ३।४।२४
५. वैष्णव फ़ेथ ऐन्ड मूवमेन्ट, पृ० १४८
६. यथा—रा० ७।८३।४
७. कवि० १।६

जो बालकरूप राम को अपना आराध्य मानकर उनकी भक्ति करते हैं—

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भगत हेतु लीला बहु करहीं॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जनम महोत्सव देखौं जाई। बरष पाँच तहँ रहौं लोभाई॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥
लघु बायस बपु धरि हरि संगा। देखौं बाल चरित बहु रंगा॥
लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठन परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ॥[1]

प्रस्तुत अवतरण में इष्टदेव बालक राम आलंबन; उनकी बाललीला उद्दीपन; बार-बार निहारना, साथ-साथ उड़ना, जूठन खाना आदि अनुभाव; एवं हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

रूप गोस्वामी आदि के द्वारा प्रतिपादित मधुर भक्तिरस, जिसे उन्होंने उज्ज्वलरस[2] भी कहा है, तुलसी को शुद्ध भक्तिरस के रूप में मान्य नहीं है। मधुररस का स्थायी भाव है मधुरा रति।[3] असमान ऊर्ध्व सौंदर्य और लीलावैदग्ध्य के आश्रय हरि एवं राधा आदि उनकी प्रेयसियाँ आलंबन हैं।[4] मुरलीध्वनि आदि उद्दीपन; कटाक्ष, स्मित आदि अनुभाव; एवं आलस्य तथा उग्रता को छोड़कर शेष सभी इसके संचारी भाव हैं।[5] मध्यकालीन हिंदी का अधिकांश कृष्ण-परक काव्य सामान्य साहित्य-भावक की दृष्टि में शृंगार-काव्य है। यह दूसरी बात है कि माधुर्य-भक्ति के उपासक भक्त लोग उसे भक्तिरस कहते हैं और भक्तिरस-पंचक (दास्य, प्रीत, प्रेयान्, शांत और मधुर) में सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे उज्ज्वलरस या रसराज के आसन पर प्रतिष्ठित करते है।

शृंगार की मुख्यता या गौणता के आधार पर शृंगार-भक्ति-मिश्रित काव्य के हम स्पष्ट-रूप से क्रमशः दो भेद कर सकते हैं। एक तो भक्तिमिश्रित शृंगारकाव्य और दूसरा शृंगार-मिश्रित भक्तिकाव्य। भक्तिमिश्रित शृंगार में शृंगार की प्रधानता रहती है। इसमें निबद्ध स्थायी भाव (रति) के मूल में यौन (कामविषयक) शरीरसंबंध की चाह होती है। इस प्रकार की रचना के लेखक और पाठक को यह विस्मृत हो जाता है कि इसका आलंबन कोई भजनीय है। ऐसी कृति में उपस्थापित विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की व्यंजना से भावक का जो स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है वह कामरति ही है। भक्तिभाव गौण होता है और वह भी केवल उस पाठक के मन में उठता है जो भौतिक जीवन से विरक्त है और जिसके मन में नायक के देवत्व की विशेष (अलौकिक) प्रतिष्ठा है। रीतिकालीन कृष्ण-कवियों की अधिकांश रचनाएँ शृंगार या भक्तिमिश्रित शृंगार के इसी वर्ग की हैं। उनका प्रतिपाद्य शृंगार है जिस पर भक्ति का झीना आवरण पड़ा हुआ है। भक्ति-कल्पना तो उनके लिए संतोष की अंतिम साँस है—

१. रा० ७।७५।१-दोहा
२. इस रस का सांगोपांग विशद प्रतिपादन करने के लिए ही रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रंथ की रचना की है।
३. ह० र० सि० ३।५।१, ६
४. ह० र० सि० ३।५।३-४
५. ह० र० सि० ३।५।५-६

आगे के सुकबि रीझिहैं तौ कविताई
न तौ राधिका कंन्हाई सुंमरन को बहानो है ।[१]

शृंगारमिश्रित भक्तिरस में भक्ति की प्रधानता होती है। शृंगार का निरूपण भक्तिरस में सहायक बनकर आता है। आराध्य का शृंगार-निरूपण करते समय भी कवि इस बात को कभी नहीं भूलता कि उसके निरूपित शृंगार का विषयालंबन भजनीय है। उस कविता के द्वारा भावक की भगवद्रति ही विकसित होकर उसे रसानुभूति कराती है। सूर, तुलसी आदि की रचनाओं में इस प्रकार की कविताओं के प्रचुर उदाहरण विद्यमान हैं।

तुलसी के काव्य में मधुररस की अभिव्यंजना नहीं है। इससे यह सिद्धांत निकलता है कि उनकी दृष्टि में यह अतिशयोक्त रस भक्तिमिश्रित शृंगार से अधिक और कुछ नहीं है। शिव और पार्वती तथा राम और सीता के शृंगारिक प्रसंगों में उन्होंने आराध्य के प्रति इस प्रकार के माधुर्य भाव का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तिरस्कार किया है।[२] उनके काव्य को पढ़कर हमें इस रस की अनुभूति नहीं होती। फिर भी उनके काव्य में शृंगार है और उसकी अभिव्यक्ति के तीन रूप हैं—

१. शुद्ध शृंगार रस—इसके आश्रय तथा आलंबन राम-सीता, गोपी-कृष्ण आदि हैं।[३] इसकी व्यंजना तुलसी ने अनेक स्थलों पर की है, किंतु काव्यधर्म के पालनवश। यह उनका अभीष्ट प्रतिपाद्य नहीं है।

२. भक्तिसंकीर्ण शृंगार—जहाँ भक्ति और शृंगार का मिश्रण है किंतु शृंगार अधिक प्रभावशाली है।[४]

३. शृंगाररसंकीर्ण भक्ति—जिन संदर्भों में शृंगार और भक्ति का मिश्रण है परंतु भक्ति-रस प्रधान है।[५]

हिंदी-काव्य में शृंगार-मिश्रित भक्तिरस अनेक शैलियों में व्यक्त हुआ है। कहीं आत्मा की नायिका (पत्नी) के रूप में और परमात्मा की नायक (पति) के रूप में कल्पना की गयी है।[६] कहीं काव्य की नायिका पर आत्मा का और नायक पर परमात्मा का आरोप किया गया है।[७] कहीं काव्य की नायिका पर परमात्मा का और नायक पर आत्मा का आरोप हुआ है।[८] कहीं द्रष्टा भक्त के द्वारा भगवान् की प्रेमलीला का तत्सुखभाव या स्वसुखभाव से वर्णन है।[९] कहीं भगवान

१. काव्यनिर्णय, पृ० ३
२. जगत मातु पितु संभु भवानी । तेहि सिंगारु न कहौं बखानी ॥ —रा० १।१०३।२
सिय सोभा नहिं जाइ बखानी । जगदंबिका रूप गुन खानी ॥ —रा० १।२४७।१
सोह नवल तनु सुंदर सारी । जगत जननि अतुलित छबि भारी ॥ —रा० १।२४८।१
३. (क) संयोग—रा० १।२३०।१-४, कवि० १।१७, ब० रा० १८
(ख) वियोग—रा० ३।३०।४-७, कवि० ७।१३३
४. कवि० २।२३, कृ० ३३
५. गी० ७।२१ (बसंत-विहार), कृ० ५१
६. कबीर-ग्रंथावली, पृ० ८७, पद १-२
७, पद्मावत, ८।६।५-६
८. दे०—'पद्मावत' का प्राक्कथन (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल), पृ० ५१;
'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका (रामचंद्र शुक्ल), पृ० ५४
९. दे०—विद्यापति की पदावली, विदग्धविलास; रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० ३०५-६

न जाने कहाँ ते आई कौन की को हो।[1]

स्वामिनी सीता का कृपादृष्टि से देखने और हृदय से लगाने का भी उल्लेख है—

सनेह सिथिल सुनि बचन सकल सिय
चितई अधिक हित सहित ओही।
तुलसी मनहुँ प्रभु कृपा की मूरति फिरि
हेरि कै हरषि हिये लियो है पोही॥[2]

इस प्रसंग से सहसा स्त्रीरूप में आराध्य-युगल के समक्ष आने वाली, सीता जी के द्वारा आलिंगित इस स्त्री को यदि तापस की भाँति ही तुलसी से अभिन्न मान लिया जाये तो कहा जा सकता है कि **मानस** में उनका आराध्य के प्रति आत्मनिवेदन दास्यभाव का था और **गीतावली** में उनकी आत्मविभोरता एवं आत्मसमर्पण शृंगार भावना से प्रेरित। प्रथम में इस अवसर पर वे इष्ट-देव के चरणों पर गिरे थे किंतु अपने इस दूसरे रूप में वे स्वामिनी के हृदय से लगे। रसिक-सिद्धांत के अनुसार सखियों का सीधा संबंध आराध्यदेव (राम) से नहीं होता, वे सीता की अंशोद्भावा हैं अतएव स्वयं को उन्हें (सीता को) समर्पित करके ही तत्सुखभोग की अधिकारिणी होती हैं। अज्ञात स्त्री का सीता द्वारा आलिंगन संभवतः इसी तथ्य का स्मरण कराता है।"[3]

इस संभावना के विषय में भी अनेक संदेह उठते हैं। डा० सिंह को स्वयं भी संदेह है। 'हिये लियो है पोही' का 'आलिंगन' अर्थ करना भी विवाद-मुक्त नहीं है। 'रामचरितमानस' के तापस और 'गीतावली' की नारी के रूप में तुलसी स्वयं आये हैं—इसका कोई प्रमाण नहीं है। अपने लिए 'तेजपुंज' आदि[4] का व्यवहार करना **रामचरितमानसकार** तुलसी की प्रकृति के विरुद्ध है। 'गीतावली' की उस अज्ञात स्त्री को यदि तुलसी का प्रतिरूप सापत्ति स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी एक नारी द्वारा दूसरी नारी (अपनी स्वामिनी) का आलिंगन रसिक-साधना की सिद्धि में कैसे सहायक प्रमाणित होगा ? प्रस्तुत गीत के अतिरिक्त 'गीतावली' के ही अन्य गीतों एवं 'रामचरितमानस', 'कवितावली' आदि में राम-सीता के अलौकिक रूप से इसी प्रकार अभि-भूत नर-नारियों की संख्या बहुत बड़ी है। परंतु उन्हें 'स्वसुखी' या 'तत्सुखी' भाव से आविष्ट है मानने में संकोच होता है।

'ब्रजनिधि' की साक्षी[5] पर आश्रित निष्कर्ष की मान्यता भी विचारणीय है। उनका अनुमान

१. तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खंड, पृ० ३३३
२. तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खंड, पृ० ३३४
३. उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य (अप्रकाशित), पृ० ९६-९७;
और भी दे०—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १०६-७
४. तेहि अवसरु एकु तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयसु सुहावा।
कबि अलखित गति बेष बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥ —रा० २।११०।४
५. "तुलसी-साहित्य में इस प्रकार के माधुर्यभक्ति के सूत्र पाकर ही 'ब्रजनिधि' ने उन्हें 'तुलसी सखी' के रूप में देखा हो तो कोई आश्चर्य नहीं —
सकल सखियन में सिरोमनि दास तुलसी तुम रहौ।
करौ सेवन रुचिर रुचि सों सुजस की बानी कहौ।
तुलसी सुवृन्दा सखी को निज नाम ते वृन्दा सखी।
'दास तुलसी' नाम की यह रहसि मैं मन में लखी॥ —ब्रजनिधि-ग्रंथावली, पृ० २७५-७६
दे०—उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य (अप्रकाशित), पृ० ९६-९७
और भी दे०—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १०९-१० (अनन्यमाधव के नाम से उद्धृत उपर्युक्त पद्य)

कि तुलसी की रसिक-भावना के कारण ब्रजनिधि ने उन्हें 'सखी' कहा है। विद्वद्वर डा० सिंह ने बतलाया है कि ब्रजनिधि ही नहीं रामचरणदास, रामरसरंगमणि, बनादास आदि ने भी तुलसी के प्रति अपने परम आदरभाव का ज्ञापन किया है। वस्तुतः संपूर्ण रसिक-संप्रदाय में तुलसी और उनके 'रामचरितमानस' को अपार संमान प्रदान किया गया है। तुलसीदास की मान्यता रसिक-रामभक्ति की एक प्रमुख विशेषता है। रामचरणदास (जन्म सं० १७६०) ने तो 'रामचरितमानस' की रसिकसंप्रदायपरक टीका भी लिखी है।[1] रसिकसंप्रदायी भक्तों द्वारा तुलसी को दी गयी मान्यता का रहस्य क्या है? यह मानव स्वभाव है कि अपने मत के समर्थन के लिए वह आप्त महापुरुषों की साक्षी का उपयोग करता है। अतएव इन रसिकसंप्रदायी रामकवियों ने भी इस भावना से प्रेरित होकर समाज में सर्वाधिक प्रतिष्ठित रामकवि तुलसी को अपने मत का पोषक बतलाने की चेष्टा की।

तुलसी के 'रामचरितमानस' ने समाज में मर्यादापुरुषोत्तम राम का जो आदर्शरूप प्रतिष्ठित कर दिया था उसके विरुद्ध राम का घोर शृंगारिक रसिकसाधनापरक रूप उपस्थित करने में चरित्रहीन कहे जाने का भय था। जनता ने उनका आदर नहीं किया और न किसी प्रकार की रुचि दिखायी। अननुकूल लोकमत के कारण ही रसिकसाधनापरक रामकाव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ समाज से उपेक्षित होकर पुस्तकालयों में या कुछ व्यक्तियों के पास ही पड़ी रहीं। दूसरी ओर, 'रामचरितमानस' की प्रतियाँ घर-घर में मिल जाएँगी। पढ़े-लिखे और अपढ़ भी 'रामचरितमानस' में अवगाहन करके आनंद प्राप्त करते हैं। ऐसे लोकप्रिय 'रामचरितमानस' और उसके राम की मर्यादा के विरुद्ध कविता लिखना आत्मघात करना था। अतएव आत्मरक्षा का एक उपाय समझकर ही इन कवियों ने तुलसी को सखी और 'रामचरितमानस' को रसिक-साधनापरक बतलाया था। इसीलिए इन सखी-भाव के भक्तकवियों ने तुलसी के राम की परंपरा-प्रसिद्ध मर्यादा का सम्यक् ध्यान रखा है और घोर विलास के चित्र अंकित करते समय भी उनके एकपत्नीव्रत की रक्षा की है।

सखी-संप्रदाय के कवियों की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि वे अपने लिए 'सखी', 'अली' आदि शब्दों या उपनामों का प्रायः व्यवहार करते हैं। यदि तुलसी सखी-भाव के भक्त होते तो वे भी अपने लिए 'सखी', 'अली' आदि का प्रयोग करते। सखी-भाव का अव्यक्त रूप भी तुलसीदास में नहीं माना जा सकता। उनका मर्यादावादी दास-भाव उनके संपूर्ण साहित्य में इतना अभिभावशाली है कि सखी-भाव के लिए लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। 'रामचरितमानस' की बात तो दूर रही 'बरवैरामायण' में भी जहाँ राम-सीता के लीला-विलास का अवसर आया है वहाँ से तुलसी ने सखियों को हटा दिया है।[2] यह सखी-भाव का प्रत्यक्ष विरोध है। 'रमारमन' या 'श्रीरमन'[3] जैसे शब्दों के आधार पर भी उनके काव्य में मधुररस की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि उनमें 'रमन' का व्यवहार (रति के अर्थ में) साभिप्राय नहीं है।

तुलसीदास और रसिक-संप्रदाय की बहुत-सी मान्यताएँ समान हैं। दोनों में वैधी भक्ति का गौरव है। दोनों ने उपास्य से व्यक्तिगत संबंध की घनिष्ठता पर बल दिया है। दोनों को राम-

१. दे०—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १५६-६१
२. ब० रा० १८
३. रा० ७।१४। छं०१, १०

चरित की मर्यादा का ध्यान है। दोनों हनुमान् की महिमा और सहायता स्वीकार करते हैं। दोनों की दृष्टि में चित्रकूट, अयोध्या आदि का विशेष महत्त्व है। परंतु ये सभी ऊपरी बातें हैं। 'रसिक' या 'सखी' के व्यावर्तक धर्म तुलसी में बिल्कुल नहीं हैं—न तो वे स्वसुखीभाव से अपने को सीता मानकर राम के साथ रमणभाव की व्यंजना करते हैं और न तो तत्सुखीभाव से ही अपने को सीता की सखी मानकर रामसीता के विलास को देखते हुए आनंदलाभ करते हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में यथासंभव ऐसे अवसर ही नहीं आने दिये। और यदि ऐसे अवसर आये भी तो उन्हें टाल दिया। रसिक-साधना में निरूपित वैधी भक्ति का आडंबर तुलसी में नहीं है। शृंगारपरक अष्टयाम-वर्णन का भी अभाव है। सखीभाव के भक्तों ने हनुमान् को सीता-भगिनी और रामसखी के रूप में अंकित किया है। तुलसी ने निज को ही नहीं हनुमान् को भी दास की श्रेणी में ही रखा है। उन्होंने सीता-राम को ही नहीं उमा-महेश्वर को भी आराध्य जगज्जननी और जगत्-पिता के रूप में देखा है।[1]

आचार्य चंद्रबली पांडे ने 'प्रभुदासीदास कहाइ'[2] का जो एक अर्थ यह निकाला है कि तुलसीदास रसिकभावनानुसार अपने को राम की दासी कहना चाहते हैं[3] वह प्रसंग और पात्र के औचित्य की दृष्टि से कथमपि तर्क-संगत नहीं है। हम डा० भगवतीप्रसाद सिंह के इस कथन से पूर्णतया सहमत हैं कि "गोस्वामी तुलसीदास रसिक साधना की तत्कालीन स्थिति और सिद्धांतों से भली भांति परिचित थे। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक कारणों से उन्होंने इसे समयोपयोगी न समझा और लोकमंगल के विचार से मर्यादापुरुषोत्तम राम के ऐश्वर्य भाव को ही अपने मानस का विषय बनाया।"[4] इस भाव की उपासना में तुलसी का अपना कोई विश्वास नहीं था, फिर भी 'गीतावली' के उत्तरकांड में उन्होंने माधुर्य भाव से संबंधित पद लिखे हैं। इन पदों में रूप और यौवन के कुछ उन्माद के चित्र भी पाये जाते हैं। 'गीतावली' के अनेक पदों[5] में राम के रूप-यौवन का शृंगारिक चित्रांकन है। किंतु वह **उज्ज्वलनीलमणिकार** के उज्ज्वलरस का व्यंजक नहीं है; क्योंकि, मधुरभक्तिरस में तुलसी की आस्था ही नहीं थी। उक्त पदों में भी तुलसीदास का मर्यादावाद बलवत्तर है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि कवि ने राम का नखशिख वर्णन तो किया है किंतु सीता या अन्य सुंदरियों का नहीं। यदि तुलसी में माधुर्यभाव होता तो कृष्ण-कवियों की भाँति वे (तुलसी) रमणियों के वासनोद्दीपक अंगों और विलासचेष्टाओं के मादक चित्र भी अवश्य उपस्थित करते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि तुलसी अपने को सीता या उनकी सखी का तदात्म प्रतिरूप मानकर राम के ही सौंदर्य-वर्णन में तृप्ति-सुख का अनुभव करते हैं, अतएव उन्हीं के सरस रूपांकन पर उनका ध्यान केंद्रित है। इसका कारण यह है कि वे सीता को अंबा और स्वामिनी तथा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम को पिता और स्वामी समझते हैं।

---

१. क्रमशः—कवि० १।१५, रा० १।१०३।२

२. वि० ४१।२

३. 'तुलसी की गुह्य साधना' (चन्द्रबली पांडे)—नयासमाज (सितम्बर, १९५३), पृ० ९१०-९१
   दे०— रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १०५

४. उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य (अप्रकाशित), पृ० ९८

५. गी० ७।१८, १९, २०, २१ आदि

निष्कर्ष यह कि तुलसी के साहित्य में भक्त और राम के विविध संबंधों की चर्चा है, सीता-राम का मर्यादित श्रृंगार-चित्रण है, उन दोनों के रूप को देखकर द्रुतचित्त नर-नारियों के रति-भाव की तलस्पर्शी अभिव्यंजना है; किंतु वह मधुररस नहीं है।

मिश्रित भक्तिरस—भक्तीतर दस काव्यरसों के मिश्रण के आधार पर तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त मिश्रित भक्तिरस दस हैं। पूर्वोक्त शांतमिश्रित भक्तिरस, वात्सल्यमिश्रित भक्तिरस और श्रृंगारमिश्रित भक्तिरस के अतिरिक्त वीरमिश्रित भक्तिरस[1], करुणमिश्रित भक्तिरस[2], अद्भुतमिश्रित भक्तिरस[3], हास्यमिश्रित भक्तिरस[4], रौद्रमिश्रित भक्तिरस[5], भयानकमिश्रित भक्तिरस[6] तथा बीभत्समिश्रित भक्तिरस[7] की भी अभिव्यंजना हुई है। यह पहले कहा जा चुका है कि मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस के साथ रौद्र, बीभत्स, धर्मवीर, दयावीर और शांत का मिश्रण असंभव समझते हैं; क्योंकि भगवान् इन रसों के स्थायी भावों के आलंबन नहीं हो सकते। इसमें संदेह नहीं कि भक्तिमान् व्यक्ति भगवान् के प्रति क्रोध, जुगुप्सा आदि नहीं कर सकता। परंतु, केवल इसी तथ्य को मिश्रित रस के अभिधान का एकमात्र प्रवृत्ति-निमित्त मानना आवश्यक नहीं है। आलंबन चाहे जो हो, यदि किसी रचना के भावन से भावक को बीभत्स आदि किसी भी रस के आस्वाद के साथ-साथ भक्तिरस की अनुभूति होती है तो वहाँ मिश्रित भक्तिरस मानना युक्तिसंगत है। इसी व्यापक दृष्टि से ही तुलसी के काव्य में व्यक्त इन मिश्रित भक्तिरसों की चर्चा की गयी है।

---

१. गी० ६।८
२. गी० ३।१३-१६, कवि० ६।५२
३. रा० १।११८।२-१।११९।१
४. कवि० २।२८
५. रा० ५।५७-५।५९।४
६. रा० ५।२५।४-५।२६।४
७. वि० १३६।३-४

अनुबंध--२

चयनिका

(तुलसीदर्शन-दिग्दर्शन)

ब्रह्म राम—

१. यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवांभोधेस्तितीर्षावतां
वंदेहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं ।। —रा० १।१।श्लोक ६

२. लव निमेष महुँ भुवन निकाया । रचै जासु अनुसासन माया ।। —रा० १।२२५।२
भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई । सपनेहुँ संकट परै कि सोई ।। —रा० ३।२८।२

३. रामु ब्रह्म परमारथ रूपा । अबिगत अलख अनादि अनूपा ।। —रा० २।६३।४

४. अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।
मोरें मत बड़ नामु दुहूँ ते । किए जेहि जुग निज बस निज बूते ।।
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की । कहउँ प्रतीति प्रीति रुच मन की ।।
एकु दारुगत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें । कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें ।।
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी । सत चेतन घन आनँद रासी ।।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ।। —रा० १।२३।१-४

५. झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने । जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ।।
जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे जथा सपन भ्रम जाई ।।
बंदौं बाल रूप सोइ रामू । सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ।।
मंगल भवन अमंगल हारी । द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी ।। —रा० १।११२।१-२

... ...

एक बात नहिं मोहि सोहानी । जदपि मोहबस कहेउ भवानी ।।
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ।।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच ।
पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साच ।।
अज्ञ अकोबिद अंध अभागी । काई बिषय मुकुर मन लागी ।।
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी । सपनेहु संत सभा नहिं देखी ।।
कहहिं ते बेद असंमत बानी । जिन्हकें सूझ लाभु नहिं हानी ।।

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना । राम रूप देखहिं किमि दीना ।।
जिन्हकें अगुन न सगुन बिबेका । जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ।।
हरि माया बस जगत भ्रमाहीं । तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं ।।
बातुल भूत बिबस मतवारे । ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ।।
जिन्ह कृत महा मोद मद पाना । तिन्हकर कहा करिअ नहिं काना ।।

अस निज हृदयँ बिचारि तजु संसय भजु रामपद ।
सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबि कर बचन मम ।।

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ।।
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ।।
राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा ।।
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ।।
हरष बिषाद ग्यान अग्याना । जीव धर्म अहमिति अभिमाना ।।
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ।।

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ ।।

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी । प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ।।
जथा गगन घन पटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ।।
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ । प्रगट जुगल ससि तेहि कें भाएँ ।।
उमा राम बिषइक अस मोहा । नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ।।
बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ।।
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ।।

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि ।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि ।।

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ।।
जौं सपने सिर काटै कोई । बिनु जागें न दूरि दुख होई ।।
जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ।।
आदि अंत कोउ जासु न पावा । मति अनुमानि निगम अस गावा ।।
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु करम करै बिधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा ।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।।

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान ॥
कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी ॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर बस उर अंतरजामी ॥
बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं ॥
राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ॥
अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥
सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना ॥
—रा० १।११४।४-१।११६।४

... ...

सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए ॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी ॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना ॥
तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परै जस कारन मोही ॥
जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु ॥ —रा० १।१२१।१-दोहा

६. अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो।
मायापति सोइ राम, दास-हेतु नर-तनु धरेउ ॥ —वै० स० ४

७. बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥ —रा० १।१९२
निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सुख त्यागि ॥ —रा० ४।२६

८. जे मति मलिन बिषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ॥
नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई ॥
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उएउ दिनेसा ॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा ॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी ॥
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा ॥
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदयँ जमनिका बहु बिधि लागी ॥
ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥ —रा० ७।७३।१-५

९. जौं जगदीस तौ अति भलो, जो महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन-अनुराग ॥ —दो० ९१

१०. बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥
पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिस्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला॥
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरु दिवसु निमेष अपारा॥
स्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥
आनन अनल अंबु पति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥
रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु की बहु कल्पना॥
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ —रा० ६।१४-६।१५क

११. उदर माँझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहौं बरष सत एक।
येहि बिधि देखत फिरौं मैं अंडकटाह अनेक॥
लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥
नर गंधर्ब भूत बेताला। किन्नर निसिचर पसु खग ब्याला॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनइ आना।
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरऊ भिन्न भिन्न नर नारी॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता॥
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखौं बाल बिनोद उदारा॥
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुवन देखत फिरौं प्रेरित मोह समीर॥ —रा० ७।८०।२-७।८१

१२. अनवद्य अखंड न गोचर गो। सबरूप सदा सब होइ न सो॥
इति बेद बदंति न दंतकथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा॥ —रा० ६।१११।८

१३. श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।।
जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।।
सुर काज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।।
राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।।
जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे।।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा।।
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हइ तुम्हहि होइ जाई।।
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन।।
चिदानंद मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।।
नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।।
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।।
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।।
पूछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ।।—रा० २।१२६।छं०-२।१२७

१४. जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने।।
अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे।।
तव बिषम मायाबस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुनन्हि भरे।।
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदनदक्ष हम कहुँ रक्ष राम नमामहे।।
जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु स्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे।।
जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनि वंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी।।
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।।
अब्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने।।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।।

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जसु नित गावहीं ।।
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव येह बर माँगही।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ।। —रा० ७।१३।छं०

१५. ईसन के ईस, महाराजन के महाराज, देवन के देव, देव ! प्रानहु के प्रान हौ।
कालहू के काल, महाभूतन के महाभूत, कर्महू के करम निदान के निदान हौ ।।
निगम को अगम, सुगम तुलसीहू-से को, एते मान सीलसिंधु, करुनानिधान हौ।
महिमा अपार, काहू बोल को न वारापार, बड़ी साहबी में नाथ ! बड़े सावधान हौ ।।
—कवि० ७।२१६

१६. बिस्व-बिख्यात, बिस्वेस-बिस्वायतन बिस्वमर्याद ब्यालादगामी।
ब्रह्म बरदेस बागीस ब्यापक बिमल बिपुल बलवान निर्बान स्वामी ।।
प्रकृति, महतत्त्व, सब्दादि गुन, देवता, ब्योम मरुदग्नि, अमलांबु, उर्बी।
बुद्धि मन इंद्रिय प्रान चित्तातमा काल परमानु चिच्छक्ति गुर्बी ।।
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि ब्यक्तमब्यक्त गत भेद, बिष्नो।
भुवन भवदंस कामारि-बंदित-पदद्वंद्व-मंदाकिनी-जनक जिष्नो ।।
आदि मध्यांत भगवंत त्वं सर्वगतमीस पस्यन्ति ये ब्रह्मवादी।
जथा पट-तंतु, घट-मृत्तिका, सर्प-स्रग, दारुकरि, कनक-कटकांगदादी ।।
गूढ़, गंभीर, गर्वघ्न, गूढ़ार्थवित, गुप्त, गोतीत, गुरु, ज्ञान, ज्ञाता।
ज्ञेय, ज्ञानप्रिय, प्रचुर गरिमागार, घोर-संसार-परपार-दाता ।।
सत्यसंकल्प, अतिकल्प, कल्पांत कृत कल्पनातीत अहितल्पबासी।
बनजलोचन, बनजनाभ, बनदाभबपु, बनचर-ध्वज-कोटि-लावन्यरासी ।।
सुकर, दुष्कर दुराराध्य, दुर्ब्यसनहर, दुर्ग, दुर्द्धर्ष, दुर्गार्त्ति-हर्त्ता।
बेदगर्भार्भकादभ्र - गुनगर्व अर्वाक - पर - गर्व - निर्वाप - कर्त्ता ।।
भक्त अनुकूल, भवसूल-निर्मूलकर, तूल-अघ-नाम-पावक-समानं।
तरल तृष्ना-तमी-तरनि, धरनी-धरन, सरन-भय-हरन, करुनानिधानं ।।
बहुल बृंदारकाबृंद बंदारु पद-द्वंद, मंदारमालोरधारी।
पाहि मामीस संताप संकुल सदा दासतुलसी प्रनत रावनारी ।। —वि० ५४

१७. जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी ।।
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी ।।
जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी ।।—रा० ३।११।९-१०
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ।।
अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं ।। —रा० ३।१३।६-७

१८. सुमिरत श्री रघुबीर की बाहैं।

... ...

जे भुज बेद-पुरान सेष-सुक-सारद सहित सनेह सराहैं।
कलपलताहु की कलपलता बर, कामदुहहु की कामदुहा हैं ।।

सरनागत-आरत-प्रनतनि को दै दै अभयपद ओर निबाहैं।
करि आईं, करिहैं, करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं ।।—गी० ७।१३।१,८-६

माया-जगत्—

१. माया जीव सुभाव गुन काल करम महदादि।
ईस अंक तें बढ़त सब ईस अंक बिनु बादि ।। —दो० २००

२. मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ।।
तेहिकर भेद सुनहु तुम सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा ।।
एक रचै जग गुन बन जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ।। —रा० ३।१५।१-३
करम खरी कर मोह थल अंक चराचर जाल।
हनत गुनत गनि गुनि हनत जगत ज्योतिषी काल ।। —दो० २४६

३. केसव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ।।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे ।।
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ।।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ।। —वि० १११।१-४

४. गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ।।
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए ।। —रा० ५।५६।१-२

५. सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ।।
सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा ।।
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस ।।
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ।। —रा० ७।१०४।१-३

६. भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये ।।
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना ।।
दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती ।।
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सजीवनु माहुरु मीचू ।।
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ।।
कासी मग सुरसरि कबि नासा। मरु मारव महिदेव गवासा ।।
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगम अगम गुन दोष बिभागा ।।
जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन ग्रहहिं पय परिहरि बारि बिकार ।। —रा० १।६।२ दोहा

७. सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा। बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा ।।
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी ।।
कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू ।।
कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता ।।
ईस रजाइ सीस सबही कें। उतपति थिति लय बिषहु अमी कें ।।
देबि मोहबस सोचिअ बादी। बिधिप्रपंचु अस अचल अनादी ।।–रा० २।२८२।१-३

८. सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ।।
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलै न जगत सहोदर भ्राता ।।—रा० ६।६०।४
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ।।
जनमु मरनु जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करमु अरु कालू ।।
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ।।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मनमाहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं ।।

सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंचु जिअँ जोइ ।। —रा० २।९२।३-दोहा

९. करम, काल, सुभाउ गुन-दोष जीव जग माया ते,
सो सभै भौंह चकित चहति।
ईसनि - दिगीसनि, जोगीसनि, मुनीसनि हू,
छोड़ति छोड़ाये तें, गहाये तें गहति ।।
सतरंज को सो राज, काठ को सबै समाज,
महाराज बाजी रची, प्रथम न हति।
तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो-जीतिबो नाथ !
बहु बेष, बहु मुख सारदा कहति ।। —वि० २४६।३-४

नस्वर रूप प्रपंच सब देखहु हृदयँ बिचारि ।। —रा० ६।७७

उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना ।।—रा० ३।३९।३

१०. हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ।।
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं ।।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस पर्यो कीर की नाईं ।।
सपने ब्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई ।।
बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई ।।
श्रुति-गुरु-साधु-सुमृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी।—वि० १२०।१-४

११. हे हरि यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय संदेह न जाई ।।
जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृगबारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे ।।
सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै।

कोटिहुँ नाव न पार पाव सो जब लगि आपु न जागै ।।
अनबिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया विवेक तें ब्यवहारी सुखकारी ।।
तुलसिदास सब विधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति, संत-संगति बिनु को भव-त्रास नसावै ।।—वि० १२१

१२. सपने नृप कहँ घटै बिप्रबध बिकल फिरै अघ लागे।
बाजिमेध सत कोटि करै नहिं सुद्ध होइ बिनु जागे ।।
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अविचारे।
बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहिं, मरइ न मारे ।।
निज भ्रम ते रबिकर-संभव सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै ।।
तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निरमूल न जाई।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई ।।–वि० १२२।२-५

१३. संसार-कांतार अति घोर, गंभीर, घन, गहन तरुकर्मसंकुल, मुरारी।
बासना बल्लि खर-कंटकाकुल बिपुल, निबिड़ बिटपाटवी कठिन भारी ।।
बिबिध चितवृत्ति खग निकर श्येनोलूक, काक बक गृध्र आमिष अहारी।
अखिल खल, निपुण छल, छिद्र निरखत सदा, जीवजनपथिकमन-खेदकारी ।।
क्रोध करि मत्त, मृगराज कंदर्प, मद-दर्प बृक-भालु अति उग्रकर्मा।
महिष मत्सर क्रूर, लोभ शूकररूप, फेरु छल, दंभ मार्जारधर्मा ।।
कपट मर्कट विकट, व्याघ्र पाखण्डमुख, दुखद मृगव्रात उत्पातकर्त्ता ।।
हृदय अवलोकि यह शोक शरणागतं पाहि मां पाहि भो विश्वभर्त्ता ।।
प्रबल अहँकार दुरघट महीधर, महामोह गिरि-गुहा निबिड़ांधकारं।
चित्त बेताल, मनुजाद मन, प्रेतगन रोग भोगौघ बृश्चिक-विकारं।
बिषय-सुख-लालसा दंश-मशकादि, खल झिल्लि रूपादि सब सर्प, स्वामी।
तत्र आक्षिप्त तव बिषम माया नाथ, अंध मैं मंद ब्यालादगामी ।।
घोर अवगाह भव-आपगा पापजलपूर, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर, अपारा।
मकर षड्वर्ग, गोनक्रचक्राकुला, कूल शुभ-अशुभ, दुख तीव्रधारा ।।
सकल संकट पोच सोचबस सर्बदा दास तुलसी बिषमगहनग्रस्तं।
त्राहि रघुवंशभूषण कृपाकर, कठिन काल बिकराल कलित्रासत्रस्तं ।।
—वि० ५६।२-६

१४. मैं तोहिं अब जान्यो, संसार।
बाँधि न सकहिं मोहिं हरि के बल, प्रकट कपट-आगार ।।
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किये बिचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकरै सार ।।
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार।
महाघोर-मृग-जल-सरिता महुँ बोरो हौं बारहिं बार ।।

सुनु खल ! छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार।।
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानइ मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु अहि ते बूझै नहिं ब्यवहार।।
निज हित सुनु सठ ! हठ न करहि, जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासन्ह तजि भजहि जहाँ मद-मार।। —वि० १८८

जीव—

१. सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी।।
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो माया बस भएउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं।।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।
तब ते जीव भएउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।
जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी।।
—रा० ७।११७।१-४

२. ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायाबस्य जीव सचराचर।।
जौं सब के रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस।।
माया वस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।।—रा० ७।७८।२-४
माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।। —रा० ७।१११

३. आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।।
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।।—रा० ७।४४।२-३

४. जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।।
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।।
पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख-लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
भव-सूल, सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो।।
बहु जोनि जनम, जरा, बिपति, मतिमंद ! हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़ ! बिचारु, लखि पायो कहीं।।
आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।।
मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी।।
तहँ मगन मज्जसि, पान करि, त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल ! भूलि अब आयो तहाँ।।
निरमल, निरंजन, निरबिकार, उदार सुख तैं परिहरयो।
निःकाज राज बिहाय नृप इव सपन-कारागृह परयो।।

तैं निज करम-डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं ।।
ताते परबस परयो अभागे। ता फल गरभ-त्रास-दुख आगे ।।
आगे अनेक समूह संसृत उदरगत जान्यो सोऊ।
सिर हेठ, ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ ।।
सोनित-पुरीष जो मूत्र-मल कृमिकर्दमावृत सोवई।
कोमल सरीर, गँभीर बेदन, सीस धुनि-धुनि रोवई ।।
तू निज करम-जाल जहँ घेरो। श्री हरि संग तज्यो नहिं तेरो ।।
बहुबिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हों ।।
तोहि दियो ग्यान-बिबेक, जनम अनेक की तब सुधि भई।
तेहि ईस की हौं सरन, जाकी बिषम माया गुनमई ।।
जेहि किये जीव-निकाय बस, रसहीन दिन दिन अति नई।
सो करौ बेगि सँभारि श्रीपति, बिपति महँ जेहि मति दई ।।
पुनि बहुबिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ।।
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी। प्रसव-पवन प्रेरेउ अपराधी ।।
प्रेरयो जो परम प्रचंड मारुत, कष्ट नाना तैं सह्यो।
सो ग्यान, ध्यान, बिराग, अनुभव जातना-पावक दह्यो ।।
अति खेद ब्याकुल, अलप बल, छिन एक बोलि न आवई।
तव तीव्र कष्ट न जान कोउ, सब लोग हरषित गावई ।।
बाल दसा जेते दुख पाये। अति असीम, नहिं जाहिं गनाये ।।
छुधा-ब्याधि-बाधा भइ भारी। बेदन नहिं जानै महतारी ।।
जननी न जानै पीर सो, केहि हेतु सिसु रोदन करै।
सोइ करै बिबिध उपाय, जाते अधिक तुव छाती जरै ।।
कौमार, सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै।
ब्यतिरेक तोहि निरदय ! महाखल ! आन कहु को सहि सकै ।।
जोबन जुवती सँग रँग रात्यो। तब तू महा मोह-मद मात्यो ।।
ताते तजी धरम-मरजादा। बिसरे तब सब प्रथम बिषादा ।।
बिसरे बिषाद, निकाय-संकट समुझि नहिं फाटत हियो।
फिरि गर्भगत-आवर्त संसृतिचक्र जेहि होइ सोइ कियो ।।
कृमि-भस्म-बिट-परिनाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो।
परदार, परधन, द्रोह पर, संसार बाढ़ै नित नयो ।।
देखत ही आई बिरुधाई। जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई ।।
ताके गुन कछु कहे न जाहीं। सो अब प्रगट देखु तनु माहीं ।।
सो प्रगट तनु जरजर जराबस, ब्याधि सूल सतावई।
सिर-कंप, इंद्रिय-सक्ति प्रतिहत, बचन काहु न भावई ।।
गृहपालहू तें अति निरादर, खान-पान न पावई।
ऐसिहु दसा न बिराग तहँ, तृष्णा-तरंग बढ़ावई ।।

कहि को सकै महाभव तेरे। जनम एक के कछुक गने रे।।
चारि खानि संतत अवगाहीं। अजहुं न करु बिचार मन माहीं ।।—वि० १३६।१-९

५. वपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित मन दनुज मय-रूपधारी।
विविध कोसौघ, अति रुचिर-मंदिर-निकर, सत्वगुण प्रमुख त्रैकटककारी।।
कुनप-अभिमान सागर भयंकर घोर, बिपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।
नक्र - रागादि - सकुल मनोरथ सकल संग - संकल्प - बीची - बिकारं।।
मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम बिश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ठ-बिबुधांतकारी।।
द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद मद-सूलपानी।
अमितबल परम दुर्जय निशाचर-निकर सहित षड्वर्ग गो-यातुधानी।।
जीव भवदंघ्रि-सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता।
नियम-यम सकल सुरलोक-लोकेस लंकेस-बस नाथ! अत्यंत भीता।।
ज्ञान - अवधेस - गृह - गेहिनी भक्ति सुभ, तत्र अवतार भूभार-हर्ता।
भक्त-संकष्ट अवलोकि पितु-वाक्य-कृत गमन किय गहन वैदेहि-भर्ता।।
—वि० ५८।२-७

६. सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्हतें दुख पावहिं सब लोगा।।
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्हतें पुनि उपजहिं बहु सूला।।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।।
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई।।
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।।
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ।।
तृस्ना उदर बृद्धि अति भारी। त्रिविधि ईषना तरुन तिजारी।।
जुग बिधि ज्वर मत्सर अविबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका।।
एक ब्याधि बस नर मरहिं ये असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि।।
नेम धर्म आचार तप जोग जज्ञ जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहीं रोग जाहिं हरिजान।।
येहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति वियोगी।।
मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सबके लखि बिरलेन्हि पाए।।
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी।।
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे।।
—रा० ७।१२१।१४-७।१२२।२

७. जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा।।

सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरिआई ।
त्यागन गहन उपेच्छनीय, अहि हाटक तृन की नाई ।।
असन वसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे ।
सरग नरक चर अचर लोक बहु वसत मध्य मन तैसे ।।
विटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये ।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये ।।
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास कह चित-बिलास जग बूझत बूझत बूझै ।। —वि० १२४

८. माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै ।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ।।
घृतपूरन कराह अंतरगत, ससि प्रतिबिंब दिखावै ।
ईंधन अनल लगाइ कलपसत औटत नास न पावै ।।
तरु कोटर महँ बस बिहंग, तरु काटे मरै न जैसे ।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे ।।
अंतर मलिन बिषय मन अति, तन पावन करिय पखारे ।
मरै न उरग अनेक जतन बलमीकि बिबिध विधि मारे ।।
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना-बिनु बिमल बिबेक न होई ।
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई ।। —वि० ११५

९. मोह जनित मल लाग बिबिध विधि, कोटिहु जतन न जाई ।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई ।।
नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय सँग लागे ।
हृदय मलिन बासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे ।।
परनिंदा सुनि स्रवन मलिन भए वचन दोष पर गाए ।
सब प्रकार मल भार लाग निजनाथ-चरन बिसराए ।। —वि० ८२।१-३

१०. परमारथ-पहिचानि-मति लसति विषय लपटानि ।
निकसि चिता तें अधजरति मानहुँ सती परानि ।। —दो० २५३

११. तब लगि हृदयँ बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना ।।
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरें चाप सायक कटि भाथा ।।
ममता तरुन तमी अँधियारी । राग द्वेष उलूक सुखकारी ।।
तब लगि बसति जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ।।—रा० ५।४७।१-२

१२. प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा । राम बिमुख सुख कबहुँ न सोवा ।।
नाना जनम करम पुनि नाना । किए जोग जप तप मख दाना ।।
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं । मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं ।।
देखेउँ करि सब करम गोसाईं । सुखी न भएउँ अबहिं की नाईं ।।—रा० ७।९६।३-५

१३. ऊमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ।।
जीव चराचर जंतु समाना । भीतर बसहिं न जानहिं आना ।। —रा० ३।१३।३-४

१४. मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।—रा० २।६३।१

१५. अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा।।
मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी।।
सो तै ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा।। —रा० ७।१११।२-३

१६. अहंबाद 'मैं तैं' नहीं, दुष्ट संग नहिं कोइ।
दुख ते दुख नहिं ऊपजै सुख ते सुख नहिं होइ।।—वै० सं० ३०

१७. मुये मुकुत, जीवत मुकुत, मुकुत मुकुत हूँ बीचु।
तुलसी सबही तें अधिक गीधराज की मीचु।।—दो० २२५

मोक्ष-साधन—

१. नाना पथ निरबान के नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन राति।।—वि० १९२।४
ज्ञान-भगति साधन अनेक, सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मनमाहीं।।—वि० ११६।५
ध्यान प्रथम जुग मख बिधि दूजे। द्वापर परितोषत प्रभु पूजे।।
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना।।
नाम काम तरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला।।
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता।।
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू।। —रा० १।२७।२-४
बिनु गुरु होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।।—रा० ७।८९

२. सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्रीरघुबीर चरन लय लागै।।
देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै।।
अनुराग सो निजरूप जो जग तें बिलच्छन देखिये।
संतोष सम सीतल सदा दम, देहवंत न लेखिये।।
निरमल निरामय एक रस, तेहि हरष सोक न ब्यापई।
त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।।—वि० १३६।११

३. भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंबर।।
ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना।।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती।।
पुरुष त्यागि सक नारिहिं जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर।।
सोउ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिकल होहिं हरिजान नारि बिस्व माया प्रगट।।
इहाँ न पक्षपात कछु राखौं। बेद पुरान संत मत भाखौं।।
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।।

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानै सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्त्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥

—रा० ७।११५।७-७।११६।८

८. राम भजत सोइ मुकुति गुसाई। अनइच्छित आवै बरिआई॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥
भोजन करिअ तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचइ जठरागी॥
अस हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि॥ —६।११६।२-दोहा

... ...

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसै भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्हके बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥—रा० ७।१२०।१-५

५. जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥—रा० ७।११५।१-२

६. कमठ पीठि जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥

—रा० ७।१२२।८-१०

७. रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥

राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइए बिनु रवि राति न जाइ॥ —रा० ७।७८

ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥ —रा० ७।७८।१

८. तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धिहेतु श्रुति गावै।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु अति मल नास पावै॥ —वि० ८२।४

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई।
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। विद्या बिनय बिवेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥ —रा० ७।१२६।२-४

९. श्रीहरि-गुरु-पदकमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान॥
परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम-मिलन अति दूरि।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरिपूरि॥
दुइज द्वैत-मत छाँड़ि चरहि महि-मंडल धीर।
बिगत-मोह-माया-मद हृदय बसत रघुबीर॥
तीज त्रिगुन-पर परम पुरुष श्रीरमन मुकुंद।
गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानंद॥
चौथि चारि परिहरहु बुद्धि-मन-चित-अहँकार।
बिमल बिचार परम पद निज सुख सहज उदार॥
पाँचइ पाँच परस, रस, सब्द, गंध अरु रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भव-कूप॥
छठि षड्बरग करिय जय जनकसुता-पति लागि।
रघुपति-कृपा-बारि बिनु, नहिं बुताइ लोभागि॥
सातैं सप्तधातु-निर्मित तनु करिय बिचार।
तेहि तनु कर अब एक फल कीजिय पर-उपकार॥
आठइँ आठ-प्रकृति-पर निर्बिकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम॥
नवमी नवद्वार-पुर बसि जेहि न आप भल कीन्ह।
ते नर जोनि अनेक भ्रमत दारुन दुख लीन्ह॥
दसहि दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि।
साधन बृथा होइँ सब मिलहिं न सारँग-पानि॥
एकादसी एक मन बस कैसेहु करि जाइ।
सोइ ब्रत कर फल पावै आवागमन नसाइ॥
द्वादसि दान देहु अस अभय होइ त्रैलोक।
पर-हित-निरत सो पारन बहुरि न ब्यापै सोक॥
तेरसि तीनि अवस्था तजहु भजहु भगवंत।

मन-क्रम-बचन-अगोचर, व्यापक, व्याप्य, अनंत ।।
चौदसि चौदह भुवन अचर-चर-रूप गोपाल ।
भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जग जाल ।।
पूनो प्रेम-भगति-रस हरि-रस जानहिं दास ।
सम सीतल गतमान-ज्ञानरत बिषय-उदास ।।
त्रिबिध सूल होलिय जारिय, खेलिय अस फाग ।
जौ जिय चहसि परम सुख तौ इहि मारग लाग ।।
श्रुति-पुरान-बुध-संमत चाँचरि चरित मुरारि ।
करि बिचार भव तरिय, परिय न कबहुँ जमधारि ।।
संसय-समन, दमन-दुख, सुखनिधान हरि एक ।
साधु-कृपा बिनु मिलहिं नहिं, करिय उपाय अनेक ।।
भव-सागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन ।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ।। —वि० २०३

धर्म—

१. सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ।।
बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ।।
ईस भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म संतोष कृपाना ।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिज्ञान कठिन कोदंडा ।।
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा । येहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।
महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर ।।
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर ।। —रा० ६।८०।२-दोहा

२. कै जूझिबो कै बूझिबो दान कि काय कलेस ।
चारि चारु परलोक पथ जथा जोग उपदेस ।। —दो० ४५१

३. सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना । तजि निज धरमु बिषय लयलीना ।।
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ।।
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू । जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ।।
सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी । मुखरु मानप्रिय ज्ञान गुमानी ।।
सोचिअ पुनि पतिबंचक नारी । कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ।।
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई । जो नहिं गुर आयेसु अनुसरई ।।
सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करमपथ त्याग ।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग ।।
बैखानस सोइ सोचइ जोगू । तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ।।
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी । जननि जनक गर बंधु बिरोधी ।।

सब बिधि सोचिअ पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी ।।
सोचनीय सबहीं बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरि जनु होई ।।
—रा० २।१७२।२-२।१७३।२

ज्ञान—

१. बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा। देह जनित अभिमान छड़ावा ।।—रा० ४।२८।३
भएउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं ।।—रा० ६।८७।२

२. अस संयोग ईस जब करई। तबहु कदाचित सो निरुअरई ।।
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरिकृपा हृदयँ बस आई ।।
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा ।।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ।।
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा ।।
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटइ अनल अकाम बनाई ।।
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै ।।
मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी ।।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ।।

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ ।।
तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ ।।
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास ते काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करइ सुगाढ़ि ।।
येहि बिधि लेसइ दीप तेजरासि बिज्ञानमय।
जातहिं तासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब ।।

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा ।।
प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा ।।
तब सोइ बुद्धि पाइ उजिआरा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ।।
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तौ यह जीव कृतारथ होई ।।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया ।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहि आई ।।
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा ।।
होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तनु चितव न अनहित जानी ।।
जौं तेहि बिघन बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी ।।
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ।।
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ।।
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई ।।

ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिपय बतासा।।
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। बिपय भोग पर प्रीति सदाई।।
बिपय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी।।

तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहँगेस।।
कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक।।

ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।।
जौ निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परमपद लहई।।
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।।

—रा० ७।११७।८-७।११६।२

३. बाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।।
निसि गृहमध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई।।
जैसे कोउ इक दुखित दीन अति असन-हीन दुख पावै।।
चित्र कलपतरु कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै।।
पटरस बहु प्रकार भोजन कोउ दिन अरु रैनि बखानै।।
बिनु बोले संतोष-जनित सुख खाइ सोइ पै जानै।।
जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय आस मन माहीं।।
तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहु सुख नाहीं।। —बि० १२३।२-५

भक्ति—

१. प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति।।—दो० ८६

२. राम बाम दिसि जानकी, लषनु दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर।।—रा० प्र० ७।३।७

३. साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान।।—दो० ५५४
तुलसी परिहरि हरि हरहिं पाँवर पूजहिं भूत।
अंत फजीहत होहिंगे गनिका के से पूत।।—दो० ६५

४. जा तें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।।
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना।।
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ सो संत होइ अनुकूला।।
भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।।
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत स्तुति रीती।।
येहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।।
स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।।
संत चरन पंकज अतिप्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।।

गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।।
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा।।
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके।।
वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निहकाम।
तिनके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम।। —रा० ३।१६।१-दोहा

५. नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजनु सो बेद प्रकासा।।
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा।।
सातव सम मोहिमय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा।।
आठव जथालाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा।।
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिअँ हरष न दीना।।
नव महुँ एकौ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।।
—रा० ३।३५।४-३।३६।४

६. जिन्ह कें श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हकें हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।।
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।।
तिन्ह कें हृदयँ सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक।।
जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु मन तासु।।
प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा।।
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।।
सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी।।
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा।।
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह कें मन माहीं।।
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा।।
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना।।
तुम्ह तें अधिक गुरहि जिअँ जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।।
सबु करि माँगहिं एकु फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ।।
काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।।
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदयँ बसहु रघुराया।।

सब क प्रिय सब कें हितकारी । दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ।।
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ।।
तुम्हहि छाँड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिन्ह कें मन माहीं ।।
जननी सम जानहिं पर नारी । धनु पराव बिष तें बिष भारी ।।
जे हरषहिं पर संपति देखी । दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी ।।
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पिआरे । तिन्ह कें मन सुभ सदन तुम्हारे ।।
स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह कें सब तुम्ह तात ।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ।।
अवगुन तजि सब के गुन गहहीं । बिप्र धेनु हित संकट सहहीं ।।
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका ।।
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ।।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही । तेहि उर बसहु सहित बैदेही ।।
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई । प्रिय परिवार सदन सुखदाई ।।
सब तजि तुम्हहि रहइ लउ लाई । तेहि कें हृदय रहहु रघुराई ।।
सरगु नरकु अपबरगु समाना । जहँ तहँ देख धरे धनु बाना ।।
करम बचन मन राउर चेरा । राम करहु तेहि कें उर डेरा ।।
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ।।—रा० २।१२८।२-२।१३१

७. कहहु भगति पथ कवन प्रयासा । जोग न मख जप तप उपवासा ।।
सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथालाभ संतोष सदाई ।।
मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तौ कहहु कहाँ बिस्वासा ।।
बहुत कहौं का कथा बढ़ाई । येहि आचरन बस्य मैं भाई ।।
बैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ।।
अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दक्ष बिज्ञानी ।।
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा । तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ।।
भगति पक्ष हठ नहिं सठताई । दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ।।
मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह ।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ।। —रा० ७।४६।१-दोहा

८. जौ मन भज्यो चहै हरि सुर तरु ।
तौ तज बिषय-बिकार, सार भज, अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु ।।
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु ।।
काम-क्रोध अरु लोभ-मोह-मद राग-द्वेष निसेष करि परिहरु ।।
श्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु ।।
नयननि निरखि कृपा-समुद्र हरि अग-जग-रूप भूप सीताबरु ।।
इहै भगति, बैराग्य-ज्ञान यह, हरि-तोषन यह सुभ ब्रत आचरु ।।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि, चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु ।। —वि० २०५

९. ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन दुखदुंद गोबिंद आनंद घन॥
अचर चर रूप हरि, सरबगत, सरबदा बसत, इति बासना धूप दीजै।
दीप निजबोध, गत-कोह-मद-मोह-तम, प्रौढ़ अभिमान चितबृत्ति छीजै॥
भाव अतिसय बिसद प्रबर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोषकारी।
प्रेम तांबूल, गतसूल संसय सकल, बिपुल भव-बासना-बीज-हारी॥
असुभ-सुभ-कर्म-घृत, कर्न दस बर्तिका, त्याग पावक सतोगुन प्रकासं।
भक्ति-बैराग-बिज्ञान दीपावली, अर्पि नीराजनं जग-निवासं॥
बिमल हृदि भवन कृत सांति-पर्यंक सुभ सयन बिश्राम श्रीरामराया।
क्षमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका, यत्र हरि तत्र नहिं भेदमाया॥
आरती निरत सनकादि श्रुति सेष सिव देवरिषि अखिल मुनि तत्वदरसी।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल, बदति इति अमल-मतिदास तुलसी॥ —वि० ४७

को भरिहै हरि कें रितएँ,
रितवै पुनि को हरि जौं भरिहै।
उथपै तेहि को जेहि रामु थपै,
थपिहै तेहि को हरि जौं टरिहै।
तुलसी यहु जानि हिएँ अपने
सपने नहिं कालहु तें डरिहै।
कुमयाँ कछु हानि न औरन की,
जो पै जानकीनाथु मया करिहै॥ —कवि० ७।४७

अनुबंध--३
ग्रंथ-सूची

उपजीव्य ग्रंथ (तुलसीदास की रचनाएँ)—

कवितावली	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २०००
कृष्णगीतावली	तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खंड) में संकलित
गीतावली	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००६
जानकीमंगल	'तुलसी के चार दल' में संकलित
तुलसी के चार दल (पुस्तक दूसरी)	सं०—सद्गुरुशरण अवस्थी, पं० इंडियन प्रेस लि० प्रयाग; १९३५ ई०
तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खंड (तीसरा सं०)	सं०—रामचंद्र शुक्ल, भगवान दीन, व्रजरत्नदास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २००४
दोहावली	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००६
पार्वतीमंगल	'तुलसी के चार दल' में संकलित
बरवै रामायण	'तुलसी के चार दल' में संकलित
रामचरितमानस	सं०— माताप्रसाद गुप्त, डा० साहित्य कुटीर, प्रयाग; १९४९ ई०
रामलला-नहछू	'तुलसी के चार दल' में संकलित
रामाज्ञा-प्रश्न	तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खंड) में संकलित
विनयपत्रिका	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००६
वैराग्य-संदीपिनी	तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खंड) में संकलित
हनुमानबाहुक	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००६

उपस्कारक ग्रंथ—

अखरावट (जायसी-ग्रंथावली में संकलित)	मलिक मुहम्मद जायसी, सं०—रामचंद्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २००३
अग्निपुराण (प्रथम संस्करण)	व्यास प्र०—मनसुखराय मोर, ५, क्लाइव रो, कलकत्ता
अच्युत (अच्युत-लेखमाला)	अच्युतग्रंथमाला-कार्यालय, काशी; सं० १९९७
अथर्ववेद-संहिता	सं०—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भट्टाचार्य प्र०—वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी० ए०

अथर्ववेद (क्रमशः)	स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सूरत; सं० २०१३
अध्यात्मरामायण	व्यास गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००८
अपरोक्षानुभूति (प्रकरणपञ्चक में संकलित)	शङ्कराचार्य
अभिज्ञानशाकुन्तल	कालिदास, सं०—मोरेश्वर रामचंद्र काले सुधाकर प्रेस, बम्बई; १९१३ ई०
अभिनवभारती	अभिनवगुप्त; दे०—नाट्यशास्त्र
अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय	दीनदयालु गुप्त, डा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; सं० २००४
अष्टाध्यायी	पाणिनि वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० १९८५
अहिर्बुध्न्यसंहिता	सं०—एम० डी० रामानुजाचार्य अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार, मद्रास; १९१६ ई०
आखिरी कलाम (दे०—जायसी-ग्रंथावली)	मलिक मुहम्मद जायसी
आगमप्रामाण्य	यामुनाचार्य प्र०—रामेश्वर पाठक, ताराप्रेस, वाराणसी
आत्मबोध ('प्रकरणपञ्चक' में संकलित)	शङ्कराचार्य
आदिपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० १९६४
आनन्दरामायण (द्वितीयावृत्ति)	वाल्मीकि (?) गोपाल नारायण आणि कम्पनी, कालबा देवी रोड, बम्बई; १९२६ ई०
इन्ट्रोडक्शन टु दि पाञ्चरात्र ऐन्ड दि अहिर्बुध्न्यसंहिता	एफ़ ऑटो श्रेडर अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास; १९१६ ई०
इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी (इन्डिअन एडिशन)	सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, डा० जार्ज अलेन ऐन्ड अन्विन लिमिटेड, लन्दन; १९४० ई०
दि इन्डिअन फ़िलॉसॉफ़िकल कॉङ्ग्रेस सिल्वर जुबिली कम्मेमोरेशन व्हालूम—१	सं०—टी० एम० पी० महादेवन्, डा० प्र०—सेक्रेटरी, इन्डिअन फ़िलॉसॉफ़िकल कॉङ्ग्रेस; १९५० ई०
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः (चतुर्थ संस्करण)	सं०—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर

	प्र०—पाण्डुरङ्ग जावजी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९३२ ई०
ईशावास्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००८
उज्ज्वलनीलमणि (द्वितीय संस्करण)	रूप गोस्वामी सं०—महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पण्शीकर प्र०—पाण्डुरङ्ग जावजी निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९३२ ई०
उत्तररामचरित	भवभूति निर्णय सागर प्रेस,बम्बई; १९०६ ई०
उत्तरी भारत की संत-परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी, पं० भारती-भण्डार, प्रयाग; सं० २००८
उद्धवशतक	जगन्नाथदास 'रत्नाकर' इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; १९३५ ई०
उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य (अप्रकाशित) [आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध]	भगवती प्रसादसिंह, डा०
ऋग्वेद-संहिता	सं०—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भट्टाचार्य प्र०—वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी० ए०, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सूरत; सं० २०१३
ऐतरेयोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
ऐतरेयोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
कठोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००८
कठोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००८
कबीर	हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,बंबई; १९४७ई०
कबीर-ग्रंथावली	सं०—श्यामसुंदरदास, बी० ए० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००८
कबीर-वचनावली (नवाँ संस्करण)	सं०—अयोध्यासिंह उपाध्याय नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २००३
कल्याण (गीता-तत्त्वांक)	गीता प्रेस, गोरखपुर
कल्याण (भक्ति-अंक)	गीता प्रेस, गोरखपुर
कल्याण (योगांक)	गीता प्रेस, गोरखपुर
कल्याण (रामायणांक)	गीता प्रेस, गोरखपुर; १९३० ई०
कल्याण (वेदान्तांक)	गीता प्रेस, गोरखपुर

कल्याण (साधनांक)	गीता प्रेस, गोरखपुर
दि कॉन्सेप्ट ऑफ़ माया	पॉल डेविड देवनंदन लटर वर्थ प्रेस, लन्दन; १९५० ई०
कारिकावली	विश्वनाथ विद्याविलास प्रेस, गोपाल मंदिर लेन, बनारस; १९२३ ई०
काव्यनिर्णय (प्रथम संस्करण)	भिखारीदास; सं०–जवाहरलाल चतुर्वेदी कल्याणदास ऐन्ड ब्रदर्स, ज्ञानवापी, वाराणसी
काव्यप्रकाश	मम्मट आनंदाश्रम प्रेस, पूना; १९२१ ई०
काव्यमीमांसा	राजशेखर ओरिअन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा; १९३४ ई०
काव्यादर्श	दण्डी मास्टर खेलाड़ी लाल ऐन्ड सन्स, बनारस
काव्यानुशासन	वाग्भट निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९१५ ई०
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ई०
किरातार्जुनीय	भारवि निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
कुमारसम्भव	कालिदास निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
कूर्मपुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० १९८३
केनोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००८
कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्	'ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद:' में संकलित
ऋे क्रिटीक ऑफ़ डिफ़रेन्स	प्रस्तावना—एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री तथा टी०एम०पी० महादेवन् मद्रास यूनिवर्सिटी; १९३६ ई०
गरुडपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
गीतगोविन्द	जयदेव प्र०–वी० राम स्वामी शास्त्रुलु ऐन्ड सन्स, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस रोड, मद्रास–१
गीता (भगवद्गीता)	गीता प्रेस, गोरखपुर
'गीता' पर गूढार्थदीपिका (मधुसूदन सरस्वती का भाष्य)	मधुसूदन सरस्वती

—	प्र०—छोटेलाल मुरारका, नं०३८, थिएटर रोड, कलकत्ता
'गीता' पर ज्ञानेश्वरी (हिन्दी ज्ञानेश्वरी)	ज्ञानेश्वर अनु०—रामचन्द्र वर्मा हिन्दी-साहित्य-कुटीर, बनारस; सं० २०१०
'गीता' पर रामानुज-भाष्य	रामानुज गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००८
'गीता' पर शङ्करानन्दी व्याख्या	शङ्करानन्द अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी; सं० २०१०
'गीता' पर शाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००८
गीता-रहस्य (हिंदी-अनुवाद)	बाल गंगाधर तिलक अनु०—माधव राव सप्रे प्र०—जयंत श्रीधर तिलक, ५६८ नारायण पेठ, पूना-२; १९५९ ई०
गोस्वामी तुलसीदास	रामचंद्र शुक्ल, पं० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २००८
गोस्वामी तुलसीदास	श्यामसुंदरदास और पीतांबरदत्त बड़थ्वाल हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद; १९५२ ई०
गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना	ब्यौहार राजेन्द्र सिंह नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
गोस्वामी तुलसीदास—रत्नावली की जीवनी और रचना एवं सूकरखेत के तादात्म्य तथा इतिवृत्त के विशिष्ट परिचय से समन्वित गोस्वामी तुलसीदास के जन्म-स्थान, अविर्भाव-काल, परिवार, व्यक्तित्व आदि का आलोचनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित) [आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध]	रामदत्त भारद्वाज, डा०
गौडपाद-कारिका	गौडपादाचार्य दे०—माण्डूक्योपनिषद्
घनानंद-कवित्त	घनानंद, सं०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस; सं० २०००
चन्द्रालोक (तृतीय संस्करण)	जयदेव गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस, एल्फ़िन्स्टन सर्कल, बम्बई

चिन्तामणि — रामचंद्र शुक्ल; पं०
इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; १९५३ ई०

छान्दोग्योपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २०११

छान्दोग्योपनिद् पर शाङ्करभाष्य — गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २०११

जयाख्यसंहिता (प्रथम सं०) — ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा

जाबालोपनिषद् — 'ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद:' में संकलित

जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य — सरला शुक्ल, डा०
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ; सं० २०१३

जायसी-ग्रंथावली — सं०–रामचंद्र शुक्ल, पं०
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २०१३

तत्त्वत्रय (भाष्योपबृंहित) — लोकाचार्य
चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, बनारस; १९३८ ई०

तत्त्वदीप (सप्रकाश) — वल्लभाचार्य
विद्याविलास प्रेस, बनारस

'तत्त्वदीप' पर आवरणभंग — पुरुषोत्तम; दे०–तत्त्वदीप

तत्त्वमुक्ताकलाप — वेंकटनाथ देशिक (वेदान्तदेशिक)
मेडिकल हाल प्रेस, काशी

तत्त्ववैशारदी (व्यासभाष्य पर) — वाचस्पति मिश्र
दे०–'योगसूत्र पर व्यासभाष्य'

तत्त्वसङ्ख्यान — मध्व;
दे०—'तत्त्वसङ्ख्यानटीका'

तत्त्वसङ्ख्यानटीका — जयतीर्थ
तिरुमल-तिरुपति देवस्थान प्रेस, तिरुपति; १९५४ ई०

तत्त्वसन्दर्भ — जीव गोस्वामी
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी

तत्त्वोपदेश ('प्रकरणपंचक' में संकलित) — शङ्कराचार्य

तन्त्रालोक (प्रथम संस्करण) — अभिनवगुप्त
काश्मीर सिरीज़ ऑफ़ टेक्स्ट्स
ऐन्ड स्टडीज़

तर्कभाषा — केशव मिश्र
जी० रामचन्द्र एण्ड कम्पनी, बुधवार पेठ, पूना; १९१७ ई०

तात्पर्यदीपिका (वेदार्थसंग्रह पर) — सुदर्शन भट्ट, दे०–वेदार्थसंग्रह

तात्पर्यप्रकाश (योगवासिष्ठ पर) — दे०—'योगवासिष्ठ'

तुलसीदास	चन्द्रबली पाण्डे शक्ति कार्यालय, ७६३ दारागंज, प्रयाग; सं० २००५
तुलसीदास (तृतीय संस्करण)	माताप्रसाद गुप्त, डा० हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग; १९५३ ई०
तुलसी के चार दल, पुस्तक पहली	सद्गुरुशरण अवस्थी, पं० इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; १९३५ ई०
तुलसी-ग्रंथावली (तीसरा खंड)	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
तुलसीदास का कथाशिल्प	रांगेय राघव, डा० साहित्य प्रकाशन, दिल्ली; १९५९ ई०
तुलसीदास और उनका काव्य	रामनरेश त्रिपाठी राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली; १९५८ ई०
तुलसीदास और उनका युग	राजपति दीक्षित, डा० ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस; सं० २००९
तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा (अप्रकाशित) [पटना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध]	राजाराम रस्तोगी, डा०
तुलसी-साहित्य-रत्नाकर अथवा महाकवि तुलसीदास	रामचन्द्र द्विवेदी, पं० सत्साहित्य-प्रकाशक-मण्डल, नया टोला, पटना; सं० १९८६
तैत्तिरीयारण्यक (कृष्णयजुर्वेदीय) [सायणाचार्य-विरचित-भाष्य-समेत]	आनन्दाश्रम, पूना; १९२७ ई०
दि थियॉलॉजी ऑफ़ तुलसीदास	जे० एन० कारपेन्टर, डा० दि क्रिश्चियन सोसायटी फ़ॉर इन्डिआ, मद्रास, इलाहाबाद, कलकत्ता; १९१८ ई०
तैत्तिरीयोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
तैत्तिरीयोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
दर्शन का प्रयोजन (तृतीय संस्करण)	भगवान् दास, डा० ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस; सं० २०१०
दर्शन-दिग्दर्शन (प्रथम संस्करण)	राहुल सांकृत्यायन किताब-महल, इलाहाबाद; १९४४ ई०
दशश्लोकी	शङ्कराचार्य; दे०—'सिद्धान्तबिन्दु'
दुर्गमसङ्गमनी	जीव गोस्वामी

('हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' पर टीका)	दे०—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु
दृग्दृश्यविवेक	विश्वेश्वर श्रीरामकृष्ण आश्रम, मैसूर; १९४८ ई०
देवीभागवतपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० २०११
'दोहावली' पर सिद्धान्त-तिलक	श्रीकान्तशरण, महात्मा सद्गुरुकुटी, गोलाघाट, अयोध्या; सं० २०१२
धम्मपद (प्रथम संस्करण)	महाबोधिसभा,सारनाथ,बनारस; बुद्धाब्द २४८२
दि नम्बर ऑफ़ रसज्	वी० राघवन्, डा० दि अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार; १९४० ई०
नाटकलक्षणरत्नकोश	सागरनन्दी ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, हम्फ़्रे मिलफ़ोर्ड, लन्दन; १९३७ ई०
नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा; १९२९ ई०
('नाट्यशास्त्र' पर) अभिनवभारती (जिल्द १)	अभिनवगुप्त ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा; १९५६ ई०
नारदपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं०१९८०
नारदभक्तिसूत्र (प्रेमदर्शन)	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००६
नारदस्मृति	नारद; दे०—'स्मृतीनां समुच्चयः'
नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्	दे०—'दि वैष्णव उपनिषद्स'
न्यायकुमुदचन्द्र	प्र०—पं० नाथूराम प्रेमी, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन सिरीज़, हीरा बाग, बम्बई-४
न्यायदर्शन (हिंदी-अनुवाद-सहित)	अनु०—उदयनारायण सिंह, ठाकुर शास्त्रप्रकाशभवन, मधुरापुर, विद्दूपुर बाजार, मुजफ्फरपुर; सं० १९९१
न्यायसूत्र	गौतम; दे०—'न्यायदर्शन'
'न्यायसूत्र' पर वात्स्यायन-भाष्य	वात्स्यायन; दे०—'न्यायदर्शन'
नैषधचरित	श्रीहर्ष निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पञ्चदशी (सप्तम संस्करण)	विद्यारण्य मुनि निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९४९ ई०
पदमावत	मलिक मुहम्मद जायसी; सं०—वासुदेवशरण अग्रवाल, डा०

—	साहित्य-सदन, चिरगावं, झांसी; सं० २०१२
पद्मपुराण (प्रथम संस्करण)	व्यास प्र०—मनसुखराय मोर ५-क्लाइव रो, कलकत्ता
पाथ वे टु गॉड इन हिन्दी लिट्रेचर	आर० डी० रानाडे, डा० भारतीय विद्याभवन, चौपाटी, बम्बई–७; १९५९ ई०
परमार्थसार	आदिशेष अच्युतग्रन्थमाला–कार्यालय, काशी; सं० १९८९
दि पुराणज् इन दि लाइट ऑफ़ मॉडर्न साइन्स (सेकन्ड एडिशन)	के० नारायणस्वामी अय्यर थियॉसॉफ़िकल सोसायटी, अड्यार, मद्रास; १९१६ ई०
पुराण-विषय-समनुक्रमणिका	यशपाल टण्डन विश्वेश्वरैानन्द - वैदिक- शोध - संस्थान, साधु-आश्रम, होश्यारपुर; १९५२ ई०
पृथ्वीराजरासो	चन्द बरदाई; सं०—कविराव मोहनसिंह साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, सं० २०११
प्रकरणपञ्चक	शङ्कराचार्य अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी; सं० १९९०
प्रपत्ति-रहस्य (प्रथमावृत्ति)	श्रीकान्तशरण, महात्मा सद्गुरुकुटी, गोलाघाट, अयोध्या; १९५० ई०
प्रबोधचन्द्रोदय	कृष्णमिश्र निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९०४ ई०
प्रमाणमीमांसा	हेमचन्द्र सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद; १९३९ ई०
प्रमेयरत्नार्णव	बालकृष्ण भट्ट चौखम्बा विद्याभवन, बनारस
प्रश्नोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
प्रश्नोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
प्रश्नोत्तरी	शङ्कराचार्य (?) गीता प्रेस, गोरखपुर ; सं० २००६
प्रस्थानभेद	मधुसूदन सरस्वती कलकत्ता विश्वविद्यालय, सं० १९९६
प्रस्थानरत्नाकर	पुरुषोत्तम गोस्वामी चौखम्बा संस्कृत बुक-डिपो, बनारस

प्रौढानुभूति — शङ्कराचार्य
दे०—प्रकरणपञ्चक

दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ तुलसीदास (अप्रकाशित) [आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध] — रामदत्त भारद्वाज, डा०

दि प्वोएम्स ऑफ़ जॉन मिल्टन (द्वि० सं०) — फ़्रेडरिक वार्न ऐन्ड कम्पनी लिमिटेड
लन्दन ऐन्ड न्यूयार्क

दि फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर — सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
मैकमिलन ऐन्ड कम्पनी लिमिटेड,
सेन्ट मार्टिन'स स्ट्रीट, लन्दन; १९१८ ई०

दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रामानुज — कृष्णदत्त भारद्वाज, डा०
सर शंकरलाल चैरिटेबुल ट्रस्ट, नई दिल्ली; १९५८ ई०

दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ विशिष्टाद्वैत — पी० एन० श्रीनिवासाचारी
दि अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार; १९४३ ई०

दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ श्रीवल्लभाचार्य (अप्रकाशित) [आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध] — के० एस० वर्मा, डा०

दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिन्दू-साधना — नलिनीकान्त ब्रह्म, एम० ए०, पी-एच० डी०
केगन पॉल, ट्रेन्च, ट्रब्नर ऐन्ड कं० लि०, लन्दन; १९३२ ई०

बृहदारण्यकोपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २०१२

बृहदारण्यकोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य — गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २०१२

बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन — भरतसिंह उपाध्याय, डा०
बंगाल हिन्दी मंडल, ८-रॉयल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता-१; सं० २०११

बौद्धधर्मदर्शन (प्रथम संस्करण) — नरेन्द्रदेव, आचार्य
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-३

ब्रह्मपुराण (प्रथम संस्करण) — व्यास
प्र०—मनसुखराय मोर, ५-क्लाइव रो, कलकत्ता

ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रथम संस्करण) — व्यास
प्र०—राधाकृष्ण मोर, ५-क्लाइव रो, कलकत्ता

ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) — वेदव्यास, बादरायण
गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९

ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य — वल्लभाचार्य

—	गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई; १९२१ ई०
—अणुभाष्य पर बालबोधिनी	श्रीधर त्र्यम्बक पाठक, शास्त्री भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना; १९२६ ई०
ब्रह्मसूत्र पर निम्बार्क-भाष्य (वेदान्तपारिजातसौरभ)	निम्बार्काचार्य, सं०-विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, पं० चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस; सं० १९६७
ब्रह्मसूत्र पर भास्कर-भाष्य	भास्कराचार्य, सं०-विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, पं० चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस; १९१५ ई०
ब्रह्मसूत्र पर मध्व-भाष्य (पूर्णप्रज्ञदर्शन)	मध्वाचार्य, आनन्दतीर्थ सं०—जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, बी० ए० सरस्वती प्रेस, कलकत्ता; १८८३ ई०
ब्रह्मसूत्र पर रामानुज-भाष्य (श्रीभाष्य)	रामानुजाचार्य ज्ञानगुदड़ी, वृन्दावन, मथुरा; १९३७ ई०
ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य (शारीरकभाष्य)	शङ्कराचार्य, सं०—नारायण राम आचार्य, नवतीर्थ प्र०—सत्यभामा बाई पाण्डुरङ्ग कृते निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९४८ ई०
ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृतभाष्य	विज्ञानभिक्षु, सं०—मुकुन्द शास्त्री, पं० चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस; १९०० ई०
ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन	रामकृष्ण आचार्य, डा० विनोद पुस्तक मन्दिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा; १९६० ई०
भक्तमाल (तीसरी बार)	नाभादास, गोस्वामी तेजकुमार प्रेस बुक डिपो, लखनऊ; १९५१ ई०
भक्ति का विकास	मुंशीराम शर्मा, डा० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१; १९५८ ई०
भक्तिचन्द्रिका (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र पर) भाग—१	नारायणतीर्थ सं०—गोपीनाथ कविराज, एम० ए० सरस्वती भवन, बनारस; १९२४ ई०
भाग—२	सं०—मङ्गलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फ़िल० और अनन्तशास्त्री फडके, व्याकरणाचार्य प्र०—सुपरिन्टेन्डेट, प्रिन्टिंग ऐन्ड स्टेशनरी,

—	गवर्नमेन्ट संस्कृत प्रेस, इलाहाबाद; १९३८ ई०
भक्तिनिर्णय	अनन्तदेव; सं०—मङ्गलदेव शास्त्री, अनन्त शास्त्री फडके, व्याकरणाचार्य सरस्वती भवन, बनारस; १९३७ ई०
भक्तियोग (तृतीय संस्करण)	विवेकानन्द, स्वामी अनु०—विद्याभास्कर शुक्ल, पं०, डा० श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर; १९५० ई०
भक्तिरसतरङ्गिणी	नारायण भट्टाचार्य प्र०—कृष्णदास, कुसम सरोवर (गोवर्धन), मथुरा; सं० २००४
भक्तिरसायन (प्रथम उल्लास पर मधुसूदन-विरचित टीका तथा शेष दो उल्लासों पर श्री दामोदर शर्मा की 'किञ्चिद्व्याख्या' के सहित)	मधुसूदन सरस्वती प्र०—श्री शङ्करशर्मा, साङ्गवेदविद्यालय,काशी (अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,काशी) ; १९५० ई०
भक्त्यधिकरणमाला (भाग—१)	नारायणतीर्थ सं०—गोपीनाथ कविराज, एम० ए०; अनन्त शास्त्री फडके, व्याकरणाचार्य सरस्वती भवन, बनारस; १९३६ ई०
भविष्यपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० १९६७
भागवतमहापुराण (मूलमात्र)	व्यास गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००६
भागवतमाहात्म्य	(भागवतमहापुराण के साथ संलग्न)
भागवतसन्दर्भ (दे०—षट्सन्दर्भ)	जीव गोस्वामी, सं० श्यामलाल गोस्वामी १०, शंभुचन्द्र चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता
भागवत संप्रदाय (प्रथम संस्करण)	बलदेव उपाध्याय, पं० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी; सं० २०००
भारतीय दर्शन (प्रथम संस्करण)	उमेश मिश्र, डा० प्रकाशन ब्यूरो, सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ; १९५७ ई०
भारतीय दर्शन (तृतीय संस्करण)	बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य शारदा मन्दिर, २/१७ गणेशदीक्षित लेन, बनारस
भोजवृत्ति (दे०—योगसूत्र)	भोजदेव
भ्रमरगीतसार (चतुर्थ संस्करण)	सूरदास, सं०—रामचंद्र शुक्ल, पं० उपपादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं०

—	प्र०—गोपालदास सुंदरदास, साहित्य-सेवासदन, वनारस सिटी; सं० १९९९
मत्स्यपुराण (प्रथम संस्करण)	व्यास प्र०—नन्दलाल मोर, ५—क्लाइव रो, कलकत्ता
मनुस्मृति	मनु निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९४६ ई०
मनुस्मृति पर मन्वर्थदीपिका (दे० —मनुस्मृति)	कुल्लूकभट्ट
महाभारत (प्रथम संस्करण)	व्यास गीता प्रेस, गोरखपुर
महिम्नस्तोत्र	पुष्पदन्त निर्णय सागर प्रेस, वम्बई; १९३७ ई०
महिम्नस्तोत्र पर मधुसूदनीव्याख्या	मधुसूदन सरस्वती; दे०—महिम्नस्तोत्र
महोपनिषद्	दे०—ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः
माण्डूक्यकारिका	गौडपादाचार्य; दे०—माण्डूक्योपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद् (शाङ्करभाष्य-सहित)	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
मानस की रामकथा	परशुराम चतुर्वेदी, पं० किताबमहल, इलाहाबाद; १९५३ ई०
मानस की रूसी भूमिका (पहली बार) [प्रोफ़ेसर वरान्नीकोव द्वारा 'रामचरितमानस' के रूसी रूपांतर के भूमिका-भाग का हिंदी-अनुवाद]	अनु०—केसरी नारायण शुक्ल, डा० विद्यामंदिर, रानीकटरा, लखनऊ; १९५५ ई०
मानस-दर्शन	श्रीकृष्ण लाल, डा० लेखक द्वारा प्रकाशित; सं० २००६ वितरक—आनंद पुस्तक-भवन, बनारस कैन्ट
मानस-पीयूष[1] (द्वितीय संस्करण) [सर्वसिद्धान्तसमन्वित तिलक]	अंजनीनन्दनशरण, महात्मा मानस-पीयूष-कार्यालय, गायघाट, अयोध्या
मानस-मन्थन	सं०—बलदेव प्रसाद मिश्र, डा० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; १९३९ ई०

१. "श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी महाराजने मानस-पीयूषके अधिक प्रचारकी इच्छासे अपना वर्तमान पूरा स्टाक तथा उसके पुनर्मुद्रण तथा विक्रय आदिके सर्वाधिकार स्वेच्छापूर्वक गीता प्रेस गोरखपुरको प्रदान कर दिये। जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। जो-जो खण्ड जैसे-जैसे समाप्त होते जायँगे, वैसे-वैसे ही उनके पुनर्मुद्रणकी व्यवस्था करनेकी बात है। इसीके अनुसार यह पञ्चम संस्करण प्रकाशित किया गया है।"

—प्रकाशक, गीता प्रेस, गोरखपुर (सं० २०१७)

मानस-माधुरी	बलदेवप्रसाद मिश्र, डा० साहित्यरत्नभंडार, आगरा; १९५९ ई०
मानस-मीमांसा	रजनीकान्त शास्त्री, साहित्य-सरस्वती किताब महल,जीरो रोड,इलाहाबाद; १९४९ई०
मानस में रामकथा	बलदेव प्रसाद मिश्र, डा० बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता; १९५२ ई०
मार्कण्डेयपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
मीमांसा-सूत्र (मीमांसादर्शन)	जैमिनि प्रज्ञापाठशालामंडल, सतारा; १९४८ ई०
मुक्ताफल	वोपदेव ओरिएन्टल प्रेस लिमिटेड, पंचानन घोष लेन, कलकत्ता; १९४४ ई०
मुक्ताफल पर कैवल्यदीपिका	हेमाद्रि; दे०—मुक्ताफल
मुक्तिकोपनिषद्	दे०—'ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः'
मुण्डकोपनिषद् (शाङ्करभाष्य-सहित)	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
यजुर्वेद-संहिता	सं०—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भट्टाचार्य प्र०—वसन्त श्रीपाद सातवलेकर स्वाध्याय-मंडल (पारडी), सूरत
यतीन्द्रमतदीपिका	श्रीनिवासदास रामकृष्णमठ, मद्रास, १९४९ ई०
याज्ञवल्क्यस्मृति	याज्ञवल्क्य, सं०—नारायणराम, आचार्य निर्णयसागर प्रेस, बम्बई; १९४९ ई०
याज्ञवल्क्यस्मृति पर मिताक्षरा	विज्ञानेश्वर; दे०—याज्ञवल्क्यस्मृति
योगवासिष्ठ	वाल्मीकि (?) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त	भीखनलाल आत्रेय, डा० तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस; १९५७ ई०
योगवासिष्ठ पर तात्पर्यप्रकाश	दे०—योगवासिष्ठ
योगसारसंग्रह	विज्ञानभिक्षु, सं०—भाऊ शास्त्री चौखम्बा संस्कृतग्रन्थमाला, बनारस; १९२१ ई०
योगसूत्र (पातञ्जलयोगसूत्राणि) [व्यास के भाष्य और भोजदेव की 'राजमार्तण्ड' वृत्ति के सहित]	पतञ्जलि सं०—काशीनाथ शास्त्री आगाशे आनन्दाश्रम प्रेस, पूना; १९३२ ई०
रघुवंश	कालिदास

(मल्लिनाथ की टीका के सहित) — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई; १६४८ ई०

'रवीन्द्रनाथ' (निबन्ध-संग्रह) — दि बुक एक्सचेन्ज, २१७, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता; १६६४ ई०

रवीन्द्रनाथ टैगोर—अ फ़िलॉसॉफ़िकल स्टडी — विश्वनाथ एस० नरवणे, डा० सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद; १६५१ ई०

रसगङ्गाधर — जगन्नाथ, पण्डितराज; सं०—मथुरानाथ शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस; १६३६ ई०

राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य — विजयेन्द्र स्नातक, डा० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; सं० २०१४

रामचन्द्रिका (केशव-कौमुदी, द्वितीयावृत्ति) — केशवदास टीकाकार—लाला भगवानदीन प्र०—रामनारायणलाल पब्लिशर और बुकसेलर, इलाहाबाद

रामचरितमानस की भूमिका — रामदास गौड़ हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, ज्ञानवापी, बनारस; १६५० ई०

'रामचरितमानस' पर विजया टीका — विजयानन्द त्रिपाठी, मानस-राजहंस मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपरा, बनारस; १६५५ ई०

'रामचरितमानस' पर सिद्धान्त-तिलक (प्रथम संस्करण) — श्रीकान्तशरण, महात्मा पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय और पटना

रामपूर्वतापिन्युपनिषत् — 'दि वैष्णव उपनिषद्स' में संकलित

रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय — भगवतीप्रसादसिंह, डा० अवध-साहित्य-मन्दिर, बलरामपुर; सं० २०१४

रामभक्ति शाखा — रामनिरंजन पाण्डेय, डा० नवहिन्द पब्लिकेशन्स, बेगमबाजार, हैदराबाद; १६६० ई०

रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना — भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव', एम० ए० बिहार—राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; १६५७ ई०

रामरहस्योपनिषत् — 'दि वैष्णव उपनिषद्स' में संकलित

रामानंद की हिंदी रचनाएँ — सं०—पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, डा०, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी; सं० २०१२

रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव — बदरी नारायण श्रीवास्तव, डा०

---	हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग; १९५७ ई०
रामानुजसिद्धान्तसार (श्रीरामानुज-सिद्धान्तसार)	वरदाचार्य; सं०—अनन्ताचार्य सुदर्शन प्रेस, कांची; १९३४ ई०
रामार्चनपद्धति	रामानन्द; दे०—वैष्णवमताब्जभास्कर
रामोत्तरतापिन्युपनिषत्	दे०—दि वैष्णव उपनिषद्स
लक्ष्मीतन्त्र (प्रथम संस्करण)	सं०—वी० कृष्णमाचार्य अड्यार लाइब्रेरी ऐन्ड रिसर्च सेन्टर, अड्यार, मद्रास
लिङ्गपुराण	व्यास, सं०—जीवानन्द भट्टाचार्य, बी० ए० प्र०—जीवानन्द भट्टाचार्य, नूतन वाल्मीकि प्रेस, कलकत्ता; १८८५ ई०
वसिष्ठस्मृति (दे०—स्मृतीनां समुच्चयः)	वसिष्ठ
वाक्यपदीय [हेलाराज की टीका के सहित]	भर्तृहरि त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज़, त्रिवेन्द्रम
वाचस्पत्य वृहत् संस्कृताभिधान (प्रथम संस्करण)	सं०—तारानाथ तर्कवाचस्पति, भट्टाचार्य काव्यप्रकाश प्रेस, कलकत्ता
वात्स्यायनभाष्य (न्यायसूत्र पर)	वात्स्यायन, दे०—न्यायसूत्र
वामनपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९८६
वायुपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० १९९०
वाराहपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० १९८०
वाल्मीकि-रामायण (द्वितीयावृत्ति)	वाल्मीकि रामनारायण लाल पब्लिशर और बुकसेलर, इलाहाबाद; १९४९-५० ई०
विक्रमोर्वशीय	कालिदास चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, बनारस; १९५३ ई०
'विनयपत्रिका' पर हरितोषिणी टीका	वियोगी हरि साहित्य-सेवा-सदन, बनारस; सं० २००७
'विनयपत्रिका' पर सिद्धान्त-तिलक	श्रीकान्तशरण, महात्मा सद्गुरुकुटी, गोलाघाट, अयोध्या; सं० २०१३
विनय-पीयूष (विनयपत्रिका पर तिलक)	अंजनीनन्दन शरण, महात्मा

—प्रथम हिलोर, द्वितीय संस्करण — १६४७ ई०
—द्वितीय हिलोर, प्रथम संस्करण — १६४८ ई०
प्र०—रामचंद्रदास, पं०, साहित्यरत्न
पीयूष धारालय, विट्ठलक्रीड़ाभवन, बड़ोदा

विवेकचूडामणि — शङ्कराचार्य
गीता प्रेस, गोरखपुर; सं०२००८

विष्णुधर्मोत्तरपुराण — व्यास
वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० १९६६

विष्णुपुराण — व्यास
गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००६

विष्णुसहस्रनाम (शाङ्करभाष्य-सहित)
[महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १४६] — गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०

वृद्धहारीतस्मृति — दे०—स्मृतीनां समुच्चयः

वेदान्ततत्त्वविवेक — परमहंस परिव्राजकाचार्य
मेडिकल हाल प्रेस, बनारस; १८६६ ई०

वेदान्तपरिभाषा (प्रथम संस्करण) — धर्मराज अध्वरीन्द्र
रामकृष्ण मिशन, शारदा पीठ, बेलूर मठ, हवड़ा

वेदान्तसार — सदानन्द, सं०—एम० हिरियन्ना, एम० ए०
ओरिऐन्टल बुक एजेन्सी, पूना; १९२६ ई०

वेदार्थसंग्रह (तात्पर्यदीपिका-सहित) — रामानुजाचार्य,
सं०—टी० के० वी० एन० सुदर्शनाचार्य
तिरुमल-तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति; १९५३ ई०

'वैकुण्ठगद्यम्' (स्तोत्ररत्नावली में संकलित) — रामानुजाचार्य; दे०—स्तोत्ररत्नावली

वैदिक दर्शन (प्रथमावृत्ति) — फतह सिंह, डा०
संस्कृति-सदन, कोटा (राजस्थान); सं० २००६

दि० वैष्णव उपनिषद्स (द्वितीय सं०) — सं०—जी० श्रीनिवास मूर्ति, विद्यारत्न;
अ० महादेव शास्त्री, पं०
दि अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास; १९५३ ई०

वैष्णव धर्म — परशुराम चतुर्वेदी, पं०
विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद, १९५३ ई०

वैष्णव फ़ेथ ऐन्ड मूवमेन्ट — सुशील कुमार दे, डा०
जेनेरल प्रिन्टर्स ऐन्ड पब्लिशर्स लिमिटेड,
कलकत्ता

वैष्णवमताब्जभास्कर (रामर्चनपद्धति-सहित) — रामानन्द, आचार्य
सत्यनाम प्रेस, काशी

वैष्णवमताब्जभास्कर (गुटका) — रामानन्द, आचार्य

—	प्र०–महान्त श्रीकृष्णदास, व्यवस्थापक, रामानन्दसाहित्यमन्दिर, अट्टा, अलवर (राजपूताना); सं० २००२
व्याकरणमहाभाष्य (पंचम संस्करण)	पतञ्जलि प्र०–सत्यभामा बाई पाण्डुरङ्ग निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९५१ ई०
व्यासभाष्य (योगसूत्र पर)	दे०—योगसूत्र
व्यासस्मृति	दे०—स्मृतीनां समुच्चयः
शंकराचार्य (श्री शंकराचार्य)	बलदेव उपाध्याय, पं० हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद; १९५० ई०
शतपथब्राह्मण	अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी; सं० १९९४
शब्दार्थचिन्तामणि	सुखानन्दनाथ संस्कृतयन्त्रालय, आगरा; सं० १९२१
'शरणागतिगद्यम् (स्तोत्ररत्नावली में संकलित)	रामानुजाचार्य; दे०—स्तोत्ररत्नावली
शांकरभाष्यालोचन	गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए० कला प्रेस, प्रयाग; १९४७ ई०
दि शाक्त उपनिषद्स	सं०—जी० श्रीनिवास मूर्ति, विद्यारत्न; अ० महादेव शास्त्री, बी० ए० दि अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९५० ई०
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र	शाण्डिल्य; दे०—भक्तिचन्द्रिका
शिवपुराण	व्यास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० २०११
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड	गिरिधर, गोस्वामी चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस; १९०६ ई०
श्रीभाष्य (ब्रह्मसूत्र पर)	रामानुजाचार्य; दे०—ब्रह्मसूत्र
दि शैव उपनिषद्स	सं०–जी० श्रीनिवास मूर्ति, विद्यारत्न; अ० महादेव शास्त्री, बी० ए० दि अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास; १९५० ई०
श्वेताश्वतरोपनिषद् (शाङ्करभाष्य-सहित)	गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २००९
षट्सन्दर्भ	जीव गोस्वामी; दे०—भागवत-सन्दर्भ
संत दर्शन	त्रिलोकी नारायण दीक्षित, डा० साहित्य निकेतन, कानपुर; १९५३ ई०
संतबानी-संग्रह (भाग पहिला, चौथी बार, १९४६ ई० दूसरा भाग, तृतीय संस्करण, १९३८ ई०)	बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

सरस्वतीकण्ठाभरण	भोज, धारेश्वर निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह (षष्ठ संस्करण)	सं०—गौरीशङ्कर, भिक्षु ग्राम—पुट्ठी, पत्रालय—बवानीखेडा, प्रदेश-हिसार
सर्वदर्शनसंग्रह	सायण माधव; सं०—वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना; १९५१ ई०
साकेत	मैथिलीशरण गुप्त, बाबू साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी); सं० २००२
साङ्ख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण
—गौडपाद-भाष्य के सहित	सं०—हरदत्त शर्मा, डा० दि ओरिएन्टस बुक एजेन्सी, पूना; १९३३ ई०
—परमार्थ की व्याख्या के सहित (दे०—सुवर्णसप्ततिशास्त्र)	सं०—पी० बी० रामानुजस्वामी
—पर वाचस्पति मिश्र की साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी	सं०—हरिराम शुक्ल, पं० चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, बनारस सिटी; सं० १९८९
साङ्ख्यदर्शन (साङ्ख्यप्रवचनभाष्य-सहित साङ्ख्य-सूत्र)	सं०—ढुण्ढिराज शास्त्री, काव्यतीर्थ चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, बनारस; सं० १९८५
साङ्ख्यप्रवचनभाष्य (दे०—साङ्ख्यदर्शन)	विज्ञानभिक्षु
साङ्ख्यसार (द्वितीय संस्करण)	विज्ञानभिक्षु सं०—आशुबोध, विद्याभूषण; नित्यबोध, विद्यारत्न वाचस्पत्य प्रेस, कलकत्ता; १९२९ ई०
साङ्ख्यसूत्र	दे०—साङ्ख्यदर्शन
सात्वततन्त्र	सं०—अनन्त शास्त्री फडके, व्याकरणाचार्य चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, बनारस; सं० १९९१
साहित्यदर्पण	विश्वनाथ; सं०—शालग्राम, शास्त्री, पं० प्र०—श्रीकान्त शास्त्री, श्रीमृत्युंजय औषधालय, ऐबट रोड, लखनऊ; सं० १९९१
सिद्धान्तकल्पवल्ली (प्रथम संस्करण)	सदाशिवेन्द्र सरस्वती, परमहंसपरिव्राजकाचार्य सं०—चण्डीप्रसाद शुक्ल, शास्त्री; श्रीकृष्ण पन्त, शास्त्री अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी; सं० १९९७

सिद्धान्तविन्दु (शङ्कराचार्य-कृत 'दशश्लोकी' का व्याख्यान) — मधुसूदन सरस्वती; अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी; १९३२ ई०

सीतोपनिषद् ('दि शाक्त उपनिषद्स' में संकलित) — दे०—दि शाक्त उपनिषद्स

सुबोधिनी (श्रीसुबोधिनी) — वल्लभाचार्य; चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस; १९११ ई०

सुभाषितरत्नभाण्डागार — सं०—काशिनाथ शर्मा; निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९२९ ई०

सुवर्णसप्ततिशास्त्र (परमार्थ की व्याख्या के सहित सांख्यसप्तति) — सं०—पी०वी० रामानुजस्वामी, एन०ए० शास्त्री; तिरुमल-तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति; १९४४ ई०

सूर-राम-चरितावली (सूरदास-रचित राम-सम्बन्धी पदों का संग्रह) — सूरदास; गीता प्रेस, गोरखपुर; सं० २०१२

सूरसागर — सूरदास, सं०—अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; सं० १९९३

सौन्दरनन्द (प्रथम संस्करण) — अश्वघोष; सं०—सूर्यनारायण चौधरी; संस्कृत-भवन, कठौतिया, डा०—काझा, जिला-पूर्णिमा (बिहार); १९४८ ई०

स्कन्दपुराण (प्रथम संस्करण) — व्यास; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

ए स्टडी ऑफ़ तुलसीदास विद् स्पेशल रिफ़रेन्स टु रामचरितमानस (अप्रकाशित) [आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध] — हरिहरनाथ हुक्कू, डा०

स्तोत्ररत्नावली (द्वितीय भाग) — वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, बम्बई; सं० १९८२

स्मृतीनां समुच्चयः — आनन्दाश्रम प्रेस, पूना; १९२९ ई०

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु (जीवगोस्वामिकृत 'दुर्गमसङ्गमनी' टीका के सहित) — रूप गोस्वामी; सं—दामोदर शास्त्री, गोस्वामी; प्र०—जयकृष्णदास गुप्त, विद्याविलास प्रेस, काशी; सं० १९८८

हितोपदेश — सं—नारायण पण्डित; पण्डित-पुस्तकालय, काशी; १९५६ ई०

हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (द्वितीयावृत्ति)

(डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ़ हिन्दी पोइट्री' का अनुवाद)	अनु०—परशुराम चतुर्वेदी, पं०; सं०—भगीरथ मिश्र, डा० अवध पब्लिशिंग हाउस, पान दरीबा, लखनऊ
हिन्दी विश्वकोश	नगेन्द्र नाथ वसु, प्राच्यविद्यामहार्णव ९, विश्वकोश लेन, बाग बाजार, कलकत्ता
हिन्दी-शब्दसागर	सं०—श्यामसुन्दरदास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	रामकुमार वर्मा, डा० प्र०—रामनारायणलाल, प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता, इलाहाबाद; १९५४ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचंद्र शुक्ल, पं० इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; सं० १९९७
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वम्भर उपाध्याय, एम० ए० साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा; सं० २०१२
हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारीप्रसाद द्विवेदी, शास्त्राचार्य हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई; १९४० ई०
हिन्दुत्व	रामदास गौड़ प्र०—शिवप्रसाद गुप्त, सेवा उपवन, काशी; सं० १९९५
हिन्दू संस्कार (प्रथम संस्करण)	राजबली पाण्डेय, डा० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१
अ हिस्ट्री ऑफ़ इन्डिअन फ़िलॉसफ़ी (जिल्द ४)	सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, डा० यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज; १९४९ ई०
हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र	पी० वी० काणे, डा० भंडारकर, ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना; १९३० ई०
हिस्ट्री ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी ईस्टर्न ऐन्ड वेस्टर्न	सं०—डा० राधाकृष्णन् आदि जॉर्ज अलेन ऐन्ड अन्विन लिमिटेड, म्यूज़िअम स्ट्रीट, लन्दन; १९५२ ई०

अनुबंध—४

ग्रंथानुक्रमणिका[1]

1. इस 'ग्रंथानुक्रमणिका' में तुलसीदास की रचनाओं का उल्लेख अनपेक्षित है। बहुत-सी कृतियों के नाम एक ही पृष्ठ पर अनेक बार आये हैं, किंतु अनुक्रमणिका में उनका उल्लेख एक ही बार किया गया है।